१०८ उपानषद्

[सरल हिन्दी भावार्थ सहित]

साधनाखण्ड

*

सम्पादक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

*

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

२००५

मूल्य : 125 रुपये

• प्रकाशक

युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

• लेखक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

• चतुर्थ आवृत्ति :
२००५

• मुद्रक

युग निर्माण योजना प्रेस
गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

ॐ

भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥
(त्रिपुरातापिन्युपनिषद् १.१)

*****

उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे।

उपनिषदों का महत्त्व, अध्येताओं की दृष्टि में

'मैं उपनिषदों को पढ़ता हूँ, तो मेरे आँसू बहने लगते हैं। यह कितना महान ज्ञान है? हमारे लिए यह आवश्यक है कि उपनिषदों में सन्निहित तेजस्विता को अपने जीवन में विशेष रूप से धारण करें।'

– स्वामी विवेकानंद

'उपनिषदों को जो भी मूल संस्कृत में पढ़ता है, वह मानव आत्मा और परम सत्य के गुह्य और पवित्र सम्बन्धों को उजागर करने वाले उनके बहुत से उद्‌गारों के उत्कर्ष काव्य और प्रबल सम्मोहन से मुग्ध हो जाता है और उसमें बहने लगता है।'

– डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

'चक्षु सम्पन्न व्यक्ति देखेंगे कि भारत का ब्रह्मज्ञान समस्त पृथिवी का धर्म बनने लगा है। प्रातः कालीन सूर्य की अरुणिम किरणों से पूर्व-दिशा आलोकित होने लगी है; परन्तु जब वह सूर्य मध्याह्न गगन में प्रकाशित होगा, तब उस समय उसकी दीप्ति से समग्र भूमण्डल दीप्तिमय हो उठेगा।'

– विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर

'सारे पृथ्वी मण्डल में मूल उपनिषद् के समान इतना फलोत्पादक और उच्च भावोद्‌दीपक ग्रन्थ कहीं भी नहीं है। इसने मुझको जीवन में शान्ति प्रदान की है और मरण में भी यह शान्ति देगा।'

–शोपेन हॉवर

'उपनिषदों के ज्ञान से मुझे अपने जीवन के उत्कर्ष में भारी सहायता मिली है। मैं उनका ऋणी हूँ। ये उपनिषदें आत्मिक उन्नति के लिए विश्व के धार्मिक साहित्य में अत्यन्त सम्मानास्पद रही हैं और आगे भी रहेंगी।'

– प्रो० मैक्समूलर

'मैंने कुरान, तौरेत, इञ्जील, जबुर आदि ग्रन्थ पढ़े, उनमें ईश्वर सम्बन्धी जो वर्णन है, उनसे मन की प्यास न बुझी। तब हिन्दुओं की ईश्वरीय पुस्तकें पढ़ीं। इनमें से उपनिषदों का ज्ञान ऐसा है, जिससे आत्मा को शाश्वत शांति तथा सच्चे आनंद की प्राप्ति होती है। हजरतनवी ने भी एक आयत में इन्ही प्राचीन रहस्यमय पुस्तकों के सम्बन्ध में संकेत किया है।'

– दाराशिकोह

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशकीय

उपनिषदों को आर्ष साहित्य के शीर्ष भाग की मान्यता प्राप्त है। नवयुग सृजन के पुष्ट आध्यात्मिक आधार को विकसित करने के लिए उपनिषदों के ज्ञानामृत को विचारशीलों तक पहुँचाने की आवश्यकता ***परम पूज्य, युगऋषि, वेदमूर्ति,तपोनिष्ठ पं०श्रीराम शर्मा आचार्य जी*** *ने अनुभव की। तदनुसार सन् १९६१ में उन्होंने १०८ उपनिषदों के सुगम अनुवाद एवं जनसुलभ प्रकाशन का अनोखा पुरुषार्थ कर दिखाया। बाद में शान्ति-कुञ्ज में प्रज्ञा पुराण के अवतरण क्रम में ही उन्होंने गीता विश्वकोश तैयार करने तथा उपनिषदों के नये संस्करण से सम्बन्धित योजना प्रदान की। उस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूत्र संकेत भी प्रदान किये। उनके निर्देशानुसार* ***शक्ति स्वरूपा वन्दनीया माता भगवतीदेवी शर्मा*** *के मार्गदर्शन में वेदों के साथ ही उपनिषदों पर भी शोध स्तर का कार्य प्रारम्भ किया गया। १०८ उपनिषदों का प्रस्तुत संस्करण उसी योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।*

पूज्य आचार्य श्री द्वारा प्रारम्भ में १०८ उपनिषदें तीन (ज्ञान, ब्रह्मविद्या और साधना) खण्डों में प्रकाशित की गयी थीं। उस परिपाटी को यथावत् बनाये रखकर भी कतिपय परिवर्तन करने पड़े हैं। पूर्व प्रकाशित ज्ञानखण्ड में बृहदारण्यकोपनिषद् सहित २४ उपनिषदें हैं, जबकि सर्व प्रथम प्रकाशन (१९६१) में बृहदारण्यक० को छोड़कर भी ३५ उपनिषदें थीं।

इस तीसरे 'साधनाखण्ड' में भी ब्रह्मविद्या खण्ड की तरह ४२ उपनिषदें हैं। इसमें भी उपनिषदों का क्रम अकारादि ही रखा गया है, इससे उपनिषदों को ढूँढ़ने में सुविधा रहेगी। तीनों खण्डों के कलेवर लगभग समान रखने की दृष्टि को ध्यान में रखकर ऐसा करना आवश्यक समझा गया। अध्येताओं की सुविधा के लिए कुछ और प्रयास इस संग्रह में किये गये हैं-१. मन्त्रों का प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने के लिए प्राचीन पाठों को भी ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। इसके लिए अड्यार लाइब्रेरी-मद्रास' से प्रकाशित उपनिषदों के प्रथम संस्करण (१९२०-५०) प्राप्त किये गये हैं। साथ ही 'भाण्डारकर प्राच्य शोध प्रतिष्ठान, पूना'; सिन्धिया प्राच्य विद्या शोध संस्थान,उज्जैन'; एशियाटिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, मुम्बई','अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ' तथा 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी' से प्राप्त 'हस्त-लिखित' उपनिषदों का भी सहयोग लिया गया है।

२. प्रत्येक खण्ड में 'मन्त्रानुक्रमणिका' देने का भी श्रमसाध्य प्रयास किया गया है। अभी तक गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित कुछ गिनी-चुनी उपनिषदों की ही मन्त्रानुक्रमणिका उपलब्ध थी। अब इस संग्रह की सभी उपनिषदों की क्रमणी दी जा रही है। इससे मन्त्रों की ढूँढ़-खोज में सरलता रहेगी।

३. प्रत्येक खण्ड में एक परिशिष्ट जोड़ने का नूतन प्रयास किया गया है। उपनिषदों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को व्याख्यायित करके अकारादि क्रम में प्रस्तुत किया गया है। इससे उपनिषद् विद्या में अभिरुचि रखने वाले अध्येताओं को बड़ी सहायता मिलेगी।

४. यथाशक्ति उपनिषदों के मूलस्रोतों का पता लगाकर उनके सन्दर्भ देने का प्रयास भी किया गया है। इससे यह जानना सुगम होगा कि कौन सी उपनिषद् संहिता का भाग है, कौन ब्राह्मण का, कौन आरण्यक का और कौन उनसे भिन्न है।

५. प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में उसका संक्षिप्त सारांश दे दिया गया है, जिससे उपनिषद् की विषय-वस्तु पर एक विहंगम दृष्टि पड़ सके, जो पाठकों के लिए सुविधापूर्ण सिद्ध होगा।

इस प्रकार परम पूज्य गुरुदेव एवं वन्दनीया माताजी की थाती को उन्हीं की प्रेरणा एवं शक्ति से आपके समक्ष प्रस्तुत करने में अतीव सन्तोष का अनुभव हो रहा है। इस ज्ञान यज्ञ में जिस समिधा और हव्य का उपयोग हुआ है,उसे जुटाने एवं प्रयुक्त करने में जिनके भी श्रम-साधन सार्थक हुए हैं, उन्हें निःसन्देह इस ज्ञानयज्ञ की दिव्य सुगन्ध आप्यायित करके धन्य बना देगी। उनके लिए शब्दों से आभार प्रदर्शन का कोई मूल्य नहीं। इस प्रयास को और अधिक उत्कृष्टता प्रदान करने में पाठकों के सुझाव सदैव प्रार्थनीय रहेंगे,क्योंकि वे ही इसके सच्चे पारखी हैं। उन्हीं के हाथों में इसे इस आशा के साथ सौंप रहे हैं कि वे इस ज्ञानामृत का रसास्वादन उसी भाव से करेंगे, जिस भाव से यह प्रस्तुत किया गया है।

- प्रकाशक

संकेत विवरण

अक्ष०	अक्षमालिकोपनिषद
अक्षि०	अक्ष्युपनिषद्
अथर्व०	अथर्ववेद
अद्वयता०	अद्वयतारकोपनिषद्
आरुणि०	आरुण्युपनिषद्
आ०श्रौ०	आश्वलायन श्रौतसूत्र
उ०का०	उत्तरकाण्ड
ऋ०	ऋग्वेद
ऋ०सर्वा०	ऋग्वेद सर्वानुक्रमणिका
ऐ०आ०	ऐतरेय आरण्यक
कपि०सं०	कपिष्ठलकठ संहिता
कलि०	कलिसंतरणोपनिषद्
का०श्रौ०	कात्यायन श्रौतसूत्र
काला०रु०	कालाग्निरुद्रोपनिषद्
कृष्ण०	कृष्णोपनिषद्
कौ०ब्रा०	कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
क्र०	क्रमांक
क्षुरिको०	क्षुरिकोपनिषद्
खं०	खण्ड
गण०	गणपत्युपनिषद्
गरुड०	गरुडोपनिषद्
गा०रह०	गायत्री रहस्योपनिषद्
गी०	गीता
गो०पू०	गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
गो०सं०	गोरक्ष संहिता
घेर०सं०	घेरण्ड संहिता
च०वे०	चतुर्वेदोपनिषद्
चा०	चाक्षुषोपनिषद्
जा०दर्शन०	जाबालदर्शनोपनिषद्
जैमि०ब्रा०	जैमिनीय ब्राह्मण
टि०	टिप्पणी
तां०ब्रा०	ताण्ड्य ब्राह्मण
तुलसी०	तुलस्युपनिषद्
ते०बि०	तेजबिन्दूपनिषद्
तै०ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
त्रिपुरा०	त्रिपुरोपनिषद्
त्रिपुरातापि०	त्रिपुरातापिन्युपनिषद्
त्रि०ब्रा०	त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्
द०मू०	दक्षिणामूर्त्युपनिषद्
दु०वृ०	दुर्गवृत्ति
दे०प०	देवयाज्ञिक पद्धति
देवी०	देव्युपनिषद्
द्र०	द्रष्टव्य
द्वयो०	द्वयोपनिषद्
ध्या०बि०	ध्यानबिन्दूपनिषद्
नारा०	नारायणोपनिषद्
नि०	निरुक्त
नी०रुद्र०	नीलरुद्रोपनिषद्
नृ०पूर्व०	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्
नृ०षट्	नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्
पा०यो०प्र०	पातञ्जल योग प्रदीप
पा०ब्र०	पाशुपतब्रह्मोपनिषद्
पू०का०	पूर्वकाण्ड
पृ०	पृष्ठ
प्र०	प्रथम
प्रा०हो०	प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्
बह्वृ०	बह्वृचोपनिषद्
ब्र०भा०	ब्रह्मयोगी भाष्य
ब्र०खं०	ब्रह्मविद्याखण्ड
ब्र०पु०	ब्रह्माण्ड पुराण
भाग०	भागवत
भाव०	भावनोपनिषद्
मं०ब्रा०	मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
मनु०	मनुस्मृति
म०पु०	मत्स्यपुराण
महो०	महोपनिषद्
मुण्डक०	मुण्डकोपनिषद्
यो०कुं०	योगकुण्डल्युपनिषद्
यो०चू०	योगचूडामण्युपनिषद्
यो०रा०	योगराजोपनिषद्
यो०हृ०	योगिनी हृदय
यू०प०	यूपलक्षण परिशिष्ट
राधा०	राधोपनिषद्
रामपूर्व०	रामपूर्वतापिन्युपनिषद्
रुद्र०	रुद्रोपनिषद्
रुद्र०जा०	रुद्राक्षजाबालोपनिषद्
रुद्रहृ०	रुद्रहृदयोपनिषद्
लाङ्गूल०	लाङ्गूलोपनिषद्
वाच०	वाचस्पत्यम्
वि०चू०	विवेकचूडामणि
वे०वि०	वेदान्त विमर्श
श०क०	शब्दकल्पद्रुम
श०ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शरभ०	शरभोपनिषद्
शां०श्रौ०	शांखायन श्रौतसूत्र
शि०क०	शिवाङ्क-कल्याण
श्रा०त०	श्राद्धतत्त्व
श्वेता०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
संस्क०	संस्करण
स०पा०	समाधि पाद
स०श्रौ०	सत्याषाढ श्रौतसूत्र
सर०रह०	सरस्वती रहस्योपनिषद्
सा०भा०	सायण भाष्य
सावि०	सावित्र्युपनिषद्
सीता०	सीतोपनिषद्
सूर्य०	सूर्योपनिषद्
सौ०ल०	सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्
हठ०प्र०	हठयोगप्रदीपिका
हि०वि०को०	हिन्दी विश्वकोश
हि०श०सा०	हिन्दी शब्द सागर
हौ०प०	हौत्र परिशिष्ट

ॐ

॥ अक्षमालिकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है, इसमें प्रजापति ब्रह्मा एवं कुमार कार्तिकेय (गुह) द्वारा प्रश्नोत्तर शैली में अक्षमाला में अकार,उकार आदि के प्रतिष्ठित होने का वर्णन किया गया है।

सर्वप्रथम 'अक्षमाला' के विषय में जिज्ञासा की गई है कि यह किन लक्षणों वाली है ? इसके कितने भेद हैं ? इसमें कितने सूत्र हैं ? इसको गूँथा कैसे जाता है ? इसमें कितने वर्ण प्रतिष्ठित हैं और उनके अधिष्ठाता देवता कौन-कौन हैं ? तदुपरान्त अक्षमाला का लक्षण, अक्षमाला में ब्रह्मा आदि की भावना, अक्षमाला के शोधन की प्रक्रिया, एक-एक अक्ष का एक-एक मन्त्र से संयोजन; देवता, मन्त्र, विद्या एवं तत्त्व की सन्निधि पाने के लिए जप करना, अक्षमाला में ही सब कुछ समाया है-ऐसी (सर्वात्मकत्व) भावना करना, अक्षमाला की स्तुति तथा अन्त में इस उपनिषद् की फलश्रुति का विवेचन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थित हो, मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। (हे परमात्मन्!) आप मेरे समक्ष प्रकट हों। मेरे लिए वेद का ज्ञान लाएँ (प्रकट करें)। मैं पूर्वश्रुत ज्ञान को विस्मृत न करूँ। इस स्वाध्यायशील प्रवृत्ति से मैं दिन और रात्रियों को एक कर दूँ (मेरा स्वाध्याय सतत चलता रहे)। मैं सदैव ऋत और सत्य बोलूँगा। ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह (ब्रह्म) वक्ता (आचार्य) की रक्षा करे। त्रिविध ताप शान्त हों।

अथ प्रजापतिर्गुहं पप्रच्छ भो ब्रह्मन्नक्षमालाभेदविधिं ब्रूहीति। सा किं लक्षणा कति भेदा अस्याः कति सूत्राणि कथं घटनाप्रकारः के वर्णाः का प्रतिष्ठा कैवास्याधिदेवता किं फलं चेति॥ १ ॥

किसी समय प्रजापति ने भगवान् गुह (कार्तिकेय) से प्रश्न किया- 'हे भगवन्! आप कृपा करके अक्षमाला की भेद-विधि बताने का अनुग्रह करें। इसका लक्षण क्या है ? कितने भेद हैं ? इसके सूत्र कितने हैं ? घटना प्रकार (पिरोने के प्रकार) कैसे हैं ? कौन से अक्षर हैं ? क्या प्रतिष्ठा है ? इसका कौन अधिदेवता है ? और इसका क्या फल है ?'॥ १ ॥

तं गुहः प्रत्युवाच प्रवालमौक्तिकस्फटिकशङ्खरजताष्टापदचन्दनपुत्रजीविकाब्जे रुद्राक्षा इति। आदिक्षान्तमूर्तिः सावधानभावा। सौवर्णं राजतं ताम्रं चेति सूत्रत्रयम्। तद्विवरे सौवर्णं तद्दक्षपार्श्वे राजतं तद्वामे ताम्रं तन्मुखे मुखं तत्पुच्छे पुच्छं तदन्तरावर्तनक्रमेण योजयेत्॥ २ ॥

भगवान् गुह ने उत्तर देते हुए कहा- 'हे ब्रह्मन्! यह (अक्षमाला) प्रवाल, मोती, स्फटिक, शंख, चाँदी, स्वर्ण, चन्दन, पुत्रजीविका, कमल एवं रुद्राक्ष ये दस प्रकार की होती हैं'। ये 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के अक्षरों

से युक्त विधिपूर्वक धारण की जाती हैं। सुवर्ण, चाँदी और ताँबा निर्मित तीन सूत्र होते हैं। इसमें स्वर्ण सामने (मनकों के) मुख विवर (छिद्र) में, दाहिने भाग में चाँदी तथा बायें हिस्से में ताँबा, उसके मुख में मुख एवं पूँछ के साथ पूँछ क्रम से नियोजित करना चाहिए॥ २॥

यदस्यान्तरं सूत्रं तद्ब्रह्म। यद्दक्षपार्श्वे तच्छैवम्। यद्वामे तद्वैष्णवम्। यन्मुखं सा सरस्वती। यत्पुच्छं सा गायत्री। यत्सुषिरं सा विद्या। या ग्रन्थिः सा प्रकृतिः। ये स्वरास्ते धवलाः। ये स्पर्शास्ते पीताः। ये परास्ते रक्ताः॥ ३॥

जो उसके अन्दर का सूत्र है, वही ब्रह्म है। जो दाहिने भाग में है, वही शैव है। जो बायें हिस्से में है, वही वैष्णव है। जो मुख है, वही सरस्वती है। जो पूँछ है, वही गायत्री है। जो छिद्र है, वही विद्या है। जो गाँठ है, वही प्रकृति है। जो स्वर हैं, वही सात्त्विक होने के कारण धवल अर्थात् शुभ्र-श्वेत हैं और जो स्पर्श (व्यञ्जन) हैं, वही (सत्त्व एवं तम मिश्रित होने के कारण) पीत हैं तथा जो परा (अर्थात् तम एवं सत के अतिरिक्त) हैं, वे (राजस के कारण) रक्त वर्ण युक्त हैं॥ ३॥

अथ तां पञ्चभिर्गव्यैरमृतैः पञ्चभिर्गव्यैस्तनुभिः शोधयित्वा पञ्चभिर्गव्यैर्गन्धोदकेन संस्नाप्य तस्मात्सोङ्कारेण पत्रकूर्चेन स्नपयित्वाष्टभिर्गन्धैरालिप्य सुमनःस्थले निवेश्याक्षतपुष्पैराराध्य प्रत्यक्षमादिक्षान्तैर्वर्णैर्भावयेत्॥ ४॥

इसके अनन्तर उसे (नन्दा आदि) पाँच गौओं के दूध से तथा पंचगव्य (गोमूत्र, गोमय, गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत) से शोधित करके पुनः पञ्चगव्य (नन्दादि पाँच गौओं के दही-मात्र से) एवं गंध मिश्रित जल से भली प्रकार स्नान करवाकर ॐ कार का उच्चारण करते हुए पत्र कूर्च (पत्तों की कूची) द्वारा जल छिड़क करके (मन्त्र शास्त्र में प्रख्यात तक्कोल, उशीर, कर्पूर आदि) अष्टगंधों से लेपन करके 'मणशिला' नामक धातु पर प्रतिष्ठित कर अक्षत-पुष्पों से पूजन करे। प्रत्येक अक्ष (मनके) को 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के अक्षरों द्वारा क्रमशः भावित करे॥ ४॥

ओमंकार मृत्युंजय सर्वव्यापक प्रथमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमाङ्काराकर्षणात्मक सर्वगत द्वितीयेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमिङ्कार पुष्टिदाक्षोभकर तृतीयेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमीङ्कार वाक्प्रसादकर निर्मल चतुर्थेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमुङ्कार सर्वबलप्रद सारतर पञ्चमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमूङ्कारोच्चाटनकर दुःसह षष्ठेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमृङ्कार संक्षोभकर चञ्चल सप्तमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमॄङ्कार संमोहनकरोज्ज्वलाष्टमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओम्लृङ्कार विद्वेषणकर मोहक नवमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओम्लॄंकार मोहकर दशमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमेङ्कार सर्ववश्यकर शुद्धसत्त्वैकादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमैङ्कार शुद्धसात्त्विक पुरुषवश्यकर द्वादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमोङ्काराखिलवाङ्मय नित्यशुद्ध त्रयोदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमौङ्कार सर्ववाङ्मय वश्यकर शान्त चतुर्दशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमङ्कार गजादिवश्यकर मोहन पञ्चदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमःकार मृत्यनाशनकर रौद्र षोडशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ कंकार सर्वविषहर कल्याणप्रद सप्तदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ खंकार सर्वक्षोभकर व्यापकाष्टादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ गंकार सर्वविघ्नशमन महत्तरैकोनविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ ॐ घंकार सौभाग्यप्रद स्तम्भनकर विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ङंकार सर्वविषनाशकरोग्रैकविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ चङ्काराभिचारघ्न क्रूर द्वाविंशेऽक्षे प्रति तिष्ठ। ॐ छंकार भूतनाशकर भीषण त्रयोविंशेऽक्षे

प्रतितिष्ठ। ॐ जङ्कार कृत्यादिनाशकर दुर्धर्ष चतुर्विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ झंकार भूतनाशकर पञ्चविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ञंकार मृत्युप्रमथन षड्विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ टंकार सर्वव्याधिहर सुभग सप्तविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ठंकार चन्द्ररूपाष्टाविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ डङ्कार गरुडात्मक विषघ्न शोभनैकोनत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ढंकार सर्वसंपत्प्रद सुभग त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ णंकार सर्वसिद्धिप्रद मोहकरैकत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ तंकार धनधान्यादिसंपत्प्रद प्रसन्न द्वात्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ थङ्कार धर्मप्राप्तिकर निर्मल त्रयस्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ दङ्कार पुष्टिवृद्धिकर प्रियदर्शन चतुस्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ धङ्कार विषज्वरनिघ्न विपुल पञ्चत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ नङ्कार भुक्तिमुक्तिप्रद शान्त षट्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ।ॐ पङ्कार विषविघ्ननाशन भव्य सप्तत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ फङ्कराणिमादिसिद्धिप्रद ज्योतीरूपाष्टत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ बंकार सर्वदोषहर शोभनैकोनचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ भंकार भूतप्रशान्तिकर भयानक चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ मंकार विद्वेषिमोहनकरैकचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ यङ्कार सर्वव्यापक पावन द्विचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ रंकार दाहकर विकृत त्रिचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ लंकार विश्वंभर भासुर चतुश्चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ वंकार सर्वाप्यायनकर निर्मल पञ्चचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ शंकार सर्वफलप्रद पवित्र षट्चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ षंकार धर्मार्थकामद धवल सप्तचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ संकार सर्वकारण सार्ववर्णिकाष्टचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ हंकार सर्ववाङ्मय निर्मलैकोनपञ्चाशदक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ळङ्कार सर्वशक्तिप्रद प्रधान पञ्चाशदक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ क्षंकार परापरतत्त्वज्ञापक परंज्योतीरूप शिखामणौ प्रतितिष्ठ॥ ५॥

हे अकार! तुम मृत्यु को जीतने वाले हो, सर्वव्यापी इस प्रथम अक्ष (मनके) में स्थित हो जाओ। हे आकार! तुम आकर्षण शक्ति से ओत-प्रोत सर्वत्र संव्याप्त हो, इस द्वितीय अक्ष में प्रविष्ट हो जाओ। हे इकार! तुम पुष्टि-प्रदाता हो तथा क्षोभरहित हो, तीसरे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ईकार! तुम वाणी को प्राञ्जलता प्रदान करने वाले हो तथा निर्मल हो, इस चौथे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे उकार! तुम सभी को सभी तरह से बल-प्रदाता हो एवं सारयुक्तों में सर्वश्रेष्ठ हो, पाँचवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ऊकार! तुम उच्चारण करने वाले तथा दुस्सह अर्थात् न सहे जा सकने वाले हो, इस छठे अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ऋकार! तुम संक्षोभ अर्थात् चल-चित्तता को करने वाले एवं चंचल हो, इस सातवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ॠकार! तुम सम्मोहित करने वाले एवं उज्ज्वल हो, इस आठवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे लृकार! तुम विद्वेष को प्रकट कर देने वाले एवं सभी कुछ जानने वाले अत्यन्त गोपनीय हो, इस नौवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ॡकार! तुम मोहकारी हो, इस दसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे एकार! तुम सभी को वश में करने वाले तथा शुद्ध सत्य हो, इस ग्यारहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ऐकार! तुम शुद्ध एवं सात्त्विक हो तथा पुरुषों को अपने वश में करने वाले हो, इस बारहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ओकार! तुम अखिल वाङ्मय (समस्त शब्द समूह) हो एवं नित्य पवित्र हो, इस तेरहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे औकार! तुम भी अक्षर समूह रूप सभी को वश में करने वाले तथा शान्त स्वरूप हो, इस चौदहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे अंकार! तुम हाथी आदि को अपने वश में करने वाले एवं मोहित करने वाले हो, इस पन्द्रहवें अक्ष में स्थित हो जाओ! हे अ:कार! तुम मृत्यु विनाशक एवं रौद्र

(अति भयानक) हो, इस सोलहवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ककार! तुम सम्पूर्ण विषों को विनष्ट करने वाले एवं कल्याण-प्रदाता हो, इस सत्रहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे खकार! तुम सभी को क्षुभित करने वाले एवं सर्वत्र व्याप्त रहते हो, इस अट्ठारहवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे गकार! तुम सभी विघ्नों को शांत करने वाले एवं बड़ों में भी अति विशाल हो, इस उन्नीसवें अक्ष में प्रतिष्ठा प्राप्त करो। हे घकार! तुम सौभाग्य-प्रदाता और स्तम्भन गति को अवरुद्ध करने वाले कर्त्ता हो, इस बीसवें अक्ष में प्रतिष्ठा प्राप्त करो। हे ङकार! तुम सभी विषयों के विनाशक एवं उग्र भयानक हो, इस इक्कीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे चकार! तुम अभिचार नाशक तथा अत्यन्त क्रूर हो, इस बाइसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे छकार! तुम भूत विनाशक एवं भयानक हो, इस तेईसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे जकार! तुम कृत्या आदि (डाकिनी आदि) के नाशक एवं दुर्धर्ष हो, इस चौबीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे झकार! तुम भूत नाशक हो, इस पच्चीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ञकार! तुम मृत्यु को मथित कर देने वाले हो, इस छब्बीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे टकार! तुम समस्त रोगों के विनाशक एवं सुन्दर हो, इस सत्ताइसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ठकार! तुम चन्द्र स्वरूप हो, इस अट्ठाइसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे डकार! तुम गरुड़ के सदृश विष नाशक तथा सुन्दर हो, इस उन्तीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ढकार! तुम समस्त प्रकार के सम्पत्ति प्रदाता एवं सौम्य-शालीन हो, इस तीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे णकार! तुम सभी सिद्धियों के प्रदाता एवं मोहित (मोहयुक्त) करने वाले हो, इस इकतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे तकार! तुम धन एवं धान्य आदि सम्पत्तियों के देने वाले एवं सदैव प्रसन्नमय हो, इस बत्तीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे थकार! तुम धर्म की प्राप्ति कराने वाले एवं निर्मल हो, इस तैंतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे दकार! तुम पुष्टिकर्त्ता एवं वृद्धिकर्त्ता हो, सुन्दर दृष्टिगोचर होने वाले हो, इस चौंतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे धकार! तुम विष एवं ज्वर विनाशक हो तथा बहुत विशाल भी हो, इस पैंतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे नकार! तुम भोग, मोक्ष-प्रदाता एवं शान्तरूप हो, इस छत्तीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे पकार! तुम विष और विघ्नों के नाशक एवं कल्याणकारी हो, इस सैंतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे फकार! तुम अणिमा, महिमा एवं गरिमा आदि अष्ट सिद्धियों से सम्पन्न एवं प्रकाशमय हो, इस अड़तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे बकार! तुम समस्त दोषों के हरणकर्त्ता एवं सौंदर्यमय हो, इस उन्तालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे भकार! तुम भूत-बाधा का शमन करने वाले एवं भयानक हो, इस चालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे मकार! तुम विद्वेष करने वाले को संमोहित कर लेने वाले अथवा विद्वेषी और मोह करने वाले हो, इस इकतालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे यकार! तुम सर्वत्र संव्याप्त एवं परम पवित्र हो, इस बयालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे रकार! तुम दाह (जलन, तपन) उत्पन्न करने वाले एवं विकृत हो, इस तैंतालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे लकार ! तुम विश्व का पोषण करने वाले एवं तेजस्वी हो, इस चौवालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे वकार! तुम सबको तृप्त (पुष्ट) करने वाले एवं निर्मल हो, पैंतालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे शकार! तुम सभी तरह के फलों को देने वाले एवं पवित्र हो, इस छियालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे षकार! तुम धर्म, अर्थ एवं काम को देने वाले तथा श्वेत-शुभ्र हो, इस सैंतालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे सकार! तुम समस्त वस्तुओं के कारण तथा सभी वर्णों से सम्बन्धित हो, इस अड़तालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे हकार! तुम समस्त वाङ्मय (समस्त अक्षरों या साहित्य) के स्वरूप वाले एवं निर्मल हो, इस उनचासवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ळकार! तुम सम्पूर्ण शक्तियों के प्रदाता एवं प्रधान हो, इस पचासवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे क्षकार! तुम परात्पर तत्त्व को बतलाने वाले एवं परम ज्योति स्वरूप हो, इस शिखामणि में मेरुमाला या प्रधान मनका के प्रतिनिधि के रूप में स्थित हो जाओ॥ ५॥

अथोवाच ये देवाः पृथिवीषदस्तेभ्यो नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम्॥ ६॥

इसके पश्चात् बोले-'जो देवता पृथिवी में विचरण करने वाले हैं, उन्हें हम प्रणाम करते हैं'। हे भगवन्! मेरे द्वारा इस माला को स्वीकार करने का समर्थन करें। इसकी शोभा (प्रतिष्ठा) हेतु पितृगण अनुमोदन करें। इस ज्ञानरूपा अक्षमालिका को प्राप्त कर (अग्निष्वात्त आदि) पितर अनुमोदन करें॥ ६॥

अथोवाच ये देवा अन्तरिक्षसदस्तेभ्य ॐ नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम्॥ ७॥

इसके उपरान्त वे पुनः बोले-जो देवता अन्तरिक्ष में निवास करने वाले हैं, उन्हें नमन-वंदन है। वे भगवान् पितरों के साथ इस ज्ञानमयी माला में प्रतिष्ठित हों, इसकी शोभा के लिए अनुमोदन करें॥ ७॥

अथोवाच ये देवा दिविषदस्तेभ्यो नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम्॥ ८॥

तत्पश्चात् पुनः बोले—जो देवता स्वर्ग में निवास करने वाले हैं, वे ज्ञानस्वरूपिणी अक्षमालिका में स्थित हों, वरप्रदाता बनकर पितरों के सहित इसकी शोभा हेतु अनुमोदन करें॥ ८॥

अथोवाच ये मन्त्रा या विद्यास्तेभ्यो नमस्ताभ्यश्चोन्नमस्तच्छक्तिरस्याः प्रतिष्ठापयति॥९॥

तत्पश्चात् पुनः बोले— इस लोक में (सात करोड़ के लगभग) जो मंत्र हैं और जो (चौंसठ कला स्वरूप) विद्याएँ हैं, उन्हें नमस्कार है। उनकी शक्तियाँ इसमें प्रतिष्ठित हों॥ ९॥

अथोवाच ये ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तेभ्यः सगुणेभ्य ॐ नमस्तद्वीर्यमस्याः प्रतिष्ठापयति॥१०॥

इसके बाद पुनः बोले—जो ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र हैं, उन्हें बारम्बार नमन-वंदन है, उनके पराक्रम को नमस्कार है, उनका वीर्य (पराक्रम-पुरुषार्थ) इसमें स्थित हो॥ १०॥

अथोवाच ये सांख्यादितत्त्वभेदास्तेभ्यो नमो वर्तध्वं विरोधेनिवर्तध्वम्॥ ११॥

पुनः बोले—जो सांख्यादिक (दर्शनों में छियानवे) तत्त्व हैं, उन्हें नमस्कार है, (आप लोग) वृद्धि प्रदान करें, विरोध (की स्थिति) दूर करें॥ ११॥

अथोवाच ये शैवा वैष्णवाः शाक्ताः शतसहस्रशस्तेभ्यो नमो नमो भगवन्तोऽनुमदन्त्वनुगृह्णन्तु॥ १२॥

इसके पश्चात् पुनः बोले—जो शैव, वैष्णव एवं शाक्त सैकड़ों एवं सहस्रों की संख्या में निवास करते हैं, उन्हें नमस्कार है, वे सभी भगवान् (शक्तिशाली) हम सभी पर कृपा करें, अनुमोदन करें॥ १२

अथोवाच याश्च मृत्योः प्राणवत्यस्ताभ्यो नमो नमस्तेनैतां मृडयत मृडयत॥ १३॥

अन्त में इस प्रकार बोले—मृत्यु की जो उपजीव्य (आश्रित) शक्तियाँ हैं, उन्हें नमस्कार है, आप सभी लोग इस नमन-वन्दन से, स्तुति से प्रसन्न हों। इस अक्षमालिका द्वारा अपने उपासकों को सुख-प्रदान करें॥ १३॥

पुनरेतस्यां सर्वात्मकत्वं भावयित्वा भावेन पूर्वमालिकामुत्पाद्यारभ्य तन्मयीं महोपहारैरुपहृत्य आदिक्षान्तैरक्षैरक्षमालामष्टोत्तरशतं स्पृशेत्॥ १४॥

पुनः इस मालिका में सर्वात्मिकता (सर्वविध पूर्णता) की भावना करते हुए इसी भावना में पूर्व मालिका (आधी माला) को पिरोकर पुनः आधी पचास मनकों में उसी प्रकार आवृत्ति करके १०० की संख्या पूर्ण करे। पुनः शेष आठ मनकों में 'अ, क, च, ट,त,प,य,श'- इस अष्टवर्ग को पूर्वोक्त क्रम से नियोजित करे। तब मनकों

की संख्या एक सौ आठ हो जाती है। (मेरु में तो वही पूर्वोक्त 'क्ष' ही रहेगा। इस तरह से मालिका की योजना एक-एक पिरोकर पूर्ण करे) ॥ १४॥

अथ पुनरुत्थाप्य प्रदक्षिणीकृत्यों नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले सर्ववशंकर्यों नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमालिके शेषस्तम्भिन्यों नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले उच्चाटन्यों नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले विश्वामृत्यों मृत्युंजयस्वरूपिणि सकलोद्दीपिनि सकललोकरक्षाधिके सकललोकोज्जीविके सकललोकोत्पादिके दिवाप्रवर्तिके रात्रिप्रवर्तिके नद्यन्तरं यासि देशान्तरं यासि द्वीपान्तरं यासि लोकान्तरं यासि सर्वदा स्फुरसि सर्वहृदि वासयसि। नमस्ते परारूपे नमस्ते पश्यन्तीरूपे नमस्ते मध्यमारूपे नमस्ते वैखरीरूपे सर्वतत्त्वात्मिके सर्वविद्यात्मिके सर्वशक्त्यात्मिके सर्वदेवात्मिके वसिष्ठेन मुनिनाराधिते विश्वामित्रेण मुनिनोपजीव्यमाने नमस्ते नमस्ते॥ १५॥

अक्षमालिका की स्तुति करने के पश्चात् (उसे) उठाकर प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करके (पुन: हाथ जोड़कर प्रार्थना करे), हे भगवती मन्त्रमातृके! हे अक्षमाले! तुम सभी को अपने वश में करने वाली हो, तुमको नमन-वन्दन है। हे मन्त्र मातृके! हे अक्षमाले! तुम सभी की गति स्तम्भित करने वाली, उच्चाटन अर्थात् विक्षिप्तता, करने वाली हो, तुम्हें प्रणाम है। हे मन्त्रमातृके! हे अक्षमाले! तुम सभी की मृत्यु स्वरूप एवं मृत्युञ्जय स्वरूपिणी हो तथा तुम सबको उद्दीप्त करने वाली हो। इसके साथ ही तुम समस्त लोकों की रक्षा करने वाली, सम्पूर्ण विश्व की प्राणदात्री, सभी कुछ उत्पन्न करने वाली, दिन तथा रात्रि की प्रवर्तक एवं नदियों से दूसरी नदियों, समस्त देश, द्वीपों, लोक में संचरण करने की शक्ति रखने वाली हो, समस्त स्थलों में तुम विराजमान हो एवं हृदय में स्फुरणा के रूप में सतत प्रकाशित होने वाली, सभी प्राणियों के हृदयों में निवास करती हो। परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी आदि जो वाणियाँ हैं, तुम उन्हीं का स्वरूप हो। समस्त तत्त्व-रूपों को धारण करने वाली, सर्वविद्या, सभी शक्तियों की अधिष्ठात्री, समस्त देवगणों की आराध्या हो। तुम वसिष्ठ मुनि के द्वारा वन्दित एवं विश्वामित्र मुनि के द्वारा उपसेव्यमान अर्थात् सेवा-शुश्रूषा किए जाने वाली हो, तुमको बारम्बार नमस्कार-प्रणाम है॥ १५॥

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायंप्रात: प्रयुञ्जान: पापोऽपापो भवति। एवमक्षमालिकया जप्तो मन्त्र: सद्य: सिद्धिकरो भवतीत्याह भगवान्गुह: प्रजापतिमित्युपनिषत्॥ १६॥

इस उपनिषद् का प्रात:काल के समय में पाठ करने वाला मनुष्य रात्रि में किये गये पाप-कृत्यों से मुक्त हो जाता है और सायंकाल के समय में इसका पाठ करने वाला मनुष्य दिन में किये गये पापों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य सायं-प्रात: दोनों संध्याओं में निरन्तर इस उपनिषद् को पढ़ता है, वह बहुत बड़ा पाप-कृत्य करने वाला हो, तो भी पाप-मुक्त हो जाता है। भगवान् गुह ने प्रजापति से अन्त में यही कहा कि इस प्रकार से अभिमन्त्रित-पूजित अक्षमाला के द्वारा जप किया हुआ मन्त्र शीघ्रातिशीघ्र सिद्धि प्रदान करने वाला होता है॥ १६

ॐ वाङ्मे मनसि .... इति शान्ति:॥

॥ इति अक्षमालिकोपनिषत्समाप्ता॥

॥ अक्ष्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें महर्षि सांकृति एवं आदित्य के बीच प्रश्नोत्तर के माध्यम से चाक्षुष्मती विद्या एवं योगविद्या पर प्रकाश डाला गया है। यह उपनिषद् दो खण्डों में प्रविभक्त है।

प्रथम खण्ड में चाक्षुष्मती विद्या का विवेचन है। द्वितीय खण्ड में सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या का स्वरूप वर्णित है, तदुपरान्त ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिए योग की विविध भूमिकाओं का क्रमशः विवेचन किया गया है। योग की कुल सात भूमिकाएँ हैं, जिनके माध्यम से साधक योग विद्या के क्षेत्र में क्रमिक उन्नति करता हुआ आगे बढ़ता है। सातवीं भूमिका में पहुँचने पर वह ब्रह्म साक्षात्कार की स्थिति में पहुँच जाता है। अन्त में ओंकार ब्रह्म के विषय में वह विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिसको जानकर और उस विधि से साधना करके व्यक्ति ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है। अपने को परम आनन्दमय-प्रज्ञानघन आनन्द की स्थिति में पाता हुआ- मैं ब्रह्म हूँ- ऐसी अनुभूति करने लगता है। यही उपनिषद् का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! आप हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शक्ति अर्जित करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी (प्रखर) हो। हम दोनों एक दूसरे के प्रति कभी ईर्ष्या-द्वेष न करें। हे शक्ति सम्पन्न! (हमारे) त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों का शमन हो, अक्षय शान्ति की प्राप्ति हो।

॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ ह सांकृतिर्भगवानादित्यलोकं जगाम। तमादित्यं नत्वा चाक्षुष्मती विद्यया तमस्तुवत्॥ ॐ नमो भगवते श्रीसूर्यायाक्षितेजसे नमः। ॐ खेचराय नमः। ॐ महासेनाय नमः। ॐ तमसे नमः। ॐ रजसे नमः। ॐ सत्त्वाय नमः। ॐ असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय। हंसो भगवाञ्छुचिरूपः प्रतिरूपः। विश्वरूपं घृणिनं जातवेदसं हिरणमयं ज्योतीरूपं तपन्तम्। सहस्त्ररश्मिः शतधा वर्तमानः पुरुषः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। ॐ नमो भगवते श्रीसूर्यायादित्यायाक्षितेजसेऽहोऽवाहिनि वाहिनि स्वाहेति। एवं चाक्षुष्मतीविद्यया स्तुतः श्रीसूर्यनारायणः सुप्रीतोऽब्रवीच्चाक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो यो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति। न तस्य कुलेऽन्धो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान्ग्राहयित्वाथ विद्यासिद्धिर्भवति। य एवं वेद स महान्भवति॥ १॥

एक समय की कथा है कि भगवान् सांकृति आदित्य लोक गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने भगवान् सूर्य को नमस्कार कर चाक्षुष्मती विद्या द्वारा उनकी अर्चना की—नेत्रेन्द्रिय के प्रकाशक भगवान् श्रीसूर्य को नमस्कार है। आकाश में विचरणशील सूर्यदेव को नमस्कार है। हजारों किरणों की विशाल सेना रखने वाले महासेन को नमस्कार है। तमोगुण रूप भगवान् सूर्य को प्रणाम है। रजोगुण रूप भगवान् सूर्य को प्रणाम है। सत्त्वगुणरूप सूर्यनारायण को प्रणाम है। हे सूर्यदेव! हमें असत् से सत्पथ की ओर ले चलें। हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलें। हमें मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलें। भगवान् भास्कर पवित्ररूप और प्रतिरूप (प्रतिबिम्ब प्रकटकर्त्ता) हैं। अखिल विश्व के रूपों के धारणकर्त्ता, किरण समूहों से सुशोभित, जातवेदा (सर्वज्ञाता), सोने के समान प्रकाशमान, ज्योतिःस्वरूप तथा तापसम्पन्न भगवान् भास्कर को हम स्मरण करते हैं। ये हजारों रश्मिसमूह वाले, सैकड़ों रूपों में विद्यमान सूर्यदेव सभी प्राणियों के समक्ष प्रकट हो रहे हैं। हमारे चक्षुओं के प्रकाशरूप अदितिपुत्र भगवान् सूर्य को प्रणाम है। दिन के वाहक, विश्व के वहनकर्त्ता सूर्यदेव के लिए हमारा सर्वस्व समर्पित है। इस चाक्षुष्मती विद्या से अर्चना किये जाने पर भगवान् सूर्यदेव अति हर्षित हुए और कहने लगे-जिस ब्राह्मण द्वारा इस चाक्षुष्मती विद्या का पाठ प्रतिदिन किया जाता है, उसे नेत्ररोग नहीं होते और न उसके वंश में कोई अंधत्व को प्राप्त करता है। आठ ब्राह्मणों को इस विद्या का ज्ञान करा देने पर इस विद्या की सिद्धि होती है। इस प्रकार का ज्ञाता महानता को प्राप्त करता है॥ १॥

[सूर्यदेव को प्रतिरूप और विश्वरूप कहा गया है। विज्ञान के अनुसार हम जो कुछ भी देखते हैं, उसका रूप उसके द्वारा किए जा रहे प्रकाश के परावर्तन (रिफलैक्शन) के कारण ही है। इसलिए उन्हें प्रतिरूप कहा जाता है। दिन में सूर्य के प्रकाश में हम जो भी रूप देखते हैं, वे सब प्रकारान्तर से सूर्य के प्रकाश के ही विविध रूप हैं। इसलिए सूर्य को विश्वरूप कहा गया है।]

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ ह सांकृति रादित्यं पप्रच्छ भगवन्ब्रह्मविद्यां मे ब्रूहीति। तमादित्यो होवाच। सांकृते शृणु वक्ष्यामि तत्त्वज्ञानं सुदुर्लभम्। येन विज्ञातमात्रेण जीवन्मुक्तो भविष्यसि॥ १॥

उसके बाद सांकृति ऋषि ने भगवान् सूर्य से कहा-भगवन् ! मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। आदित्य देव ने उनसे कहा-सांकृते! आपसे अतिदुर्लभ तत्त्वज्ञान का विवेचन मैं करने जा रहा हूँ, उसे ध्यान से सुनें, जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर आप जीवन्मुक्त हो जाएँगे॥ १॥

सर्वमेकमजं शान्तमनन्तं ध्रुवमव्ययम्। पश्यन्भूतार्थचिद्रूपं शान्त आस्व यथासुखम्॥ २॥
अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम्। योगस्थः कुरु कर्माणि नीरसो वाथ मा कुरु॥ ३॥

आप समस्त प्राणिमात्र को एक, अजन्मा, शान्त, अनन्त, ध्रुव, अव्यय तथा तत्त्वज्ञान से चैतन्यरूप देखते हुए शान्ति और सुख पूर्वक रहें। अवेदन अर्थात् आत्मा-परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का आभास न हो- इसी का नाम योग है, यही यथार्थ चित्तक्षय है। इसलिए योग में स्थित होकर कर्त्तव्य कर्मों का निर्वाह करें, कर्म करते हुए नीरसता-विरक्तता न आने पाए॥ २-३॥

विरागमुपयात्यन्तर्वासनास्वनुवासरम् । क्रियासूदाररूपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम् ॥ ४॥
ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सते । नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते॥ ५॥

(अवेदन-योग की पहली भूमिका इस प्रकार है—) योग की ओर प्रवृत्त होने पर अन्तःकरण दिन-प्रतिदिन वासनात्मक चिन्तन से दूर होता जाता है। साधक नित्य ही परमार्थ कर्मों को करता हुआ हर्ष का अनुभव करता है। जड़ मनुष्यों की अश्लील भोग प्रवृत्तियों (ग्राम्य चेष्टाओं) से वह हमेशा जुगुप्सा (घृणा)

करता है। किसी के गुप्त रहस्य प्रसंग को अन्यों के समक्ष नहीं कहता, अपितु वह पुण्य कृत्यों में ही हमेशा संलग्न रहता है॥ ४-५॥

अनन्योद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते । पापाद्बिभेति सततं न च भोगमपेक्षते ॥ ६॥
स्नेहप्रणयगर्भाणि पेशलान्युचितानि च । देशकालोपपन्नानि वचनान्यभिभाषते ॥ ७॥

जिन कृत्यों से किसी प्राणी को उत्तेजित न होना पड़े, ऐसे दया और उदारतापूर्ण सौम्य कर्मों को वह करता है। वह पाप से भयभीत रहता और भोग साधनों की अभिलाषा नहीं करता। वह ऐसी वाणी का प्रयोग करता है, जिसमें सहज स्नेह और प्रेम का प्राकट्य हो तथा जो मृदुल और औचित्यपूर्ण होने के साथ-साथ देश, काल, पात्र के अनुकूल हो॥ ६-७॥

मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते । यतःकुतश्चिदानीय नित्यं शास्त्राण्यवेक्षते॥ ८॥

मन से, वचन से और कर्म से श्रेष्ठ पुरुषों का सत्संग करते हुए जहाँ कहीं से भी प्राप्त हो सके, प्रतिदिन सद्ग्रन्थों का अध्ययन करता है॥ ८॥

तदासौ प्रथमामेकां प्राप्तो भवति भूमिकाम्। एवं विचारवान्यः स्यात्संसारोत्तारणं प्रति॥ ९॥
स भूमिकावानित्युक्तः शेषस्त्वार्य इति स्मृतः। विचारनाम्नीमितरामागतो योगभूमिकाम्॥ १०॥

इस स्थिति में ही वह प्रथम भूमिका वाला कहलाता है। भवसागर से उस पार जाने की जो अभिलाषा करता है, वही इस प्रकार के विचार को प्राथमिकता देता है। वह भूमिकावान् कहा जाता है और शेष 'आर्य'(दूसरों की तुलना में श्रेष्ठ) कहे जाते हैं। जो योग की दूसरी विचार भूमिका से युक्त हैं, (उनके लक्षण इस प्रकार से हैं-)॥ ९-१०॥

श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणः। मुख्यया व्याख्यया ख्याताञ्छ्रयति श्रेष्ठपण्डितान्॥११॥

वह ऐसे ख्यातिलब्ध श्रेष्ठ विद्वानों का आश्रय ग्रहण करता है, जो श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यान की उत्तम व्याख्या के लिए अधिक चर्चित हों ॥ ११॥

पदार्थप्रविभागज्ञः कार्याकार्यविनिर्णयम्। जानात्यधिगतश्चान्यो गृहं गृहपतिर्यथा ॥ १२॥
मदाभिमानमात्सर्यलोभमोहातिशायिताम्। बहिरप्यास्थितामीषत्त्यजत्यहिरिव त्वचम्॥ १३॥
इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवया । सरहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥ १४॥

वह पदार्थों के विभाग और पद को उचित रीति से जानता है तथा श्रवण करने योग्य सत्शास्त्रों में पारंगत हो जाने पर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्णय में कुशल हो जाता है। मद, अहंकार, मात्सर्य, लोभ और मोहादि की अधिकता उसके चित्त को डाँवाडोल नहीं करती, बाह्य आचरण में यत्किंचित् यदि उसकी स्थिति रहती है, तो उसका भी उसी प्रकार परित्याग कर देता है, जैसे साँप अपनी केंचुल को छोड़ देता है। इस प्रकार का सद्ज्ञान सम्पन्न साधक शास्त्र, गुरु और सत्पुरुषों के सेवा-सहयोग द्वारा रहस्यपूर्ण गूढ़ज्ञान को भी प्रयत्नपूर्वक स्वाभाविक रूप में हस्तगत कर लेता है॥१२-१४॥

असंसर्गाभिधामन्यां तृतीयां योगभूमिकाम्। ततः पतत्यसौ कान्तः पुष्पशय्यामिवामलाम्॥१५
यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलाम्। तापसाश्रमविश्रान्तैरध्यात्मकथनक्र मैः॥१६॥
शिलाशय्याऽऽसनासीनो जरयत्यायुराततम्। वनावनिविहारेण चित्तोपशमशोभिना॥१७॥
असङ्गसुखसौख्येन कालं नयति नीतिमान्। अभ्यासात्साधुशास्त्राणां करणात्पुण्यकर्मणाम्॥
जन्तोर्यथावदेवेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति। तृतीयां भूमिकां प्राप्य बुद्धोऽनुभवति स्वयम्॥ १९॥

इसके पश्चात् वह योग की असंसर्गनाम्नी तीसरी भूमिका में प्रवेश करता है-ठीक उसी प्रकार, जैसे कोई सुन्दर मनुष्य साफ-सुथरे फूलों के बिछौने पर अवस्थित होता है। शास्त्र जैसा अभिमत व्यक्त करते हैं, उसमें अपनी स्थिर मति को संयुक्त करके, तपस्वियों के आश्रम में वास करता हुआ अध्यात्म शास्त्र की चर्चा करते हुए (कष्टकर) पाषाण-शय्या पर आरूढ़ होते हुए ही वह सम्पूर्ण आयु बिता देता है। वह नीति पुरुष चित्त को शान्ति पहुँचाने वाले अधिक शोभाप्रद वन भूमि के विहार द्वारा विषयोपभोग से विरत होकर स्वाभाविक रूप में उपलब्ध सुख-साधनों को भोगता हुआ अपना जीवनयापन करता है। सद्ग्रन्थों के अभ्यास और पुण्य कर्मों के किये जाने से प्राणी की वास्तविक पर्यवेक्षण दृष्टि पवित्र होती है। इस तृतीय भूमिका को प्राप्त करके साधक स्वयमेव ज्ञानवान् होकर इस स्थिति का अनुभव करता है॥ १५-१९॥

द्विप्रकारमसंसर्गं तस्य भेदमिमं शृणु । द्विविधोऽयमसंसर्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च॥ २०॥
नाहं कर्त्ता न भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः। इत्यसंजनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम्॥२१॥
प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव वा । सुखं वा यदि वा दुःखं कैवात्र मम कर्तृता॥ २२॥
भोगाभोगा महारोगाः संपदः परमापदः। वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयोऽधियाम्॥ २३॥
कालश्च कलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम्। अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम्। वाक्यार्थलब्धमनसः सामान्योऽसावसङ्गमः॥ २४॥

असंसर्ग—सामान्य और श्रेष्ठ भेद से दो तरह का है। (उनके इस प्रकार के भेदों पर अब प्रकाश डालते हैं—) मैं न तो कर्त्ता, न भोक्ता, न बाध्य और न बाधक ही हूँ- इस प्रकार से विषयोपभोग में आसक्ति से रहित होने की भावना ही सामान्य असंसर्ग कहलाती है। सब कुछ पूर्वजन्म कृत कर्मों का प्रतिफल है या सब कुछ परमात्मा के अधीन है—ऐसी मान्यता रखना, सुख हो या दुःख इसमें मेरे किये गये कार्यों का अस्तित्व ही क्या है? भोगसाधनों का अतिसंग्रह महारोगरूप है और समस्त वैभव परम आपत्तियों के स्वरूप हैं। सभी संयोगों की अन्तिम परिणति वियोग के रूप में है। मानसिक चिन्ताएँ अज्ञानग्रस्तों के लिए व्याधिरूप हैं। सभी क्षणभंगुर पदार्थ अनित्य हैं, सभी को काल-कराल अपना ग्रास बनाने में संलग्न है। (शास्त्रवचनों को जान लेने से उत्पन्न) अनास्था से मन में उनके अभाव की भावना को पैदा करता है, यह सामान्य असंसर्ग कहलाता है॥ २०-२४॥

अनेन क्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम् । नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्तनं मम॥ २५॥
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम्। यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते॥ २६॥

इस प्रकार महान् पुरुषों के निरन्तर सत्संग से जो यह कहे कि मैं कर्त्ता नहीं, ईश्वर ही कर्त्ता है या मेरे पूर्व जन्म में किए गये कर्म ही कर्त्ता हैं। इस प्रकार से समस्त चिन्ताओं और शब्द-अर्थ के भाव को विसर्जित कर देने के पश्चात् जो मौन (मन-इन्द्रियों का संयम), आसन (आन्तरिक अवस्था) और शान्त भाव (बाहरी भावों के विस्मरण) की प्राप्ति होती है, वह श्रेष्ठ असंसर्ग कहा जाता है॥ २५-२६॥

संतोषामोदमधुरा प्रथमोदेति भूमिका । भूमिप्रोदितमात्रोऽन्तरमृताङ्कुरिकेव सा ॥ २७॥
एषा हि परिमृष्टान्तरन्यासां प्रसवैकभूः। द्वितीयां च तृतीयां च भूमिकां प्राप्नुयात्ततः॥ २८॥
श्रेष्ठा सर्वगता ह्येषा तृतीया भूमिकात्र हि। भवति प्रोज्झिताशेषसंकल्पकलनः पुमान्॥ २९॥
भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते । समं सर्वत्र पश्यन्ति चतुर्थीं भूमिकां गताः॥ ३०॥
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते। पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थीं भूमिकां गताः॥ ३१॥

अन्तःकरण की भूमि में अमृत के छोटे अंकुर के प्रस्फुटन की तरह ही सन्तोष और आह्लादप्रद होने से मधुर प्रतीत होने वाली प्रथम भूमिका का अभ्युदय होता है। इसके उत्पन्न होते ही अन्तरंग में शेष भूमिकाओं के लिए भूमि तैयार हो जाती है। इसके बाद होने वाली दूसरी एवं तीसरी भूमिका में भी साधक कुशलता प्राप्त कर लेता है। इस तीसरी भूमिका को इसलिए सर्वोत्कृष्टता की श्रेणी में गिना गया है; क्योंकि इसमें साधक सभी संकल्पजन्य वृत्तियों को पूर्णतः त्याग देता है। अद्वैतभाव की दृढ़भावना से द्वैतभाव स्वतः समाप्त हो जाता है। चौथी भूमिका को प्राप्त साधक इस लोक को स्वप्न की तरह स्वीकार करता है ॥ २७-३१ ॥

भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थी स्वप्न उच्यते । चित्तं तु शरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते॥ ३२ ॥
सत्त्वावशेष एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः। जगद्विकल्पो नोदेति चित्तस्यात्र विलापनात्॥३३ ॥
पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम् । शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रकः ॥ ३४॥
गलितद्वैतनिर्भासो मुदितोऽन्तःप्रबोधवान् । सुषुप्तघन एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गताः॥ ३५ ॥
अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् । परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते॥ ३६ ॥
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः। षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात्पतति भूमिकाम्॥ ३७ ॥
यत्र नासन्नसद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः । केवलं क्षीणमननमास्तेऽद्वैतेऽतिनिर्भयः ॥ ३८ ॥
निर्ग्रन्थिः शान्तसंदेहो जीवन्मुक्तो विभावनः। अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः॥३९ ॥
षष्ठ्यां भूमावसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात्। विदेहमुक्तताऽत्रोक्ता सप्तमी योगभूमिका॥४० ॥

प्रारम्भिक तीन भूमिकायें जाग्रत् स्वरूपा हैं तथा चौथी भूमिका स्वप्न कही जाती है। पंचम भूमिका में आरूढ़ होने पर साधक का चित्त शरद्ऋतु के बादलों की तरह विलीन हो जाता है, मात्र सत्त्व ही शेष बचता है। चित्त के विलीन हो जाने से जागतिक विकल्पों का अभ्युदय नहीं होता। सुषुप्तपद नाम की इस पंचम भूमिका में सम्पूर्ण विभेद शान्त हो जाने पर साधक मात्र अद्वैत अवस्था में ही अवस्थित रहता है। द्वैत के समाप्त हो जाने से आत्मबोध से युक्त हर्षित हुआ साधक पंचम भूमिका में जाकर सुषुप्तघन (आनन्दप्रद अवस्था) को प्राप्त कर लेता है। वह बहिर्मुखी व्यवहार करते हुए भी हमेशा अन्तर्मुखी ही रहता है तथा सदा थके हुए की तरह निद्रातुर सा दिखता है। इस भूमिका में कुशलता हासिल करते हुए वासनाविहीन होकर वह साधक क्रमशः तुर्या नाम वाली छठी भूमिका में प्रविष्ट होता है। जहाँ सत्-असत् का अभाव है, अहंकार-अनहंकार भी नहीं है तथा विशुद्ध अद्वैत स्थिति में मननात्मक वृत्ति से रहित होने पर वह अत्यन्त निर्भयता को प्राप्त करता है। हृदय ग्रन्थियों के उद्घाटित होने पर संशय मिट जाते हैं। जीवन्मुक्त होकर उसकी भावशून्यता की सी स्थिति रहती है। निर्वाण को उपलब्ध न किये जाने पर भी उसकी स्थिति निर्वाण पद को प्राप्त साधक जैसी हो जाती है। उस समय वह निश्चेष्ट दीपक की तरह निश्चल रहता है। छठी भूमिका के पश्चात् वह सातवीं भूमिका की स्थिति प्राप्त करता है। विदेह-मुक्त की स्थिति ही सातवीं भूमिका कही गयी है॥ ३२-४० ॥

अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा सर्वभूमिषु। लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम्॥४१ ॥
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु। ओंकारमात्रमखिलं विश्वप्राज्ञादिलक्षणम्॥ ४२ ॥
वाच्यवाचकताभेदात् भेदेनानुपलब्धितः। अकारमात्रं विश्वः स्यादुकारस्तैजसः स्मृतः॥ ४३ ॥
प्राज्ञो मकार इत्येवं परिपश्येत्क्रमेण तु। समाधिकालात्प्रागेव विचिन्त्यातिप्रयत्नतः॥ ४४॥
स्थूलसूक्ष्मक्रमात्सर्वं चिदात्मनि विलापयेत् । चिदात्मानं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसदद्वयः॥ ४५ ॥

परमानन्दसंदोहो वासुदेवोऽहमोमिति । आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः ॥ ४६ ॥ तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवानघ। अविद्यातिमिरातीतं सर्वाभासविवर्जितम्॥ ४७॥ आनन्दममलं शुद्धं मनोवाचामगोचरम्। प्रज्ञानघनमानन्दं ब्रह्मास्मीति विभावयेत्। इत्युपनिषत्।।४८ ॥

यह भूमिका परम शान्त की है तथा वाणी की सामर्थ्य से अवर्णनीय है। यह सब भूमिकाओं की सीमारूप है तथा यहाँ सम्पूर्ण योग भूमिकाओं की समाप्ति है। लोकाचार, देहाचार और शास्त्रानुगमन को छोड़कर अपने अध्यास को नष्ट करे। विश्व, प्राज्ञ और तैजस के रूप में यह समस्त विश्व 'ॐ कार' स्वरूप ही है। वाच्य और वाचक में अभेदता रहती है और भेद होने पर इसकी उपलब्धि सम्भव नहीं। इन्हें क्रमशः इस प्रकार जाने-प्रणव की प्रथम मात्रा 'अकार विश्व, उकार तैजस और मकार प्राज्ञ रूप है। समाधिकाल से पहले विशेष प्रयासपूर्वक इस सम्बन्ध में चिन्तन-मनन करके स्थूल और सूक्ष्म से क्रमशः सब कुछ चिदात्मा में विलीन करे। चिदात्मा का स्व-स्वरूप स्वीकार करते हुए ऐसा दृढ़ विश्वास करे-मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्तारूप, अद्वितीय, परमआनन्द सन्दोह रूप एवं वासुदेव प्रणव ॐ कार हूँ। चूँकि आदि, मध्य और अन्त में यह सम्पूर्ण प्रपञ्च दुःख देने वाला ही है, इसलिए हे निष्पाप! सबका परित्याग करके तत्त्वनिष्ठ बने। मैं अज्ञानरूपी अन्धकार से अतीत, सभी प्रकार के आभास से रहित, आनन्दरूप, मलरहित, शुद्ध, मन और वाणी से अगोचर, प्रज्ञानघन, आनन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ,ऐसी भावना करे। यही उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) है॥ ४१-४८॥

॥ ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥

॥ इति अक्ष्युपनिषत्समाप्ता ॥

अथ मध्यलक्ष्यलक्षणं प्रातश्चित्रादिवर्णाखण्डसूर्यचक्रवद्वह्निज्वालावलीवत्तद्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति। तदाकाराकारितयावतिष्ठति। तद्भूयोदर्शनेन गुणरहिताकाशं भवति। विस्फुरत्तारकाकारसंदीप्यमानागाढतमोपमं परमाकाशं भवति। कालानलसमद्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमद्युतिप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाशवैभवसंकाशं सूर्याकाशं भवति। एवं बाह्याभ्यन्तरस्थव्योमपञ्चकं तारकलक्ष्यम्। तद्दर्शी विमुक्तफलस्तादृग्व्योमसमानो भवति। तस्मात्तारक एव लक्ष्यममनस्कफलप्रदं भवति॥ ७॥

इसके अनन्तर अब 'मध्यलक्ष्य' के लक्षण का वर्णन करते हैं। जो प्रातः काल के समय में चित्रादि वर्ण से युक्त अखण्ड सूर्य का चक्रवत्, अग्नि की ज्वाला की भाँति तथा उनसे विहीन अन्तरिक्ष के समान देखता है। उस आकार के सदृश होकर प्रतिष्ठित रहता है। पुनः उसके दर्शन मात्र से वह गुणरहित 'आकाश' रूप हो जाता है। विस्फुरित (प्रकाशित) होने वाले तारागणों से प्रकाशमान एवं प्रातःकाल के अंधेरे की भाँति 'परमाकाश' होता है। 'महाकाश' कालाग्नि के समान प्रकाशमान होता है। 'तत्त्वाकाश' सर्वोत्कृष्ट प्रकाश एवं प्रखर ज्योति-सम्पन्न होता है। 'सूर्याकाश' करोड़ों सूर्यों के सदृश होता है। इस तरह बाह्य एवं अन्तः में प्रतिष्ठित ये 'पाँच आकाश' तारक-ब्रह्म के ही लक्ष्य हैं। इस क्रिया विधि द्वारा आकाश का दर्शन करने वाला उसी की भाँति समस्त बन्धनों को काटकर मुक्ति-प्राप्ति का अधिकारी हो ज़ाता है। तारक का लक्ष्य ही अमनस्क फल-प्रदाता कहा गया है॥ ७॥

तत्तारकं द्विविधं पूर्वार्धतारकमुत्तरार्धममनस्कं चेति। तदेष श्लोको भवति। तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः। पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति॥ ८॥

इस तारक योग की दो विधियाँ बतलाई गई हैं। जिसमें प्रथम पूर्वार्द्ध है और द्वितीय उत्तरार्द्ध। इस सन्दर्भ में यह श्लोक द्रष्टव्य है-'यह योग पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो प्रकार का होता है। पूर्व को 'तारक' एवं उत्तर को 'अमनस्क' (मनः शून्य होना) कहा गया है॥ ८॥

अक्ष्यन्तस्तारयोश्चन्द्रसूर्यप्रतिफलनं भवति। तारकाभ्यां सूर्यचन्द्रमण्डलदर्शनं ब्रह्माण्डमिव पिण्डाण्डशिरोमध्यस्थाकाशे रवीन्दुमण्डलद्वितयमस्तीति निश्चित्य तारकाभ्यां तद्दर्शनमात्राण्युभयैक्यदृष्ट्या मनोयुक्तं ध्यायेत्। तद्योगाभावे इन्द्रियप्रवृत्तेरनवकाशात्। तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसंधेयः॥ ९॥

हम आँखों के तारक (पुतलियों) से सूर्य एवं चन्द्र का दर्शन (प्रतिफलन) करते हैं। जिस तरह से हम आँखों के तारकों से ब्रह्म-ब्रह्माण्ड के सूर्य एवं चन्द्र को देखते हैं, वैसे ही अपने सिर रूपी ब्रह्माण्ड के मध्य में विद्यमान सूर्य एवं चन्द्र का निर्धारण करके उनका हमेशा दर्शन करना चाहिए तथा दोनों को एक ही रूप जान करके मन को एकाग्र कर उनका चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि यदि मन को इस भाव से ओत-प्रोत न किया जायेगा, तो समस्त इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होने लगेंगी। इस कारण योगी-साधक को अपनी अन्तः की दृष्टि से 'तारक' का निरन्तर अनुसंधान करते रहना चाहिए॥ ९॥

तत्तारकं द्विविधं मूर्तितारकममूर्तितारकं चेति। यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तिमत्। यद्भ्रूयुगातीतं तदमूर्तिमत्। सर्वत्रान्तःपदार्थविवेचने मनोयुक्ताभ्यास इष्यते तारकाभ्यां सदूर्ध्वस्थ सत्त्वदर्शनान्मनोयुक्तेनान्तरीक्षणेन सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव। तस्माच्छुक्लतेजोमयं ब्रह्मेति सिद्धम्।

तद्ब्रह्म मनःसहकारिचक्षुषान्तर्दृष्ट्या वेद्यं भवति। एवममूर्तितारकमपि मनोयुक्तेन चक्षुषैव दहरादिकं वेद्यं भवति रूपग्रहणप्रयोजनस्य मनश्चक्षुरधीनत्वाद्बाह्यवदान्तरेऽप्यात्ममनश्चक्षुःसंयोगेनैव रूपग्रहणकार्योदयात्। तस्मान्मनोयुक्तान्तर्दृष्टिस्तारकप्रकाशा भवति॥ १०॥

इस 'तारक' की दो विधियाँ कही गई हैं, जिसमें प्रथम मूर्त (मूर्ति)एवं द्वितीय अमूर्त (अमूर्ति) है। जो इन्द्रियों के अन्त (अर्थात् मनश्चक्षु) में है, वह मूर्त तारक है तथा जो दोनों भृकुटियों से बाहर है, वह अमूर्त है। आन्तरिक पदार्थों के विवेचन में सर्वत्र मन को एकाग्र करके अभ्यास करते रहना चाहिए। सात्त्विक-दर्शन से युक्त मन द्वारा अपने अन्तःकरण में सतत निरीक्षण करने से दोनों तारकों के ऊर्ध्व भाग में सच्चिदानन्दमय ज्योतिरूप परब्रह्म का दर्शन होता है। इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म शुक्ल-शुभ्र तेज स्वरूप है। उस ब्रह्म को मनसहित नेत्रों की अन्तःदृष्टि से देखकर जानना चाहिए। अमूर्त तारक भी इसी विधि से मनः संयुक्त नेत्रों से ज्ञात हो जाता है। रूप दर्शन के सम्बन्ध में मन नेत्रों के आश्रित रहता है और बाहर के सदृश अन्तः में भी रूप ग्रहण का कार्य इन दोनों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इस कारण मन के सहित नेत्रों के द्वारा ही 'तारक' का प्रकाश होता है॥ १०॥

भ्रूयुगमध्यबिले दृष्टिं तद्द्वारोर्ध्वस्थिततेज आविर्भूतं तारकयोगो भवति। तेन सह मनोयुक्तं तारकं सुसंयोज्य प्रयत्नेन भ्रूयुग्मं सावधानतया किंचिदूर्ध्वमुत्क्षेपयेत्। इति पूर्वभागी तारकयोगः। उत्तरं त्वमूर्तिमदमनस्कमित्युच्यते। तालुमूलोर्ध्वभागे महान् ज्योतिर्मयूखो वर्तते। तद्योगिभिर्ध्येयम्। तस्मादणिमादिसिद्धिर्भवति॥ ११॥

जो मनुष्य अपनी आन्तरिक दृष्टि के द्वारा दोनों भृकुटियों के स्थल से थोड़ा सा ऊपरी भाग में स्थित तेजोमय प्रकाश का दर्शन करता है, वही तारक योगी होता है। उसके साथ मन के द्वारा तारक की सुसंयोजना करते हुए प्रयत्नपूर्वक दोनों भौंहों को कुछ थोड़ा सा ऊँचाई पर स्थिर करे। यही तारक का पूर्वार्द्ध योग कहलाता है। द्वितीय उत्तरार्द्ध भाग को अमूर्त कहा गया है। तालु-मूल के ऊर्ध्व भाग में महान् ज्योति किरण मण्डल स्थित है। उसी का ध्यान योगियों का ध्येय (लक्ष्य) होता है। उसी से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं॥११॥

अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां सत्यां शांभवी मुद्रा भवति। तन्मुद्रारूढज्ञानिनिवासाद्भूमिः पवित्रा भवति। तद्दृष्ट्वा सर्वे लोकाः पवित्रा भवन्ति। तादृशपरमयोगिपूजा यस्य लभ्यते सोऽपि मुक्तो भवति॥ १२॥

योगी-साधक की अन्तः एवं बाह्य लक्ष्य को देखने की सामर्थ्य वाली दृष्टि जब स्थिर हो जाती है, तब वह स्थिति ही शांभवी मुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा से ओत-प्रोत ज्ञानी पुरुष का निवास स्थल अत्यन्त पवित्र माना जाता है तथा सभी लोक उसकी दृष्टि-मात्र से पवित्र हो जाते हैं। जो भी इस परम योगी की पूजा करता है, वह उसको प्राप्त करते हुए मुक्ति का अधिकारी हो जाता है॥ १२॥

अन्तर्लक्ष्यजलज्योतिःस्वरूपं भवति। परमगुरूपदेशेन सहस्त्रारे जलज्योतिर्वा बुद्धिगुहानिहितज्योतिर्वा षोडशान्तस्थतुरीयचैतन्यं वान्तर्लक्ष्यं भवति। तद्दर्शनं सदाचार्यमूलम्॥ १३॥

अन्तर्लक्ष्य उज्ज्वल शुभ्र ज्योति के रूप में हो जाता है। परम सद्गुरु का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सहस्त्र दल कमल में स्थित उज्ज्वल-ज्योति अथवा बुद्धि-गुहा में स्थित रहने वाली ज्योति अथवा फिर वह सोलह कला के अन्तः में विद्यमान तुरीय चैतन्य स्वरूप अन्तर्लक्ष्य होता है। यही दर्शन सदाचार का मूल है॥ १३॥

आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः। योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः॥१४॥

गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः । एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥ १५ ॥

वेदज्ञान से सम्पन्न, आचार्य (श्रेष्ठ आचरण वाला), विष्णुभक्त, मत्सर आदि विकारों से रहित, योग का ज्ञाता, योग के प्रति निष्ठा रखने वाला, योगात्मा, पवित्रता युक्त, गुरुभक्त, परमात्मा की प्राप्ति में विशेष रूप से संलग्न रहने वाला— इन उपर्युक्त लक्षणों से सम्पन्न पुरुष ही गुरु रूप में अभिहित किया जाता है॥ १४-१५ ॥

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते॥ १६ ॥

'गु' अक्षर का अर्थ है—अन्धकार एवं 'रु' अक्षर का अर्थ है—अन्धकार को रोकने में समर्थ। अन्धकार (अज्ञान) को दूर करने वाला ही गुरु कहलाता है॥ १६ ॥

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः। गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम्॥ १७॥

गुरु ही परम ब्रह्म परमात्मा है, गुरु ही परम (श्रेष्ठ) गति है, गुरु ही पराविद्या है और गुरु ही परायण (उत्तम आश्रय) है॥ १७॥

गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनम्। यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरुरिति॥ १८ ॥

गुरु ही पराकाष्ठा है, गुरु ही परम (श्रेष्ठ) धन है। जो श्रेष्ठ उपदेश करता है, वही गुरु से गुरुतर अर्थात् श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम गुरु है, ऐसा जानना चाहिए ॥ १८॥

यः सकृदुच्चारयति तस्य संसारमोचनं भवति। सर्वजन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति। सर्वान्कामानवाप्नोति। सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्भवति। य एवं वेदेत्युपनिषत्॥ १९ ॥

जो मनुष्य एक बार (गुरु या इस उपनिषद् का) उच्चारण (पाठ) करता है, उसकी संसार-सागर से निवृत्ति हो जाती है। समस्त जन्मों के पाप तत्क्षण ही विनष्ट हो जाते हैं। समस्त इच्छाओं-आकांक्षाओं की पूर्ति हो जाती है। सभी पुरुषार्थ सफल-सिद्ध हो जाते हैं। जो ऐसा जानता है, वही उपनिषद् का यथार्थ ज्ञानी है, यही उपनिषद् है॥ १९ ॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः ॥

॥ इति अद्वयतारकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ कलिसंतरणोपनिषद् ॥

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में 'यथा नामे तथा गुणे' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए 'कलियुग' के दुष्प्रभाव से 'तर' (पार हो) जाने का अति सुगम उपाय वर्णित है। 'हरि' नाम की महिमा वर्णित होने से इसे हरिनामोपनिषद् भी कहा जाता है।

इस लघुकाय उपनिषद् में कुल ३ मन्त्र हैं। नारद और ब्रह्मा जी के प्रश्नोत्तर रूप में यह उपनिषद् प्रकट हुई है। जिसमें 'कलिसंतरण' (कलियुग के दुष्प्रभाव से बचने) का सुगम उपाय भगवन्नाम स्मरण बताया गया है। उपनिषद् का मानना है कि आत्मा (ब्रह्म) पर जो आवरण रहता है, जिसके रहते ब्रह्म साक्षात्कार सम्भव नहीं हो पाता; यह षोडशनामात्मक मन्त्र उस आवरण को नष्ट करने में समर्थ है। जिसके नष्ट होते ही 'ब्रह्म' का स्वरूप साधक के लिए उसी प्रकार प्रकट हो जाता है, जिस प्रकार मेघाच्छन्न 'सूर्य' वायु द्वारा मेघ के छिन्न-भिन्न कर देने पर स्वत: प्रकट हो जाता है। उपनिषद् के अन्त में नाम-जप की महिमा का सुन्दर विवेचन किया गया है, इसी के साथ यह उपनिषद् पूर्ण हो जाती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम कथं भगवन् गां पर्यटन्कलिं संतरेयमिति। स होवाच ब्रह्मा साधु पृष्टोऽस्मि सर्वश्रुतिरहस्यं गोप्यं तच्छृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि। भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति॥ १॥

द्वापर युग के अन्तिम काल में एक बार देवर्षि नारद पितामह ब्रह्माजी के समक्ष उपस्थित हुए और बोले- 'हे भगवन्'! मैं पृथ्वीलोक में भ्रमण करता हुआ किस प्रकार से कलिकाल से मुक्ति पाने में समर्थ हो सकता हूँ? ब्रह्माजी प्रसन्नमुख हो इस प्रकार बोले-'हे वत्स! तुमने आज मुझसे अत्यन्त प्रिय बात पूछी है। आज मैं समस्त श्रुतियों का जो अत्यन्त गुप्त रहस्य है, उसे बतलाता हूँ, सुनो। इसके श्रवण मात्र से ही कलियुग में संसार-सागर को पार कर लोगे। भगवान् आदि पुरुष श्रीनारायण के पवित्र नाम के उच्चारण मात्र से मनुष्य कलिकाल के समस्त दोषों को विनष्ट कर डालता है॥ १॥

नारदः पुनः पप्रच्छ तन्नाम किमिति। स होवाच हिरण्यगर्भः। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्। नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते। इति षोडशकलावृतस्य जीवस्यावरणविनाशनम्। ततः प्रकाशते परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमण्डलीवेति॥ २॥

देवर्षि नारद ने पुनः प्रश्न किया-'पितामह! वह कौन सा नाम है?' तदुपरान्त हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जी ने कहा-वह सोलह अक्षरों से युक्त नाम इस प्रकार है-हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। इस प्रकार ये सोलह नाम कलिकाल के महान् पापों का विनाश करने में सक्षम हैं। इससे श्रेष्ठ अन्य कोई दूसरा उपाय चारों वेदों में भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इन सोलह नामों के द्वारा षोडश कलाओं से आवृत

जीव के आवरण समाप्त हो जाते हैं। तदनन्तर जिस प्रकार मेघ के विलीन होने पर सूरज की किरणें ज्योतित होने लगती हैं, वैसे ही परब्रह्म का स्वरूप भी दीप्तिमान् होने लगता है॥ २॥

पुनर्नारदः पप्रच्छ भगवन्कोऽस्य विधिरिति। तं होवाच नास्य विधिरिति। सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन्ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति। यदास्य षोडशीकस्य सार्धत्रिकोटीर्जपति तदा ब्रह्महत्यां तरति। तरति वीरहत्याम्। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। पितृदेवमनुष्याणामपकारात्पूतो भवति। सर्वधर्मपरित्यागपापात्सद्यः शुचितामाप्नुयात् सद्यो मुच्यते सद्यो मुच्यत इत्युपनिषत्॥ ३॥

देवर्षि नारद जी ने पुनः प्रश्न किया-हे प्रभु! इस मन्त्र नाम के जप की क्या विधि है? ब्रह्माजी ने कहा- इस मन्त्र की कोई विधि नहीं है। शुद्ध हो अथवा अशुद्ध, हर स्थिति में इस मन्त्र-नाम का सतत जप-करने वाला मनुष्य सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य आदि सभी तरह की मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। जब साधक इस षोडश नाम वाले मन्त्र का साढ़े तीन करोड़ जप कर लेता है, तब वह ब्रह्म-हत्या के दोष से मुक्त हो जाता है। वह बीरहत्या (या भाई की हत्या) के पाप से भी मुक्त हो जाता है। स्वर्ण की चोरी के पाप से भी मुक्त हो जाता है। पितर, देव और मनुष्यों के अपकार के पापों (दोषों) से भी मुक्त हो जाता है। समस्त धर्मों के त्याग के पाप से वह तुरन्त ही परिशुद्ध हो जाता है। वह शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। ऐसी ही यह उपनिषद् है॥ ३॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः॥

॥ इति कलिसंतरणोपनिषत्समाप्ता॥

॥ कालाग्निरुद्रोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय परम्परा के अन्तर्गत आती है। इसमें ब्रह्मज्ञान के साधनभूत 'भस्मधारण' की विशेष विधि का उल्लेख है।

इस लघुकाय उपनिषद् में सनत्कुमार और कालाग्निरुद्र के मध्य हुए प्रश्नोत्तर का वर्णन है, जिसमें सर्वप्रथम कालाग्निरुद्र उपनिषद् मन्त्र के ऋषि आदि का विवेचन है। तदुपरान्त 'त्रिपुण्ड्र' धारण की विधि की जिज्ञासा की गई है, तत्पश्चात् शाम्भवव्रत नामक त्रिपुण्ड्र विधि, त्रिपुण्ड्र की रेखा का परिमाण (लम्बाई आदि) तथा तीनों रेखाओं के शक्ति-देवता आदि का प्रतिपादन है। अन्त में इस उपनिषद् विद्या तथा ग्रन्थ के अध्ययन की फलश्रुति का महिमामण्डित स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य इस उपनिषद् का अध्ययन (पूर्ण मनोयोग से) करता है, वह तद्रूप (शिवरूप) हो जाता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

अथ कालाग्निरुद्रोपनिषदः संवर्तकोऽग्निर्ऋषिरनुष्टुप्छन्दः श्रीकालाग्निरुद्रो देवता श्री कालाग्निरुद्रप्रीत्यर्थे विनियोगः॥ १ ॥

इस कालाग्निरुद्रोपनिषद् के ऋषि संवर्तक अग्नि, अनुष्टुप्-छन्द और देवता श्रीकालाग्नि रुद्र हैं। श्री कालाग्निरुद्र देव की प्रसन्नता के लिए इसका विनियोग किया जाता है॥ १ ॥

अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छ अधीहि भगवंस्त्रिपुण्ड्रविधिं सतत्त्वं किं द्रव्यं कियत्स्थानं कति प्रमाणं का रेखाः के मंत्राः का शक्तिः किं दैवतं कः कर्ता किं फलमिति च॥ २ ॥

किसी समय एक बार सनत्कुमारजी ने भगवान् कालाग्निरुद्रदेव से प्रश्न किया— ' हे भगवन्! त्रिपुण्ड्र की विधि तत्त्वसहित मुझे समझाने की कृपा करें। वह क्या है? उसका स्थान कौन सा है, उसका प्रमाण (अर्थात्-आकार) कितना है, उसकी रेखाएँ कितनी हैं, उसका कौन सा मंत्र है, उसकी शक्ति क्या है, उसका कौन सा देवता है, कौन उसका कर्ता है तथा उसका फल क्या होता है?॥ २ ॥

तं होवाच भगवान्कालाग्निरुद्रः यद्द्रव्यं तदाग्नेयं भस्म सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैः परिगृह्याग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्मेत्यनेना-भिमन्त्र्य मानस्तोक इति समुद्धृत्य मा नो महान्तमिति जलेन संसृज्य त्रियायुषमिति शिरोललाट-वक्षःस्कन्धेषु त्रियायुषैस्त्र्यम्बकैस्त्रिशक्तिभिस्तिर्यक्तिस्रो रेखाः प्रकुर्वीत व्रतमेतच्छाम्भवं सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं भवति तस्मात्तत्समाचरेन्मुमुक्षुर्न पुनर्भवाय॥ ३ ॥

यह सुनकर उन भगवान् कालाग्निरुद्र ने सनत्कुमार जी को समझाते हुए कहा कि त्रिपुण्ड्र का द्रव्य अग्निहोत्र की भस्म ही है। इस भस्म को 'सद्योजातादि' पञ्चब्रह्म मंत्रों को पढ़कर धारण करना चाहिए। अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, खमिति भस्म, जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, (पञ्चभूतादि) मन्त्रों से अभिमन्त्रित करे।'मानस्तोक' मंत्र से अँगुली पर ले तथा 'मा नो महान्' मन्त्र से जल से गीला करके 'त्रियायुषं' इस मंत्र से सिर, ललाट, वक्ष एवं कन्धे पर तथा 'त्रियायुष' एवं 'त्र्यम्बक' मन्त्र के द्वारा तीन रेखाएँ बनाए। इसी का नाम शाम्भव व्रत कहा गया है। इस व्रत का वर्णन वेदज्ञों ने समस्त वेदों में किया है। जो मुमुक्षु जन यह आकांक्षा रखते हैं कि उन्हें पुनर्जन्म न लेना पड़े, तो उन्हें इसे धारण करना चाहिए॥ ३ ॥

अथ सनत्कुमारः पप्रच्छ प्रमाणमस्य त्रिपुण्ड्रधारणस्य॥ ४॥

ऐसा सुनने के पश्चात् सनत्कुमार जी ने पूछा कि त्रिपुण्ड्र की तीन रेखाओं को धारण करने का प्रमाण (लम्बाई आदि) क्या है?॥ ४॥

त्रिधा रेखा भवत्याललाटादाचक्षुषोरामूर्ध्नोराभ्रुवोर्मध्यतश्च ॥ ५॥

भगवान् श्री कालाग्निरुद्र ने उत्तर दिया कि तीन रेखाएँ दोनों नेत्रों के भ्रूमध्य से आरम्भ कर स्पर्श करते हुए ललाट- मस्तक पर्यन्त धारण करे॥ ५॥

यास्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चाकारो रजो भूर्लोकः स्वात्मा क्रियाशक्तिर्ऋग्वेदः प्रातःसवनं महेश्वरो देवतेति॥ ६॥

प्रथम रेखा गार्हपत्य अग्निरूप, 'अ' कार रूप, रजोगुणरूप, भूलोकरूप, स्वात्मकरूप, क्रियाशक्तिरूप, ऋग्वेदस्वरूप, प्रातः सवनरूप तथा महेश्वरदेव के रूप की है॥ ६॥

यास्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मा चेच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यंदिनं सवनं सदाशिवो देवतेति॥ ७॥

द्वितीय रेखा दक्षिणाग्निरूप, 'उ' कार रूप, सत्त्वरूप, अन्तरिक्षरूप, अन्तरात्मारूप, इच्छाशक्तिरूप, यजुर्वेदरूप, माध्यन्दिन सवनरूप एवं सदाशिव के रूप की है॥ ७॥

यास्य तृतीया रेखा साहवनीयो मकारस्तमो द्यौर्लोकः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेद-स्तृतीयसवनं महादेवो देवतेति॥ ८॥

तीसरी रेखा आहवनीयाग्नि रूप, 'म' कार रूप, तमरूप, द्यु-लोकरूप, परमात्मारूप, ज्ञानशक्तिरूप, सामवेदरूप, तृतीय सवनरूप तथा महादेवरूप की है॥ ८॥

एवं त्रिपुण्ड्रविधिं भस्मना करोति यो विद्वान्ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति स सर्वान्वेदानधीतो भवति स सर्वान्देवाञ्ज्ञातो भवति स सततं सकलरुद्रमन्त्रजापी भवति स सकलभोगान्भुङ्क्ते देहं त्यक्त्वा शिवसायुज्यमेति न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तत इत्याह भगवान्कालाग्निरुद्रः॥ ९॥

इस तरह से त्रिपुण्ड्र की विधि से जो भी कोई ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी अथवा संन्यासी भस्म को धारण करता है। वह महापातकों एवं उपपातकों से मुक्त हो जाता है। वह समस्त तीर्थों में स्नान करने के सदृश पवित्र हो जाता है, उसे समस्त वेदों के पारायण का फल प्राप्त हो जाता है। वह सम्पूर्ण देवों को जानने में समर्थ हो जाता है। वह समस्त प्रकार के भोगों को भोगकर भगवान् शिव के लोक को प्राप्त करता है। वह पुनः जन्म नहीं लेता। इस प्रकार से भगवान् कालाग्निरुद्रदेव ने सनत्कुमार जी से त्रिपुण्ड्र के धारण करने की विधि का वर्णन किया है॥ ९॥

यस्त्वेतद्वाधीते सोऽप्येवमेव भवतीत्यों सत्यमित्युपनिषत्॥ १०॥

जो मनुष्य इस उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह भी उसी रूप में (शिवरूप में) हो जाता है। ॐ ही सत्य है। ऐसी ही यह उपनिषद् है॥ १०॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः॥

॥ इति कालाग्निरुद्रोपनिषत्समाप्ता॥

॥ कृष्णोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसका शुभारम्भ मुनिगणों एवं भगवान् के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में हुआ है। जिसमें भगवान् राम के द्वारा कृष्णावतार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की गई है। तदनुसार भगवान् के विविध लीला-विग्रह ही कृष्णावतार के समय के विभिन्न पात्रों के रूप में अवतरित हुए हैं। निष्कर्षत: कहा गया है कि उन भगवान् श्री कृष्ण ने स्वर्गवासियों को एवं समस्त वैकुण्ठधाम को पृथिवीतल पर अवतरित कर लिया है, जो भी मनुष्य इस तरह उन भगवान् को जानता है, वह समस्त तीर्थों के फल को प्राप्त कर लेता है और शारीरिक-बन्धनों से सदा के लिए मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इसी फलश्रुति के साथ यह उपनिषद् पूर्ण होती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न ऽ इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे देव! हम कानों से कल्याणकारी बातें सुनें, आँखों से कल्याणकारी (दृश्य) देखें, हम हृष्ट-पुष्ट अंगों और शरीर से ईश्वर द्वारा प्रदत्त पूरी आयु देवहित कार्यों में बितायें। महान् कीर्ति सम्पन्न देवराज इन्द्र हमारा कल्याण करें। सर्वज्ञाता पूषा देवता हमारा कल्याण करें। अरिष्टनेमि (जिसकी गति अवरुद्ध न की जा सके), तार्क्ष्य (गरुड़) तथा बृहस्पतिदेव हमारा कल्याण करें। त्रिविध तापों की शान्ति हो।

श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति। भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ अन्ये येऽवतारास्ते हि गोपा नः स्त्रीश्च नो कुरु। अन्योन्यविग्रहं धार्यं तवाङ्गस्पर्शनादिह। शश्वत्स्पर्शयितास्माकं गृह्णीमोऽवतारान्वयम्॥ १॥ रुद्रादीनां वचः श्रुत्वा प्रोवाच भगवान्स्वयम्। अङ्गसङ्गं करिष्यामि भवद्वाक्यं करोम्यहम्॥ २

सर्वांग सुन्दर, सच्चिदानन्द स्वरूप, महाविष्णु (के अवतारी) श्री रामचन्द्र जी को देखकर वनवासी मुनिगण बड़े आश्चर्यचकित हुए। (उन्हें धरती पर अवतरित होने के लिए ब्रह्मा जी का आदेश होने पर) ऋषियों ने उनसे (राम से) कहा- हम सब (धरती पर) अवतरित होने को अच्छा नहीं मानते हैं। हम आपका आलिंगन (अत्यधिक निकटता) चाहते हैं। (भगवान् ने कहा-हमारे) अन्य अवतार-कृष्णावतार में तुम सभी गोपिका बनकर मेरा आलिंगन (अतिसंन्निकटता) प्राप्त करो। (ऋषियों ने पुनः कहा- हमारे) जो अन्य अवतार हों, (उनमें) हमें गोप-गोपिका बना दें। आपका सान्निध्य प्राप्त करने की स्थिति में हमें ऐसा शरीर (गोपिका आदि) धारण करना स्वीकार्य है, जो आपका स्पर्श सुख प्रदान कर सके। रुद्र आदि सभी देवों की यह स्नेहयुक्त प्रार्थना

सुनकर स्वयं आदि पुरुष भगवान् ने कहा-हे देवो! मैं अपने अंग-अवयवों के स्पर्श का अवसर तुम्हें निश्चित रूप से प्रदान करता रहूँगा। मैं तुम्हारी इच्छा को अवश्य पूर्ण करूँगा॥ १-२॥

मोदितास्ते सुराः सर्वे कृतकृत्याधुना वयम्। यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी॥ ३॥
माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वराजसतामसी। प्रोक्ता च सात्त्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी॥४॥
तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा ह्युदाहृता। अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा॥ ५॥
देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते। निगमो वसुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः॥ ६॥
स्तुवते सततं यस्तु सोऽवतीर्णो महीतले। वने वृन्दावने क्रीडन्गोपगोपीसुरैः सह॥ ७॥
गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः। वंशस्तु भगवान् रुद्रः शृङ्गमिन्द्रः सगोसुरः॥ ८॥
गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः। लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालस्तिरस्कृतः॥ ९॥

परम पुरुष भगवान् का यह आश्वासन प्राप्त करके वे सभी देवगण अत्यधिक आनन्दित होते हुए बोले कि 'अब हम कृतार्थ हो गये।' तदनन्तर वे समस्त देवगण भगवान् की सेवा हेतु प्रकट हुए। भगवान् का परम आनन्दमय स्वरूप ही अंशरूप में नन्दराय जी के रूप में उत्पन्न हुआ। स्वयं साक्षात् मुक्तिदेवी नन्दरानी यशोदा जी के रूप में अवतरित हुईं। सुप्रसिद्ध माया तीन प्रकार की कही गयी है, जिनमें से प्रथम सात्त्विकी, द्वितीय राजसी और तृतीय तामसी। भगवान् के भक्त श्रीरुद्र देव में सात्त्विकी माया विद्यमान है, ब्रह्मा जी में राजसी माया है और असुरों में तामसी माया का प्राकट्य हुआ है। इस कारण से यह तीन प्रकार की बतलायी गयी है। इसके अतिरिक्त जो वैष्णवी-माया है, उसको जीतना हर किसी के लिए असंभव है। इस माया को प्राचीन काल में ब्रह्मा जी भी पराजित नहीं कर सके। देवता भी सदा जिस वैष्णवी माया की स्तुति करते हैं,वही ब्रह्म विद्यामयी वैष्णवी माया ही देवकी के रूप में प्रादुर्भूत हुई। निगम अर्थात् वेद ही वसुदेव हैं,जो निरन्तर मुझ पूर्ण पुरुष नारायण के विराट् स्वरूप की स्तुति करते हैं। वेदों का तात्पर्यभूत ब्रह्म ही श्री बलराम एवं श्रीकृष्ण के रूप में इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ। वह मूर्तिमय वेदार्थ ही वृन्दावन में विद्यमान गोप एवं गोपियों के साथ क्रीड़ा करता है। वेदों की ऋचाएँ उन भगवान् श्रीकृष्ण की गौएँ एवं गोपियाँ हैं। ब्रह्माजी ने लकुटी का रूप धारण किया है तथा भगवान् रुद्र वंश(वंशी)बने हुए हैं। सगोसुर इन्द्र (अर्थात् वज्रधारी देव इन्द्र-यहाँ गो का अर्थ वज्र तथा सुर का अर्थ देव लिया गया है।) शृंग (सींग का बना वाद्ययंत्र) का रूप धारण किए हुए हैं। गोकुल के नाम से प्रसिद्ध वन के रूप में जहाँ स्वयं साक्षात् वैकुण्ठ प्रतिष्ठित है, वहाँ पर द्रुमों (वृक्षों) के रूप में तप में रत महात्मा स्थित हैं। लोभ-क्रोधादि षड् विकारों ने महान् दैत्य-असुरों का रूप धारण कर लिया है, जो कलियुग में (केवल भगवान् श्रीकृष्ण के नाम जप मात्र से ही) विनष्ट हो जाते हैं॥ ३-९॥

गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारणः। दुर्बोधं कुहकं तस्य मायया मोहितं जगत्॥ १०॥
दुर्जया सा सुरैः सर्वैर्धृष्टिरूपो भवेद्द्विजः। रुद्रो येन कृतो वंशस्तस्य माया जगत्कथम्॥ ११॥
बलं ज्ञानं सुराणां वै तेषां ज्ञानं हृतं क्षणात्। शेषनागोभवेद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्॥१२॥
अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा। ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः॥ १३॥
द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः। दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो बकः॥ १४॥
दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै। अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः॥१५॥
शमो मित्रः सुदामा च सत्याक्रूरोद्धवो दमः। यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः॥१६

दुग्धसिन्धौ समुत्पन्नो मेघघोषस्तु संस्मृतः। दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डो दधिग्रहे॥ १७॥
क्रीडते बालको भूत्वा पूर्ववत्सुमहोदधौ। संहारार्थं च शत्रूणां रक्षणाय च संस्थितः॥ १८॥
कृपार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्। यत्स्त्रष्टुमीश्वरेणासीत्तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृक्॥ १९॥

स्वयं साक्षात् भगवान् श्रीहरि ही गोपरूप में लीला-विग्रह का रूप धारण किये हुए हैं। यह नश्वर जगत् माया से ग्रसित है, इस कारण उसके लिए भगवान् श्रीकृष्ण की माया का रहस्य जानना बहुत ही दुष्कर है। वह प्रभु की माया सभी देवताओं के लिए भी दुर्जय है। जिन भगवान् की माया के वश में होकर ब्रह्मा जी लकुटी का रूप धारण किए हुए हैं तथा जिन्होंने भगवान् शिव को वंशी बनने के लिए विवश कर रखा है, उन प्रभु की माया को सामान्य जगत् किस प्रकार जान सकता है ? निश्चित रूप से देवों का जो ज्ञान युक्त बल है, उसे भगवान् की माया ने क्षण भर में हरण कर लिया है। श्रीशेषनाग जी श्री बलराम के रूप में जन्मे और सनातन ब्रह्म ही भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में अवतीर्ण हुए। भगवान् श्रीकृष्ण की रुक्मिणी आदि सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ ही वेदों की ऋचाएँ एवं उपनिषद् हैं, इनके अतिरिक्त वेदों की जो ब्रह्म स्वरूपा ऋचाएँ हैं, वे सभी ब्रजभूमि में गोपिकाओं के रूप में अवतरित हुईं। द्वेष ही चाणूर मल्ल के रूप में है, मत्सर ही दुर्जय मुष्टिक रूप में तथा दर्प ही कुवलयापीड हाथी के रूप में प्रकट हुआ है। गर्व ही आकाश में गमन करने वाले बकासुर राक्षस के रूप में अवतरित हुआ। माता रोहिणी के रूप में दया का प्राकट्य हुआ है और माँ पृथ्वी ही सत्यभामा के रूप में अवतरित हुई हैं। अघासुर के रूप में महाव्याधि और स्वयं साक्षात् कलि ही राजा कंस के रूप में प्रकट हुआ। श्रीकृष्ण के मित्र सुदामा जी ही 'शम' हैं, सत्य के रूप में अक्रूर जी और दम के रूप में उद्धवजी उत्पन्न हुए। शंख स्वयं विष्णुरूप है और लक्ष्मी का भ्राता होने के कारण वह लक्ष्मी रूप भी है, उसका प्राकट्य क्षीरसागर से हुआ है। मेघ के सदृश उसका गम्भीर घोष नाद है। भगवान् ने दूध-दही के भण्डार से युक्त जो मटके फोड़े तथा उन मटकों से जो दूध-दही प्रवाहित हुआ, उसके रूप में भगवान् ने स्वयं साक्षात् क्षीरसागर को ही प्रादुर्भूत किया है और वे (भगवान् श्रीकृष्ण) उस महासागर में बालक रूप में अवस्थित हो पूर्ववत् क्रीड़ा कर रहे हैं। शत्रुओं के शमन एवं साधुजनों के संरक्षण में वे पूर्णरूपेण तत्पर रहते हैं। समस्त भूत-प्राणियों पर अहैतुकी कृपा करने के लिए एवं अपने आत्मज स्वरूप धर्म के अभ्युदय हेतु ही भगवान् श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ है, ऐसा ही जानना चाहिए। भगवान् महाकाल (शिव) ने श्रीहरि को समर्पित करने के लिए जिस चक्र को उत्पन्न किया था, भगवान् (श्री कृष्ण) के हाथ में शोभायमान वह चक्र भी ब्रह्ममय ही है॥ १०-१९॥

जयन्तीसंभवो वायुश्चमरो धर्मसंज्ञितः। यस्यासौ ज्वलनाभासः खड्गरूपो महेश्वरः॥ २०॥
कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्माताऽदितिस्तथा। चक्रं शङ्खं च संसिद्धिं बिन्दुं च सर्वमूर्धनि॥२१॥
यावन्ति देवरूपाणि वदन्ति विबुधा जनाः। नमन्ति देवरूपेभ्य एवमादि न संशयः॥ २२॥
गदा च कालिका साक्षात्सर्वशत्रुनिबर्हिणी। धनुः शार्ङ्गं स्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः॥२३॥
अब्जकाण्डं जगद्बीजं धृतं पाणौ स्वलीलया। गरुडो वटभाण्डीरः सुदामा नारदो मुनिः॥२४॥
वृन्दा भक्तिः क्रिया बुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी। तस्मान्न भिन्नं नाभिन्नमाभिर्भिन्नो न वै विभुः॥२५
भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम्॥ २६॥ सर्वतीर्थफलं लभते य एवं वेद। देहबन्धाद्विमुच्यते इत्युपनिषत्॥

धर्म ने चँवर का रूप धारण किया है, वायुदेव वैजयन्ती माला के रूप में उत्पन्न हुए हैं और महेश्वर ने अग्नि की भाँति चमकते हुए खड्ग का रूप स्वीकार किया है। नन्द जी के घर में कश्यप ऋषि ऊखल के रूप में प्रतिष्ठित हैं तथा माता अदिति रस्सी के रूप में प्रकट हुई हैं। जिस प्रकार समस्त अक्षरों के ऊपर अनुस्वार सुशोभित होता है, वैसे ही सभी के ऊपर जो शोभायमान आकाश है, उसको ही भगवान् श्रीकृष्ण का छत्र समझना चाहिए। व्यास, वाल्मीकि आदि ज्ञानी महात्माजन देवों के जितने रूपों का वर्णन करते हैं और जिन-जिन को लोग देवरूप में समझ कर नमन-वंदन करते हैं, वे समस्त देवगण भगवान् श्रीकृष्ण का ही एक मात्र अवलम्बन प्राप्त करते हैं। भगवान् के हाथ की गदा सम्पूर्ण शत्रुओं को विनष्ट करने वाली साक्षात् कालिका है। शार्ङ्गधनुष के रूप में स्वयं वैष्णवी माया ही उपस्थित है तथा प्राणों का संहार करने वाला काल ही भगवान् का बाण है। इस विश्व-वसुधा के बीज स्वरूप कमल को भगवान् ने लीलापूर्वक हाथ में ग्रहण किया है। भाण्डीर वट का रूप गरुड़ ने धारण कर रखा है और देवर्षि नारद उनके सुदामा नामक सखा के रूप में अवतरित हुए हैं। भक्ति ने वृन्दा का रूप धारण किया है। समस्त भूत-प्राणियों को प्रकाश प्रदान करने वाली जो बुद्धि है, वही भगवान् की क्रियाशक्ति है। इस कारण ये गोप एवं गोपिकाएँ आदि सभी भगवान् श्रीकृष्ण से अलग नहीं हैं तथा विभु-परमात्मा श्रीकृष्ण भी इन सभी से अलग नहीं हैं। उन भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वर्गवासियों को एवं समस्त वैकुण्ठ धाम को पृथिवीतल पर अवतरित कर लिया है, जो भी मनुष्य इस तरह से उन भगवान् को जानता है, वह समस्त तीर्थों के फल को प्राप्त कर लेता है और शारीरिक-बन्धनों से मुक्त हो जाता है, ऐसी ही यह उपनिषद् है॥ २०-२६॥

॥ ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः॥

॥ इति कृष्णोपनिषत्समाप्ता॥

॥ गणपत्युपानषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा के अन्तर्गत है। इसमें सर्वप्रथम गणपति की स्तुति- प्रार्थना की गई है, तदुपरान्त सबकी आत्मा के रूप में विद्यमान गणपति की स्तुति की गई है, तत्पश्चात् गणपतिमनु अर्थात् गणपति शब्द का अनुक्रम, गणपति गायत्री, गणपति ध्यान, गणपति माला मन्त्र, इस विद्या के पठन का फल, विद्या प्रदान करने के नियम, कुछ काम्य प्रयोग अर्थात् कामनाओं की पूर्ति के लिए मन्त्र प्रयोग तथा अन्त में इस उपनिषद् की फलश्रुति का वर्णन किया गया है। वस्तुतः परवर्ती कालीन उपनिषदों में सगुणोपासना की ओर झुकाव दिखाई देता है। इस उपनिषद् में भी कुछ वैसा ही प्रतिपादन है। 'गणपति' को ब्रह्मरूप में भी प्रतिष्ठित किया गया है, परन्तु उनका मानवीकरणरूप अधिक मुखर हुआ है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

नमस्ते गणपतये ॥ १ ॥ त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं कर्तासि। त्वमेव केवलं धर्तासि। त्वमेव केवलं हर्तासि। त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि। त्वं साक्षादात्मासि ॥ २ ॥ नित्यं ऋतं वच्मि। सत्यं वच्मि ॥ ३ ॥

गणपति भगवान् को प्रणाम है। तुम्हीं साक्षात् प्रत्यक्ष तत्त्व हो। तुम्हीं एकमात्र कर्त्ता हो, तुम्हीं एकमात्र धर्त्ता हो और तुम्हीं एकमात्र हर्त्ता हो। एकमात्र तुम्हीं इन समस्त रूपों में विद्यमान ब्रह्म हो। तुम्हीं साक्षात् आत्मस्वरूप हो। मैं सदा ऋत (सत्य से परे) बात कहता हूँ, सत्य का ही प्रतिपादन करता हूँ ॥ १-३ ॥

अव त्वं माम्। अव वक्तारम्। अव श्रोतारम्। अव दातारम्। अव धातारम्। अवानूचानमव शिष्यम्। अव पश्चात्तात्। अव पुरस्तात्। अव चोत्तरात्तात्। अव दक्षिणात्तात्। अव चोर्ध्वात्तात्। अवाधरात्तात्। सर्वतो मां पाहि पाहि समन्तात् ॥ ४ ॥

तुम मेरी रक्षा करो वक्ता (आचार्य) की रक्षा करो। (हम जैसे) श्रोताओं की रक्षा करो। (ज्ञान) दाता की रक्षा करो। धाता (ज्ञानधारक) की रक्षा करो। अनूचान (ज्ञान को क्रिया रूप देने वाले) की रक्षा करो तथा (मुझ) शिष्य की रक्षा करो। आगे से, पीछे से, उत्तर से, दक्षिण से, ऊपर से तथा नीचे की ओर से मेरी रक्षा करो। सभी तरफ से मेरी रक्षा करो, चारों तरफ से मुझे संरक्षण प्रदान करो ॥ ४ ॥

त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मयः। त्वमानन्दमयस्त्वं ब्रह्ममयः। त्वं सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि। त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि ॥ ५ ॥

तुम वाङ्मय (अक्षर स्वरूप) हो, तुम्हीं चिन्मय, आनन्दस्वरूप एवं ब्रह्मरूप हो। तुम्हीं सत्, चित्, आनन्दमय एवं अद्वितीय हो। तुम प्रत्यक्षतया ब्रह्म हो, तुम ज्ञानस्वरूप एवं विज्ञानमय हो ॥ ५ ॥

सर्वं जगदिदं त्वत्तो जायते। सर्वं जगदिदं त्वत्तस्तिष्ठति। सर्वं जगदिदं त्वयि लयमेष्यति। सर्वं जगदिदं त्वयि प्रत्येति। त्वं भूमिरापोऽनलोऽनिलो नभः। त्वं चत्वारि वाक्पदानि। त्वं गुणत्रयातीतः। त्वं कालत्रयातीतः। त्वं देहत्रयातीतः। त्वं मूलाधारस्थितोऽसि नित्यम्। त्वं शक्तित्रयात्मकः। त्वां योगिनो ध्यायन्ति नित्यम्। त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वं वायुस्त्वं सूर्यस्त्वं चन्द्रमास्त्वं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम् ॥ ६ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् तुम्हीं से उत्पन्न हुआ है। यह सम्पूर्ण विश्व तुम्हीं में प्रतिष्ठित है। यह सम्पूर्ण विश्व तुम्हीं में विलीन हो रहा है। इस समस्त जगत् की तुम्हीं में प्रतीति हो रही है। तुम भूमि, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश

रूप हो। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी आदि वाणी के यह चार विभाग तुम ही हो। तुम तीनों गुणों से भी परे हो। तुम भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीनों कालों से भी परे कालातीत हो। तुम्हीं तीनों शरीरों स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण से भी परे हो। तुम्हीं नित्य मूलाधार चक्र में प्रतिष्ठित रहते हो। इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान आदि तीनों शक्तियाँ एकमात्र तुम्हीं हो। योगी तुम्हारा ही निरन्तर चिन्तन करते हैं। तुम्हीं ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, अग्नि, वायु ,सूर्य,चन्द्रमा,ब्रह्म भी हो। ये भूः,भुवः,स्वः तीनों लोक और स्वयं ॐ कार वाची परब्रह्म भी तुम्हीं हो॥ ६॥

गणादिं पूर्वमुच्चार्य वर्णादिं तदनन्तरम्। अनुस्वारः परतरः। अर्धेन्दुलसितम्। तारेण रुद्धम्। एतत्तव मनुस्वरूपम्॥ ७॥

सर्वप्रथम गण के आदि अक्षर (ग्) का उच्चारण करें। तदनन्तर वर्णों के आदि अक्षर (अ) का उच्चारण करें। इसके पश्चात् फिर अनुस्वार का उच्चारण होता है। इस तरह अर्द्धचन्द्र से शोभायमान 'गं' ॐ कार के द्वारा अवरुद्ध हो जाने पर तुम्हारे बीज मंत्र का रूप (ॐ गं) ही है॥ ७॥

गकारः पूर्वरूपम्। अकारो मध्यमरूपम्। अनुस्वारश्चान्त्यरूपम्। बिन्दुरुत्तररूपम्। नादः संधानम्। संहिता संधिः। सैषा गणेशविद्या॥ ८॥

इसका प्रथम रूप 'ग' कार (ग्) है, मध्यम रूप 'अ' कार है, अनुस्वार अन्त्यरूप है तथा बिन्दु ही इसका उत्तर रूप है। नाद ही इसका सन्धान है और संहिता इसकी सन्धि कही गई है। ऐसी ही यह गणेश विद्या है॥८॥

गणक ऋषिः। निचृद्गायत्री छन्दः। श्रीमहागणपतिर्देवता। ॐ गम्। (गणपतये नमः)॥ ९॥

इस मन्त्र के ऋषि-गणक हैं। छन्द निचृद्गायत्री है और देवता-श्री महागणपति हैं। 'ॐ गं (गणपतये नमः' यह ही महामन्त्र के नाम से जाना जाता है)॥ ९॥

एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥ १०॥

हम एक दन्त (गणेश जी) को (गुरु-शास्त्रानुसार) जानते हैं, (उन) वक्रतुण्ड का ध्यान करते हैं। वह दन्ती हम सभी को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें (इस मन्त्र को गणेश-गायत्री मन्त्र कहते हैं)॥ १०॥

एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमङ्कुशधारिणम्। अभयं वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम्॥ ११॥
रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम्। रक्तगन्धानुलिप्ताङ्गं रक्तपुष्पैः सुपूजितम्॥ १२॥
भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम्। आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृतेः पुरुषात्परम्॥ १३॥
एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां वरः॥ १४॥

जो योगी (साधक) एकदन्त, चतुर्भुज स्वरूप, चारों हाथों में पाश, अंकुश, अभय एवं वरदान की मुद्रा धारण करने वाले तथा मूषक (चूहे) के चिह्न वाली ध्वजा को लिए हुए, रक्तवर्ण, विशाल उदर वाले, सूप के सदृश बड़े-बड़े कानों से युक्त, लाल रंग के वस्त्रों से आच्छादित, शरीर पर लाल चन्दन का लेप लगाये हुए, रक्त-पुष्पों से विधिवत् पूजित, भक्त जनों के ऊपर अनुकम्पा करने वाले देवता, जगत् के हेतुभूत, अच्युत, सृष्टि-रचना के पूर्व में प्रादुर्भूत तथा प्रकृति एवं पुरुष से परे विघ्नविनाशक गणेश जी का नित्य प्रति चिन्तन करता है, वह योगी (साधक) समस्त योगीजनों में श्रेष्ठतम एवं अनुपम है॥ ११-१४॥

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रमथपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नमो नमः॥ १५॥

व्रातपति अर्थात् समस्त देव समुदाय के नायक को प्रणाम है, गणपति को नमस्कार है, प्रमथपति अर्थात् भगवान् शिव के नायक के लिए नमन-वन्दन है। लम्बोदर के लिए, एकदन्त के लिए, विघ्नविनाशक के लिए भगवान् शिव के पुत्र के लिए एवं श्री वरदमूर्ति (वर-प्रदाता) के लिए नमन-वन्दन है,बारम्बार प्रणाम है॥ १५॥

एतदथर्वशिरो योऽधीते स ब्रह्मभूयाय कल्पते। स सर्वविघ्नैर्न बाध्यते। स सर्वतः सुखमेधते। स पञ्चमहापातकोपपातकात्प्रमुच्यते। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायंप्रातः प्रयुंजानोऽपापो भवति। धर्मार्थकाममोक्षं च विन्दति॥१६॥

यह अथर्ववेद की उपनिषद् है। जो मनुष्य इस उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह ब्रह्मत्व पद की प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है। सभी तरह के विघ्न उसके लिए बाधक नहीं होते। वह सर्वत्र सुख-शान्ति में वृद्धि प्राप्त करता है। वह मनुष्य पाँच प्रकार के महान् पातकों एवं उपपातकों से मुक्त हो जाता है। शाम के समय में किए हुए पाठ से दिन के पापों का विनाश होता है और प्रातः काल के समय में पाठ करने से रात्रि में किये गये पापों का शमन हो जाता है। जो मनुष्य प्रातः एवं सायं दोनों कालों में इस उपनिषद् का पाठ करता है,वह पाप-रहित हो जाता है। वह चारों पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को भी प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है॥१६॥

इदमथर्वशीर्षमशिष्याय न देयम्। यो यदि मोहाद्दास्यति स पापीयान्भवति॥ १७॥

इस अथर्वशीर्ष उपनिषद् का उपदेश शिष्य को ही देना चाहिए, अशिष्य को नहीं। मोहवश जो ज्ञानीपुरुष ऐसा करता है (अशिष्य को देता है), वह पातकी (पापी) हो जाता है॥ १७॥

सहस्रावर्तनाद्यं यं काममधीते तं तमनेन साधयेत्। अनेन गणपतिमभिषिञ्चति स वाग्मी भवति। चतुर्थ्यामनश्नञ्जपति स विद्यावान्भवति। इत्यथर्वणवाक्यम्। ब्रह्माद्याचरणं विद्यात्। न बिभेति कदाचनेति। यो दूर्वाङ्कुरैर्यजति स वैश्रवणोपमो भवति। यो लाजैर्यजति स यशोवान्भवति। स मेधावान्भवति। यो मोदकसहस्रेण यजति स वाञ्छितफलमवाप्नोति। यः साज्यसमिद्भिर्यजति स सर्वं लभते स सर्वं लभते। अष्टौ ब्राह्मणान्सम्यग्ग्राहयित्वा सूर्यवर्चस्वी भवति। सूर्यग्रहणे महानद्यां प्रतिमासंनिधौ वा जप्त्वा सिद्धमन्त्रो भवति। महाविघ्नात्प्रमुच्यते। महापापात्प्रमुच्यते। महादोषात्प्रमुच्यते॥ १८॥

जो मनुष्य इस उपनिषद् का एक सहस्र बार पाठ करता है, वह जो-जो आकांक्षाएँ करता है, उन सभी की सिद्धि इसके द्वारा हो जाती है। इस उपनिषद् के द्वारा जो मनुष्य गणेश जी को स्नान कराता है, वह प्रखर वक्ता बन जाता है। जो मनुष्य चतुर्थी तिथि का व्रत-उपवास करके इसका जप (पाठ) करता है, वह महान् ज्ञानी हो जाता है। यह अथर्वण वाक्य है, जो भी इस उपनिषद् मन्त्र के माध्यम से तपश्चर्या करने का विधान जानता है, वह कभी भयभीत नहीं होता। दूर्वांकुरों के द्वारा जो (गणपति का) यजन करता है, वह कुबेर के सदृश हो जाता है। जो लाजा (धान की खील) से यज्ञ करता है, वह यशस्वी एवं मेधावान् हो जाता है। जो एक सहस्र मोदकों (लड्डुओं) से यजन क्रिया सम्पन्न करता है, वह मनोवाञ्छित फल प्राप्त करता है। जो घृत-युक्त समिधाओं से यज्ञ करता है, वह सभी कुछ प्राप्त कर लेता है। उसकी सभी इच्छाएँ आकांक्षाएँ पूरी हो जाती हैं। जो मनुष्य इस उपनिषद्-विद्या से आठ ब्राह्मणों को अच्छी तरह से पारंगत बना देता है, वह सूर्य-सदृश तेजस्वी हो जाता है। सूर्य-ग्रहण के समय महानदी अथवा प्रतिमा के समक्ष इस उपनिषद्-विद्या का पाठ-जप करने से अभीष्ट मन्त्र सिद्ध होता है। वह महान् विघ्नों, महापातकों (पापों) से मुक्त हो जाता है। वह बड़े से बड़े दोषों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १८॥

स सर्वविद्भवति स सर्वविद्भवति। य एवं वेदेत्युपनिषत्॥ १९॥

जो पुरुष इस उपनिषद् को इस प्रकार से जान लेता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है, सभी कुछ जानने में समर्थ हो जाता है, ऐसी ही यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है॥ १९॥

॥ इति गणपत्युपनिषत्समाप्ता॥

॥ गरुडोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा के अन्तर्गत है। इस उपनिषद् में ब्रह्मा से लेकर महर्षि भरद्वाज तक की गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख करते हुए 'गारुड़ विद्या' का विवेचन किया गया है। 'गारुड़ विद्या' का तात्पर्य विष निवारण-विद्या से है। सर्प से लेकर जितने भी जन्तु दंशित करके विष वमन द्वारा व्यक्ति को कष्ट पहुँचाते हैं, उन सबके विष निवारण की प्रक्रिया इस उपनिषद् में उपनिबद्ध है।

इस उपनिषद् में सर्वप्रथम गारुड़विद्या के सम्प्रदाय अर्थात् इस विद्या की गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख है। तत्पश्चात् इस गारुड़ विद्या के ऋषि-देवता-छन्द-विनियोग आदि का उल्लेख है। अन्त में गरुड़ माला-मन्त्र आदि विवरण प्रस्तुत करते हुए उपनिषद् का समापन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

गारुडब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि यां ब्रह्मविद्यां नारदाय प्रोवाच नारदो बृहत्सेनाय बृहत्सेन इन्द्राय इन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाजो जीवत्कामेभ्यः शिष्येभ्यः प्रायच्छत्॥ १ ॥

अब गारुड़ ब्रह्मविद्या का वर्णन करते हैं; जिस ब्रह्मविद्या को भगवान् ब्रह्मा ने नारद से कहा, नारद ने बृहत्सेन से कहा, बृहत्सेन ने इन्द्र से कहा, इन्द्र ने भरद्वाज से कहा और भरद्वाज ने इस विद्या का शिक्षण जीवत्काम (ब्रह्म प्राप्ति द्वारा जीवन धन्य बनाने की इच्छा वाले) शिष्यों को प्रदान किया॥ १ ॥

अस्याः श्रीमहागरुडब्रह्मविद्याया ब्रह्मा ऋषिः। गायत्री छन्दः। श्रीभगवान्महागरुडो देवता। श्रीमहागरुडप्रीत्यर्थे मम सकलविषविनाशनार्थे जपे विनियोगः॥ २ ॥

इस श्रीगरुड़ब्रह्मविद्या के ऋषि ब्रह्मा, छन्द-गायत्री, श्रीभगवान् महागरुड़-देवता हैं। श्री महागरुड़ की प्रसन्नता के लिए तथा मेरे समस्त विषों के विनाशार्थ जप में इसका विनियोग किया जाता है॥ २ ॥

अब नीचे लिखे मन्त्रों से अङ्गन्यास की क्रिया सम्पन्न करें —

ॐ नमो भगवते अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। श्रीमहागरुडाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। पक्षीन्द्राय मध्यमाभ्यां वषट्। श्रीविष्णुवल्लभाय अनामिकाभ्यां हुम्। त्रैलोक्यपरिपूजिताय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। उग्रभयंकरकालानलरूपाय करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः ॥ ३ ॥

ॐ नमो ....अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। (दोनों हाथों की तर्जनी अँगुलियों से दोनों अँगूठों का स्पर्श)
श्री महागरुडाय ....तर्जनीभ्यां स्वाहा। (दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों तर्जनी अङ्गुलियों का स्पर्श)
पक्षीन्द्राय ....मध्यमाभ्यां वषट्। (अँगूठों से मध्यमा अँगुलियों का स्पर्श)
श्री विष्णुवल्लभाय .... अनामिकाभ्यां हुम्। (अँगूठों से अनामिका अँगुलियों का स्पर्श)
त्रैलोक्यपरिपूजिताय ....कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। (अँगूठों से कनिष्ठिका अँगुलियों का स्पर्श)
उग्रभयंकर ....करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। (हथेलियों और उनके पृष्ठ भागों का परस्पर स्पर्श)

इसी तरह से दाहिने हाथ की पाँचों अँगुलियों से हृदयादि (शिर, शिखा, कवच, नेत्रादि) का भी न्यास (स्पर्श) करना चाहिए॥ ३ ॥

भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः॥ ४॥

'भूः भुवः स्वः' तथा 'ॐ' व्याहृतियों एवं प्रणव से दिग्बन्धन की क्रिया सम्पन्न करनी चाहिए॥ ४॥

(अब ध्यान का वर्णन करते हैं, नीचे लिखे श्लोकों को श्रद्धा पूर्वक पढ़ते हुए गरुड़ के ध्यान की क्रिया सम्पन्न करें-

ध्यानम्। स्वस्तिको दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्चितम्। प्राञ्जलीकृतदोर्युग्मं गरुडं हरिवल्लभम्। अनन्तो वामकटको यज्ञसूत्रं तु वासुकिः। तक्षकः कटिसूत्रं तु हारः कर्कोट उच्यते। पद्मो दक्षिणकर्णे तु महापद्मस्तु वामके। शङ्खः शिरःप्रदेशे तु गुलिकस्तु भुजान्तरे। पौण्ड्रकालिकनागाभ्यां चामराभ्यां सुवीजितम्। एलापुत्रकनागाद्यैः सेव्यमानं मुदान्वितम्। कपिलाक्षं गरुत्मन्तं सुवर्णसदृशप्रभम्। दीर्घबाहुं बृहत्स्कन्धं नागाभरणभूषितम्। आजानुतः सुवर्णाभमाकट्योस्तुहिनप्रभम्। कुङ्कुमारुणमाकण्ठं शतचन्द्रनिभाननम्। नीलाग्रनासिकावक्त्रं सुमहच्चारुकुण्डलम्। दंष्ट्राकरालवदनं किरीटमुकुटोज्ज्वलम्। कुङ्कुमारुणसर्वाङ्गं कुन्देन्दु-धवलाननम्। विष्णुवाह नमस्तुभ्यं क्षेमं कुरु सदा मम। एवं ध्यायेत्त्रिसंध्यासु गरुडं नागभूषणम्। विषं नाशयते शीघ्रं तूलराशिमिवानलः॥ ५॥

ध्यान— जिनका दाहिना पैर स्वस्तिक के आकार के सदृश है, बायाँ पैर घुटने तक सिकोड़ कर रखा है। जिन्होंने दोनों हाथों को प्रणाम की मुद्रा में जोड़ रखा है, जो विष्णुवल्लभ हैं। जिन्होंने अनन्त नामक नाग को बायें हाथ में कड़े के रूप में धारण कर रखा है। यज्ञोपवीत के रूप में वासुकि को धारण किया है। तक्षक को करधनी के रूप में और कर्कोट को गले में हार के सदृश धारण किया है। पद्म नामक नाग को दाहिने कान में और महापद्म को बायें कान में आभूषण की भाँति धारण कर रखा है। शंख नामक नाग को सिर पर एवं गुलिक (नाग) को भुजाओं के मध्य में धारण कर रखा है। पौण्ड्र एवं कालिक नागों को चँवरों के रूप में प्रयुक्त किया गया है। एला तथा पुत्रक आदि नागों के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक जिनकी सेवा की जाती है। कपिल वर्ण सदृश नेत्र सुवर्ण के समान कान्ति वाले, लम्बी भुजाओं वाले, चौड़े (विशाल) कन्धे वाले, नागों के अलंकारों से विभूषित, जानु पर्यन्त सुवर्ण के समान कान्ति वाले तथा कटि पर्यन्त हिम के समान श्वेत प्रभा वाले, कुंकुम के समान लाल शरीर वाले, सैकड़ों चन्द्रमाओं के समान मुख-कान्ति वाले, जिनकी नासिका का अग्रभाग तथा मुख मण्डल नील वर्ण का है। विशाल कुण्डलों से युक्त जिनके कान हैं। भयंकर दाढ़ों से युक्त विकराल मुख वाले, अत्यन्त देदीप्यमान मुकुट धारण करने वाले, कुंकुम लगाने से लाल अंग वाले, कुन्द पुष्प एवं चन्द्र के सदृश धवल मुख वाले, हे विष्णु के वाहन गरुड़देव! आपको नमस्कार है। आप सदैव हमारा कल्याण करें। इस प्रकार तीनों संध्याओं में नागों से अलंकृत गरुड़ का ध्यान करना चाहिए। (इससे प्रसन्न होकर वे गरुड़देव) रुई के ढेर को, अग्नि के द्वारा दग्ध करने के सदृश विष को शीघ्र ही विनष्ट कर देते हैं॥ ५॥

ओमीमों नमो भगवते श्रीमहागरुडाय पक्षीन्द्राय विष्णुवल्लभाय त्रैलोक्यपरिपूजिताय उग्रभयंकरकालानलरूपाय वज्रनखाय वज्रतुण्डाय वज्रदन्ताय वज्रदंष्ट्राय वज्रपुच्छाय वज्र-पक्षालक्षितशरीराय ओमीमेह्येहि श्री महागरुडाप्रतिशासनास्मिन्नाविशाविश दुष्टानां विषं दूषय दूषय स्पृष्टानां विषं नाशय नाशय दन्दशूकानां विषं दारय दारय प्रलीनं विषं प्रणाशय प्रणाशय सर्वविषं नाशय नाशय हन हन दह दह पच पच भस्मीकुरु भस्मीकुरु हुं फट् स्वाहा॥ ६॥

पक्षिराज गरुड़, विष्णुवल्लभ (विष्णुप्रिय), तीनों लोकों के द्वारा पूजित किये जाने वाले, उग्र-भयंकर कालाग्नि के सदृश, कठोर नखों से युक्त, कठोर चञ्चु (चोंच) से युक्त, कठोर दाँत वाले, कठोर दाढ़ों वाले,

कठोर पूँछ वाले, कठोर पंखों से लक्षित शरीर वाले भगवान् श्रीमहागरुड़ को नमस्कार है। आप आएँ, हे महागरुड़! अपने अनुशासित इस आसन पर आएँ, प्रवेश करें। दुष्टों के विष को दूर करें, दूर करें। जो विष स्पर्श-मात्र से आ जाता है,उसे नष्ट करें, नष्ट करें। रेंगने वाले विषैले सर्पों के विष को दूर करें, दूर करें। प्रलीन (छिपे हुए) विष को दूर हटाएँ, दूर हटाएँ। सभी तरह के विषों को विनष्ट करें, विनष्ट करें। मारें-मारें, जलाएँ-जलाएँ, पचाएँ-पचाएँ। समस्त विषों को भस्मीभूत करें, भस्मीभूत करें। हुं फट् (बीज मन्त्र के सहित गरुड़देव की प्रसन्नता के लिए इस मन्त्र से आहुति समर्पित करें अथवा) आहुति समर्पित है।॥ ६ ॥

चन्द्रमण्डलसंकाश सूर्यमण्डलमुष्टिक। पृथ्वीमण्डलमुद्राङ्ग श्रीमहागरुड विषं हर हर हुं फट् स्वाहा॥ ७॥

आप चन्द्रमण्डल के सदृश हैं। आपकी मुष्टिका में सूर्यमण्डल स्थित है, ऐसे आप पृथ्वी मण्डल के सदृश मुद्राङ्गों वाले हे श्रीमहागरुड़! (आप) समस्त विषों का हरण करें-हरण करें, नष्ट करें। हुं फट् (बीज मन्त्र के सहित श्रीगरुड़ की प्रसन्नता के लिए) आहुति समर्पित है॥ ७॥

ॐ क्षिप स्वाहा॥ ८॥

ॐ (हे महागरुड़ ! आप विषधरों अथवा विषों को) क्षिप अर्थात् दूर फेंक दें। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ ८॥

ओमीं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषाणां च विषरूपिणी विषदूषिणी विषशोषणी विषनाशिनी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषमन्तःप्रलीनं विषं प्रनष्टं विषं हतं ते ब्रह्मणा विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ ९॥

तत्कारि-मत्कारि(उनकी या हमारी)हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है,उसे(ब्रह्मविद्या)जो कि विषों के विष(अर्थात् विषनाशक)विषरूपिणी, विष को दूषित, शोषित, नष्ट एवं हरण करने वाली, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसके द्वारा घातक विष को, अन्तर्लीन विष को प्रणाशक (नष्ट करने वाले) विष को नष्ट कर दिया गया। विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने सहयोग प्रदान किया। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ ९॥

ॐ नमो भगवते महागरुडाय विष्णुवाहनाय त्रैलोक्यपरिपूजिताय वज्रनखवज्रतुण्डाय वज्रपक्षालंकृतशरीराय एह्येहि महागरुड विषं छिन्धि छिन्धि आवेशयावेशय हुं फट् स्वाहा॥१०॥

(उन) भगवान् महागरुड़ को नमस्कार है। भगवान् विष्णु के वाहन तीनों लोकों में पूजित, वज्रवत् कठोर नाखून एवं कठोर चोंच वाले तथा अपने शरीर को कठोर पंखों से अलंकृत करने वाले हे गरुड़देव! आप आएँ-आप पधारें। हे महागरुड़! आप आविष्ट (प्रविष्ट) हो करके विष को छिन्न-भिन्न कर दें।'हुं फट्' (बीज मन्त्र के सहित गरुड़देव के प्रसन्नतार्थ) आहुति समर्पित है॥ १०॥

सुपर्णोऽसि गरुत्मान्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुः स्तोम आत्मा साम ते तनूर्वामदेव्यं बृहद्रथन्तरे पक्षौ यज्ञायज्ञियं पुच्छं छन्दांस्यङ्गानि धिष्णिया शफा यजूंषि नाम। सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ सुवः पत॥ ११॥

हे ऊर्ध्वगामी महागरुड़देव! आप सुन्दर पंखों से युक्त, अग्निदेव के सदृश गतिशील हैं। त्रिवृत् स्तोम आपका शिर और गायत्र (साम) आपके नेत्र हैं। दोनों पंख के रूप में बृहत् एवं रथन्तर साम हैं, यज्ञ आपकी अन्तरात्मा, सभी छन्द आपके शरीर के अंग तथा यजुः आपका नाम है। वामदेव नामक साम आपकी देह, यज्ञायज्ञिय नामक साम आपकी पूँछ एवं धिष्ण्य स्थित अग्नि आपके खुर-नख हैं। हे गरुड़देव! आप अग्निवत् दिव्य लोक की ओर गमन करें तथा स्वर्गलोक को प्राप्त करें॥ ११॥

ओमीं ब्रह्मविद्याममावास्यायां पौर्णमास्यायां पुरोवाच सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं प्रनष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १२॥

प्राचीन काल में यह ब्रह्मविद्या अमावस्या-पूर्णिमा के दिन बताई थी। तत्कारि-मत्कारि (उनकी अथवा हमारी) हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है (संचरण कर रहा है), उसे (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष अर्थात् विषनाशक है। विष को दूषित एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने उस घातक विष को, अन्तर्लीन विष को, प्रणाशक विष को इन्द्र के वज्र द्वारा नष्ट कर दिया। विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने सहयोग प्रदान किया। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ १२॥

तत्स्त्यम्। यद्यनन्तकदूतोऽसि यदि वानन्तकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १३॥

'तत्स्त्यम्' (अर्थात् यह बीज मन्त्र सभी प्रकार के विषों को हरण करने में समर्थ है) तुम चाहे अनन्तक के दूत हो अथवा स्वयं अनन्तक हो। तत्कारि-मत्कारि (उनकी अथवा हमारी) हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित (संचरित) हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों के लिए विष है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्ममय है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस विष को मारकर (उस) प्रणाशक विष को नष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ १३॥

यदि वासुकिदूतोऽसि यदि वा वासुकिः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १४॥

तुम चाहे वासुकि के दूत हो अथवा स्वयं वासुकि हो। तत्कारि-मत्कारि (उनकी अथवा हमारी) हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित (संचरित) हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष को दूषित, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को विनष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ १४॥

यदि तक्षकदूतोऽसि यदि वा तक्षकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥१५

तुम चाहे तक्षक के दूत हो अथवा तक्षक हो । उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है, विष को दूषित, नष्ट एवं मारने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ही ब्रह्म स्वरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ १५॥

यदि कर्कोटकदूतोऽसि यदि वा कर्कोटकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १६॥

तुम चाहे कर्कोटक के दूत हो अथवा स्वयं कर्कोटक हो। 'तत्कारि-मत्कारि' (उनकी या हमारी) हिंसा

करने वाला जो विष वर्द्धित (संचरित) हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष अर्थात् विष नाशक है। विष को दूषित करने, मारने एवं नष्ट करने वाली है,ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्म स्वरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ १६ ॥

यदि पद्मकदूतोऽसि यदि वा पद्मकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १७॥

तुम चाहे पद्मक के दूत हो अथवा स्वयं पद्मक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ १७॥

यदि महापद्मकदूतोऽसि यदि वा महापद्मकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १८॥

तुम चाहे महापद्मक के दूत हो अथवा स्वयं महापद्मक हो। 'तत्कारि-मत्कारि' (उनकी अथवा हमारी) हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने-नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है 'स्वाहा'॥ १८॥

यदि शङ्खकदूतोऽसि यदि वा शङ्खकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १९॥

तुम चाहे शङ्खक के दूत हो या स्वयं शङ्खक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है,ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है, इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ १९॥

यदि गुलिकदूतोऽसि यदि वा गुलिकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ २०॥

तुम चाहे गुलिक के दूत हो अथवा स्वयं गुलिक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है। उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा'॥ २०॥

यदि पौण्ड्रकालिकदूतोऽसि यदि वा पौण्ड्रकालिकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ २१॥

तुम चाहे पौण्ड्रकालिक के दूत हो अथवा स्वयं पौण्ड्रकालिक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा'॥ २१॥

यदि नागकदूतोऽसि यदि वा नागकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ २२॥

तुम चाहे नागक के दूत हो अथवा स्वयं नागक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है। ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है। ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर नष्ट कर दिया है। इस विष को विनष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा'॥ २२॥

यदि लूतानां प्रलूतानां यदि वृश्चिकानां यदि घोटकानां यदि स्थावरजङ्गमानां सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ २३॥

तुम चाहे मकड़ी, बड़ी (श्रेष्ठ) मकड़ी हो चाहे वृश्चिक (बिच्छू) हो, चाहे घुड़दौड़ सर्प हो और चाहे स्थावर-जंगम हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित एवं संचरित हो रहा है। ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर नष्ट कर दिया। इस विष को विनष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा'॥ २३॥

अनन्तवासुकितक्षककर्कोटकपद्मकमहापद्मकशङ्खकगुलिकपौण्ड्रकालिकनागक इत्येषां दिव्यानां महानागानां महानागादिरूपाणां विषतुण्डानां विषदन्तानां विषदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां विश्वचाराणां वृश्चिकानां लूतानां प्रलूतानां मूषिकाणां गृहगौलिकानां गृहगोधिकानां घ्रणासानां गृहगिरिगह्वरकालानलवल्मीकोद्भूतानां तार्णानां पार्णानां काष्ठदारुवृक्षकोटरस्थानां मूलत्वग्दारुनिर्यासपत्रपुष्पफलोद्भूतानां दुष्टकीटकपिश्वानमार्जारजम्बुकव्याघ्रवराहाणां जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजानां शस्त्रबाणक्षतस्फोटव्रणमहाव्रणकृतानां कृत्रिमाणामन्येषां भूतवेतालकूष्माण्डपिशाचप्रेतराक्षसयक्षभयप्रदानां विषतुण्डदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां विषाणां विषरूपिणी विषदूषिणी विषशोषिणी विषनाशिनी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषमन्तःप्रलीनं विषं प्रनष्टं विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ २४॥

(ये) अनन्तक, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्मक, महापद्मक, शङ्खक, गुलिक, पौण्ड्रकालिक आदि

सभी नाग तथा अन्य सभी दिव्य महानाग एवं महानागों के आदि रूपों वाले, विषैले चञ्चु (चोंच) वाले, विषैले दाँत वाले, विषैले दाढ़ वाले, विषैले अंगों वाले, विषैली पूँछ वाले, सभी जगह विचरण करने वाले, विषैले वृश्चिक (बिच्छू), मकड़ी, प्रकृष्ट (बड़ी) मकड़ी, मूषिका (चुहिया), गृहगौलिक (छछूँदर), गृह गोधिका (छिपकली), घोटक (घृणा उत्पन्न करने वाले विषैले कीटाणु), घरों में स्थित फर्श, दीवारों के छोटे-छोटे छिद्रों आदि में रहने वाले कालानल (विषैले कीड़े), चींटी-चींटे, दीमक आदि उत्पन्न होने वाले, तृण, पत्तों, काष्ठ, पेड़, वृक्षों के कोटर (पोले स्थान) आदि में स्थित रहने वाले, जड़, तना, वृक्ष आदि के छाल, पत्ते, पुष्प एवं फलों आदि से उद्भूत होने वाले, विषैले दुष्ट कीट, बन्दर, कुत्ते, बिल्ली, सियार, व्याघ्र (बघर्रा), वराह आदि विचरण करने वाले विषैले जानवर, जरायुज (पशु-मनुष्य आदि), अण्डज (अण्डों से उत्पन्न), उद्भिज्ज (पेड़-पौधे) एवं स्वेदज (पसीने से प्रादुर्भूत प्राणी), शस्त्र (हाथ से लेकर प्रहार करने वाले), बाण (फेंककर मारने वाले) आदि से क्षत-विक्षत अंग, फोड़े, घाव एवं बड़े घावों से प्रकट होने वाले बड़े कीटक, कृत्रिम एवं अन्य विष, भूत, बेताल, कूष्माण्ड, प्रेत, पिशाच, राक्षस, यक्ष आदि भय प्रदान करने वाले, विषैली चंचु (चोंच) वाले, विषैले दाढ़ वाले, विषैले अंगों वाले, विषैली पूँछ वाले हों, (परन्तु) विषों की विष अर्थात् विष नाशक (वह ब्रह्मविद्या) समस्त विषों को दूषित करने वाली, विषों को शोषित करने वाली, विषों को विनष्ट करने वाली, विषों को हरण करने वाली है। (वह ब्रह्मविद्या) इन सभी विषों को मारे, नष्ट करे। उस (ब्रह्मविद्या) ने इन घातक विषों को, अन्तर्लीन छिपे हुए विष को, प्रणाशक विषों को नष्ट कर दिया है। इन सभी विषों को विनष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा'॥ २४॥

य इमां ब्रह्मविद्याममावास्यायां पठेच्छृणुयाद्वा यावज्जीवं न हिंसन्ति सर्पाः। अष्टौ ब्राह्मणान्ग्राहयित्वा तृणेन मोचयेत्। शतं ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा चक्षुषा मोचयेत्। सहस्रं ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा मनसा मोचयेत्। सर्पाञ्जलेन मुञ्चन्ति। तृणेन मुञ्चन्ति। काष्ठेन मुञ्चन्तीत्याह भगवान्ब्रह्मेत्युपनिषत्॥ २५॥

जो साधक (मनुष्य) इस ब्रह्मविद्या का अमावस्या के दिन पाठ करता या श्रवण करता है, उसका जब तक जीवन रहता है, तब तक उसे सर्प (आदि विषैले जन्तु) नहीं काटते। (इस ब्रह्मविद्या को) आठ ब्राह्मणों को ग्रहण (स्वीकार) करवाकर तृण (जड़ी-बूटी) के द्वारा विष को मुक्त करना चाहिए। सौ ब्राह्मणों को (इसे) ग्रहण करवा करके नेत्रों से (विष को) मुक्त करना चाहिए। हजार ब्राह्मणों को (इसे) ग्रहण करवाकर मन से (अर्थात् संकल्प शक्ति से) ही (विष को) मुक्त करना चाहिए। सर्प-विष, जल, तृण एवं काष्ठ के उपचार से भी छोड़ता नहीं है। (इस प्रयोग से मुक्त कर देता है।) ऐसा ही भगवान् ब्रह्मा जी ने इस गरुडोपनिषद् को ऋषियों के समक्ष उपदिष्ट किया है। यही उपनिषद् है। ॥ २५॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः ॥

॥ इति गरुडोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ गायत्रीरहस्योपनिषद् ॥

गायत्री महाशक्ति-गायत्री महाविद्या की महनीय महिमा का बखान चारों वेदों, ब्राह्मणों,उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों आदि में सर्वत्र पाया जाता है। इस उपनिषद् में भी उसी महामन्त्र-महाशक्ति का रहस्योद्घाटन किया गया है। इस उपनिषद् का शुभारम्भ ऋषि याज्ञवल्क्य और स्वयम्भुव ब्रह्मा जी के प्रश्नोत्तर रूप में हुआ है। सर्वप्रथम 'गायत्री' के प्राकट्य का क्रम दिया हुआ है। तदुपरान्त प्रश्नोत्तर शैली में गायत्री और व्याहृतियों का स्वरूप व्यक्त किया गया है। यह स्वरूप बड़ा विस्तृत है—यथा-गायत्री का गोत्र, अक्षर, पाद, कुक्षि, शिर, ऋषि, छन्द, शक्ति, अवयव, २४ अक्षरों की २४ शक्तियाँ, २४ अक्षरों के २४ ऋषि, २४ अक्षरों के २४ पुष्प, २४ पातकों का घातक स्वरूप, गायत्री के अंग-अवयवों में देव शक्तियों का निवास इत्यादि। अन्त में पापों को नष्ट करने की विशेष सामर्थ्य का उल्लेख करते हुए उपनिषद् का समापन किया गया है।

ॐ स्वस्ति सिद्धम्। ॐ नमो ब्रह्मणे। ॐ नमस्कृत्य याज्ञवल्क्य ऋषिः स्वयंभुवं परिपृच्छति। हे ब्रह्मन् गायत्र्या उत्पत्तिं श्रोतुमिच्छामि। अथातो वसिष्ठः स्वयंभुवं परिपृच्छति। यो ब्रह्मा स ब्रह्मोवाच। ब्रह्मज्ञानोत्पत्तेः प्रकृतिं व्याख्यास्यामः। को नाम स्वयंभूः पुरुष इति। तेनाङ्गुलीमथ्यमानात् सलिलमभवत्। सलिलात् फेनमभवत्। फेनाद्बुद्बुदमभवत्। बुद्बुदादण्डमभवत्। अण्डाद्ब्रह्माभवत्। ब्रह्मणो वायुरभवत्। वायोरग्निरभवत्। अग्नेरोङ्कारोऽभवत्। ओंकाराद्व्याहृतिरभवत्। व्याहृत्याः गायत्र्यभवत्। गायत्र्याः सावित्र्यभवत्। सावित्र्याः सरस्वत्यभवत्। सरस्वत्याः सर्वे वेदा अभवन्। सर्वेभ्यो वेदेभ्यः सर्वे लोका अभवन्। सर्वेभ्यो लोकेभ्यः सर्वे प्राणिनोऽभवन्॥ १ ॥

सबका कल्याण हो। ब्रह्म को नमन-वन्दन है। इस प्रकार नमन-वन्दन के पश्चात् याज्ञवल्क्य ऋषि ने स्वयम्भुव ब्रह्माजी से प्रश्न पूछा- 'हे ब्रह्मन्! गायत्री की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह सुनने की हम सभी की इच्छा है। वसिष्ठ जी ने भी स्वयम्भुव से यही पूछा था। (प्रश्न सुनकर) जो ब्रह्म से उत्पन्न हैं, ऐसे ब्रह्मा जी ने कहा- ब्रह्मज्ञान के उत्पत्ति की कारणभूता प्रकृति की व्याख्या की जाती है। स्वयंभुव नाम का कौन पुरुष है? (यह) वही पुराण पुरुष है। उसी ने अपनी अँगुली से मन्थन करते हुए जल को प्रकट किया । जल से फेन हुआ, फेन से बुद्बुद, बुद्बुद से अण्डा, अण्डे से ब्रह्मा, ब्रह्मा से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से ॐकार, ॐकार से व्याहृति, व्याहृति से गायत्री हुई, गायत्री से सावित्री, सावित्री से सरस्वती, सरस्वती से चारों वेद, चारों वेद से समस्त लोक और इसके पश्चात् अन्त में सभी लोकों से सभी प्राणी प्रादुर्भूत हुए॥ १ ॥

अथातो गायत्री व्याहृतयश्च प्रवर्तन्ते। का च गायत्री काश्च व्याहृतयः। किं भूः किं भुवः किं सुवः किं महः किं जनः किं तपः किं सत्यं किं तत् किं सवितुः किं वरेण्यं किं भर्गः किं देवस्य किं धीमहि किं धियः किं यः किं नः किं प्रचोदयात्। ॐ भूरिति भुवो लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षलोकः। स्वरिति स्वर्गलोकः। मह इति महर्लोकः। जन इति जनोलोकः। तप इति तपोलोकः। सत्यमिति सत्यलोकः। तदिति तदसौ तेजोमयं तेजोऽग्निर्देवता। सवितुरिति सविता सावित्रमादित्यो वै। वरेण्यमित्यत्र प्रजापतिः। भर्ग इत्यापो वै भर्गः। देवस्य इतीन्द्रो देवो द्योतत इति स इन्द्रस्तस्मात् सर्वपुरुषो नाम रुद्रः। धीमहीत्यन्तरात्मा। धिय इत्यन्तरात्मा परः। य इति सदाशिवपुरुषः। नो इत्यस्माकं स्वधर्मे। प्रचोदयादिति प्रचोदितकाम इमान् लोकान् प्रत्याश्रयते यः परो धर्म इत्येषा गायत्री॥ २ ॥

अब यहाँ गायत्री और व्याहृतियों का वर्णन प्रारम्भ होता है। प्रश्न-गायत्री कौन है और व्याहृतियाँ कौन हैं? भू: क्या है? भुव: क्या है? स्व: क्या है? मह: क्या है? जन: क्या है? तप: क्या है? सत्यं क्या है? तत् क्या है? सवितु: क्या है? वरेण्यं क्या है? भर्ग: क्या है? देवस्य क्या है? धीमहि क्या है? धिय: क्या है? य: क्या है? न: क्या है? तथा प्रचोदयात् क्या है? उत्तर— ॐ भू:-यह भूलोक का वाचक है, भुव: - अन्तरिक्ष वाची है, स्व:-स्वर्ग लोक का वाची है, मह:-महर्लोक का वाचक है, जन:-जनोलोक का, तप:-तपोलोक का, सत्यम्-सत्यलोक का, तत्-तेजसूरूप अग्निदेव का, सवितु:-यह सूर्य का वाचक है, वरेण्यं-यह प्रजापति (ब्रह्मा) का, भर्ग:-आप: (जल) का, देवस्य-यह तेजस्वी इन्द्र का, जो परम ऐश्वर्य का द्योतक सर्वपुरुष नामक रुद्र द्वारा प्रख्यात है। धीमहि- यह अन्तरात्मा का, धिय:-यह दूसरी अन्तरात्मा का-ब्रह्म का, य:-यह उस भगवान् सदाशिव पुरुष का, न:-यह अपने स्वरूप का (अर्थात् हमारे इस अर्थ का वाचक है), इस तरह से सभी यथोक्त क्रम से सतत स्वरूप का बोध (साक्षात्कार) कराने वाले हैं। प्रचोदयात्-यह प्रेरणा की इच्छा का द्योतक है। जो धर्म इन सभी लोकों का आश्रय करा दे, वही गायत्री है॥ २॥

सा च किं गोत्रा कत्यक्षरा कति पादा। कति कुक्षय:। कानि शीर्षाणि। सांख्यायनगोत्रा सा चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री त्रिपादा चतुष्पादा। पुनस्तस्याश्चत्वार: पादा: षट् कुक्षिका: पञ्च शीर्षाणि भवन्ति। के च पादा: काश्च कुक्षय: कानि शीर्षाणि। ऋग्वेदोऽस्या: प्रथम: पादो भवति। यजुर्वेदो द्वितीय: पाद:। सामवेदस्तृतीय: पाद:। अथर्ववेदश्चतुर्थ: पाद:। पूर्वा दिक् प्रथमा कुक्षिर्भवति। दक्षिणा द्वितीया कुक्षिर्भवति। पश्चिमा तृतीया कुक्षिर्भवति। उत्तरा चतुर्थी कुक्षिर्भवति। ऊर्ध्वा वै पञ्चमी कुक्षिर्भवति। अध: षष्ठी कुक्षिर्भवति। व्याकरणोऽस्या: प्रथम: शीर्षो भवति। शिक्षा द्वितीय:। कल्पस्तृतीय:। निरुक्तश्चतुर्थ:। ज्योतिषामयनमिति पञ्चम:। का दिक् को वर्ण: किमायतनं क: स्वर: किं लक्षणं कान्यक्षरदैवतानि क ऋषय: कानि छन्दांसि का: शक्तय: कानि तत्त्वानि के चावयवा:। पूर्वायां भवतु गायत्री। मध्यमायां भवतु सावित्री। पश्चिमायां भवतु सरस्वती। रक्ता गायत्री। श्वेता सावित्री। कृष्णा सरस्वती। पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरायतनानि॥ ३॥

प्रश्न- वह गायत्री किस गोत्र वाली है, कितने अक्षर वाली है, कितने पाद वाली, कितनी कुक्षि वाली है और उसके शीर्ष मूर्धादि स्थल क्या हैं? उत्तर-वह सांख्यायन गोत्र वाली, चौबीस अक्षर वाली, गायत्री तीन एवं चार पाद वाली है। तदनन्तर उसके चार पाद, छ: कुक्षियाँ एवं पाँच शिर हैं। प्रश्न-इसके पाद कौन हैं? कुक्षियाँ कौन हैं? तथा शिर कौन हैं? उत्तर- ऋग्वेद इसका प्रथम पाद है, यजुर्वेद द्वितीय पाद है, सामवेद तृतीय पाद है और चतुर्थ पाद अथर्ववेद है। इसकी पूर्व दिशा प्रथम कुक्षि है, दक्षिण दिशा द्वितीय कुक्षि है, पश्चिम दिशा तृतीय कुक्षि है,उत्तर दिशा चौथी कुक्षि है। ऊर्ध्वभाग पाँचवीं कुक्षि है एवं अध: भाग छठी कुक्षि है। व्याकरण इसका प्रथम शिर, शिक्षा द्वितीय शिर, कल्प तृतीय शिर, निरुक्त चतुर्थ एवं ज्योतिष पञ्चम शिर है। प्रश्न-कौन सी दिशा में किस रंग की अधिष्ठात्री देवियाँ प्रतिष्ठित हैं? उनका विस्तार क्या है? स्वर-लक्षण क्या हैं? किन अक्षरों की वह अधिष्ठात्री देवियाँ हैं? उनके ऋषि कौन हैं? छन्द कौन हैं? शक्तियाँ कौन हैं? तत्त्व कौन हैं एवं उनके अवयव कौन हैं? उत्तर-पूर्व दिशा में गायत्री स्थित हैं (इनका वर्ण लाल है)। मध्यमा अर्थात् दक्षिण दिशा में (श्वेत वर्ण वाली) सावित्री स्थित हैं। पश्चिम दिशा में (कृष्ण वर्ण युक्त) सरस्वती विद्यमान हैं, यही ध्यान करना उचित है। पृथिवी, आकाश तथा स्वर्ग इन(त्रिशक्तियों) के विस्तार स्थल एवं निवास स्थान हैं॥ ३॥

अकारोकारमकाररूपोदात्तादिस्वरात्मिका। पूर्वा सन्ध्या हंसवाहिनी ब्राह्मी। मध्यमा

वृषभवाहिनी माहेश्वरी। पश्चिमा गरुडवाहिनी वैष्णवी। पूर्वाह्णकालिका सन्ध्या गायत्री कुमारी रक्ता रक्ताङ्गी रक्तवासिनी रक्तगन्धमाल्यानुलेपनी पाशाङ्कुशाक्षमालाकमण्डलुवरहस्ता हंसारूढा ब्रह्मदैवत्या ऋग्वेदसहिता आदित्यपथगामिनी भूमण्डलवासिनी। मध्याह्नकालिका सन्ध्या सावित्री युवती श्वेताङ्गी श्वेतवासिनी श्वेतगन्धमाल्यानुलेपनी त्रिशूलडमरुहस्ता वृषभारूढा रुद्रदैवत्या यजुर्वेदसहिता आदित्यपथगामिनी भुवोलोके व्यवस्थिता। सायं सन्ध्या सरस्वती वृद्धा कृष्णाङ्गी कृष्णवासिनी कृष्णगन्धमाल्यानुलेपना शङ्खचक्रगदाभयहस्ता गरुडारूढा विष्णुदैवत्या सामवेदसहिता आदित्यपथगामिनी स्वर्गलोकव्यवस्थिता॥ ४॥

(वह गायत्री) अकार, उकार, मकाररूप तथा उदात्तादि (उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित) स्वरात्मक है। (वह त्रिकाल) संध्या के अन्तर्गत प्रात:काल के समय में हंसारूढ़-ब्राह्मीरूपा, मध्याह्न काल की संध्या में वृषभारूढ़-माहेश्वरीरूपा और अन्तिम सायंकालीन गरुड़ारूढ़- वैष्णवीरूपा रहती हैं। प्रात:कालीन संध्या के समय गायत्री रक्तवर्णा, कुमारी रूपा, रक्त अंगों वाली, रक्त वस्त्रों वाली, रक्त चन्दन एवं मालाओं वाली, पाश-अंकुश-अक्षमाला कमण्डलु वरमुद्रा युक्त हाथों वाली, हंसारूढ़ा, ब्रह्मा-देव शक्तिवाली, ऋग्वेद युक्ता, आदित्यपथगामिनी (आकाशगामिनी) तथा भूमण्डल पर रहने वाली हैं। मध्याह्न काल की संध्या में (वह) सावित्री युवा, श्वेत अंगों वाली, शुभ्रवर्णा, श्वेत वस्त्रों को धारण करने वाली, श्वेतचन्दन एवं मालाएँ धारण करने वाली, त्रिशूल एवं डमरू धारण किए हुए वृषभ पर आरूढ़, रुद्राधिदेवता, यजुर्वेदयुक्ता हैं। (वह) आदित्यपथ पर गमन करने वाली और भुव:लोक में विशेष रूप से स्थित रहने वाली हैं। सायंकालीन संध्या सरस्वतीरूपा हैं। वह वृद्धा, कृष्णवर्ण वाली, कृष्ण वस्त्रों को धारण करने वाली, काले गन्धमाला का अनुलेपन करने वाली, शंख, चक्र तथा गदा धारण किये हुए, गरुड़ पर आरूढ़, विष्णु दैवत्या (विष्णु जिसका अधिदेवता है), सामवेद युक्ता, भगवान् आदित्य के पथ पर गमन करने वाली तथा स्व: अर्थात् स्वर्गलोक में निवास करने वाली हैं॥ ४॥

अग्निवायुसूर्यरूपाऽऽहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्निरूपा ऋग्यजु:सामरूपा भूर्भुव: स्वरिति व्याहृतिरूपा प्रातर्मध्याह्नतृतीयसवनात्मिका सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तरूपा वसुरुद्रादित्यरूपा गायत्रीत्रिष्टुजगतीरूपा ब्रह्मशङ्करविष्णुरूपेच्छाज्ञानक्रियाशक्तिरूपा स्वरा-ड्विराड्वषड्ब्रह्मरूपेति। प्रथममाग्नेयं द्वितीयं प्राजापत्यं तृतीयं सौम्यं चतुर्थमीशानं पञ्चममादित्यं षष्ठं गार्हपत्यं सप्तमं मैत्रमष्टमं भगदैवतं नवममार्यमणं दशमं सावित्रमेकादशं त्वाष्ट्रं द्वादशं पौष्णं त्रयोदशमैन्द्राग्नं चतुर्दशं वायव्यं पञ्चदशं वामदेवं षोडशं मैत्रावरुणं सप्तदशं भ्रातृव्यमष्टादशं वैष्णवमेकोनविंशं वामनं विंशं वैश्वदेवमेकविंशं रौद्रं द्वाविंशं कौबेरं त्रयोविंशमाश्विनं चतुर्विंशं ब्राह्ममिति प्रत्यक्षरदैवतानि। प्रथमं वासिष्ठं द्वितीयं भारद्वाजं तृतीयं गार्ग्यं चतुर्थमौपमन्यवं पञ्चमं भार्गवं षष्ठं शाण्डिल्यं सप्तमं लौहितमष्टमं वैष्णवं नवमं शातातपं दशमं सनत्कुमार-मेकादशं वेदव्यासं द्वादशं शुकं त्रयोदशं पाराशर्यं चतुर्दशं पौण्ड्रकं पञ्चदशं क्रतुं षोडशं दाक्षं सप्तदशं काश्यपमष्टादशमात्रेयमेकोनविंशमगस्त्यं विंशमौद्दालकमेकविंशमाङ्गिरसं द्वाविंशं नामिकेतुं त्रयोविंशं मौद्गल्यं चतुर्विंशमाङ्गिरसं वैश्वामित्रमिति प्रत्यक्षराणामृषयो भवन्ति॥५॥

(ये गायत्री) अग्नि, वायु एवं सूर्य रूपा हैं। आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि वह्निरूपा हैं, ऋक्,यजु: तथा सामवेद स्वरूपा हैं; भू:, भुव: तथा स्व: व्याहृतिरूप वाली हैं; प्रात:, मध्याह्न एवं सायंकालीन आत्मस्वरूपा; सत्त्व, रज एवं तम गुणात्मिका; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिरूपा; वसु, रुद्र एवं आदित्यात्मक; गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती आदि छन्दरूप वाली; ब्रह्मा, शंकर एवं विष्णु के स्वरूप वाली; इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तिरूपा तथा

स्वराट्, विराट् एवं वषट् ब्रह्मरूपा हैं। (इस गायत्री महामन्त्र के) प्रथम अक्षर के अग्नि, दूसरे के प्रजापति, तीसरे के सोम (चन्द्रमा), चौथे के ईशान, पाँचवें के आदित्य, छठे के गार्हपत्य (अग्निविशेष), सातवें के मैत्र, आठवें के भग देवता, नौवें के अर्यमा, दसवें के सविता, ग्यारहवें के त्वष्टा, बारहवें के पूषा, तेरहवें के इन्द्राग्नि, चौदहवें के वायु, पन्द्रहवें के वामदेव, सोलहवें के मैत्रावरुण, सत्रहवें के भ्रातृव्य, अठारहवें के विष्णु, उन्नीसवें के वामन, बीसवें के वैश्वदेव, इक्कीसवें के रुद्रदेव, बाइसवें के कुबेर, तेईसवें के अश्विनीकुमार और चौबीसवें अक्षर के ब्रह्मदेव शक्तिरूप हैं-यही प्रत्येक अक्षर के देवता कहे गये हैं। (अब गायत्री के २४ अक्षरों के २४ ऋषियों का वर्णन करते हैं-) इसके प्रथम अक्षर के ऋषि वसिष्ठ, दूसरे के भरद्वाज, तीसरे के गर्ग, चौथे के उपमन्यु, पाँचवें के भृगु (भार्गव), छठे के शाण्डिल्य, सातवें के लोहित, आठवें के विष्णु, नौवें के शातातप, दसवें के सनत्कुमार, ग्यारहवें के वेदव्यास, बारहवें के शुकदेव, तेरहवें के पाराशर, चौदहवें के पौण्ड्रक,पन्द्रहवें के क्रतु, सोलहवें के दक्ष, सत्रहवें के कश्यप, अठारहवें के अत्रि, उन्नीसवें के अगस्त्य, बीसवें के उद्दालक, इक्कीसवें के आङ्गिरस, बाइसवें के नामिकेतु, तेईसवें के मुद्गल और चौबीसवें के अङ्गिरा गोत्रज विश्वामित्र हैं, यही प्रत्येक अक्षरों के अलग-अलग चौबीस ऋषि होते हैं॥ ५॥

गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्तिबृहत्युष्णिगदितिरिति त्रिरावृत्तेन छन्दांसि प्रतिपाद्यन्ते। प्रह्लादिनी प्रज्ञा विश्वभद्रा विलासिनी प्रभा शान्ता मा कान्तिः स्पर्शा दुर्गा सरस्वती विरूपा विशालाक्षी शालिनी व्यापिनी विमला तमोऽपहारिणी सूक्ष्मावयवा पद्मालया विरजा विश्वरूपा भद्रा कृपा सर्वतोमुखीति चतुर्विंशतिशक्तयो निगद्यन्ते। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशगन्धर-सरूपस्पर्शशब्दवाक्यानि पादपायूपस्थत्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणमनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तज्ञानानीति प्रत्यक्षराणां तत्त्वानि प्रतीयन्ते। चम्पकातसीकुङ्कुमपिङ्गलेन्द्रनीलाग्निप्रभोद्यत्सूर्यविद्युत्तारक-सरोजगौरमरकतशुक्लकुन्देन्दुशङ्खपाण्डुनेत्रनीलोत्पलचन्दनागुरुकस्तूरीगोरोचन (मल्लिका केतकी) घनसारसन्निभं प्रत्यक्षरमनुस्मृत्य समस्तपातकोपपातकमहापातकागम्यागमनगोहत्या-ब्रह्महत्याभ्रूणहत्यावीरहत्यापुरुषहत्याऽऽजन्मकृतहत्या स्त्रीहत्यागुरुहत्यापितृहत्याप्राण हत्याचराचरहत्याऽभक्ष्यभक्षणप्रतिग्रहस्वकर्मविच्छेदनस्वाम्यार्तिहीनकर्मकरणपरधनापहरण-शूद्रान्नभोजनशत्रुमारणचण्डालीगमनादिसमस्तपापहरणार्थं संस्मरेत्॥ ६॥

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, पंक्ति, बृहती, उष्णिक्-ये तीन आवृत्तियों से युक्त छन्द प्रतिपादित किये गये हैं। (गायत्री की चौबीस शक्तियों का वर्णन-) प्रह्लादिनी, प्रजा, विश्वभद्रा, विलासिनी, प्रभा, शान्ता, मा, कान्ति, स्पर्शा, दुर्गा, सरस्वती, विरूपा, विशालाक्षी, शालिनी, व्यापिनी, विमला, तमोपहारिणी, सूक्ष्मावयवा, पद्मालया, विरजा, विश्वरूपा, भद्रा, कृपा और सर्वतोमुखी। अब गायत्री के प्रत्येक अक्षर के अलग-अलग चौबीस तत्त्वों का वर्णन करते हैं-पृथ्वी, जल, तेज,वायु, आकाश, गन्ध, रस,रूप, स्पर्श, शब्द, वाक्, पैर, पायु-उपस्थ (मल-मूत्रेन्द्रियाँ), त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं ज्ञान यही गायत्री के प्रत्येक अक्षर के चौबीस तत्त्व हैं। (अब गायत्री के चौबीस अक्षर के अलग-अलग पुष्पों का वर्णन-) चम्पा, अतसी (एक नीला फूल), कुंकुम, पिङ्गल, इन्द्रनील, अग्निप्रभा, उद्यत्सूर्य, विद्युत्तारक, सरोज, गौर, मरकत, शुक्ल, कुन्द, इन्दु, शंख, पाण्डु-नेत्र, नीलकमल, चन्दन, अगुरु, कस्तूरी, गोरोचन, मल्लिका, केतकी, कर्पूर के समान इन प्रत्येक अक्षरों के प्रत्येक पुष्पों को याद करना चाहिए। (अब चौबीस पातकों का वर्णन करते हैं-) सभी पातक, उपपातक, महापातक, अगम्यागमन (जिनसे योनि सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, उनसे योनि सम्बन्ध रखना आदि), गोहत्या, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या (गर्भपात), वीरहत्या, पुरुष हत्या, कई जन्मों से की हुई हत्यायें, स्त्रीहत्या, गुरुहत्या, पितृहत्या, आत्मघात, चर तथा अचर आदि जीवों की हत्या, जो खाने के लायक नहीं, उन्हें

खाने में होने वाली हत्या, दान ग्रहण का पाप, अपने कर्म का त्याग, स्वामी की सेवा से पराङ्मुख कर्म जन्य पाप, दूसरों के धन को चुराने से होने वाला पाप, शूद्र के अन्न को ग्रहण करने से होने वाला पाप, शत्रुघात तथा चाण्डाल से योनि सम्बन्ध रखना आदि इन समस्त पापों के विनाश के लिए हमेशा इन्हें याद रखे॥ ६॥

मूर्धा ब्रह्मा शिखान्तो विष्णुर्ललाटं रुद्रश्चक्षुषी चन्द्रादित्यौ कर्णौ शुक्रबृहस्पती नासापुटे अश्विनौ दन्तोष्ठावुभे सन्ध्ये मुखं मरुतः स्तनौ वस्वादयो हृदयं पर्जन्य उरमाकाशो नाभिरग्निः कटिरिन्द्राग्नी जघनं प्राजापत्यमूरू कैलासमूलं जानुनी विश्वेदेवौ जङ्घे शिशिरः गुल्फानि पृथिवीवनस्पत्यादीनि नखानि महती अस्थीनि नवग्रहा असृक्केतुर्मांसमृतुसन्धयः कालद्वयास्फालनं संवत्सरो निमेषोऽहोरात्रमिति वाग्देवीं गायत्रीं शरणमहं प्रपद्ये॥ ७॥

मैं ऐसी उस वाक् शक्ति की अधिष्ठात्री देवी गायत्री की शरण (आश्रय) को प्राप्त करता हूँ, जिसकी मूर्धा (शिर) ब्रह्मा, शिखान्त (शिखा का अन्त भाग) विष्णु, ललाट (मस्तक) रुद्र, (दोनों) नेत्र-सूर्य और चन्द्रमा, (दोनों) कान- शुक्राचार्य एवं बृहस्पति, नासिका के दोनों रन्ध्र (छिद्र) अश्विनीकुमार, दोनों दन्तोष्ठ-दोनों सन्ध्यायें, मुख-मरुत् (वायु), स्तन-वसु आदि, हृदय-बादल, पेट-आकाश, नाभि-अग्नि, कमर-इन्द्राग्नि,जाँघ-प्राजापत्य, उरुद्वय-कैलाश के मूल स्थल, दोनों घुटने-विश्वदेव, जंघाएँ (पिंडली)-शिशिर, गुल्फ (टखने)-पृथ्वी की वनस्पति आदि, नख-महत् तत्त्व, हड्डियाँ-नवग्रह, अँतड़ियाँ-केतु, मांस-ऋतु-संधियाँ, दोनों कालों का गमन बोधक वर्ष-संवत्सर और निमेष-दिन एवं रात्रि हैं॥ ७॥

य इदं गायत्रीरहस्यमधीते तेन क्रतुसहस्रमिष्टं भवति। य इदं गायत्री रहस्यमधीते दिवसकृतं पापं नाशयति। प्रातर्मध्याह्नयोः षण्मासकृतानि पापानि नाशयति। सायं प्रातरधीयानो जन्मकृतं पापं नाशयति। य इदं गायत्रीरहस्यं ब्राह्मणः पठेत् तेन गायत्र्याः षष्टिसहस्रलक्षाणि जप्तानि भवन्ति। सर्वान् वेदानधीतो भवति। सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। अपेयपानात् पूतो भवति। अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति। वृषलीगमनात् पूतो भवति। अब्रह्मचारी ब्रह्मचारी भवति। पंक्तिषु सहस्रपानात् पूतो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा ब्रह्मलोकं स गच्छति। इत्याह भगवान् ब्रह्मा॥ ८॥

जो मनुष्य इस गायत्री रहस्य का अध्ययन (पाठ) करता है,ऐसा मानना चाहिए कि उसने तो सहस्रों यज्ञ सम्पन्न कर लिये हैं। जो इस गायत्री रहस्य का पाठ करता है, उसके द्वारा (भूल से) दिन में किये हुए समस्त पापों का उसके पाठ से क्षय (विनाश) हो जाता है। जो प्रातः एवं मध्याह्न काल में इसका पाठ (अध्ययन) करता है, वह अपने छः मास के किये हुए पापों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है अर्थात् पापरहित हो जाता है। जो प्रतिदिन प्रातः एवं सायंकाल इसका पाठ करे, तो उसके समस्त जन्मों के पाप विनष्ट हो जाते हैं। जो भी ब्राह्मण इस गायत्री रहस्य का पाठ करे, तो यह मानना चाहिए कि उसने गायत्री महामन्त्र का साठ हजार लाख बार जप कर लिया है, उसने सभी (चारों) वेदों का पाठ कर लिया, समस्त तीर्थों में उसने स्नान कर लिया है। अपेय पदार्थ (शराब आदि) को पीने से जो पाप होता है, उससे भी वह मुक्त हो जाता है। अखाद्य पदार्थों को ग्रहण करने (खाने) से हुए पाप से भी वह पापरहित हो जाता है। शूद्रगमन (शूद्रस्त्री से यौन सम्बन्ध बनाने) के पाप से मुक्त हो जाता है। यदि वह ब्रह्मचारी न भी हो, तो (पाठ करने से) वह ब्रह्मचारी (के सदृश तेजोमय) हो जाता है। पंक्तियों में यदि उसने सहस्रों बार भी अपेय पदार्थों का पान किया है, तो भी (वह) पाठ करने से पवित्र हो जाता है। आठ ब्राह्मणों को इस गायत्री रहस्य को ग्रहण करवा कर अर्थात् बता-समझाकर (वह) ब्रह्मलोक को गमन कर जाता है, ऐसा भगवान् ब्रह्माजी ने याज्ञवल्क्य ऋषि से कहा॥ ८॥

॥ इति गायत्रीरहस्योपनिषत् समाप्ता॥

॥ गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा के अन्तर्गत है। इसमें सविशेष ब्रह्म (श्रीकृष्ण) का प्रतिपादन करते हुए, उसका पर्यवसान निर्विशेष ब्रह्म (निराकार ब्रह्म) के रूप में किया गया है। इस उपनिषद् का शुभारम्भ मुनिगणों एवं ब्रह्मा जी के मध्य हुए प्रश्नोत्तर से हुआ है।

सर्वप्रथम मंगलाचरण में भगवान् कृष्ण का स्तवन है, तदुपरान्त गोपालकृष्ण के परमदेवत्व का विवेचन है। इसके बाद गोपालकृष्ण के स्वरूप का निरूपण, गोपाल कृष्ण के रूप का विशिष्ट ध्यान, गोपाल कृष्ण के मन्त्र का जप, गोपालकृष्ण का भजन, गोविन्द की पूजा का विधान, सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप में अष्टादशार्ण मन्त्र, अष्टादशार्ण मन्त्र ही आत्मज्ञान-प्राप्ति का साधन, मन्त्र में प्रयुक्त पंचपदों से जगत् की सृष्टि का वर्णन, पंचपदात्मक गोविन्द की स्तुति, गोपालकृष्ण के ध्यान, जप और भजन का विशद वर्णन क्रमशः किया गया है। अन्त में इस उपनिषद् की फलश्रुति बताते हुए इसे पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥
सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे॥ १॥

'कृष्' शब्द सत्तावाचक है और 'न' शब्द आनन्दबोधक। इन दोनों की समीपता ही सच्चिदानन्दमय परमेश्वर 'श्रीकृष्ण' के नाम का प्रतिपादन करती है। अनायास ही सभी कुछ कर सकने में समर्थ सच्चिदानन्दमय भगवान् श्रीकृष्ण को, जो वेदान्त के द्वारा जानने योग्य हैं, वे (हम) सभी की बुद्धि के साक्षी एवं सम्पूर्ण विश्व के गुरु हैं। ऐसे श्रीकृष्ण को सादर नमन-वंदन है॥ १॥

मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः। कः परमो देवः । कुतो मृत्युर्बिभेति। कस्य विज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति। केनेदं विश्वं संसरतीति॥ २॥

एक बार मुनियों ने पितामह ब्रह्मा जी से प्रश्न किया-हे भगवन् ! कौन देवता सर्वश्रेष्ठ है? किससे मृत्यु भयभीत होती है? किसके तत्त्व को सम्यक् रूप से जान लेने के पश्चात् सभी कुछ पूर्णतया ज्ञात हो जाता है? यह जगत् किसके द्वारा प्रेरित होकर आवागमन के चक्र में भ्रमण करता रहता है॥ २॥

तदु होवाच ब्राह्मणः। कृष्णो वै परमं दैवतम्। गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति। गोपीजनवल्लभ-ज्ञानेनैतद्विज्ञातं भवति। स्वाहेदं विश्वं संसरतीति॥ ३॥

इन समस्त प्रश्नों का समाधान करते हुए भगवान् ब्रह्मा जी ने मुनियों से कहा-हे मुनियो! 'श्रीकृष्ण' ही सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। 'गोविन्द' से मृत्यु भी भयभीत रहती है। 'गोपीजन वल्लभ' के तत्त्व को पूर्णतः जान लेने से सभी कुछ सम्यक् रूप से ज्ञात हो जाता है। 'स्वाहा' रूपी मायाशक्ति से प्रेरित हुआ वह समस्त जगत् गमनागमन के चक्र में भ्रमणरत रहता है॥ ३॥

तदु होचुः। कः कृष्णः। गोविन्दश्च कोऽसाविति। गोपीजनवल्लभश्च कः। का स्वाहेति॥ ४॥

तदनन्तर उन मुनिजनों ने पुनः प्रश्न किया-हे भगवन्! वे 'श्रीकृष्ण' एवं गोविन्द कौन हैं? गोपीजन-वल्लभ कौन हैं? तथा वह 'स्वाहा' कौन है? कृपा करके बताने का अनुग्रह करें॥ ४॥

तानुवाच ब्राह्मणः। पापकर्षणो गोभूमिवेदविदितो गोपीजनविद्याकलापीप्रेरकः। तन्माया चेति सकलं परं ब्रह्मैव तत्। यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवतीति॥ ५॥ ते होचुः किं तद्रूपं किं रसनं किमाहो तद्भजनं तत्सर्वं विविदिषतामाख्याहीति॥ ६॥

ऐसा सुनकर ब्रह्मा जी ने उन मुनिजनों को आश्वस्त करते हुए कहा- हे मुनियो! 'श्रीकृष्ण' ही पापों का अपकर्षण (अपहरण) करने वाले हैं। वही गौ, भूमि एवं वेदवाणी के ज्ञातारूप से प्रख्यात सर्वज्ञ हरिरूप में गोविन्द हैं। वे गोपीजनवल्लभ -गोपीजनों के विद्या कला आदि के प्रेरक हैं और इन्हीं की मायाशक्ति 'स्वाहा' है। यह सभी ब्रह्ममयी है। इस प्रकार से जो मनुष्य उन 'श्रीकृष्ण' नाम से प्रख्यात परब्रह्म का ध्यान एवं जपादि के द्वारा नामामृत का पान करता है एवं उनके भजन-कीर्तन आदि में निरन्तर संलग्न रहता है, निश्चय ही वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। तदनन्तर उन मुनियों ने पुनः पूछा- हे पितामह! ध्यान करने के अनुकूल श्रीकृष्ण का कैसा रूप होना चाहिए? उनके नाम-रूप अमृत का रसास्वादन कैसा होता है? तथा उनका भजन-कीर्तन किस तरह से किया जाता है? कृपापूर्वक स्पष्टतया बताने का अनुग्रह करें॥ ५-६॥

तदु होवाच हैरण्यो गोपवेषमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्॥ ७॥

तदनन्तर वे हिरण्यगर्भ भगवान् ब्रह्माजी बोले—हे मुनियो ! उन अविनाशी भगवान् 'श्रीकृष्ण' का ध्यान करने योग्य रूप का वर्णन इस प्रकार है-उनका वेश ग्वाल-बालों के अनुरूप है,उनका वर्ण(रंग)नवीन जलधर की भाँति श्याम है, किशोरावस्था है और वे भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य कल्पवृक्ष के नीचे विराजमान हैं॥७॥

तदिह श्लोका भवन्ति—सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्। द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्॥ ८॥ गोपगोपाङ्गनावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम्। दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम्॥ ९॥ कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम्। चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः॥ १०॥

इसी सन्दर्भ में ये श्लोक हैं- भगवान् 'श्रीकृष्ण' के नेत्र खिले हुए श्वेत (शुभ्र) कमल के समान हैं, उनके श्री अङ्गों की आभा मेघ के सदृश श्याम है, वे विद्युत् के समान तेजोमय पीताम्बर को धारण किये हुए हैं, दोनों भुजाओं से युक्त हो ज्ञान-मुद्रा में अवस्थित हैं। उनके गले में लम्बी वनमाला सुशोभित हो रही है, वे महान् ईश्वर हैं। गोप एवं गोप-सुन्दरियों के द्वारा वे चारों ओर से आवृत हैं। वे कल्पवृक्ष के नीचे अवस्थित हैं। उनका श्रीविग्रह (शरीर) दिव्य वस्त्राभूषणों से सुशोभित है। रत्नजटित सिंहासन पर रत्नमय कमल के मध्य भाग में वे विद्यमान हैं। कालिन्दी (यमुना) के जल से उठती हुई चञ्चल लहरों को चूमकर प्रवाहित होने वाली शीतल सुवासित वायु उन भगवान् 'श्रीकृष्ण' की सेवा में रत है। इस मनमोहक रूप में श्रीकृष्ण का मन से ध्यान करने वाला भक्त सांसारिक बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ ८-१०॥

तस्य पुना रसनमिति जलभूमीन्दुसंपातः कामादिकृष्णायेत्येकं पदम्। गोविन्दायेति द्वितीयम्। गोपीजनेति तृतीयम्। वल्लभायेति तुरीयम्। स्वाहेति पञ्चममिति॥ ११॥ पञ्चपदं जपन्पञ्चाङ्गं द्यावाभूमिसूर्याचन्द्रमसौ साग्नी तद्रूपतया ब्रह्म संपद्यते ब्रह्म संपद्यत इति॥ १२॥

इसके पश्चात् उन भगवान् श्रीकृष्ण के नाम रूपी अमृत के रसास्वादन एवं मन्त्र-जप का उल्लेख करते हैं-

जल (क), भूमि (ल), ईकार, इन्दु: (अनुस्वार ं) का समूह ('क्लीं') शब्द ही कामबीज है। इस बीजमन्त्र को प्रारम्भ में रखते हुए 'कृष्णाय' पद का उच्चारण करना चाहिए। अत: 'क्लीं कृष्णाय' पूरे मन्त्र का प्रथम पद हुआ। 'गोविन्दाय' यह द्वितीय पद है। 'गोपीजन' यह तृतीय पद है। 'वल्लभाय' चतुर्थ पद है और 'स्वाहा' यह पञ्चम पद है। पाँच पदों से युक्त यह मन्त्र 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' हुआ। यह पञ्चपदी के नाम से जाना जाता है। पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्नि आदि का प्रकाशक होने के कारण यह चिन्मय मन्त्र पाँच अङ्गों का सम्मिलित रूप है। जो साधक इस मन्त्र के द्वारा जप एवं भजन-कीर्तन आदि करता है, वह परब्रह्ममय भगवान् 'श्रीकृष्ण' को प्राप्त करता है॥ ११-१२॥

तदेष श्लोकः— क्लीमित्येतदादावादाय कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभायेति बृहन्भानव्या सकृदुच्चरेद्योऽसौ गतिस्तस्यास्ति मङ्क्षु नान्या गतिः स्यादिति॥ १३॥

इस सन्दर्भ में यह श्लोक है—इस 'क्लीं' कामबीज को प्रारम्भ में रखकर जो साधक 'कृष्णाय,' 'गोविन्दाय', 'गोपीजन वल्लभाय' पदों का बृहन् भानव्य अर्थात् स्वाहा के साथ उच्चारण करेगा, उसे शीघ्रातिशीघ्र (श्रीकृष्ण-मिलनरूपा) श्रेष्ठ सद्गति मिलेगी। उस साधक के लिए दूसरी अन्य कोई गति नहीं है॥ १३॥

भक्तिरस्य भजनम्। तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन्मनः कल्पनम्। एतदेव च नैष्कर्म्यम्॥१४॥

इन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अटूट भक्ति ही भजन है। इस लोक एवं परलोक के सम्पूर्ण भोगों की आकांक्षा का हमेशा के लिए परित्याग कर देना और 'श्रीकृष्ण' में इन्द्रियों के सहित मन को लगा देना ही वास्तविक भजन का स्वरूप है। यही नैष्कर्म्य अर्थात् वास्तविक संन्यास है॥ १४॥

कृष्णं तं विप्रा बहुधा यजन्ति गोविन्दं सन्तं बहुधाऽऽराधयन्ति।
गोपीजनवल्लभो भुवनानि दध्रे स्वाहाश्रितो जगदैजत्सुरेताः॥ १५॥

वेदज्ञ विद्वज्जन उन सच्चिदानन्द स्वरूप 'श्रीकृष्ण' का भिन्न-भिन्न प्रकार से यजन-पूजन सम्पन्न करते हैं। 'गोविन्द' नाम से प्रख्यात उन 'श्रीकृष्ण' की विभिन्न तरह से स्तुति-प्रार्थना करते हैं, वे 'गोपीजन-वल्लभ' (श्याम सुन्दर ही) समस्त लोकों का पालन-पोषण करते हैं तथा संकल्परूप श्रेष्ठ शक्तिसम्पन्न उन परमेश्वर ने ही 'स्वाहा' नामक माया-शक्ति का आश्रय प्राप्त करके इस जगत् को प्रकट किया है॥ १५॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो जन्येजन्ये पञ्चरूपो बभूव।
कृष्णस्तथैकोऽपि जगद्धितार्थं शब्देनासौ पञ्चपदो विभातीति॥ १६॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में संव्याप्त एक ही वायुतत्त्व प्रत्येक शरीर के अन्त: में प्राण आदि पञ्च रूपों से जाना जाता है, वैसे ही 'श्रीकृष्ण' एक होते हुए भी जगत् के कल्याण के लिए इस ऊपर कहे हुए मन्त्र में अलग-अलग नाम से पाँच पदों वाले जाने जाते हैं॥ १६॥

ते होचुरुपासनमेतस्य परमात्मनो गोविन्दस्याखिलाधारिणो ब्रूहीति॥ १७॥

इसके पश्चात् उन समस्त मुनियों ने कहा—'हे पितामह! सम्पूर्ण विश्व के आश्रयभूत परमब्रह्म गोविन्द की उपासना किस प्रकार की जाती है?' कृपापूर्वक उपदेश देने का अनुग्रह करें॥ १७॥

तानुवाच यत्तस्य पीठं हैरण्याष्टपलाशमम्बुजं तदन्तरालिकानलास्त्रयुगं तदन्तरालाद्यर्णाखिलबीजं कृष्णाय नम इति बीजाढ्यं स ब्रह्माणमादायानङ्गगायत्रीं यथावद्व्यालिख्य भूमण्डलं शूलवेष्टितं कृत्वाङ्गवासुदेवादिरुक्मिण्यादिस्वशक्तीन्द्रादिवसुदेवादिपार्थादिनिध्यावीतं यजेत्संध्यासु प्रतिपत्तिभिरुपचारैः । तेनास्याखिलं भवत्यखिलं भवतीति ॥१८॥

तदनन्तर ब्रह्माजी उन मुनियों से भगवान् 'श्रीकृष्ण' के पीठ (गोपाल-यंत्र) का वर्णन करते हुए बोले- हे मुनियो! सर्वप्रथम पीठ पर सुवर्ण से युक्त अष्टदल कमल का निर्माण करे। उसके बीच में एक-दूसरे से उल्टे दो त्रिकोण बनावे, इससे छः कोण विनिर्मित होंगे। इन कोणों के बीच में स्थित कर्णिका में आदि अक्षर स्वरूप कामबीज (क्लीं) का उल्लेख करे। यह बीजमन्त्र सभी कार्यों की सिद्धि का अमोघ माध्यम है। इसके बाद हर एक कोण में 'क्लीं' बीज से युक्त 'कृष्णाय नमः' मंत्र के एक-एक अक्षर को लिखे। तदनन्तर ब्रह्म-मन्त्र (अष्टादशाक्षर गोपाल-विद्या) तथा काम-गायत्री (कामदेवाय विद्महे, पुष्पबाणाय धीमहि, तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्) का उल्लेख करके आठ वज्रों से आवृत भूमण्डल का निर्माण करे। फिर उपर्युक्त मन्त्र को अङ्ग वासुदेवादि, रुक्मिणी सहित स्वशक्ति तथा इन्द्र, वसुदेव, पार्थ एवं निधि सहित आठ आवरणों से संरक्षित उस पीठ यन्त्र की पूजा सम्पन्न करे। उक्त आवरणों से परिवेष्टित श्रीकृष्णचन्द्र का तीनों सन्ध्याओं के समय ध्यान करने के बाद षोडशोपचार विधि से पूजन करे। इस विधि से पूजन-प्रक्रिया सम्पन्न करने से साधक को (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) सभी कुछ सुलभता से प्राप्त हो जाता है॥ १८॥

तदिह श्लोका भवन्ति—एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन्बहुधा यो विभाति।
तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ १९॥

इस सन्दर्भ में ये श्लोक हैं—सभी को अपने वश में रखने वाले, सर्वत्र व्याप्त रहने वाले एकमात्र भगवान् 'श्रीकृष्ण' ही सदैव स्तुति करने के योग्य हैं। वे एक रहते हुए भी अनेक रूपों में परिलक्षित होते हैं। जो ज्ञानी मनुष्य उपर्युक्त पीठ पर विद्यमान उन भगवान् 'श्रीकृष्ण' का प्रत्येक दिन पूजन करते हैं, उन्हीं को शाश्वत आनन्दानुभूति होती है, अन्यों को नहीं॥ १९॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ २०॥

जो (श्रीकृष्ण) नित्यों में नित्य, चेतनों के भी परम चेतन हैं और जो सभी की मनोकामनाओं को पूर्ण करते हैं, उन श्रीकृष्ण को पूर्वोक्त पीठ में प्रतिष्ठित करके जो ज्ञानी-भक्त निरन्तर पूजन करता है, उन्हें सनातन सुख मिलता है, अन्यों को नहीं॥ २०॥

एतद्विष्णोः परमं पदं ये नित्योद्युक्तास्तं यजन्ति न कामात्।
तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात्प्रकाशयेदात्मपदं तदेव॥ २१॥

जो मनुष्य उत्साहपूर्वक श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) के इस (अविनाशी पदस्वरूप) मंत्र की विधि-विधान से पूजा-प्रक्रिया सम्पन्न करते हैं और जो उन भगवान् के अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तु की आकांक्षा नहीं करते, उन (साधकों) के लिए वे गोपालरूपधारी श्यामसुन्दर अपना स्वरूप और अपना परम शाश्वत धाम शीघ्र ही प्रयासपूर्वक दिखा देते हैं॥ २१॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो विद्यां तस्मै गोपायति स्म कृष्णः।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुः शरणं व्रजेत्॥ २२॥

जो भगवान् 'श्रीकृष्ण' सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में ब्रह्माजी को प्रकट करते हैं एवं जो उन (ब्रह्माजी) को वेदविद्या का ज्ञान प्रदान करके उन्हीं के द्वारा उस (विद्या) का गायन करवाते हैं। सम्पूर्ण जीवों को बुद्धि का प्रकाश प्रदान करने वाले उन भगवान् 'श्रीकृष्ण' की शरण में मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा से मनुष्य को अवश्य ही जाना चाहिए॥ २२॥

ओङ्कारेणान्तरितं ये जपन्ति गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुम्।
तेषामसौ दर्शयेदात्मरूपं तस्मान्मु-मुक्षुरभ्यसेन्नित्यशान्त्यै॥ २३॥

जो श्रेष्ठ साधक 'श्रीगोविन्द' के उस पाँच पद से युक्त प्रख्यात अष्टादशाक्षर मन्त्र को प्रणव से सम्पुटित करके जप करते हैं, उन्हीं को वे अपने स्वरूप का दर्शन कराते हैं। अतः सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को नित्य-शान्ति की प्राप्ति के लिए ऊपर वर्णित मन्त्र जप करना चाहिए॥२३॥

एतस्मा एव पञ्चपदादभूवन्गोविन्दस्य मनवो मानवानाम्।
दशार्णाद्यास्तेऽपि संक्रन्दनाद्यैरभ्यस्यन्ते भूतिकामैर्यथावत्॥ २४॥

इन पाँच पदों से युक्त मन्त्र द्वारा ही अन्य और भी दशाक्षर आदि मन्त्र प्रादुर्भूत हुए हैं, वे सभी मन्त्र मानव के लिए कल्याणकारी हैं। उन दशाक्षर आदि मन्त्रों का ऐश्वर्य की कामना से युक्त इन्द्रादि देवता न्यास-ध्यान के सहित विधिवत् जप करते हैं॥ २४॥

ते पप्रच्छुस्तदु होवाच ब्रह्मसदनं चरतो मे ध्यातः स्तुतः परमेश्वरः परार्धान्ते सोऽबुध्यत। गोपवेषो मे पुरुषः पुरस्तादाविर्बभूव। ततः प्रणतो मयानुकूलेन हृदा मह्यमष्टादशार्णस्वरूपं सृष्टये दत्त्वान्तर्हितः। पुनस्ते सिसृक्षतो मे प्रादुरभूत्तेष्वक्षरेषु विभज्य भविष्यज्जगद्रूपं प्रकाशयन्। तदिह कादापो लात्पृथिवीतोऽग्निर्बिन्दोरिन्दुस्तत्संपातात्तदर्क इति क्लींकारादसृजं कृष्णादाकाशं खाद्वायुरुत्तरात्सुरभिविद्याः प्रादुरकार्षमकार्षमिति। तदुत्तरात्स्त्रीपुंसादिभेदं सकलमिदं सकलमिदमिति॥ २५॥

उन ऋषियों के पूछने पर समाधान करते हुए पितामह बोले-हे मुनिवरो ! मेरी (ब्रह्मा की) दो परार्ध की आयु होती है, उसमें से एक परार्ध आयु भगवान् का निरन्तर ध्यान एवं स्तुति करते हुए बीत गयी, तब उन भगवान् का ध्यान मेरी तरफ आकृष्ट हुआ। वे गोपवेश धारण किये हुए श्यामसुन्दर पूर्ण पुरुषोत्तम रूप में मेरे समक्ष प्रकट हुए। उनके चरण कमलों में भक्तिपूर्वक मैंने नमन-वन्दन किया। उन परमेश्वर ने दयार्द्र-भाव से कृपापूर्वक सृष्टि-संरचना हेतु अपने स्वरूपभूत अष्टादशाक्षर मन्त्र का उपदेश प्रदान किया और अन्तर्धान हो गये। जब मेरे हृदय में सृष्टि-संरचना की इच्छा जाग्रत् हुई, तब अष्टादशाक्षर मन्त्र के उन समस्त अक्षरों में भावी जगत् के रूप का साक्षात्कार कराते हुए वे पुनः मेरे समक्ष उपस्थित हो गये। तत्पश्चात् मैंने इस मन्त्र के 'क' अक्षर से जल की, 'ल' अक्षर से पृथ्वी की, 'ई' अक्षर से अग्नि की, अनुस्वार से चन्द्रमा की और इन सबके समुदाय रूप 'क्लीं' से सूर्य की संरचना की। मन्त्र के द्वितीय पद 'कृष्णाय' से आकाश तत्त्व की एवं आकाश से वायु की सृष्टि की। तृतीय 'गोविन्दाय' पद से कामधेनु गौ और वेदादि विद्याओं को प्रकट किया। उसके पश्चात् चतुर्थ पद 'गोपीजनवल्लभाय' से स्त्री-पुरुषादि की संरचना की और सबसे बाद में पञ्चम पद 'स्वाहा' से सम्पूर्ण जड़-चेतनमय चर-अचर विश्व को प्रादुर्भूत किया॥ २५॥

[यहाँ जिस अष्टादशार्ण (अष्टदशाक्षर) मंत्र की विवेचना की है, वह मन्त्र इस प्रकार है- क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।]

एतस्यैव यजनेन चन्द्रध्वजो गतमोहमात्मानं वेदयति। ओंकारालिकं मनुमावर्तयेत्। सङ्गरहितोऽभ्यानत्॥ २६॥

प्राचीनकाल में राजर्षि चन्द्रध्वज मोहरहित होकर भगवान् 'श्रीकृष्ण' के पूजन एवं ॐकार द्वारा सम्पुटित अष्टादशाक्षर मंत्र के जप एवं ध्यान के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करके सङ्गरहित हो गये॥ २६॥

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥ २७॥

भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण) के उस अविनाशी परमधाम गोलोक का ज्ञानी और प्रेमी भक्तजन निरन्तर दर्शन करते रहते हैं। आकाश में सूर्य के सदृश वे (भगवान्) परम व्योम में चतुर्दिक् संव्याप्त एवं प्रकाशस्वरूप विद्यमान हैं॥ २७॥

तस्मादेनं नित्यमावर्तयेन्नित्यमावर्तयेदिति॥ २८॥

(उस शाश्वत परम अविनाशी गोलोक धाम की प्राप्ति, पूर्व में कहे हुए अष्टादशाक्षर मन्त्र के जप एवं ध्यान से ही सम्भव होती है,) अतः इस दिव्य मन्त्र का प्रतिदिन ही जप करना चाहिए॥ २८॥

तदाहुरेके यस्य प्रथमपदाद्भूमिर्द्वितीयपदाज्जलं तृतीयपदात्तेजश्चतुर्थपदाद्वायुश्चरमपदाद्व्योमेति। वैष्णवं पञ्चव्याहृतिमयं मन्त्रं कृष्णावभासकं कैवल्यस्य सृत्यै सततमावर्तयेत्सततमावर्तयेदिति॥ २९॥

(उपर्युक्त अष्टादशाक्षर मंत्र के सन्दर्भ में) कुछ मुनिगण ऐसा कहते हैं कि जिसके प्रथम पद (क्लीं) से पृथ्वीतत्त्व, द्वितीय पद (कृष्णाय) से जल तत्त्व, तृतीय पद (गोविन्दाय) से तेजस् (अग्नितत्त्व), चतुर्थ पद (गोपीजनवल्लभाय) से वायुतत्त्व और अन्तिम पञ्चम पद (स्वाहा) से आकाश तत्त्व का प्राकट्य हुआ; वह पञ्चमहाव्याहतियों से युक्त अष्टादशाक्षर वैष्णव मन्त्र 'श्रीकृष्ण' के स्वरूप को तेजोमय बनाने वाला है। उस मन्त्र का मोक्ष प्राप्ति के लिए सतत जप एवं ध्यान करते रहना चाहिए॥ २९॥

तदत्र गाथाः— यस्य चाद्यपदाद्भूमिर्द्वितीयात्सलिलोद्भवः। तृतीयात्तेज उद्भूतं चतुर्थाद्गन्धवाहनः॥ ३०॥ पञ्चमादम्बरोत्पत्तिस्तमेवैकं समभ्यसेत्। चन्द्रध्वजोऽगमद्विष्णोः परमं पदमव्ययम्॥ ३१॥

इस सन्दर्भ में यहाँ पर यह गाथा प्रसिद्ध है- जिस (अष्टादशाक्षर) मंत्र के प्रथम पद से पृथ्वी उत्पन्न हुई, द्वितीय पद से जलतत्त्व का आविर्भाव हुआ, तृतीय पद से तेजस् (अग्नि) का प्राकट्य हुआ, चतुर्थ पद से वायु तत्त्व प्रकट हुआ और पंचम पद से आकाश तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ, उस एकमात्र अष्टादशाक्षर मन्त्र का ही सर्वदा जप एवं ध्यान करना चाहिए। उस मन्त्र के जप द्वारा ही राजर्षि चन्द्रध्वज ने 'श्रीकृष्ण' के अविनाशी शाश्वत गोलोक धाम को प्राप्त किया॥ ३०-३१॥

ततो विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम्।
यत्तत्पदं पञ्चपदं तदेव स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति॥ ३२॥

वह गोलोक धाम परम पवित्र, विमल, शोक-विहीन, लोभ आदि से रहित, समस्त प्रकार की आसक्ति से रहित है। वह ऊपर कहे पाँच पदों वाले मन्त्र से भिन्न नहीं है। वह मन्त्र स्वयं साक्षात् वासुदेवमय ही है, उन वासुदेव से भिन्न दूसरा और कुछ भी नहीं है॥ ३२॥

तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामि॥ ३३॥

वे भगवान् गोविन्द पञ्चपद मन्त्र स्वरूप हैं। उनका श्रीविग्रह सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। वे वृन्दावन में स्थित कल्पवृक्ष के नीचे (रत्नजटित सिंहासन पर) सदैव विराजमान रहते हैं। मैं (ब्रह्मा) मरुद्गणों के साथ रहते हुए उन भगवान् (श्रीकृष्ण) को श्रेष्ठ स्तुतियों के द्वारा प्रसन्न करता हूँ॥ ३३॥

ॐ नमो विश्वस्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे। विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः॥ ३४॥

सम्पूर्ण जगत् ही जिनका स्वरूप है, जो जगत् के पालनकर्त्ता एवं संहार के एकमात्र कारण हैं और स्वयं ही विश्वमय एवं एकमात्र इस जगत् के अधिष्ठाता हैं, ऐसे उन भगवान् गोविन्द को बारम्बार प्रणाम है॥३४॥

नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे। कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः॥ ३५॥

जो विज्ञानमय तथा परम आनन्दमय हैं और जो प्राणिमात्र को अपनी तरफ आकृष्ट कर लेने में पूर्ण सक्षम हैं, ऐसे उन गोपसुन्दरियों के प्राणाधार भगवान् श्री गोविन्द के लिए बारम्बार नमन-वन्दन है॥ ३५॥

नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने। नमः कमलनाभाय कमलापतये नमः॥ ३६॥

जो अपने दोनों चक्षुओं में कमल की सुन्दर आभा को धारण किये हुए हैं, गले में कमल पुष्पों की माला धारण किये हुए हैं, जिनकी नाभि से कमल उत्पन्न हुआ है, ऐसे उन भगवान् कमलापति (श्रीकृष्ण) को नमस्कार है॥ ३६॥

बर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे। रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः॥ ३७॥

जिनके मस्तक पर मोरपंख सुशोभित हो रहा है, जिन (श्रीकृष्ण) में सभी का मन रमण करता रहता है, जिनकी बुद्धि और स्मरणशक्ति कभी कुण्ठित नहीं होती और जो रमा, गोपसुन्दरीगण एवं श्रीराधा जी के मानस के राजहंस हैं, ऐसे उन भगवान् गोविन्द को बारम्बार प्रणाम है॥ ३७॥

कंसवंशविनाशाय केशिचाणूरघातिने। वृषभध्वजवन्द्याय पार्थसारथये नमः॥ ३८॥

जो कंस के वंश का विनाश करने वाले तथा केशी एवं चाणूर के घातक हैं। जो भगवान् वृषभध्वज (शिवजी) के भी वन्दनीय हैं, उन पार्थसारथि भगवान् 'श्रीकृष्ण' के लिए बारम्बार नमन-वन्दन है॥ ३८॥

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने। कालिन्दीकूललोलाय लोलकुण्डलधारिणे॥ ३९॥
वल्लवीवदनाम्भोजमालिने नृत्तशालिने। नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः॥ ४०॥

वंशी (वेणु) वादन ही जिनकी सहज वृत्ति है, जो समस्त गौओं के पालक हैं तथा जो कालियानाग का मान-मर्दन करने में समर्थ हैं। कालिन्दी के सुन्दर तट पर कालियाह्रद में नाग के फणों पर जो चञ्चल गति से अविराम लास्य-लीला में संलग्न हैं। जिनके कानों में स्थित कुण्डल गतिशीलता के कारण हिलते हुए झिलमिला रहे हैं, जिनके श्री-अंग खिले हुए कमल की माला से सुशोभित हो रहे हैं और जो नर्तन में संलग्न होने के कारण अत्यधिक शोभायमान हो रहे हैं, उन शरणागत वत्सल भगवान् 'श्रीकृष्ण' को बारम्बार नमस्कार है॥ ३९-४०॥

नमः पापप्रणाशाय गोवर्धनधराय च। पूतनाजीवितान्ताय तृणावर्तासुहारिणे॥ ४१॥

जो (भगवान् श्रीकृष्ण) पाप एवं पापी-असुरों के विध्वंशक हैं, (व्रजवासियों की रक्षा हेतु अपने हाथ की एक अँगुली पर) गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले हैं, पूतना के प्राणों का अन्त करने वाले और तृणावर्त असुर का संहार करने वाले हैं (उन भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है)॥ ४१॥

निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धवैरिणे। अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमो नमः॥ ४२॥

जो कलाओं से परे हैं, जिनमें मोह का सर्वथा अभाव है, जो स्वरूप से ही परम पवित्र एवं श्रेष्ठ हैं, अशुद्ध स्वभाव एवं आचरण से युक्त रहने वाले असुरों के शत्रु हैं और जिनसे पृथक् और कोई नहीं है, ऐसे महान् भगवान् 'श्रीकृष्ण' को बारम्बार प्रणाम है॥ ४२॥

प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर। आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो॥ ४३॥

हे परम आनन्दस्वरूप परमेश्वर! (आप) मुझ पर प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। हे प्रभो! मुझे आधि-व्याधि (मानसिक एवं शारीरिक व्यथा) रूपी सर्पों ने डस लिया है, कृपा करके मेरा उन व्यथाओं से उद्धार करें॥ ४३॥

श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर। संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो॥ ४४॥

हे श्रीकृष्ण! हे रुक्मिणीवल्लभ! हे गोप-सुन्दरियों के चित्त का हरण करने वाले श्याम सुन्दर! मैं इस संसार सागर में डूब रहा हूँ। हे जगद्गुरो! आप मेरा उद्धार करें॥ ४४॥

केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन। गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव॥ ४५॥

हे केशव! हे क्लेशहरण करने में समर्थ नारायण! हे जनार्दन! हे परमानन्दमय गोविन्द! हे माधव! आप कृपा करें, मेरा उद्धार करें॥ ४५॥

अथैवं स्तुतिभिराराधयामि तथा यूयं पञ्चपदं जपन्तः श्रीकृष्णं ध्यायन्तः संसृतिं तरिष्यथेति होवाच हैरण्यगर्भः॥ ४६॥

हे श्रेष्ठ मुनियो! जिस प्रकार मैं (ब्रह्मा) इन स्तुतियों के द्वारा परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना करता हूँ, वैसे ही तुम सभी लोग भी पाँच पदों से युक्त ऊपर कहे हुए अष्टादशाक्षर मन्त्र का जप एवं भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए उनकी उपासना-आराधना में निरन्तर संलग्न रहो। इसके द्वारा संसार-सागर से पार हो जाओगे। इस प्रकार से पितामह ब्रह्मा जी ने उन ऋषि-मुनियों को उपदेश प्रदान किया॥ ४६॥

अमुं पञ्चपदं मन्त्रमावर्तयेद्यः स यात्यनायासतः केवलं तत्पदं तत्॥ ४७॥ अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षदिति॥ ४८॥ तस्मात्कृष्ण एव परमो देवस्तं ध्यायेत् तं रसयेत् तं भजेत् तं भजेदित्यों तत्सदित्युपनिषत्॥ ४९॥

जो श्रेष्ठ मनुष्य इस पूर्वोक्त पञ्चपद युक्त अष्टादशाक्षर मन्त्र का निरन्तर जप एवं भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन करता है, निश्चय ही वह भगवान् के उस अनुपम परम अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है। वह परमपद गतिशील नहीं, वरन् नित्य एवं स्थिर है; किन्तु फिर भी वह मन से भी अधिक तीव्र गति वाला है। भगवन्मय होने से ही वह अद्वितीय है। वहाँ तक देवता या वाणी आदि इन्द्रियाँ कभी नहीं पहुँच सकती हैं। इन्द्रियों की जहाँ तक गति है, वहाँ तक वह पूर्व से ही पहुँचा हुआ रहता है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण ही परम शाश्वत देव हैं। उन भगवान् का सतत चिन्तन करते रहना चाहिए। मन्त्र जप द्वारा उनके नाम-रूप-अमृत का सतत रसास्वादन करना चाहिए और उन्हीं भगवान् का नित्य नियमित भजन करते रहना चाहिए। उन्हीं के भजन में सदैव संलग्न रहे। ॐ (परमात्मा) ही सत्य है। इस प्रकार यह उपनिषद् (विद्या) पूर्ण हुई॥ ४७-४९॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः॥

॥ इति गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत्समाप्ता॥

॥चतुवदापानषद्॥

यह एक लघुकाय उपनिषद् है। इसमें चारों वेदों के प्राकट्य का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम सृष्टि के शुभारम्भ का उल्लेख है। उसी क्रम में ध्यानावस्थित ब्रह्माजी के चारों मुखों से जो कि चारों दिशाओं में अवस्थित थे, क्रमशः व्याहृतियाँ, छन्द एवं वेद प्रकट होने का उल्लेख है। तत्पश्चात् विराट् पुरुष के व्यापक स्वरूप का चित्रण किया गया है। अन्त में इस उपनिषद् के पारायण की फलश्रुति बताई गई है।

ॐ अथातो महोपनिषदमेव तदाहुः। एको ह वै नारायण आसीत्। न ब्रह्मा न ईशानो नापो नाग्निः न वायुः नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यः। स एकाकी नर एव। तस्य ध्यानान्तस्थस्य ललाटात् स्वेदोऽपतत्। ता इमा आपः। ता एते नो हिरण्यमयमन्नम्। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत। स ध्यातपूर्वामुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिः गायत्रं छन्द ऋग्वेदः। पश्चिमामुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दः यजुर्वेदः। उत्तरामुखो भूत्वा भुवरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सामवेदः। दक्षिणामुखो भूत्वा जनदिति व्याहृतिरानुष्टुभं छन्दोऽथर्ववेदः॥ १॥

अब इस महान् उपनिषद् (चतुर्वेदोपनिषद्) के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जाता है। सृष्टि से पूर्व सर्व प्रथम एक मात्र नारायण ही थे। न ब्रह्मा और न ही ईशान (शिव) थे। इनके अतिरिक्त पृथ्वी, वायु, आकाश, नक्षत्र एवं सूर्य आदि में से कोई नहीं था। वह एक मात्र अकेला 'नर' (विराट् पुरुष) ही था। ध्यान में स्थित तपस्यारत उस नर (विराट् पुरुष) के ललाट (मस्तक) से स्वेद (पसीना) गिरा। वही यह आपः (जल) हुआ। वही यह (आपः) हमारे लिए हिरण्यमय अन्न रूप है और उससे ही चार मुख वाले ब्रह्मा का प्राकट्य हुआ। उस (ब्रह्मा) ने ध्यानावस्था में पूर्वाभिमुख होकर 'भूः' व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद; पश्चिमाभिमुख होकर 'भूः' व्याहृति, त्रिष्टुप् छन्द एवं यजुर्वेद; उत्तराभिमुख होकर 'भुवः' व्याहृति, जगती छन्द एवं सामवेद तथा अन्त में दक्षिणाभिमुख होकर 'जनत्' (सम्भवतः जनः) व्याहृति, अनुष्टुप् छन्द एवं अथर्ववेद को प्रकट किया॥ १॥

[यहाँ चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारा चार व्याहृतियों को प्रकट करने का वर्णन है, लगता है पाठभेद के कारण 'भूः' व्याहृति का दो बार उल्लेख हुआ; किन्तु 'स्वः' का उल्लेख ही नहीं हुआ।]

सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं विश्वसंभवम्। विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम्॥ २॥
विश्वमेवेदं पुरुषं तं विश्वमुपजीवति। ऋषिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे तं विश्वरूपिणम्॥ ३॥
पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसन्निभम्। हृदये चाप्यधोमुखं सततस्यत्यैशीत्कराभिश्च॥ ४॥
तस्य मध्ये महानग्निर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः। तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता॥ ५
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः। स ब्रह्मा स ईशानः सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥ ६॥

वे अविनाशी देव (विराट् पुरुष) जिनके कि सहस्रों सिर एवं सहस्रों नेत्र हैं। सम्पूर्ण विश्व को प्रादुर्भूत करने वाले वे परमदेव हमेशा सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। (वे देव) नारायण एवं हरि आदि शब्द से भी प्रख्यात हैं। उन ऋषि स्वरूप सम्पूर्ण जगत् के स्वामी समुद्रशायी विश्व-रूप परम विराट् पुरुष का आश्रय प्राप्त करके ही यह संसार जीवित-जाग्रत् है। (यह विराट् पुरुष) कमल कोश के समान हृदय में अधोमुख होकर एक कोश के रूप में लटका है, जो अपनी शक्तियों से ही सभी कुछ करता रहता है। उसके मध्य में श्रेष्ठ अग्नि स्थित है, जिसकी ज्वाला चारों ओर मुखवाली अर्थात् लपकने वाली है। उसके मध्य में ही वह्निशिखा है, जो 'अणीय' के ऊपर प्रतिष्ठित है। उस श्रेष्ठ शिखा के मध्य में ही वह विराट् पुरुष परब्रह्म स्थित है। वह ही ब्रह्मा, शिव, अक्षर (ब्रह्म) तथा परम प्रभु स्वयं प्रकाश रूप है॥ २-६॥

य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणोऽधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति। अनुपनीतः उपनीतो भवति। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सूर्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। तेन सर्वैः क्रतुभिरिष्टं भवति। गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि जप्तानि भवन्ति। इतिहासपुराणानां सहस्राणि जप्तानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आचक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति। आसप्तमात् पुरुषं पुनाति। जाप्येन अमृतत्वं च गच्छति अमृतत्वं च गच्छति इत्याह भगवान् हिरण्यगर्भः॥ ७॥

जो ब्राह्मण (साधक) इस महोपनिषद् का अध्ययन (पाठ) करता है, वह यदि अश्रोत्रिय है, तो श्रोत्रिय हो जाता है। अनुपनीत है, तो उपनीत अर्थात् यज्ञोपवीत धारण करने वाला हो जाता है। वह अग्नि की तरह पवित्र होता है। वायु की तरह पवित्र होता है। सूर्य की तरह पवित्र होता है। सोम की तरह पवित्र होता है और सत्य की तरह पवित्र होता है। उसे समस्त देवगण जानने लगते हैं। उसने मानो सभी तीर्थों में स्नान कर लिया तथा सभी प्रकार के यज्ञ कर चुका (ऐसा समझना चाहिए)। उसने गायत्री मन्त्र का साठ हजार जप कर लिया तथा इतिहास-पुराणों का भी मानो सहस्रों बार जप (पारायण) कर चुका (जानना चाहिए), वह दस हजार ॐकार (प्रणव) का जप भी कर चुका। वह पुरुष दृष्टिपात मात्र से मनुष्यों की पंक्ति को अर्थात् समूहों को पवित्र कर देता है। सातवीं पीढ़ी तक मनुष्यों को पवित्र कर देता है एवं जो इस उपनिषद् का पाठ (अध्ययन) करता है, वह अमृतत्व को निश्चयपूर्वक प्राप्त कर लेता है, ऐसा ही भगवान् हिरण्यगर्भ ने कहा है॥ ७॥

देवा ह वै स्वर्गं लोकमायंस्ते देवा रुद्रमपृच्छंस्ते देवा ऊर्ध्वबाहवो रुद्रं स्तुवन्ति। भूस्त्वादिर्मध्यं भुवस्ते स्वस्ते शीर्षं विश्वरूपोऽसि ब्रह्मैकस्त्वं द्विधा त्रिधा शान्तिस्त्वं हुतमहुतं दत्तमदत्तं सर्वमसर्वं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरं परायणं च त्वम्। अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवा नमस्याम धूर्तेरमृतं मृतं मर्त्यं च सोमसूर्यपूर्वजगदधीतं वा यदक्षरं प्राजापत्यं सौम्यं सूक्ष्मं ग्राहं ग्राहेण भावं भावेन सौम्यं सौम्येन सूक्ष्मं सूक्ष्मेण ग्रसति तस्मै महाग्रासाय नमः॥ ८॥

समस्त देवगण स्वर्गलोक में उपस्थित हुए और दोनों हाथ उठाकर भगवान् रुद्र की स्तुति करते हुए उन्होंने पूछा-हे भगवन्! तुम्हारा आदि-भूः, मध्य भुवः, शीर्ष (अन्तिम) स्वः है, तुम विश्वरूप हो। तुम्हीं ब्रह्मरूप में एक हो। (जीव-ब्रह्म रूप) द्विविध, (जीव-ब्रह्म-माया रूप) त्रिविध एवं (परम) शान्ति हो। हुत (हवन किया गया), अहुत (हवन न किया गया), दिया गया, न दिया गया, सर्व (सब कुछ), असर्व (कुछ भी नहीं), विश्व-अविश्व, किया-न किया, पर-अपर-परायण सभी कुछ तुम ही हो। हम सोमरूपी अमृत का पान करने वाले हों। हमें दिव्य ज्योति की प्राप्ति हो। हे देव! हम आपको नमन-वन्दन करते हैं। अमृत, मृत, मर्त्य, सोम, सूर्य, पूर्व संसार, अधीत या जो अक्षर अर्थात् अविनाशी, प्राजापत्य, सौम्य और सूक्ष्म है, उसे ग्राह को ग्राह से, भाव को भाव से, सौम्य को सौम्य से, सूक्ष्म को सूक्ष्म से ग्रसित (प्राप्त) करते हैं। उस महाग्रास को (भगवान् रुद्र को) प्रणाम है॥ ८॥

॥ इति चतुर्वेदोपनिषत्समाप्ता॥

॥ चाक्षुषोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय परम्परा के अन्तर्गत है। इस उपनिषद् में अपने नाम के अनुरूप चक्षुरोग-नेत्ररोग दूर करने की सामर्थ्य है। इसमें सर्वप्रथम इस उपनिषद् की महत्ता बतलाई गई है। तदुपरान्त इस उपनिषद् के ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग का उल्लेख है। तत्पश्चात् चक्षु के अभिमानी देवता 'सूर्यदेव' से नेत्ररोग दूर करने की प्रार्थना है, जिसमें उनसे एक ही प्रार्थना की गई है कि हे भगवन्! इस अज्ञान रूपी अन्धकार को हम सभी से दूर कर दें और तमोमय बन्धन में आबद्ध हुए हम सभी प्राणिजगत् को अपना दिव्य तेज प्रदान करके मुक्त करने की कृपा करें। इस प्रार्थना के साथ उपनिषद् का समापन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

ॐ अथातश्चाक्षुषीं पठितसिद्धविद्यां चक्षूरोगहरां व्याख्यास्यामः। यच्चक्षूरोगाः सर्वतो नश्यंति। चाक्षुषी दीप्तिर्भविष्यतीति। तस्याश्चाक्षुषीविद्याया अहिर्बुध्न्य ऋषिः। गायत्री छन्दः। सूर्यो देवता। चक्षूरोगनिवृत्तये जपे विनियोगः। ॐ चक्षुः चक्षुः चक्षुः तेजः स्थिरो भव। मां पाहि पाहि। त्वरितं चक्षूरोगान् शमय शमय। मम जातरूपं तेजो दर्शय दर्शय। यथाऽहं अन्धो न स्यां तथा कल्पय कल्पय। कल्याणं कुरु कुरु। यानि मम पूर्वजन्मोपार्जितानि चक्षुः प्रतिरोधकदुष्कृतानि सर्वाणि निर्मूलय निर्मूलय। ॐ नमः चक्षुस्तेजोदात्रे दिव्याय भास्कराय। ॐ नमः करुणाकरायामृताय। ॐ नमः सूर्याय। ॐ नमो भगवते सूर्यायाक्षितेजसे नमः। खेचराय नमः। महते नमः। रजसे नमः। तमसे नमः। असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय। उष्णो भगवाञ्छुचिरूपः। हंसो भगवान् शुचिरप्रतिरूपः। य इमां चक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति। न तस्य कुले अन्धो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा विद्यासिद्धिर्भवति॥ १ ॥

अब पाठ मात्र से सिद्ध हो जाने वाली चाक्षुषी विद्या की व्याख्या करते हैं। यह विद्या नेत्र के रोगों को पूर्णतया विनष्ट करने में समर्थ है। इससे नेत्र तेजोमय हो जाते हैं। इस चाक्षुषी विद्या के मन्त्र-द्रष्टा ऋषि अहिर्बुध्न्य हैं। छन्द-गायत्री है और देवता-सूर्य (सविता) भगवान् हैं। नेत्र रोग के निवारणार्थ इसका विनियोग किया जाता है। हे चक्षु के अभिमानी सूर्य देवता! आप चक्षु में चक्षु के तेजोमय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जायें। आप मेरी रक्षा करें, रक्षा करें। मेरे नेत्र-रोगों का शीघ्र शमन करें, शमन करें। मुझे अपना स्वर्ण-सदृश दिव्य तेज (प्रकाश) दृष्टिगोचर करा दें, दृष्टिगोचर करा दें। जिससे कि मैं अन्धा न होऊँ, कृपा करके वैसा ही कोई उपाय करें,उपाय करें। (हम सभी का) कल्याण करें, कल्याण करें। मेरे द्वारा पूर्वजन्म में अर्जित पापों का,जो दर्शनशक्ति के अवरोधक हैं, उन सभी को समूल नष्ट कर दें। मूल-सहित उखाड़ दें। नेत्रों को दिव्य तेजोमय बनाने वाले दिव्य प्रकाश स्वरूप भगवान् भास्कर के लिए नमन-वन्दन है। ॐ कार रूप भगवान् करुणामय अमृतस्वरूप को नमस्कार है। भगवान् सूर्य (सविता) देवता को नमस्कार है। नेत्र के तेजःस्वरूप भगवान् सूर्य देवता को नमन है। आकाश में विचरण (विहार) करने वाले भगवान् सूर्य को नमन-वन्दन है। महान् श्रेष्ठतम स्वरूप को नमस्कार है। (सभी में सक्रियता प्रादुर्भूत करने वाले) रजोगुण स्वरूप भगवान् सूर्य (सविता) देव

को प्रणाम है। (सदैव अंधकार को अपने अन्त: में समाहित कर लेने वाले) तमोगुण के आश्रय प्रदाता भगवान् सूर्य को नमस्कार है। हे भगवन् ! आप हम सभी को असत् से सत् की ओर ले चलें। अज्ञानरूपी अन्धकार से ज्ञानरूपी प्रकाश की ओर गमन करायें। मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले चलें। ऊष्मा स्वरूप भगवान् सूर्य (सविता) देव शुद्ध-स्वरूप हैं। हंसमय भगवान् सूर्य शुचि एवं अप्रतिमरूप हैं। उन (सविता देव) के तेजोमय रूप की तुलना करने वाला अन्य कोई भी नहीं है। जो विद्वान् मनीषी ब्राह्मण इस चाक्षुषीविद्या का नित्य प्रति पाठ करता है, उसे चक्षु से सम्बन्धित किसी भी तरह के रोग नहीं होते। उसके कुल में कोई अन्धा नहीं होता। इस विद्या को आठ ब्राह्मणों (ब्रह्मनिष्ठों) को ग्रहण (याद) करा देने पर यह विद्या सिद्ध हो जाती है॥ १॥

ॐ विश्वरूपं घृणिनं जातवेदसं। हिरणमयं पुरुषं ज्योतिरूपं तपन्तम्।
विश्वस्य योनिं प्रतपन्तमुग्रं पुरः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥ २॥

भगवान् भास्कर सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, सम्पूर्ण जगत् जिनका स्वरूप है, जो तीनों कालों को जानने वाले तथा अपनी किरणों से शोभायमान हैं, जो प्रकाशस्वरूप, हिरण्यमय पुरुषरूप में तप्त हो रहे हैं, इस सम्पूर्ण विश्व को प्रकट करने वाले हैं, उन प्रचण्ड प्रकाश से युक्त भगवान् सविता देवता को हम सभी नमस्कार करते हैं। ये भगवान् सूर्य नारायण सम्पूर्ण प्रजाओं (प्राणियों) के सामने प्रत्यक्ष रूप में उदित हो रहे हैं॥ २॥

ॐ नमो भगवते आदित्याय अहोवाहिन्यहोवाहिनी स्वाहा। ॐ वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः। अपध्वान्तमूर्णूहि पूर्द्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान्। पुण्डरीकाक्षाय नमः। पुष्करेक्षणाय नमः। अमलेक्षणाय नमः। कमलेक्षणाय नमः। विश्वरूपाय नमः। महाविष्णवे नमः॥ ३॥

भगवान् आदित्य को नमन-वन्दन है। उन (भगवान् भास्कर) की प्रभा दिन का वहन करने वाली है। हम उन सूर्यदेव के लिए श्रेष्ठ आहुति प्रदान करते हैं। प्रियमेधा आदि समस्त ऋषिगण श्रेष्ठ पंखों से युक्त पक्षी-रूप में भगवान् सूर्यदेव के समक्ष उपस्थित होकर इस प्रकार निवेदन करने लगे-हे भगवन्! इस अज्ञान रूपी अन्धकार को हम सभी से दूर कर दें, हमारे नेत्रों को प्रकाश से परिपूर्ण बना दें और तमोमय बन्धन में आबद्ध हुए हम सभी प्राणिजगत् को अपना दिव्य तेज प्रदान कर मुक्त करने की कृपा करें। पुण्डरीकाक्ष भगवान् को नमस्कार है। पुष्करेक्षण को नमस्कार है। अमलेक्षण को नमस्कार है। कमलेक्षण को नमस्कार है। विश्वरूप को प्रणाम है। भगवान् महाविष्णु को नमन-वन्दन है॥ ३॥

ॐ सह नाववतु ....इति शान्तिः॥

॥ इति चाक्षुषोपनिषत् समाप्ता॥

॥ तुलस्युपानषद् ॥

परवर्ती कालीन उपनिषदों में एक 'तुलसी' उपनिषद् भी है। 'तुलसी' चिरपरिचित एक पौधा है, जो आस्तिक-नास्तिक दोनों के लिए ग्राह्य है। आस्तिक जन बड़ी श्रद्धा से 'तुलसी का पौधा' आरोपित करते हैं, उसमें देवी भाव रखते हुए नित्य प्रति स्नान, गन्ध, पुष्प, धूप-दीप आदि से पूजन करते हैं- आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। नास्तिक जन पूजा-पाठ भले ही न करें, परन्तु तुलसी की औषधीय गुणों के कारण इसकी उपयोगिता अवश्य स्वीकार करते हैं।

इस उपनिषद् में तुलसी के आध्यात्मिक गुणों को उजागर किया गया है। सर्वप्रथम इस उपनिषद् के ऋषि, देवता, छन्द आदि का वर्णन है, तदुपरान्त उसकी महिमा का प्रतिपादन है। तुलसी का पंचांग (मूल, तना, पत्र, पुष्प, बीज) सेवन रोगोपचार एवं आध्यात्मिक गुणों के विकास में नितान्त उपयोगी है। रात्रि में, पर्वकाल में इसके पत्ते नहीं तोड़ने चाहिए। इसे अमृतरूपा एवं पापनाशिनी कहा गया है। यह भगवान् विष्णु को अतीव प्रिय है। अन्त में इस उपनिषद् की फलश्रुति बताते हुए, इसे पूर्णता प्रदान की गई है।

अथ तुलस्युपनिषदं व्याख्यास्यामः। नारद ऋषिः। अथर्वाङ्गिरश्छन्दः। अमृता तुलसी देवता। सुधा बीजम्। वसुधा शक्तिः। नारायणः कीलकम्। श्यामां श्यामवपुर्धरां ऋक्स्वरूपां यजुर्मनां ब्रह्माथर्वप्राणां कल्पहस्तां पुराणपठितां अमृतोद्भवां अमृतरसमञ्जरीं अनन्तां अनन्तरसभोगदां वैष्णवीं विष्णुवल्लभां मृत्युजन्मनिबर्हणीं दर्शनात्पापनाशिनीं स्पर्शनात्पावनीं अभिवन्दनाद्रोगनाशिनीं सेवनान्मृत्युनाशिनीं वैकुण्ठार्चनाद्विपद्धन्त्रीं भक्षणात् वयुनप्रदां प्रादक्षिण्याद्दारिद्र्यनाशिनीं मूलमृल्लेपनान्महापापभञ्जिनीं घ्राणतर्पणादन्तर्मलनाशिनीं य एवं वेद स वैष्णवो भवति। वृथा न छिन्द्यात्। दृष्ट्वा प्रदक्षिणं कुर्यात्। रात्र्यां न स्पृशेत्। पर्वणि न विचिन्वेत्। यदि विचिन्वति स विष्णुहा भवति। श्रीतुलस्यै स्वाहा। विष्णुप्रियायै स्वाहा। अमृतायै स्वाहा। श्रीतुलस्यै विद्महे विष्णुप्रियायै धीमहि। तन्नो अमृता प्रचोदयात्॥ १ ॥

अब तुलसी उपनिषद् का वर्णन किया जाता है। जिसके नारद ऋषि, अथर्वाङ्गिरस छन्द, अमृतरूपा तुलसी देवता, अमृत बीज, वसुधा (धरती) शक्ति एवं नारायण कीलक हैं। यह कृष्ण रंग (वर्ण) एवं कृष्ण शरीर वाली है। यह ऋग्वेद स्वरूपा,यजुर्वेद मन वाली, ब्रह्माथर्ववेद प्राण वाली, वेदांग एवं पुराणों में सुविख्यात (कल्प आदि वेदांग तथा पुराणों के द्वारा जिनकी महिमा का ज्ञान होता है), अमृत के द्वारा उद्भूत, अमृत रस मंजरी तुल्य, अन्त रहित, अनेक प्रकार के रस तथा भोग प्रदान करने वाली, दर्शन से पाप विनष्ट करने वाली, परम वैष्णव रूप, भगवान् विष्णु को प्रिय, आवागमन समाप्त करने वाली, स्पर्श करने से पावन बनाने वाली, अभिनन्दन करने से रोगों को समाप्त करने वाली, सेवन करने से मृत्यु नाशक, पूजन में भगवान् विष्णु को समर्पित करने से संकट निवारण करने वाली, भक्षण करने से प्राण शक्ति प्रदान करने वाली, प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करने से दरिद्रता का नाश करने वाली तथा मूल (जड़) की मिट्टी लगाने से महान् पापों का भंजन (विनाश) कर देने वाली है। (तुलसी की) गंध लेने से शरीरस्थ अन्तः के मल का विनाश करने वाली है। जो इस प्रकार से जानता है, वही सच्चा वैष्णव है। तुलसी को अनावश्यक नहीं तोड़ना चाहिए। जहाँ भी दिखाई

पड़े, तुरन्त परिक्रमा करनी चाहिए। रात्रि में इसका (तुलसी का) स्पर्श न करे। पर्वों के दिन (तुलसी को) नहीं तोड़ना चाहिए। (पर्वों पर) यदि कोई तोड़ता है, तो वह विष्णुद्रोही हो जाता है। विष्णु भगवान् को प्रिय अमृतरूपा श्रीतुलसी को नमस्कार है। श्रीतुलसी को हम (गुरु-शास्त्रानुसार) जानते हैं, विष्णु भगवान् को प्रिय श्रीतुलसी का ध्यान करते हैं। (इसके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं।) अमृतस्वरूपा (वह) हमें (अमृत प्राप्ति के लिए) प्रेरित करे॥ १॥

अमृतेऽमृतरूपासि अमृतत्वप्रदायिनि । त्वं मामुद्धर संसारात् क्षीरसागरकन्यके ॥ २॥
श्रीसखि त्वं सदानन्दे मुकुन्दस्य सदा प्रिये। वरदाभयहस्ताभ्यां मां विलोकय दुर्लभे॥ ३॥

हे क्षीरसागर की कन्या ! तुम अमृत हो और अमृतरूपा होकर अमृतत्व प्रदान करने वाली हो, इसलिए संसार-सागर से मेरा उद्धार करो। हे लक्ष्मी जी की सखी! तुम आनन्दमय हो एवं सदैव विष्णु को प्रिय हो। इसलिए हे दुष्प्राप्य! तुम अपने हाथों में वर एवं अभय मुद्रा धारण करके (मेरी ओर कृपा की दृष्टि से) देखो॥२-३॥

अवृक्षवृक्षरूपासि वृक्षत्वं मे विनाशय । तुलस्यतुलरूपासि तुलाकोटिनिभेऽजरे ॥ ४॥
अतुले त्वतुलायां हि हरिरेकोऽस्ति नान्यथा। त्वमेव जगतां धात्री त्वमेव विष्णुवल्लभा॥ ५॥

हे तुलसी! अवृक्ष (चैतन्य रूप) होते हुए भी तुम वृक्ष रूप में दिखाई देती हो, (इसलिए) मेरी जड़ता (वृक्षत्व) का विनाश करो। हे अतुल रूप वाली! तुम्हारी कोई तुलना नहीं है, तुम जराविहीन हो, करोड़ों तुलनाओं से तुम्हारी तुलना नहीं की जा सकती। हे अतुले! तुम्हारे समान केवल भगवान् विष्णु ही हैं, दूसरा कोई नहीं। तुम भगवान् विष्णु को प्रिय हो तथा संसार का पालन करने वाली हो॥ ४-५॥

त्वमेव सुरसंसेव्या त्वमेव मोक्षदायिनी। त्वच्छायायां वसेल्लक्ष्मीस्त्वन्मूले विष्णुरव्ययः॥ ६॥

तुम देवताओं द्वारा सेवित हो तथा मुक्ति प्रदान करने वाली हो। तुम्हारी जड़ में भगवान् विष्णु तथा छाया में लक्ष्मी का निवास होता है॥ ६॥

समन्ताद्देवताः सर्वाः सिद्धचारणपन्नगाः। यन्मूले सर्वतीर्थानि यन्मध्ये ब्रह्मदेवताः॥ ७॥
यदग्रे वेदशास्त्राणि तुलसीं तां नमाम्यहम्। तुलसि श्रीसखि शुभे पापहारिणि पुण्यदे॥ ८॥
नमस्ते नारदनुते नारायणमनः प्रिये । ब्रह्मानन्दाश्रुसंजाते वृन्दावननिवासिनि ॥ ९॥

जिसके मूल में सभी देवता, सिद्ध, चारण, नाग एवं तीर्थ चारों तरफ से स्थित हैं तथा जिसके मध्य में ब्रह्म देवता निवास करते हैं। जिनके अग्रभाग में वेद शास्त्रों का निवास है। उन तुलसी को मैं नमस्कार करता हूँ। हे तुलसी! तुम लक्ष्मी की सहेली, कल्याणप्रद, पापों का हरण करने वाली तथा पुण्यदात्री हो। ब्रह्म के आनन्द रूपी आँसुओं से उत्पन्न होने वाली तुलसी तुम वृन्दावन में निवास करने वाली हो। नारद के द्वारा स्तुत्य आपको नमस्कार है, नारायण भगवान् के मन को प्रिय लगने वाली आपको नमस्कार है॥ ७-९॥

सर्वावयवसंपूर्णे अमृतोपनिषद्रसे । त्वं मामुद्धर कल्याणि महापापाब्धिदुस्तरात् ॥ १०॥
सर्वेषामपि पापानां प्रायश्चित्तं त्वमेव हि। देवानां च ऋषीणां च पितॄणां त्वं सदा प्रिये॥ ११॥
विना श्रीतुलसीं विप्रा येऽपि श्राद्धं प्रकुर्वते। वृथा भवति तच्छ्राद्धं पितॄणां नोपगच्छति॥ १२
तुलसीपत्रमुत्सृज्य यदि पूजां करोति वै। आसुरी सा भवेत् पूजा विष्णुप्रीतिकरी न च॥१३॥
यज्ञं दानं जपं तीर्थं श्राद्धं वै देवतार्चनम्। तर्पणं मार्जनं चान्यन्न कुर्यात्तुलसीं विना॥ १४॥
तुलसीदारुमणिभिः जपः सर्वार्थसाधकः। एवं न वेद यः कश्चित् स विप्रः श्वपचाधमः॥ १५

हे सर्वांगपूर्णे! तुम अमृतरूपी उपनिषद् रस रूप हो, इसलिए हे कल्याण करने वाली! महापाप रूपी दुस्तर समुद्र से हमारा उद्धार करो। हे तुलसी! तुम समस्त पापों की प्रायश्चित्त रूप हो, (इसलिए) देवताओं, ऋषियों और पितरों को सदैव प्रिय हो। जो ब्राह्मण श्राद्ध में तुलसी प्रयोग नहीं करते, वह श्राद्ध पितरों तक नहीं पहुँचता है, व्यर्थ हो जाता है। यदि कोई तुलसी पत्र के बिना भगवान् की पूजा करता है, तो वह पूजा आसुरी हो जाती है, वह (पूजा) विष्णु भगवान् को प्रिय नहीं होती। बिना तुलसी के यज्ञ, दान, जप, तीर्थ, श्राद्ध, तर्पण, मार्जन तथा देवार्चन आदि नहीं करना चाहिए। तुलसी के मनकों की माला समस्त मनोकामनाओं को पूरा करने वाली है। इस प्रकार जो ब्राह्मण नहीं जानता, वह चाण्डाल से भी अधम है॥ १०-१५॥

इत्याह भगवान् ब्रह्माणं नारायणः, ब्रह्मा नारदसनकादिभ्यः सनकादयो वेदव्यासाय, वेदव्यासः शुकाय, शुको वामदेवाय, वामदेवो मुनिभ्यः, मुनयो मनुभ्यः प्रोचुः। य एवं वेद स स्त्रीहत्यायाः प्रमुच्यते। स वीरहत्यायाः प्रमुच्यते। स ब्रह्महत्यायाः प्रमुच्यते। स महाभयात् प्रमुच्यते। स महादुःखात् प्रमुच्यते। देहान्ते वैकुण्ठमवाप्नोति वैकुण्ठमवाप्नोति। इत्युपनिषत्॥१६॥

इस प्रकार यह तथ्य भगवान् नारायण ने ब्रह्माजी को बताया, ब्रह्माजी ने नारद और सनकादि ऋषियों को, सनकादि ने वेदव्यास को, वेदव्यास ने शुकदेव को बताया, शुकदेव ने वामदेव से कहा, वामदेव ने मुनियों को बताया तथा मुनियों ने मनुष्यों को बताया। जो इस प्रकार जानता है, वह स्त्री-हत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। वह वीर (भाई) हत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्म हत्या से मुक्ति पा लेता है। वह महाभय से छूट जाता है। वह महादुःख से मुक्त हो जाता है। शरीरान्त होने पर वैकुण्ठ लोक को प्राप्त करता है, (निश्चित रूप से) वैकुण्ठ लोक को प्राप्त करता है। ऐसी यह उपनिषद् है॥ १६॥

॥ इति तुलस्युपनिषत् समाप्ता॥

॥ त्रिपुरोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेदीय परम्परा के अन्तर्गत आती है। इसमें सर्वप्रथम 'चित्' शक्ति का स्वरूप व्यक्त हुआ है। तत्पश्चात् उस चित् शक्ति की वन्दना की गई है। पुन: 'कामेश्वर' का स्वरूप, आवरण देवता, शिव काम सुन्दरी विद्या का प्रतिफल, आदिमूल विद्या का स्वरूप, विरक्तों (संन्यासियों) की आदिविद्या के ज्ञान का फल,देवी के ज्ञान का फल, मन्द जनों के लिए ध्यान, अधम साधकों के अनुष्ठान और उसके फल तथा निष्काम साधक द्वारा ब्रह्मत्व प्राप्ति का वर्णन किया गया है। यह आगम (तन्त्र) विद्या परक उपनिषद् है। इसलिए इसमें सांकेतिक शब्दों की अधिकता है। 'ब्रह्म' साक्षात्कार का उपाय इस उपनिषद् में बीज मन्त्रों से साधना द्वारा बताया गया है। ऐसी कुछ उपनिषदें हैं, जो जन सामान्य के लिए कुछ कठिनाई से समझ में आने वाली हैं।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्षमालिकोपनिषद्)

तिस्त्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणा अत्राकथा अक्षराः संनिविष्टाः।
अधिष्ठायैना अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम्॥ १ ॥

तीन पुर, तीन पथ एवं इस (श्री चक्र) में सन्निविष्ट अकथादि अक्षर-इन सभी से अधिष्ठित यह (शक्ति) सबको समान दृष्टि से देखने वाली जो अजर, प्राचीन चैतन्य शक्ति है, वह अपनी महिमा से अत्यधिक श्रेष्ठ है ॥१

[यहाँ तीन पुर का तात्पर्य स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से है। तीन पथ का तात्पर्य-ज्ञान, कर्म, उपासना-ज्ञान, विज्ञान एवं सम्यक् ज्ञान से है। अकथादि अक्षर से तात्पर्य 'अ' से लेकर 'क्ष' तक अक्षर समूह से है।]

नवयोनीर्नवचक्राणि दधिरे नवैव योगा नव योगिन्यश्च।
नवानां चक्रा अधिनाथा स्योना नव भद्रा नव मुद्रा महीनाम्॥ २ ॥

(वह चैतन्य शक्ति) नव योनि, नवचक्र, नवयोग, नवयोगिनी, नवचक्रों की आधार शक्तियों, सुखकारी नवभद्राओं तथा महिमाशालिनी नव मुद्राओं के रूप में प्रकाशित हो रही है॥ २॥

[इस मन्त्र के विशिष्ट शब्दों का परिचय इस प्रकार है—नवयोनि - श्री चक्र यन्त्र में बनाई जाने वाली नौ योनियाँ (महात्रिपुर सुन्दरी आदि महाशक्तियाँ)। नवचक्र - सर्वानन्दमय सर्वसिद्धिप्रद, सर्वरक्षाकर, सर्वरोगहर, सर्वार्थसाधक, सर्वसौभाग्यदायक, सर्वसंक्षोभण, सर्वाशापरिपूरक एवं त्रैलोक्य मोहन। नवचक्रों की आधार शक्तियाँ - महात्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुराम्बा, त्रिपुरसिद्धा, त्रिपुरमालिनी, त्रिपुराश्री, त्रिपुरवासिनी, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरेशी एवं त्रिपुरा। नवयोग- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि और सहज योग। नवयोगिनियाँ - नवचक्रों में निवास करने वाली नौ शक्तियाँ। नवमुद्रा - योनि, बीज, खेचरी, महांकुश, महोन्मादिनी, सर्ववशंकरी, सर्वाकर्षिणी, सर्वविद्राविणी एवं सर्वसंक्षोभिणी मुद्राएँ। नवभद्रा-कामेश्वरी आदि नवशक्तियाँ ही नव भद्राएँ हैं।]

एका स आसीत्प्रथमा सा नवासीदा सोनविंशादा सोनत्रिंशात्।
चत्वारिंशादथ तिस्त्रः समिधा उशतीरिव मातरो माऽऽविशन्तु॥ ३ ॥

नवभद्रा आदिरूप में, उन्नीस तत्त्व समूह रूप में, चालीस शक्तियों के रूप में तथा तीन समिधा के रूप में अपनी सन्तानों के लिए कल्याण कामना करने वाली माता के समान (ब्रह्मपद प्राप्ति की कामना वाले) मुझमें प्रवेश करें अर्थात् मेरे अन्त:करण में प्रविष्ट हों॥ ३॥

[१९ तत्त्व = ५ ज्ञानेन्द्रियाँ + ५ कर्मेन्द्रियाँ + ५ प्राण+ ४ अन्त:करण। २९ तत्त्व = १९ तत्त्व+ ५ विषय (शब्द, स्पर्श, रूप,रस, गन्ध,) +५ उपप्राण। ४० शक्तियाँ=१४ अन्त:-बाह्य इन्द्रियाँ एवं इन्द्रियों के अधिपति+३ कर्म (तूल, मूल, अविद्याजन्य) +४ गुण (विक्षेप, आवरण, मुदिता, करुणा) + विश्व, विश्वादि, तुर्य, प्राज्ञ आदि भेद से युक्त; तीन समिधा=क्रिया, ज्ञान, इच्छात्मक तथा ज्ञान, विज्ञान तथा सम्यक् ज्ञान।]

ऊर्ध्वज्वलज्ज्वलनं ज्योतिरग्रे तमो वै तिरश्चीनमजरं तद्रजोऽभूत्।
आनन्दनं मोदनं ज्योतिरिन्दोरेता उ वै मण्डला मण्डयन्ति॥ ४॥

ऊर्ध्व (ऊपर) की ओर प्रज्वलित होने वाली और प्रकाशित होने वाली ज्योति सर्वप्रथम अनुभव में आती है। इसके विपरीत तमोगुण तिरश्चीन (तिरछी गति वाला) और अजर है, उससे रजोगुण उत्पन्न हुआ। यह ज्योति आनन्द और प्रसन्नता देने वाली है तथा इन्दु के (चन्द्रवत् शीतल) गुणों से विभूषित करती है॥ ४॥

यास्तिस्रो रेखाः सदनानि भूस्त्रीस्त्रिविष्टपास्त्रिगुणास्त्रिप्रकाराः।
एतत्त्रयं पूरकं पूरकाणां मन्त्री प्रथते मदनो मदन्या॥ ५॥

जो तीन रेखाएँ हैं, चार सदन हैं, तीन भू (स्थल) हैं, तीन विष्टप, तीन गुण और तीन-तीन प्रकार (भेद) हैं। ये सभी त्रिक पूर्णता प्रदान करने के साधन स्वरूप हैं। मन्त्र में (श्री चक्र में) कामना (पूर्ण करने वाली) शक्ति से मदन (कामना के अधिष्ठाता देवता) जय शील हो ॥ ५॥

[तीन रेखा= क्रिया, ज्ञान और इच्छाशक्ति, चार सदन = जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय अथवा नेत्र, कण्ठ, हृदय और सहस्त्रार चक्र; तीन भूः = भूः, भुवः एवं स्वः ; तीन विष्टप एवं तीन गुण= तम, रज एवं सतोगुण; तीन-तीन प्रकार-तम-सत+ तम, रज+तम, तम+तम; रज-सत+रज, रज+रज, तम+रज; सत-सत+सत, सत+रज, सत+तम।]

मदन्तिका मानिनी मंगला च सुभगा च सा सुन्दरी सिद्धिमत्ता।
लज्जा मतिस्तुष्टिरिष्टा च पुष्टा लक्ष्मीरुमा ललिता लालपन्ती॥ ६॥

(उनके परिवार के आवरण देवता की संख्या पन्द्रह है, जो क्रमशः) मदन्तिका, मानिनी, मंगला, सुभगा, सुन्दरी, सिद्धिमत्ता, लज्जा, मति, तुष्टि, इष्टा, पुष्टा, लक्ष्मी, उमा, ललिता एवं लालपन्ती हैं॥ ६॥

इमां विज्ञाय सुधया मदन्ती परिसृता तर्पयन्तः स्वपीठम्।
नाकस्य पृष्ठे महतो वसन्ति परं धाम त्रैपुरं चाविशन्ति॥ ७॥

(साधक) इनको जानकर (इनके) अमृत गुणों से प्रसन्नता का अनुभव करते हुए,स्वपीठ (श्री चक्रपीठ) को (दुग्ध आदि से) तृप्त करते हुए महान् स्वर्गलोक में निवास करते हैं और त्रैपुर परमधाम में पहुँच कर (अपने को) कृतकृत्य अनुभव करते हैं॥ ७॥

कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमातऽऽदिविद्या॥ ८॥

(आदिमूल विद्या का स्वरूप इस प्रकार है-यह) काम, योनि, काम-कला, वज्रपाणि, गुहा, हसा, मातरिश्वा, अभ्र, इन्द्र, पुनः गुहा, सकला और माया आदि से यह विशिष्टरूपा यह विद्या (प्रवर्धमान हुई)है॥ ८॥

[यहाँ आदि विद्या के संकेताक्षर प्रयुक्त हुए हैं। जो इस प्रकार हैं- काम = क, योनि = ए, कामकला = ई, वज्रपाणि = ल, गुहा = ह्रीं, हसा = ह, स, मातरिश्वा = क, अभ्र = ह, इन्द्र = ल, सकला = स, क, ल, माया = ह्रीं। ये सभी वर्ण प्रणवात्मिका आदि विद्या के प्रतीक हैं।]

षष्ठं सप्तममथ वह्निसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्तः।
कथ्यं कविं कल्पकं काममीशं तुष्टुवांसो अमृतत्वं भजन्ते॥ ९॥

(आदि विद्या के) छठे वर्ण (ह-शिवबीज), सातवें वर्ण (स-शक्तिबीज) और वह्नि सारथि (क-कामेश-बीज) इसके मूलत्रिक (ह,स,क) का जप करते हुए कथ्य रूप, कवि (क्रान्तदर्शी-भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जानने वाला-त्रिकालज्ञ) सदृश कामेश्वर की स्तुति करते हुए अमृतत्व को प्राप्त करते हैं॥ ९॥

पुरं हन्त्रीमुखं विश्वमातू रवे रेखा स्वरमध्यं तदेषा।
बृहत्तिथिर्दश पञ्चा च नित्या सषोडशिकं पुरमध्यं बिभर्ति॥ १०॥

(वह देवी) पुर, हन्त्रीमुख (ह-स-क), विश्वमातारूप, रवि-रेखा (आदित्य मंडल रूप), स्वर मध्य

('ई' 'ओ' रूप) आदि रूपों में विद्यमान बृहत्तिथि (निमेष से लेकर कल्पान्त तक) तथा पंचदशादि (पन्द्रह तिथियाँ, वार नक्षत्रादि) नित्य (देवता भाव को प्राप्त) सषोडशिक (सोलहवीं तिथि पूर्णिमा सहित) पुर मध्य (स्व अविद्या पर आधारित) रूपों को धारण करती है॥ १०॥

यद्वा मण्डलाद्वा स्तनबिम्बमेकं मुखं चाधस्त्रीणि गुहासदनानि।
कामीकलां कामरूपां चिकित्वा नरो जायते कामरूपश्च कामः॥ ११॥

(रवि, चन्द्र आदि के) मण्डल से आविर्भूत सर्वांग सुन्दरी जिसका एक स्तनबिम्ब एवं मुख नीचे की ओर है, के देहत्रय (स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर) रूपी गुहा में अवस्थित परमेश्वर की कला-'कामकला' का ध्यान करके योगी अपनी समस्त कामनाओं को पूर्ण करके स्वेच्छानुसार-'काममय' हो जाता है, (पर काम्यफल) जन्म आदि का कारण होता है, इसलिए (उच्च वर्ण वाले मुमुक्षु को) सकाम उपासना नहीं करनी चाहिए॥ ११॥

परिसृतं झषमाजं पलं च भक्तानि योनीः सुपरिष्कृताश्च।
निवेदयन्देवतायै महत्यै स्वात्मीकृते सुकृते सिद्धिमेति॥ १२॥

(इसी प्रकार हीन वर्ण वाले) विधिवत् तैयार किये गये अपने भोज्य पदार्थ (मांस-मदिरा आदि) को (आत्मीय भोग बुद्धि का परित्याग करके) सर्वप्रथम महादेवी को समर्पित करके प्रसाद रूप में ग्रहण कर पुण्य कर्मों के द्वारा (श्रेष्ठ कर्मों की) सिद्धि प्राप्त करते हैं॥ १२॥

सृण्येव सितया विश्वचर्षणिः पाशेनैव प्रतिबध्नात्यभीकान्।
इषुभिः पञ्चभिर्धनुषा च विध्यत्यादिशक्तिररुणा विश्वजन्या॥ १३॥

(जो मनुष्य इस) काम्य मार्ग में निरत रहते हैं, उन कामीजनों को सरस्वती, लक्ष्मी, आदिशक्ति गौरी-ब्रह्म (विद्या) रूप धारण करके भलीप्रकार बाँधकर संसार के महावर्त (भँवर) में डाल देती हैं तथा पंच बाण (पंचेन्द्रियों) और धनुष से विद्ध कर देती हैं (उनका उद्धार कभी नहीं करतीं) ॥ १३॥

भगः शक्तिर्भगवान्काम ईश उभा दाताराविह सौभगानाम्।
समप्रधानौ समसत्त्वौ समोजौ तयोः शक्तिरजरा विश्वयोनिः॥ १४॥

छः ऐश्वर्यों (समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) से सम्पन्न चित् शक्ति, भगवान् काम और ईश (कामेश्वर)-दोनों (चित् शक्ति सामान्यात्मा की दृष्टि से) सम प्रधान, समान सत्त्व से युक्त, समान ओज से युक्त(दयार्द्र होकर, निष्काम) उपासक को ब्रह्मपद प्रदान कर देते हैं। उन दोनों ('शिव-शक्ति' या 'काम-ईश') के मध्य (तीनों शरीरों से विलक्षण) अजरा (जरारहित) यह विश्वमाता ('श्री शक्ति') स्थित रहती है॥

परिसृता हविषा भावितेन प्रसंकोचे गलिते वैमनस्कः।
शर्वः सर्वस्य जगतो विधाता धर्ता हर्ता विश्वरूपत्वमेति॥ १५॥

(उपासक की निष्काम) भावना से भावित (ज्ञान, विज्ञान और सम्यक् ज्ञान रूपी) हवि द्वारा भली प्रकार संतृप्त हुई (आवरण और विक्षेप को),गलाकर नष्ट कर देती है। (इस प्रकार उपासक संसार से) अमनस्क होकर सम्पूर्ण जगत् के विधाता, पालक एवं संहारक (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) बनकर विश्वरूपता को प्राप्त कर लेता है॥

इयं महोपनिषत्त्रैपुर्या यामक्षरं परमो गीर्भिरीट्टे। एषग्र्यजुः परमेतच्च सामायमथर्वेयमन्या चविद्या॥

यह ऋग्,यजु,साम,अथर्व तथा अन्य विद्याएँ (पुराण,न्याय,मीमांसा आदि १४ विद्याएँ),जिसकी अक्षय (ज्ञानस्वरूप)परम(सर्वोत्कृष्ट)वाणीरूप स्तोत्रों से स्तुतियाँ करती हैं। यही त्रिपुरा नाम की महोपनिषद् है॥ १६

ॐ ह्रीं ॐ ह्रीमित्युपनिषत्॥ १७॥

'ॐ ह्रीं' - यही चित् और शक्ति तत्त्व है। यही चैतन्य शक्ति तत्त्व है॥ १७॥

॥ इति त्रिपुरोपनिषत्समाप्ता॥

।। त्राशाखब्राह्मणापानषद् ।।

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें ब्रह्मप्राप्ति के उपायभूत अष्टांगयोग का प्रमुखतया प्रतिपादन है। इस उपनिषद् का शुभारम्भ त्रिशिखी ब्राह्मण और भगवान् आदित्य के बीच आत्मा और ब्रह्म विषयक प्रश्नोत्तर से हुआ है। तदुपरान्त सर्वत्र शिवतत्त्व की विद्यमानता, ब्रह्म से अखिल जगत् की उत्पत्ति, एक ही पिण्ड का बहुधा विभाजन, आकाश आदि का अंश भेद, सूक्ष्मभूत मात्रा, आध्यात्मिक आदि विभाग, ब्रह्मा से लेकर पंचीकरण तक सृष्टि का विकास, जड़-चेतन विश्व की सृष्टि, चार अवस्थाएँ, दक्षिण और उत्तरायण गति, सद्यः मुक्ति प्रदायक ज्ञान, ज्ञानप्राप्ति के उपायभूत योग, कर्मयोग-ज्ञानयोग, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के उपायभूत अष्टांगयोग, दस प्रकार के यम-नियम, हठयोग के आसन, नाड़ीशोधन तथा प्राणायाम की विविध विधियाँ, अग्नि मंडल का स्वरूप, नाड़ीचक्र में जीव का भ्रमण, कुण्डलिनी का स्थान और उसका क्रिया व्यापार, नाभि स्थान के पास 'नाड़ी कन्द' की स्थिति, नाड़ियों में विचरण करने वाली प्राण-वायुएँ, योगाभ्यास करने का स्थान और योगाभ्यास की विधि, प्राणायाम के विविध प्रयोग, षण्मुखी मुद्रा, मनोजय, मर्मस्थानों में प्राण का प्रत्याहार, धारणा के भेदोपभेद, शरीर के अंग-अवयवों में पंचभूतों की धारणा करना, ध्यान और उसका फल तथा अन्त में सविशेष ज्ञान की प्राप्ति और उसके द्वारा मुक्ति प्राप्ति का विशद वर्णन है।

।। शान्तिपाठः ।।

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः ।। (द्रष्टव्य-अद्वयतारकोपनिषद्)

।। ब्राह्मणम् -१ ।।

त्रिशिखी ब्राह्मण आदित्यलोकं जगाम तं गत्वोवाच। भगवन् किं देहः किं प्राणः किं कारणं किमात्मा ।। १ ।।

एक बार त्रिशिखी नामक ब्राह्मण आदित्य लोक में जाकर भगवान् आदित्य से बोले-हे भगवन्! यह शरीर (देह) क्या है? प्राण क्या है? कारण क्या है? और (यह) आत्मा क्या है?।। १ ।।

स होवाच सर्वमिदं शिव एव विजानीहि। किंतु नित्यः शुद्धो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः शिव एकः स्वेन भासेदं सर्वं दृष्ट्वा तप्तायः पिण्डवदेकं भिन्नवदवभासते। तद्भासकं किमिति चेदुच्यते। सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म ।। २ ।।

वे (भगवान् आदित्य) बोले- हे ब्रह्मन्! यह सभी कुछ शिवस्वरूप ही है, ऐसा जानो। वही नित्य, शुद्ध, निरंजन, विभु, अद्वय एवं आनन्दस्वरूप शिव अपने एक ही दिव्यालोक से सभी को देखने के पश्चात् तप्त (लाल) लौहपिण्ड के समान एक को अनेक रूपों में प्रकाशित करता है। यदि यह पूछा जाए कि वह आलोक-प्रदाता कौन है? तो यह कहा जायेगा कि 'सत्' शब्द का वाच्य अविद्या शबल-ब्रह्म अर्थात् विश्वब्रह्माण्ड में संव्याप्त मायोपाधिक अपर ब्रह्म ।। २ ।।

ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहंकारः। अहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत् ।। ३ ।।

ब्रह्म से अव्यक्त, अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पाँचों तन्मात्राएँ, पंच तन्मात्राओं से पंचमहाभूत और पंच महाभूतों के द्वारा ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रादुर्भूत हुआ है ।। ३ ।।

तदखिलं किमिति। भूतविकारविभागादिरिति। एकस्मिन्पिण्डे कथं भूतविकारविभाग इति। तत्तत्कार्यकारणभेदरूपेणांशतत्त्ववाचकवाच्यस्थानभेदविषयदेवताकोशभेदविभागा भवन्ति॥

वह अखिल (विश्व) क्या है? यह (पंच) भूतों के विकार द्वारा प्रादुर्भूत विभाग स्वरूप है। भूतों के विकार द्वारा एक ही पिण्ड के विभाग किस तरह से होते हैं? उन भिन्न-भिन्न भूतों के कार्य एवं कारण भेद के द्वारा अंश तत्त्व, वाचक-वाच्य स्थान भेद, विषय, देवता, कोश भेद आदि के आधार पर विभाग कहे गये हैं॥४॥

अगले मंत्रों में पंचभूतों के भेद क्रम स्पष्ट किये गये हैं-

अथाकाशोऽन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकाराः। वायुः समानोदानव्यानापानप्राणाः। वह्निः श्रोत्र-त्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि। आपः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। पृथिवी वाक्पाणिपादपायूपस्थाः॥५॥

आकाश के पाँच भेद हैं- अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार। समान, उदान, व्यान, अपान, प्राण आदि ये पाँच वायु हैं। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राणेन्द्रिय ये (ज्ञानेन्द्रियाँ) अग्नि से प्रकट होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-ये पाँच (तन्मात्राएँ) जल तत्त्व से प्रादुर्भूत होती हैं। वाणी, हाथ, पैर, गुदा एवं उपस्थ-ये (कर्मेन्द्रियाँ) पृथ्वी के द्वारा प्रादुर्भूत हैं॥५॥

ज्ञानसंकल्पनिश्चयानुसंधानाभिमाना आकाशकार्यान्तःकरणविषयाः। समीकरणोन्नयन-ग्रहणश्रवणोच्छ्वासा वायुकार्यप्राणादिविषयाः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा अग्निकार्यज्ञानेन्द्रि-यविषया अबाश्रिताः। वचनादानगमनविसर्गानन्दाः पृथिवीकार्यकर्मेन्द्रियविषयाः। कर्मज्ञानेन्द्रियविषयेषु प्राणतन्मात्रविषया अन्तर्भूताः। मनोबुद्ध्योश्चित्ताहंकारौ चान्तर्भूतौ॥६॥

ज्ञान, संकल्प, दृढ़-निश्चय, अनुसंधान एवं अभिमान-ये आकाश तत्त्व के कार्य और अन्तःकरण के विषय हैं। समीकरण (सन्तुलन), उन्नयन (ऊर्ध्वगति देना), ग्रहण करना, श्रवण (श्रवण-प्रवाहित या निष्कासित करना), उच्छ्वास (श्वास ग्रहण करना एवं छोड़ना)-ये सभी वायु तत्त्व के कार्य तथा प्राण आदि के विषय कहे गये हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध आदि ये सब अग्नि तत्त्व के कार्य और ज्ञानेन्द्रियों के विषय बतलाये गये हैं। ये सब (तन्मात्रा रूप में) जल तत्त्व के आश्रित हैं। वचन(बोलना), दान, गमनागमन, विसर्जन तथा आनन्द पृथ्वी तत्त्व के कार्य एवं कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के विषयों में प्राण एवं तन्मात्राओं के विषय अन्तर्भूत हैं। मन एवं बुद्धि में ही चित्त और अहंकार अन्तर्भूत हैं॥६॥

अवकाशविधूतदर्शनपिण्डीकरणधारणाः सूक्ष्मतमा जैवतन्मात्रविषयाः॥७॥

अवकाश (रिक्त स्थान), हटाना (गमनागमन गतिशीलता), दर्शन (देखना), पिण्डीकरण (मिलाना - पिण्ड बना देना), धारणा (धारण करना) आदि-ये सभी (क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी तत्त्वों से सम्बन्धित) सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्मात्राओं के विषय हैं॥७॥

एवं द्वादशाङ्गानि आध्यात्मिकान्याधिभौतिकान्याधिदैविकानि। अत्र निशाकरचतुर्मुखदि-ग्वातार्कवरुणाश्व्यग्नीन्द्रोपेन्द्रप्रजापतियमा इत्यक्षाधिदेवतारूपैर्द्वादशनाड्यन्तःप्रवृत्ताः प्राणा एवाङ्गानि अंगज्ञानं तदेव ज्ञातेति॥८॥

इस प्रकार बारह अंगों का उल्लेख मिलता है, जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक-तीनों भागों में वर्णित किये गये हैं। इनमें चन्द्रमा, ब्रह्मा, दिशाएँ, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति एवं यम-ये सभी बारह इन्द्रियों के अधिदेवता रूप से बारह नाड़ियों में अवस्थित रहते हैं, ये ही प्राण के अंग कहे गये हैं। इन अङ्गों को जानने वाला ही ज्ञाता कहा गया है॥८॥

ततः कालवशादेव ह्यात्मज्ञानविवेकतः। उत्तराभिमुखो भूत्वा स्थानात्स्थानान्तरं क्रमात् ॥१८॥

तदनन्तर वह काल-प्रभाव के वशीभूत हो विवेक एवं आत्मज्ञान को प्राप्त करके उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर क्रमशः एक स्थान (कक्षा) से दूसरे स्थान (कक्षा) को प्राप्त कर लेता है॥ १८॥

मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणान्योगाभ्यासं स्थितश्चरन्। योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते ॥१९॥

तत्पश्चात् वह अपने प्राण-तत्त्व को मूर्द्धा-स्थान में स्थित करके योग के अभ्यास में निरत (तत्पर) हो जाता है। योग द्वारा ज्ञान की और ज्ञान द्वारा योग की प्रवृत्ति प्रादुर्भूत होती है॥ १९॥

योगज्ञानपरो नित्यं स योगी न प्रणश्यति। विकारस्थं शिवं पश्येद्विकारश्च शिवे न तु॥ २०॥

जो श्रेष्ठ साधक-योगी निरन्तर अपनी ज्ञानयोग की साधना में मनोयोगपूर्वक संलग्न रहता है, वह कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता है। वह विकारों में स्थित शिव (परब्रह्म) का निरन्तर दर्शन करता रहता है; किन्तु शिव में विकार का नहीं॥ २०॥

योगप्रकाशकं योगैर्ध्यायेच्चानन्यभावनः। योगज्ञाने न विद्येते तस्य भावो न सिध्यति॥ २१॥

ऐसा श्रेष्ठ योगी सर्व विकारों से रहित ब्रह्म का अनन्य भाव से चिन्तन करे। जिसे इस प्रकार का ज्ञानयोग प्राप्त नहीं होता, उसे सिद्धि नहीं मिलती॥ २१॥

तस्मादभ्यासयोगेन मनः प्राणान्निरोधयेत्। योगी निशितधारेण क्षुरेणैव निकृन्तयेत्॥ २२॥

इस प्रकार योग के निरन्तर अभ्यास से प्राणों के द्वारा मन का निरोध करना चाहिए। योगी को चाहिए कि वह छुरी की पैनी धार के सदृश दृढ़ निश्चयी होकर (मोहबन्धन) काट दे॥ २२॥

शिखा ज्ञानमयी वृत्तिर्यमाद्यष्टाङ्गसाधनैः। ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधा मतः॥ २३॥

यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग की साधना के द्वारा ज्ञानमयी शिखा प्रादुर्भूत होती है। योग के दो मार्ग बतलाये गये हैं, जिनमें प्रथम ज्ञानयोग एवं द्वितीय कर्मयोग है॥ २३॥

क्रियायोगमथेदानीं शृणु ब्राह्मणसत्तम। अव्याकुलस्य चित्तस्य बन्धनं विषये क्वचित्॥ २४॥

हे श्रेष्ठ ब्रह्मन्! अब क्रिया-योग (कर्मयोग) के सन्दर्भ में वर्णन करते हैं। जिस योगी का चित्त व्याकुलता (व्यग्रता) से विहीन है, वह विषय-भोगों के बन्धन में कभी नहीं पड़ता॥ २४॥

यत्संयोगो द्विजश्रेष्ठ स च द्वैविध्यमश्नुते। कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु॥ २५॥
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते। यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम्॥ २६॥
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः। यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेऽप्यव्ययं मनः॥ २७
स याति परमं श्रेयो मोक्षलक्षणमञ्जसा। देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः॥ २८॥

हे द्विजश्रेष्ठ! संयोग भी दो प्रकार के होते हैं। कर्म और कर्त्तव्य द्वारा शास्त्रानुकूल कर्मों में निरन्तर मन को नियुक्त किये रहना ही कर्मयोग कहलाता है। चित्त का सर्वथा आत्मिक उत्थान में नियोजित किये रहना ज्ञानयोग कहलाता है। इससे सभी तरह की आत्मकल्याण सम्बन्धी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार से जो मनुष्य दोनों प्रकार के योगों का विकाररहित भाव से सेवन करता है,वह शीघ्र मोक्ष रूपी परम श्रेय को प्राप्त कर लेता है। शरीर एवं इन्द्रियों के प्रति सभी तरह से वैराग्य भावना ही 'यम'कहलाती है,ऐसा विद्वज्जन कहते हैं॥

अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः। सर्ववस्तुन्युदासीनभावमासनमुत्तमम् ॥ २९॥
जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः। चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम॥ ३०॥

परमात्म तत्त्व से निरन्तर अनुराग (प्रेम-आसक्ति) रखना ही नियम कहलाता है। समस्त वस्तुओं में

उदासीन भाव ही सर्वश्रेष्ठ आसन है। इस जगत् के अनृत (मिथ्या) स्वरूप को भली-भाँति समझ लेना ही प्राणायाम कहा गया है। चित्त का अन्तर्मुखी भाव ही प्रत्याहार कहलाता है॥ २९-३०॥

चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः। सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥३१॥

चित्त का निश्चल (अचल) भाव धारण कर लेना ही धारणा है। मैं चिन्मात्र स्वरूप हूँ, यही चिन्तन (भाव) ध्यान कहा गया है॥ ३१॥

ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक्समाधिरभिधीयते। अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्॥३२॥
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश। तपः सन्तुष्टिरास्तिक्यं दानमाराधनं हरेः ॥३३॥
वेदान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥ इति॥ आसनानि तदङ्गानि स्वस्तिकादीनि वै द्विज॥३४
वर्ण्यन्ते स्वस्तिकं पादतलयोरुभयोरपि । पूर्वोत्तरे जानुनी द्वे कृत्वासनमुदीरितम् ॥३५॥

ध्यान का पूर्णरूपेण विस्मरण कर देना ही समाधि कहलाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सरलता), क्षमा, धैर्य, स्वल्पाहार तथा शुद्धता-ये दस यम बतलाये गये हैं। तप, सन्तोष, आस्तिक भाव, दान, भगवत् ध्यान, वेदान्त श्रवण, ह्री (लज्जा), मति, जप तथा व्रत-ये दस नियम कहे गये हैं। अब आसनों के अन्तर्गत स्वस्तिक आदि आसन एवं उनकी विधि का वर्णन करते हैं। दोनों पैरों के तलुओं को दोनों जानुओं (घुटनों) के मध्य में करके बैठना ही स्वस्तिक आसन कहलाता है॥ ३२-३५॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्। दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा॥३६॥

पीठ के बायें भाग की ओर दाहिने गुल्फ को तथा दायें भाग की ओर बायें गुल्फ को नियोजित करने से जो गौ (गाय) के मुख की भाँति होता है, वही गोमुख आसन कहलाता है॥ ३६॥

एकं चरणमन्यस्मिन्नूरावारोप्य निश्चलः । आस्ते यदिदमेनोघ्नं वीरासनमुदीरितम् ॥३७॥
गुदं नियम्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः। योगासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः॥ ३८॥

एक चरण को बायीं जाँघ पर तथा दूसरे (चरण) को दाहिनी जाँघ पर निश्चल भाव से आरोपित करके बैठना ही वीरासन कहलाता है। दाहिनी एड़ी को गुदा भाग के बायीं ओर तथा बायीं एड़ी को गुदा भाग के दाहिनी ओर लगाकर बैठना ही योगासन कहलाता है, ऐसा योगी जन कहते हैं॥ ३७-३८॥

ऊर्वोरुपरि वै धत्ते यदा पादतले उभे । पद्मासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ॥ ३९॥

दोनों जाँघों पर दोनों पैरों के पंजों को प्रतिष्ठित करके बैठना ही पद्मासन कहलाता है। यह आसन समस्त व्याधियों एवं विषों का विनाशक कहा गया है॥ ३९॥

पद्मासनं सुसंस्थाप्य तदङ्गुष्ठद्वयं पुनः । व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासनं भवेत् ॥ ४०॥

पद्मासन में अच्छी तरह से आसीन होने के पश्चात् दाहिने हाथ से बायें पैर के अँगूठे को तथा बायें हाथ से दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ना ही बद्धपद्मासन कहलाता है॥ ४०॥

पद्मासनं सुसंस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ । निवेश्य भूमावातिष्ठेद्व्योमस्थः कुक्कुटासनः॥ ४१॥

पद्मासन पर ठीक तरह से स्थित होकर दोनों हाथों को जानुओं एवं जंघाओं के मध्य से निकाल कर भूमि पर लगा कर शरीर को आकाश में-अधर पर प्रतिष्ठित रखना कुक्कुट आसन कहलाता है॥ ४१॥

कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां संबध्य कन्धरम् । शेते कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ ४२॥

कुक्कुट आसन लगाने के बाद दोनों भुजाओं से दोनों कन्धों को आबद्ध कर कच्छप के सदृश एक सीध में हो जाना ही उत्तान कूर्मासन कहलाता है॥ ४२॥

पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि । धनुराकर्णकाकृष्टं धनुरासनमीरितम् ॥ ४३ ॥

दोनों पैरों के अँगूठों को हाथ से पकड़कर श्रवण रन्ध्रों (कानों) तक धनुष के आकार में कर्ण तक आकृष्ट करना ही धनुरासन कहलाता है॥ ४३ ॥

सीवनीं गुल्फदेशाभ्यां निपीड्य व्युत्क्रमेण तु । प्रसार्य जानुनोर्हस्तावासनं सिंहरूपकम् ॥४४ ॥

दोनों एड़ियों से सीवन-प्रदेश को विपरीत विधि से दबाकर दोनों घुटनों एवं हाथों को विस्तीर्ण कर स्थिर होना सिंहासन कहलाता है॥ ४४ ॥

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीविन्युभयपार्श्वयोः । निवेश्य पादौ हस्ताभ्यां बध्वा भद्रासनं भवेत् ॥४५

वृषण (अंडकोश) के नीचे सीवन के दोनों ओर दोनों गुल्फों (टखनों) को स्थिर करके पादों को हाथों से बाँधकर (अर्थात थामकर) बैठना ही भद्रासन कहलाता है॥ ४५ ॥

सीवनीपार्श्वमुभयं गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण तु । निपीड्यासनमेतच्च मुक्तासनमुदीरितम्॥ ४६ ॥

सीवनी के दोनों पार्श्वों को दोनों एड़ियों के द्वारा विपरीत विधि से दबाकर प्रतिष्ठित होना ही मुक्तासन कहलाता है॥ ४६ ॥

अवष्टभ्य धरां सम्यक्तलाभ्यां हस्तयोर्द्वयोः । कूर्परौ नाभिपार्श्वे तु स्थापयित्वा मयूरवत्॥ ४७ ॥
समुन्नतशिरः पादं मयूरासनमिष्यते । वामोरुमूले दक्षाङ्घ्रिं जान्वोर्वेष्टितपाणिना ॥ ४८ ॥
वामेन वामाङ्गुष्ठं तु गृहीतं मत्स्यपीठकम् । योनिं वामेन संपीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम्॥ ४९ ॥
ऋजुकायः समासीनः सिद्धासनमुदीरितम् । प्रसार्य भुवि पादौ तु दोर्भ्यामङ्गुष्ठमादरात्॥ ५० ॥
जानूपरि ललाटं तु पश्चिमं तानमुच्यते । येन केन प्रकारेण सुखं धार्यं च जायते॥ ५१ ॥
तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाचरेत् । आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम्॥ ५२ ॥

दोनों हथेलियों को पृथ्वी पर स्थित करके दोनों कोहनियों को नाभि के पार्श्व में दोनों तरफ लगाए, तदनन्तर मयूर की भाँति सम्पूर्ण शरीर को अधर करके सिर और पैरों को ऊपर की ओर उठाये रहना ही मयूर आसन कहलाता है। बायीं जाँघ के मूल में दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ने से वह मत्स्येन्द्र आसन कहलाता है। बायें पैर की एड़ी को सीवन पर स्थिर करे और दाहिने पैर को उपस्थ के ऊर्ध्व भाग में रखे। इस तरह शरीर को सीधा करके बैठना सिद्धासन कहलाता है। दोनों पैरों को जमीन में फैलाकर दोनों हाथों के द्वारा पैर के अँगूठों को पकड़ ले और पुनः सिर को घुटनों पर स्थित करना पश्चिमोत्तान आसन कहलाता है। जिस-किसी प्रकार से बैठने पर सुख एवं स्थिरता मिले, वैसे ही बैठना सुखासन कहलाता है। जो असमर्थता के कारण अन्य आसनों को न लगा सके, वह इस आसन को लगाये। जिस मनुष्य ने आसनों को अपने वश में कर लिया, उसने तीनों लोकों को मानो अपने वश में कर लिया अर्थात् जीत लिया समझना चाहिए॥ ४७-५२ ॥

यमैश्च नियमैश्चैव आसनैश्च सुसंयतः । नाडीशुद्धिं च कृत्वादौ प्राणायामं समाचरेत्॥ ५३ ॥

यम-नियम और आसन आदि के द्वारा सुसंयत होकर सम्यक् रूप से सर्वप्रथम नाड़ी-शोधन करके तदुपरान्त प्राणायाम करना चाहिए॥ ५३ ॥

देहमानं स्वाङ्गुलिभिः षण्णवत्यङ्गुलायतम् । प्राणः शरीरादधिको द्वादशाङ्गुलमानतः ॥ ५४ ॥

मानव देह (शरीर) का माप (प्रमाण) अपनी अँगुलियों के द्वारा छियानवे अंगुल का है। शरीर से प्राण बारह अंगुल अधिक प्रमाण वाला कहा गया है॥ ५४ ॥

देहस्थमनिलं देहसमुद्भूतेन वह्निना । न्यूनं समं वा योगेन कुर्वन्ब्रह्मविदिष्यते ॥ ५५ ॥

शरीर में स्थित वायु को (प्राणायाम द्वारा) शरीर में समुद्भूत अग्नि से योग (प्रक्रिया) द्वारा न्यून एवं सम करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है॥ ५५॥

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् । त्रिकोणं द्विपदामन्यच्चतुरस्रं चतुष्पदम् ॥ ५६ ॥
वृत्तं विहङ्गमानां तु षडस्रं सर्पजन्मनाम्। अष्टास्रं स्वेदजानां तु तस्मिन्दीपवदुज्ज्वलम् ॥ ५७ ॥
कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यं नवाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलमुत्सेधं चतुरङ्गुलमायतम्॥ ५८ ॥

मानव शरीर के बीच में तप्त स्वर्ण की कान्ति से युक्त त्रिकोण (तीन कोणों से युक्त) अग्नि का स्थान कहा गया है। चार पैरों वाले पशुओं में यह अग्नि-स्थल चार कोनों से युक्त (चौकोर) होता है। पक्षियों का गोल-वृत्ताकार, सर्पजाति वालों का छः कोने का एवं स्वेदजों का आठ कोण (कोने) का होता है। मानव-शरीर में उस स्थान पर नौ अंगुल प्रमाण से युक्त कन्द का निवास कहा गया है, जो दीपक की तरह से प्रकाशित होता रहता है। वह चार अंगुल ऊँचा और चार अंगुल चौड़ा होता है॥ ५६-५८॥

अण्डाकृति तिरश्चां च द्विजानां च चतुष्पदाम्। तुन्दमध्यं तदिष्टं वै तन्मध्यं नाभिरिष्यते॥ ५९ ॥
तत्र चक्रं द्वादशारं तेषु विष्णवादिमूर्तयः। अहं तत्र स्थितश्चक्रं भ्रामयामि स्वमायया ॥ ६० ॥
अरेषु भ्रमते जीवः क्रमेण द्विजसत्तम। तन्तुपञ्जरमध्यस्था यथा भ्रमति लूतिका ॥ ६१ ॥

तिर्यक्, पक्षी एवं चौपायों में यह कन्द अण्डाकार होता है तथा उसका मध्य स्थान नाभि कहा जाता है। इसमें बारह अरों वाला चक्र है, जिसमें विष्णु आदि देवों की मूर्तियाँ स्थित हैं। इस चक्र को मैं (ब्रह्म) अपनी माया से भ्रमाता रहता हूँ। इन बारह अरों में जीव इस तरह से भ्रमण करता रहता है, जैसे मकड़ी अपने जाल में घूमती रहती है॥ ५९-६१॥

प्राणाविरूढश्चरति जीवस्तेन विना न हि। तस्योर्ध्वे कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः ॥६२ ॥

जीव प्राणतत्त्व में आरूढ़ होकर ही विचरण करता है, उसके बिना (वह विचरण) नहीं कर सकता है। उसके ऊर्ध्व में कुण्डलिनी महाशक्ति का तिर्यक् एवं ऊँचा स्थान है॥ ६२॥

अष्टप्रकृतिरूपा सा चाष्टधा कुण्डलीकृता। यथावद्वायुसारं च ज्वलनादि च नित्यशः॥ ६३ ॥
परितः कन्दपार्श्वे तु निरुध्यैव सदा स्थिता। मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं तथा॥ ६४ ॥

वह अष्ट प्रकृति स्वरूपा आठ तरह से कुण्डली करके वायु एवं अन्न-जल के संचार को रोकती रहती है। वह कन्द को चारों तरफ से आवृत करके उसके पार्श्व में प्रतिष्ठित है। वह अपने मुख के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र के मुख को समवेष्टित किये हुए (घेरे हुए) है॥ ६३-६४॥

योगकालेन मरुता साग्निना बोधिता सती। स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला॥ ६५ ॥

योग के अभ्यास द्वारा यह कुण्डलिनी महाशक्ति वायु के द्वारा जाग्रत् अग्नि की भाँति हृदयरूपी आकाश में नागरूपा, अत्यधिक शुभ्र प्रकाशमय कान्ति से स्फुरित होती रहती है॥ ६५॥

अपानाद्द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्रस्य तावता । देहमध्यं मनुष्याणां हृन्मध्यं तु चतुष्पदाम् ॥ ६६ ॥

अपान से दो अंगुल ऊर्ध्व की ओर एवं मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) से नीचे मनुष्य के शरीर का मध्य भाग माना गया है तथा चौपायों (पशुओं) का मध्य भाग उनके हृदय-प्रदेश में बतलाया गया है॥ ६६॥

इतरेषां तुन्दमध्ये नानानाडीसमावृतम् । चतुष्प्रकारद्व्ययुते देहमध्ये सुषुम्नया ॥ ६७॥

अन्य प्राणियों का मध्य भाग नाभि का मध्य क्षेत्र है, जिसमें विभिन्न नाड़ियाँ समावृत हैं। प्राण एवं अपान से युक्त सुषुम्ना नाड़ी शरीर में चार प्रकार से प्रकाशित होती है॥ ६७॥

कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता। पद्मसूत्रप्रतीकाशा ऋजुरूर्ध्वप्रवर्तिनी ॥ ६८ ॥

कन्द के बीच में जो सुषुम्ना नाड़ी प्रतिष्ठित है, वह पद्म सूत्र के सदृश अति सूक्ष्म है तथा सीधी ऊर्ध्व की तरफ प्रवर्तित (गतिशील) हो गई है॥ ६८॥

ब्रह्मणो विवरं यावद्विद्युदाभासनालकम् । वैष्णवी ब्रह्मनाडी च निर्वाणप्राप्तिपद्धतिः ॥ ६९॥

ब्रह्मरन्ध्र तक गमन करने वाली यह 'वैष्णवी ब्रह्मनाड़ी' विद्युत् के समान प्रकाश युक्त एवं निर्वाण-प्राप्ति की पद्धति वाली है (अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाली है।)॥ ६९॥

इडा च पिङ्गला चैव तस्याः सव्येतरे स्थिते । इडा समुत्थिता कन्दाद्वामनासापुटावधिः॥ ७०॥
पिङ्गला चोत्थिता तस्माद्दक्षनासापुटावधिः। गान्धारी हस्तिजिह्वा च द्वे चान्ये नाडिके स्थिते॥७१

उस (सुषुम्ना) के अगल-बगल में इड़ा एवं पिंगला दो नाड़ियाँ प्रतिष्ठित हैं। इड़ा नाड़ी कन्द से निकलकर बायें नासापुट तक गई है और पिंगला उससे निकलकर दाहिने नासापुट तक गई है। गान्धारी तथा हस्तिजिह्वा ये दो नाड़ियाँ भी वहीं पर स्थित हैं॥ ७०-७१॥

पुरतः पृष्ठतस्तस्य वामेतरदृशौ प्रति । पूषायशस्विनीनाड्यौ तस्मादेव समुत्थिते॥ ७२॥
सव्येतरश्रुत्यवधि पायुमूलादलम्बुसा। अधोगता शुभा नाडी मेढ्रान्तावधिरायता ॥ ७३॥

(ये दोनों नाड़ियाँ) उनके आगे-पीछे बायीं तथा दायीं आँख तक गई हुई हैं। पूषा तथा यशस्विनी ये दोनों नाड़ियाँ गुदा मूल से निकलकर गमन करते हुए दायें एवं बायें कान तक गई हैं। अलम्बुसा नामक नाड़ी मेढ्र स्थान के अन्त तक नीचे की तरफ गई हुई है॥ ७२-७३॥

पादाङ्गुष्ठावधिः कन्दादधोयाता च कौशिकी। दशप्रकारभूतास्ताः कथिताः कन्दसंभवाः ॥७४॥

कन्द से नीचे की ओर पैर के अँगूठे तक 'कौशिकी' नामक नाड़ी गयी हुई है। ये दस नाड़ियाँ कन्द से निःसृत हुई कही गयी हैं॥ ७४॥

तन्मूला बहवो नाड्यः स्थूलसूक्ष्माश्च नाडिकाः। द्वासप्ततिसहस्राणि स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाडयः॥७५

उनके मूल से निकलने वाली अन्य बहुत-सी स्थूल एवं सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं, जिनकी संख्या कुल मिलाकर 'बहत्तर हजार' बतलायी गयी है॥ ७५॥

संख्यातुं नैव शक्यन्ते स्थूलमूलाः पृथग्विधाः। यथाश्वत्थदले सूक्ष्माः स्थूलाश्च विततास्तथा॥७६

इन स्थूल एवं सूक्ष्म नाड़ियों की अलग-अलग गिनती कर सकना बहुत ही कठिन है। वे सब उसी प्रकार फैली हुई हैं, जिस प्रकार पीपल के पत्ते में स्थूल-सूक्ष्म नसें फैली होती हैं॥ ७६॥

प्राणापानौ समानश्च उदानो व्यान एव च। नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः॥ ७७॥
चरन्ति दशनाडीषु दश प्राणादिवायवः। प्राणादिपञ्चकं तेषु प्रधानं तत्र च द्वयम् ॥ ७८॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय-ये दस प्राण भी नाड़ियों में विचरण करते रहते हैं। इनमें प्राणादि प्रथम पाँच मुख्य हैं, जिनमें से दो (प्राण-अपान) प्रधान हैं॥ ७७-७८॥

प्राण एवाथवा ज्येष्ठो जीवात्मानं बिभर्ति यः। आस्यनासिकयोर्मध्यं हृदयं नाभिमण्डलम्॥७९
पादाङ्गुष्ठमिति प्राणस्थानानि द्विजसत्तम । अपानश्चरति ब्रह्मन्गुदमेढ्रोरुजानुषु ॥ ८०॥

अथवा प्राणवायु ही सबसे प्रमुख है, जो जीव को धारण किये रहता है। हे द्विज श्रेष्ठ! मुख्य प्राण के प्रधान निवास स्थान पाँच बतलाये गये हैं— जिनमें मुख एवं नासिका का मध्य भाग, हृदय, नाभि मण्डल एवं पैर का अँगूठा है। हे ब्रह्मन्! अपान वायु-गुदा, मेढ्र, जंघा एवं घुटने में विचरण करता है॥ ७९-८०॥

समानः सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी व्यवस्थितः । उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि॥ ८१॥

समान वायु शरीर के समस्त अंगों में संव्याप्त रहता है तथा उदान चारों हाथ-पैरों एवं समस्त संधि-जोड़ के स्थानों में प्रतिष्ठित है॥ ८१ ॥

व्यानः श्रोत्रोरुकट्यां च गुल्फस्कन्धगलेषु च। नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ॥८२

व्यान नामक वायु-श्रोत्र, जंघा, कमर, एड़ी, कन्धे एवं गले में निवास करता है और नाग आदि पाँच उपवायु त्वचा, अस्थि (हड्डी) आदि में प्रतिष्ठित रहते हैं॥ ८२ ॥

तुन्दस्थजलमन्नं च रसादीनि समीकृतम्। तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात्पृथक्पृथक्॥ ८३ ॥

प्राणवायु आमाशय में स्थित जल, अन्न एवं रस आदि को सर्वप्रथम एकत्र करता है। तत्पश्चात् उसी के बीच में पृथक्-पृथक् स्थापित करता है॥ ८३ ॥

इत्यादिचेष्टनं प्राणः करोति च पृथक् स्थितम्। अपानवायुर्मूत्रादेः करोति च विसर्जनम् ॥८४॥

इन समस्त कार्यों को प्राणवायु अलग स्थित होकर करता है। मल एवं मूत्रादि के विसर्जन का कार्य अपान-वायु द्वारा सम्पन्न होता है॥ ८४ ॥

प्राणापानादिचेष्टादि क्रियते व्यानवायुना । उज्जीर्यते शरीरस्थमुदानेन नभस्वता ॥ ८५ ॥

प्राण, अपान आदि वायु की चेष्टाएँ व्यान वायु के योग से सम्पन्न की जाती हैं तथा शरीर में विद्यमान उदान वायु के द्वारा नभोगामी (ऊर्ध्वगामी) हुआ जाता है॥ ८५ ॥

पोषणादिशरीरस्य समानः कुरुते सदा। उद्गारादिक्रियो नागः कूर्मोऽक्षादिनिमीलनः॥ ८६ ॥

शरीर का पालन-पोषण सर्वदा समान-वायु के द्वारा सम्पन्न होता है। डकार आदि की क्रिया नाग-वायु के द्वारा होती है और नेत्रों का खोलना एवं बन्द करना कूर्म-वायु का कार्य होता है॥ ८६ ॥

कृकरः क्षुतयोः कर्ता दत्तो निद्रादिकर्मकृत् । मृतगात्रस्य शोभादेर्धनंजय उदाहृतः ॥ ८७ ॥

कृकल-वायु का कार्य भूख लगना है। देवदत्त-वायु के द्वारा निद्रा आदि तथा मृत शरीर की शोभा (मृत्यूपरान्त कुछ समय तक अविकृत रहना) आदि धनञ्जय वायु का कार्य कहा गया है॥ ८७ ॥

नाडीभेदं मरुद्भेदं मरुतां स्थानमेव च। चेष्टाश्च विविधास्तेषां ज्ञात्वैव द्विजसत्तम॥ ८८ ॥

हे द्विज श्रेष्ठ! नाड़ी, वायु, प्राणों के स्थान तथा चेष्टाएँ नाना प्रकार की हैं। उन सभी को जानने का प्रयास करना चाहिए॥ ८८ ॥

शुद्धौ यतेत नाडीनां पूर्वोक्तज्ञानसंयुतः । विविक्तदेशमासाद्य सर्वसंबन्धवर्जितः ॥ ८९ ॥
योगाङ्गद्रव्यसंपूर्णं तत्र दारुमये शुभे। आसने कल्पिते दर्भकुशकृष्णाजिनादिभिः॥ ९० ॥
तावदासनमुत्सेधे तावद्द्वयसमायते । उपविश्यासनं सम्यक्स्वस्तिकादि यथारुचि॥ ९१ ॥

पूर्व में कहे हुए ज्ञान(विधि) से नाड़ियों का शोधन कर लेना चाहिए। तदनन्तर सभी तरह के सम्बन्धों का परित्याग करके, एकान्त स्थल में स्थित होकर योगाङ्ग के साधन में सम्पूर्ण सामग्री एकत्र करके दर्भ कुश अथवा काले हिरण आदि का आसन बना करके, जब तक दोनों ओर के अंग समान न हो जाएँ, तब तक आसन साधन करते रहना चाहिए। इसके लिए आसन स्थल में बैठकर यथारुचि स्वस्तिक आदि किसी भी आसन का अभ्यास करते रहना चाहिए॥ ८९-९१ ॥

बद्ध्वा प्रागासनं विप्र ऋजुकायः समाहितः। नासाग्रन्यस्तनयनो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन्॥ ९२ ॥
रसनां तालुनि न्यस्य स्वस्थचित्तो निरामयः। आकुञ्चितशिरः किंचिन्निबध्नन्योगमुद्रया ॥ ९३ ॥
हस्तौ यथोक्तविधिना प्राणायामं समाचरेत्। रेचनं पूरणं वायोः शोधनं रेचनं तथा॥ ९४ ॥

सर्वप्रथम आसन लगाकर शरीर को सीधा करके बैठे। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखे रहे, दाँतों को दाँतों द्वारा स्पर्श न करते हुए, जिह्वा को तालु में लगाकर स्वस्थ चित्त एवं निरामय भाव से सिर को आकुंचित (थोड़ा झुकाकर) करते हुए योग मुद्रा में हाथों को आबद्ध करके प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। रेचक, पूरक(और कुंभक)के द्वारा वायु का शोधन करते हुए (पुन:) रेचन की क्रिया सम्पन्न करनी चाहिए॥ ९२-९४॥

चतुर्भिः क्लेशनं वायोः प्राणायाम उदीर्यते। हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम्॥ ९५॥
शनैः शनैरथ बहिः प्रक्षिपेत्पिङ्गलानिलम् । इडया वायुमापूर्य ब्रह्मन्षोडशमात्रया॥ ९६॥
पूरितं कुम्भयेत्पश्चाच्चतु:षष्ट्या तु मात्रया। द्वात्रिंशन्मात्रया सम्यग्रेचयेत्पिङ्गलानिलम्॥ ९७॥

इस प्रकार इन चार विधियों के द्वारा वायु को गतिशील करने की क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। दाहिने हाथ के द्वारा नासिका पुट को दबाकर पिंगला (दायीं नासिका) से वायु का बहिर्गमन करे। तदनन्तर सोलह मात्रा से इड़ा (बायीं नासिका) द्वारा वायु को अन्दर की ओर खींचे तथा चौंसठ मात्रा से कुम्भक करे और बत्तीस मात्रा से उस वायु को पिंगला (दायीं नासिका) के द्वारा बहिर्गमन कर देना चाहिए॥ ९५-९७॥

एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु। संपूर्णकुम्भवद्देहं कुम्भयेन्मातरिश्वना॥ ९८॥

इस प्रकार बार-बार क्रम एवं विपरीत क्रम से सर्वदा अभ्यास करता रहे और शरीर के अन्दर भरी हुई वायु को कुम्भ (घड़े) की भाँति स्थिर करके रोके रहे॥ ९८॥

पूरणान्नाडयः सर्वाः पूर्यन्ते मातरिश्वना। एवं कृते सति ब्रह्मंश्चरन्ति दश वायवः ॥ ९९॥

हे ब्रह्मन्! इस क्रिया से समस्त नाड़ियाँ वायु से परिपूर्ण हो जाती हैं। उन नाड़ियों में दसों वायुएँ (प्राणधारायें) सम्यक्रूप से चलने लगती हैं॥ ९९॥

हृदयाम्भोरुहं चापि व्याकोचं भवति स्फुटम्। तत्र पश्येत्परात्मानं वासुदेवमकल्मषम्॥ १००॥

तदनन्तर हृदय रूपी कमल विकसित होकर स्वच्छ-स्पष्ट हो जाता है तथा उस स्थान पर परमात्म स्वरूप, निष्पाप वासुदेव के दर्शन स्पष्ट रूप से होने लगते हैं॥ १००॥

प्रातर्माध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्। शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्॥ १०१॥

इस अभ्यास से प्रात:काल, मध्याह्न काल, सायंकाल तथा अर्द्धरात्रि को चार बार कुम्भक करना चाहिए और क्रमश: उसे अस्सी (८०) मात्रा तक धीरे-धीरे बढ़ा देना चाहिए॥ १०१॥

एकाहमात्रं कुर्वाणः सर्वपापैः प्रमुच्यते। संवत्सरत्रयादूर्ध्वं प्राणायामपरो नरः॥ १०२॥
योगसिद्धो भवेद्योगी वायुजिद्विजितेन्द्रियः। अल्पाशी स्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी बलवान्भवेत्॥१०३

इस उपर्युक्त विधि से एक दिन के अभ्यास करने मात्र से ही सभी तरह के पापों का शमन हो जाता है। जो मनुष्य इस तरह लगातार तीन वर्ष तक नियमित अभ्यासपूर्वक प्राणायाम करता है, वह योगसिद्ध हो जाता है। वह योगी (साधक) वायु को जीतने वाला, इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला, अल्पाहारी, स्वल्प नींदवाला, तेजोमय एवं बलवान् होता है॥ १०२-१०३॥

अपमृत्युमतिक्रम्य दीर्घमायुरवाप्नुयात्। प्रस्वेदजननं यस्य प्राणायामस्तु सोऽधमः॥ १०४॥
कम्पनं वपुषो यस्य प्राणायामेषु मध्यमः । उत्थानं वपुषो यस्य स उत्तम उदाहृतः ॥ १०५॥

वह अकाल मृत्यु के भय को विनष्ट करके दीर्घायु को प्राप्त होता है। जिस प्राणायाम में पसीना आता है, वह अधम कहलाता है। जिस (प्राणायाम) में शरीर में कँपकँपी होती है, वह मध्यम है तथा जिस (प्राणायाम) में शरीर ऊर्ध्व की ओर उठता है, वह उत्तम कहा गया है॥ १०४-१०५॥

अधमे व्याधिपापानां नाशः स्यान्मध्यमे पुनः । पापरोगमहाव्याधिनाशः स्यादुत्तमे पुनः ॥ १०६ ॥
अल्पमूत्रोऽल्पविष्ठश्च लघुदेहो मिताशनः । पट्विन्द्रियः पटुमतिः कालत्रयविदात्मवान् ॥१०७ ॥

अधम कोटि के प्राणायाम से आधि-व्याधि एवं सम्पूर्ण पापों का विनाश हो जाता है। मध्यम कोटि के प्राणायाम से महाव्याधियाँ, पाप एवं समस्त रोग समाप्त हो जाते हैं और उत्तम प्राणायाम से (साधक) अल्पनिद्रा वाला, अल्प मल-मूत्र वाला, लघु शरीर वाला एवं अल्पाहार वाला होता है। इन्द्रियाँ एवं बुद्धि तीव्र हो जाती हैं तथा वह योगी तीनों कालों को जानने में समर्थ हो जाता है॥ १०६-१०७॥

रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भीकरणमेव यः । करोति त्रिषु कालेषु नैव तस्यास्ति दुर्लभम् ॥ १०८ ॥

जो योगी रेचक एवं पूरक से मुक्त होकर एकमात्र कुम्भक ही करने में तत्पर हो जाता है, उसके लिए तीनों कालों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता॥ १०८॥

नाभिकन्दे च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नवान् । धारयेन्मनसा प्राणान्सन्ध्याकालेषु वा सदा ॥१०९ ॥

अपने योग में निरन्तर प्रयत्नशील रहने वाले साधक को नाभिकन्द (मूल) में, नासिका के अग्रभाग में तथा दोनों पैरों के अँगूठे में, सन्ध्या-वन्दन के समय मन द्वारा प्राणतत्त्व की धारणा करनी चाहिए॥ १०९॥

सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः । कुक्षिरोगविनाशः स्यान्नाभिकन्देषु धारणात् ॥ ११० ॥

इस प्रकार की प्रक्रिया से योगी साधक समस्त रोगों से मुक्त होकर आनन्दपूर्वक जीवन पूर्ण करता है। नाभिकन्द (मूल) में प्राणों को धारण करने पर कुक्षि (कोख-पेट) के समस्त रोग विनष्ट हो जाते हैं॥ ११०॥

नासाग्रे धारणाद्दीर्घमायुः स्याद्देहलाघवम् । ब्राह्मे मुहूर्ते संप्राप्ते वायुमाकृष्य जिह्वया ॥ १११ ॥
पिबतस्त्रिषु मासेषु वाक्सिद्धिर्महती भवेत् । अभ्यासतश्च षण्मासान्महारोगविनाशनम् ॥ ११२ ॥

नासिका के अग्रभाग में प्राण को धारण करने से दीर्घायुष्य एवं शरीर की लघुता (हल्कापन) प्राप्त होती है। ब्राह्ममुहूर्त में जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर पीने से मात्र तीन मास में ही वाक्-सिद्धि प्राप्त हो जाती है तथा छः मास में (उस योगी को) महारोग से मुक्ति मिल जाती है॥ १११-११२॥

यत्र यत्र धृतो वायुरङ्गे रोगादिदूषिते । धारणादेव मरुतस्तत्तदारोग्यमश्नुते ॥ ११३ ॥

शरीर के पीड़ित अंगों में जहाँ-तहाँ वायु के जकड़न आदि से उत्पन्न दूषित रोगों का विनाश करने के लिए उन अंगों में वायु (प्राण) को धारण करने से योगी रोग-रहित हो जाता है॥ ११३॥

मनसो धारणादेव पवनो धारितो भवेत् । मनसः स्थापने हेतुरुच्यते द्विजपुङ्गव ॥ ११४ ॥

मन की धारणा से ही वायु (प्राण) की भी धारणा उत्पन्न होने लगती है। हे द्विज! मन को स्थिर-एकाग्र करने के लिए प्राण की साधना (प्राणायाम) को अनिवार्य कहा गया है॥ ११४॥

करणानि समाहृत्य विषयेभ्यः समाहितः । अपानमूर्ध्वमाकृष्येदुदरोपरि धारयेत् ॥ ११५ ॥
बध्नन्कराभ्यां श्रोत्रादिकरणानि यथातथम् । युञ्जानस्य यथोक्तेन वर्त्मना स्ववशं मनः ॥ ११६ ॥

अपान-वायु को इन्द्रिय आदि विषयों से अलग करके ऊर्ध्व में ही धारण किए रहना चाहिए तथा दोनों हाथों (की अँगुलियों) से दोनों कानों को बन्द कर लेना चाहिए। इस क्रिया (षण्मुखी मुद्रा-दोनों हाथों की अँगुलियों से आँख, कान, मुख, नाक आदि बन्द करने) से मन को वशीभूत कर लिया जाता है॥ ११५-११६॥

मनोवशात्प्राणवायुः स्ववशे स्थाप्यते सदा । नासिकापुटयोः प्राणः पर्यायेण प्रवर्तते ॥ ११७ ॥

इस प्रकार से मन पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् प्राणवायु नियमित हो जाता है एवं नासिका द्वारा क्रमानुसार उसका आवागमन प्रारम्भ हो जाता है॥ ११७॥

तिस्रश्च नाडिकास्तासु स यावन्तं चरत्ययम्। शङ्खिनीविवरे याम्ये प्राणः प्राणभृतां सताम्॥११८॥
तावन्तं च पुनः कालं सौम्ये चरति संततम्। इत्थं क्रमेण चरता वायुना वायुजिन्नरः॥ ११९॥
अहश्च रात्रिं पक्षं च मासमृत्वयनादिकम्। अन्तर्मुखो विजानीयात्कालभेदं समाहितः॥१२०॥

मुख्य तीन नाड़ियाँ हैं। उनमें प्राणायाम करने वाले-साधकों का श्वास दायें एवं बायें नासापुटों के द्वारा समान समय तक क्रियाशील होकर चलता रहता है। इस तरह से जिसका प्राण क्रमपूर्वक सक्रिय रहता है, वह प्राणों पर विजय प्राप्त कर लेता है। तत्पश्चात् वह योगी दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि के काल भेद को अन्तर्मुखी होकर जानने में समर्थ हो जाता है, उसे अपने में समाहित कर लेता है॥ ११८-१२०॥

अङ्गुष्ठादिस्वावयवस्फुरणादर्शनैरपि । अरिष्टैर्जीवितस्यापि जानीयात्क्षयमात्मनः ॥ १२१॥

अंगुष्ठादि अपने अंगों का स्फुरण (अर्थात् नाड़ी- संस्थानों में रक्त गति से फड़कना) बन्द हो जाने पर शीघ्रातिशीघ्र अपने जीवन का समापन समझ लेना चाहिए॥ १२१॥

ज्ञात्वा यतेत कैवल्यप्राप्तये योगवित्तमः। पादाङ्गुष्ठे कराङ्गुष्ठे स्फुरणं यस्य न श्रुतिः॥ १२२॥
तस्य संवत्सरादूर्ध्वं जीवितस्य क्षयो भवेत्। मणिबन्धे तथा गुल्फे स्फुरणं यस्य नश्यति॥१२३॥
षण्मासावधिरेतस्य जीवितस्य स्थितिर्भवेत्। कूर्परे स्फुरणं यस्य तस्य त्रैमासिकी स्थितिः॥१२४

ऐसे अनिष्ट-सूचक संकेतों को जानने के पश्चात् श्रेष्ठ योगी-साधक को अपना पूरा ध्यान मोक्ष-प्राप्ति की साधना में लगाना चाहिए। जिसके दोनों पैरों एवं दोनों हाथ के अँगूठों में स्फुरण न होते जान पड़े, तो यह जानना चाहिए कि उसका जीवन मात्र एक वर्ष में समाप्त होने वाला है। मणिबन्ध (कलाई) एवं गुल्फ (टखना) का स्फुरण जब बन्द हो जाये, तो मनुष्य मात्र छः मास तक ही जीवित रहता है और जब हाथ की 'कोहनी' में स्फुरण न हो, तो जीवन की अवधि मात्र तीन मास ही शेष बचती है॥ १२२-१२४॥

कुक्षिमेहनपार्श्वे च स्फुरणानुपलम्भने। मासावधिर्जीवितस्य तदर्धस्य तु दर्शने॥ १२५॥

कुक्षि(पेट के अगल-बगल का हिस्सा)और उपस्थेन्द्रिय(लिंग)में स्फुरण न हो, तो मात्र एक मास में जीवन समाप्त हो जाता है और चक्षुओं में स्फुरण न हो, तो मात्र पन्द्रह दिन में ही जीवन समाप्त हो जाता है॥१२५

आश्रिते जठरद्वारे दिनानि दश जीवितम्। ज्योतिः खद्योतवद्यस्य तदर्धं तस्य जीवितम्॥ १२६॥

जठर द्वार पर जब स्फुरण न हो, तब जीवन की अवधि मात्र दस दिन शेष बचती है और (सूर्य-चन्द्र की) ज्योति जब जुगनू के समान हो जाये, तो फिर पाँच दिन ही शेष रह जाते हैं॥ १२६॥

जिह्वाग्रादर्शने त्रीणि दिनानि स्थितिरात्मनः। ज्वालाया दर्शने मृत्युर्द्विदिने भवति ध्रुवम्॥ १२७॥

जिह्वा के अग्रभाग का दर्शन जब बन्द हो जाये, तो फिर तीन दिन का ही समय शेष समझना चाहिए और जब ज्वाला का दिखाई पड़ना बन्द हो जाये, तो दो ही दिन शेष जानना चाहिए॥ १२७॥

एवमादीन्यरिष्टानि दृष्ट्वायुः क्षयकारणम्। निःश्रेयसाय युञ्जीत जपध्यानपरायणः॥ १२८॥

ये सभी अनिष्टकारक तत्त्व आयु को क्षीण करने वाले कारण रूप हैं। इन सभी तत्त्वों को जानकर अपने कल्याण-हेतु जप एवं ध्यान में संलग्न हो जाना चाहिए॥ १२८॥

मनसा परमात्मानं ध्यात्वा तद्रूपतामियात्। यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम्॥ १२९॥

मन के द्वारा परम पिता परमात्मा का चिन्तन करते हुए तदनुरूप बनने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। उसकी चेतना को शरीर के अट्ठारह मर्मस्थलों में धारण किया जाना चाहिए॥ १२९॥

स्थानात्स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते। पादाङ्गुष्ठं तथा गुल्फं जङ्घामध्यं तथैव च॥१३०॥

मध्यमूर्वोश्च मूलं च पायुर्हृदयमेव च। मेहनं देहमध्यं च नाभिं च गलकूर्परम्॥ १३१॥
तालुमूलं च मूलं च घ्राणस्याक्ष्णोश्च मण्डलम्। भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूलमूर्ध्वं च जानुनी॥१३२॥
मूलं च करयोर्मूलं महान्त्येतानि वै द्विज। पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु॥ १३३॥

एक स्थल से दूसरे स्थल को खींचना ही प्रत्याहार कहलाता है। पैर का अँगूठा, एड़ी, जाँघ का मध्य भाग, ऊरु का मध्य भाग, गुदा का मूलभाग, हृदय, उपस्थ, देह का मध्य भाग नाभि, कण्ठ, कोहनी, तालु-मूल, नासिका का मूल, आँखों का मण्डल, भौंहों का मध्य, ललाट, मस्तक का मूल भाग, घुटने का मूल भाग, हाथों का मूल भाग हे द्विज! ये सभी स्थल इस पञ्च भौतिक शरीर के मर्म स्थान कहे गये हैं॥ १३०-१३३॥

मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य च यमादिभिः। धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम्॥ १३४॥

यमादि के द्वारा मन का धारण (एकाग्र) करना ही धारणा कहलाता है। इसके द्वारा मनुष्य संसाररूपी समुद्र को पार करने में सक्षम हो जाता है॥ १३४॥

आजानुपादपर्यन्तं पृथिवीस्थानमिष्यते। पित्तला चतुरस्रा च वसुधा वज्रलाञ्छिता॥ १३५॥

पैरों से लेकर घुटनों तक पृथ्वी-तत्त्व का अंश कहा गया है। पीले रंग की चार कोण से युक्त पृथ्वी वज्र-लाञ्छिता (जटित) कही गई है॥ १३५॥

स्मर्तव्या पञ्चघटिकास्तत्रारोप्य प्रभञ्जनम्। आजानुकटिपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम्॥ १३६॥

पाँच घटी (दो घण्टे) तक वायु को ग्रहण करके पृथ्वी तत्त्व का चिन्तन करते रहना चाहिए। घुटनों से कमर तक का भाग जल का क्षेत्र कहा गया है॥ १३६॥

अर्धचन्द्रसमाकारं श्वेतमर्जुनलाञ्छितम्। स्मर्तव्यमम्भः श्वसनमारोप्य दश नाडिकाः॥ १३७॥

इस जल का आकार अर्द्धचन्द्रमा की भाँति है। उसका रंग श्वेत शुभ्र है एवं चाँदी से लांछित (जटित) है। इसमें दस-घटी अर्थात् (४ घंटे) तक श्वास रोककर जल तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए॥ १३७॥

आदेहमध्यकट्यन्तमग्निस्थानमुदाहृतम्। तत्र सिन्दूरवर्णोऽग्निर्ज्वलनं दश पञ्च च॥ १३८॥
स्मर्तव्या नाडिकाः प्राणं कृत्वा कुम्भे तथेरितम्। नाभेरुपरि नासान्तं वायुस्थानं तु तत्र वै॥१३९॥
वेदिकाकारवद्धूम्रो बलवान्भूतमारुतः। स्मर्तव्यः कुम्भकेनैव प्राणमारोप्य मारुतम्॥ १४०॥
घटिकाविंशतिस्तस्माद् घ्राणाद्ब्रह्मबिलावधि। व्योमस्थानं नभस्तत्र भिन्नाञ्जनसमप्रभम्॥ १४१॥

शरीर के कटि-प्रदेश के मध्य में अग्नि का स्थान कहा गया है। उसका आकार अग्नि की लपटों की तरह तथा रंग सिंदूर के सदृश है। उसमें पन्द्रह घटी (छः घण्टे) तक कुम्भक द्वारा प्राण तत्त्व को रोककर अग्नि तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए। नाभि से नासिका तक का भाग वायु का स्थल कहा गया है, जिसका आकार वेदी के सदृश है। धूम्र की भाँति शक्तिशाली मरुत् का ध्यान बीस घड़ी अर्थात् (८ घंटे) तक कुम्भक द्वारा वायु को आरोपित करके करना चाहिए। नासिका से ब्रह्मरन्ध्र तक आकाश तत्त्व का स्थान कहा गया है, जिसकी आभा नीले रंग की कही गई है॥ १३८-१४१॥

व्योम्नि मारुतमारोप्य कुम्भकेनैव यत्नवान्। पृथिव्यंशे तु देहस्य चतुर्बाहुं किरीटिनम्॥ १४२॥
अनिरुद्धं हरिं योगी यतेत भवमुक्तये। अबंशे पूरयेद्योगी नारायणमुदग्रधीः॥ १४३॥
प्रद्युम्नमग्नौ वाय्वंशे संकर्षणमतः परम्। व्योमांशे परमात्मानं वासुदेवं सदा स्मरेत्॥ १४४॥

प्रयत्नशील योगी साधक कुम्भक द्वारा प्राणवायु को आकाश क्षेत्र में आरोपित करे। तदनन्तर पृथ्वी क्षेत्र वाले भाग में चतुर्भुज किरीट युक्त अनिरुद्ध हरि का चिन्तन करे। इस विधि से योगी मुक्ति को प्राप्त कर लेने में

समर्थ हो जाता है। जल वाले भाग में श्रीनारायण का ध्यान करे, अग्नि वाले स्थान में प्रद्युम्न का चिन्तन करे, वायु क्षेत्र में संकर्षण का एवं आकाश वाले अंश में परमात्मा वासुदेव का चिन्तन सतत करता रहे॥ १४२-१४४॥

अचिरादेव तत्प्राप्तिर्युञ्जानस्य न संशयः। बद्ध्वा योगासनं पूर्वं हृद्देशे हृदयाञ्जलिः॥१४५॥
नासाग्रन्यस्तनयनो जिह्वां कृत्वा च तालुनि। दन्तैर्दन्तानसंस्पृश्य ऊर्ध्वकायः समाहितः॥१४६॥
संयमेच्चेन्द्रियग्राममात्मबुद्ध्या विशुद्धया। चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः॥ १४७॥

जो योगी साधक इस अभ्यास को नियम सहित निरन्तर करता रहता है, वह परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर लेता है। सर्वप्रथम योगासन पर आरूढ़ होकर हृदय प्रदेश में हृदय की विशेष आकृति का चिन्तन करते हुए स्थित होकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करे। जिह्वा को तालु से स्पर्श करे, दाँतों का दाँतों से संस्पर्श करते हुए शरीर को ऊँचा करके समाहित होकर बैठे। विशुद्ध आत्मबुद्धि द्वारा इन्द्रियों का संयम करता हुआ परब्रह्म परमात्मा वासुदेव का ध्यान करे॥ १४५-१४७॥

स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम्। याममात्रं वासुदेवं चिन्तयेत्कुम्भकेन यः॥ १४८॥
सप्तजन्मार्जितं पापं तस्य नश्यति योगिनः। नाभिकन्दात्समारभ्य यावद्धृदयगोचरम्॥ १४९॥
जाग्रद्वृत्तिं विजानीयात्कण्ठस्थं स्वप्नवर्तनम्। सुषुप्तं तालुमध्यस्थं तुर्यं भ्रूमध्यसंस्थितम्॥ १५०॥

योगी को कैवल्य की प्राप्ति अपने अन्तःकरण में संव्याप्त परमात्मतत्त्व के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करने से होती है। इस प्रकार एक प्रहर तक कुम्भक करते हुए जो योगी परब्रह्ममय वासुदेव का ध्यान करता है, उसके सात जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। नाभिकेन्द्र से लेकर के हृदयप्रदेश तक जाग्रत् अवस्था का क्षेत्र है, स्वप्नावस्था कण्ठ में, सुषुप्तावस्था तालु के मध्य में एवं तुर्यावस्था भृकुटियों के मध्य में प्रतिष्ठित है॥ १४८-१५०

तुर्यातीतं परं ब्रह्म ब्रह्मरन्ध्रे तु लक्षयेत्। जाग्रद्वृत्तिं समारभ्य यावद्ब्रह्मबिलान्तरम्॥ १५१॥
तत्रात्मायं तुरीयस्य तुर्यान्ते विष्णुरुच्यते। ध्यानेनैव समायुक्तो व्योम्नि चात्यन्तनिर्मले॥ १५२॥
सूर्यकोटिद्युतिधरं नित्योदितमधोक्षजम्। हृदयाम्बुरुहासीनं ध्यायेद्वा विश्वरूपिणम्॥ १५३॥

तुरीयावस्था का क्षेत्र ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म की ओर लक्ष्य करके स्थित रहता है। जाग्रत् अवस्था से शुरू होकर ब्रह्मरन्ध्र तक तुरीयावस्था का आत्मतत्त्व प्रतिष्ठित रहता है, उसके अन्त में वह विष्णु के नाम से कहा गया है। तत्पश्चात् योगी-साधक को अत्यन्त निर्मल स्वच्छ आकाश में कमल रूपी हृदय में आसीन कोटि-कोटि सूर्य के सदृश प्रकाश से युक्त नित्य विश्वरूप विष्णु का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए॥ १५१-१५३॥

अनेकाकारखचितमनेकवदनान्वितम्। अनेकभुजसंयुक्तमनेकायुधमण्डितम्॥ १५४॥
नानावर्णधरं देवं शान्तमुग्रमुदायुधम्। अनेकनयनाकीर्णं सूर्यकोटिसमप्रभम्॥ १५५॥
ध्यायतो योगिनः सर्वमनोवृत्तिर्विनश्यति। हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं चैतन्यज्योतिरव्ययम्॥ १५६॥
कदम्बगोलकाकारं तुर्यातीतं परात्परम्। अनन्तमानन्दमयं चिन्मयं भास्करं विभुम्॥ १५७॥
निवातदीपसदृशमकृत्रिममणिप्रभम्। ध्यायतो योगिनस्तस्य मुक्तिः करतले स्थिता॥ १५८॥

उन अनेक आकार-प्रकार वाले, अनेक मुखों से युक्त, अनेक भुजाओं से संयुक्त, अनेकों आयुधों से मण्डित, विभिन्न वर्णों को धारण किये हुए, देवस्वरूप, शान्त, उग्र, अनेक आयुधों को धारण किये हुए, अनेक नेत्रों से सम्पन्न, कोटि-कोटि सूर्यों की प्रभा से सम्पन्न विश्वस्वरूप भगवान् श्रीविष्णु का चिन्तन-मनन करने से योगी की समस्त मनोवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। हृदय-कमल के मध्य स्थल में प्रतिष्ठित चैतन्यमय, ज्योतिस्वरूप, अव्यय, कदम्ब के सदृश गोलाकार, तुर्यातीत, परात्पर, अन्तरहित, आनन्दमय, चिन्मय, प्रकाशमान, विभु, निर्वात स्थल में स्थित दीपक की भाँति अकृत्रिम मणि की कान्ति से युक्त परब्रह्म का ध्यान करने से 'मुक्ति' योगी के करतलगत स्थित रहती हैं॥ १५४-१५८॥

विश्वरूपस्य देवस्य रूपं यत्किंचिदेव हि। स्थवीयः सूक्ष्ममन्यद्वा पश्यन्हृदयपङ्कजे॥ १५९॥
ध्यायतो योगिनो यस्तु साक्षादेव प्रकाशते । अणिमादिफलं चैव सुखेनैवोपजायते ॥ १६०॥

विश्वस्वरूप देव का जो कुछ भी स्थूल, सूक्ष्म या फिर अन्य दूसरे प्रकार का स्वरूप है, जो योगी-साधक उसका अपने कमल रूपी हृदय में ध्यान करता है, वह स्वयं साक्षात् उन्हीं परब्रह्म के स्वरूप का ही हो जाता है। अणिमा-लघिमा आदि समस्त सिद्धियों के फल को वह अनायास ही प्राप्त कर लेता है॥ १५९-१६०॥

जीवात्मनः परस्यापि यद्येवमुभयोरपि । अहमेव परंब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ॥ १६१॥
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः। ब्रह्म संपद्यते योगी न भूयः संसृतिं व्रजेत्॥ १६२॥

जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस स्थिति तक पहुँच जाना ही समाधि कही गई है। उसके अन्तर्गत सभी प्रकार की वृत्तियों-इच्छाओं का समापन हो जाता है। जो भी योगी मनुष्य इस तरह से परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, वह पुनः इस नश्वर जगत् में नहीं आता॥ १६१-१६२॥

एवं विशोध्य तत्त्वानि योगी निःस्पृहचेतसा। यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥१६३॥

इस प्रकार से योगी-साधक योग तत्त्वों का शोधन करता हुआ स्पृहारहित चित्त द्वारा ईंधनरहित अग्नि की भाँति स्वयमेव शान्त हो जाता है॥ १६३॥

ग्राह्याभावे मनःप्राणो निश्चयज्ञानसंयुतः । शुद्धसत्त्वे परे लीनो जीवः सैन्धवपिण्डवत् ॥१६४॥

तदनन्तर उस योगी के लिए और कुछ स्वीकार करने योग्य शेष नहीं रहता । उसका मन एवं प्राण सच्चे आत्मज्ञान से सम्पन्न हो जाता है तथा उसकी जीवात्मा शुद्ध-पवित्र-परमात्म तत्त्व में, जल में नमक की तरह से विलीन हो जाती है॥ १६४॥

मोहजालकसंघातं विश्वं पश्यति स्वप्नवत् । सुषुप्तिवद्यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः॥ १६५॥
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुत इत्युपनिषत् ॥

उस योगी को माया-मोह के जाल में आबद्ध हुआ यह संसार स्वप्न की भाँति दृष्टिगोचर होने लगता है तथा वह पूर्ण निश्चल होकर स्वभाव वश ही सुषुप्ति जैसी अवस्था में रहने लगता है॥ १६५॥
ऐसा श्रेष्ठ योगी-साधक निर्वाण के पद पर आसीन होकर कैवल्यावस्था की स्थिति में पहुँच जाता है, ऐसी ही यह उपनिषद् विद्या है॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः॥

॥ इति त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ दक्षिणामूर्त्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें 'शिवतत्त्व' पर प्रकाश डाला गया है। यह उपनिषद् शौनकादि महर्षियों एवं मार्कण्डेय ऋषि के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में प्रस्तुत है। इस उपनिषद् में सर्वप्रथम शिवतत्त्व के ज्ञान से चिरजीविता की प्राप्ति का विवेचन है, तदुपरान्त शिव तत्त्व के ज्ञान के लिए कुछ प्रश्न किए गये हैं, जिसके उत्तर में मार्कण्डेय ऋषि ने परम रहस्यमय शिव तत्त्व का बोध कराया है। इसके बाद २४ अक्षरात्मक मन्त्र, नवाक्षर मन्त्र, १८ अक्षरात्मक मन्त्र तथा १२ अक्षरात्मक मन्त्र का वर्णन है। इसके आगे आनुष्टुभ मन्त्रराज का तथा निष्ठा आदि का निरूपण है, जिसके परिणाम स्वरूप शिवतत्त्व का ज्ञानोदय होता है। अन्त में उपनिषद् के अध्ययन एवं अनुभूति के प्रतिफल का प्रतिपादन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

ब्रह्मावर्ते महाभाण्डीरवटमूले महासत्राय समेता महर्षयः शौनकादयस्ते ह समित्पाणयस्तत्त्वजिज्ञासवो मार्कण्डेयं चिरंजीविनमुपसमेत्य पप्रच्छुः केन त्वं चिरं जीवसि केन वानन्दमनुभवसीति ॥ १ ॥

एक बार ब्रह्मावर्त देश में महाभाण्डीर नाम के वट वृक्ष के नीचे शौनकादि महर्षियों ने दीर्घकाल तक चलने वाला यज्ञ प्रारम्भ किया। (उस समय) शौनकादि ऋषियों ने तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने के लिए समित्पाणि होकर चिरंजीवी मार्कण्डेय ऋषि के सम्मुख आकर प्रश्न किया। हे महर्षे! आप चिरंजीवी कैसे हुए एवं (दीर्घायु के साथ) कैसे अपार आनन्द की अनुभूति करते हैं?॥ १ ॥

परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानेनेति स होवाच ॥ २ ॥ किं तत्परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानम् । तत्र को देवः। के मन्त्राः। को जपः। का मुद्रा। का निष्ठा। किं तज्ज्ञानसाधनम् । कः परिकरः। को बलिः। कः कालः। किं तत्स्थानमिति॥ ३ ॥

उन्होंने कहा कि मेरे चिरंजीवी होने का कारण परमगुप्त शिव तत्त्व का ज्ञान है। ऋषियों ने पूछा-वह परम रहस्यमय शिव तत्त्व का ज्ञान क्या है? उसका देवता कौन है? उसके मन्त्र कौन से हैं? (उसका) जप (मन्त्र) क्या है? (उसके लिए) मुद्रा कौन सी है? उसकी निष्ठा क्या है? क्या-क्या उस ज्ञान के साधन हैं? उसका परिकर क्या है? उसमें बलि क्या है? उसका समय क्या है? उसका स्थान क्या है?॥ २-३ ॥

स होवाच । येन दक्षिणामुखः शिवोऽपरोक्षीकृतो भवति तत्परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानम् ॥ ४ ॥ यः सर्वोपरमे काले सर्वानात्मन्युपसंहृत्य स्वात्मानन्दसुखे मोदते प्रकाशते वा स देवः ॥ ५ ॥

उन मार्कण्डेय ऋषि ने कहा-जिसके द्वारा दक्षिणामुख शिव का प्राकट्य होता है, वही परम रहस्यमय शिव तत्त्व का ज्ञान है। जो सृष्टि के अन्त में सम्पूर्ण विश्व को अपने भीतर समेट करके अपनी आत्मा में ही आनन्दित रहते एवं स्वप्रकाशित रहते हैं, वे ही इस ज्ञान तत्त्व के देवता हैं॥ ४-५ ॥

अब प्रज्ञा, मेधा का विज्ञान प्रदान करने वाले मन्त्रों का उदाहरण दिया जा रहा है—

अत्रैते मन्त्ररहस्यश्लोका भवन्ति। मेधा दक्षिणामूर्तिमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः। गायत्री छन्दः। देवता दक्षिणास्यः। मन्त्रेणाङ्गन्यासः॥ ६ ॥

अब मन्त्र के रहस्य को प्रकट करने वाले श्लोक कहे जा रहे हैं। इस मेधा दक्षिणामूर्ति मन्त्र के ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और दक्षिणामुख देवता हैं। मन्त्र के द्वारा अंग न्यास करना चाहिए॥ ६ ॥

ॐ आदौ नम उच्चार्य ततो भगवते पदम्। दक्षिणेति पदं पश्चान्मूर्तये पदमुद्धरेत्। अस्मच्छब्दं चतुर्थ्यन्तं मेधां प्रज्ञां पदं वदेत् । प्रमुच्चार्य ततो वायुबीजं च्छं च ततः पठेत् । अग्निजायां ततस्त्वेष चतुर्विंशाक्षरो मनुः ॥ ७॥

सबसे पहले 'ॐ नमः' शब्द का उच्चारण करके फिर 'भगवते' पद का उच्चारण करे, पुनः 'दक्षिणा' यह पद कहे, फिर 'मूर्तये' पद को कहे, बाद में अस्मद् शब्द के चतुर्थी का एकवचन अर्थात् 'मह्यं' पद कहे तथा बाद में 'मेधां प्रज्ञां' पदों का उच्चारण करे। पुनः 'प्र' का उच्चारण करके तब वायु बीज 'य' का उच्चारण कर आगे 'च्छ' पद बोले, सबसे बाद में अग्नि की स्त्री अर्थात् 'स्वाहा' पद कहे। इस प्रकार चौबीस अक्षर का यह मनु मन्त्र है॥ ७॥

[इस प्रकार यह मन्त्र 'ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्तये मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा' बनता है।]

ध्यानम्। स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमालाममृतकलशविद्यां ज्ञानमुद्रां कराग्रे । दधतमुरगकक्ष्यं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे ॥ ८॥

ध्यान— मैं स्फटिक मणि एवं रजत सदृश शुभ्र वर्ण वाले दक्षिणामूर्ति (भगवान् शिव) की स्तुति करता हूँ, जिनके हाथ में क्रमशः ज्ञान मुद्रा, अमृततत्त्वदायिनीविद्या तथा मोतियों की अक्षमाला है, जो त्रिनेत्र धारी हैं, जिनके उन्नत भाल पर चन्द्रमा का निवास है तथा जिनके कटिभाग पर सर्प लिपटे हुए हैं एवं जो विविध प्रकार के वेष धारण करने वाले हैं। (इस प्रकार की दक्षिणामूर्ति का मैं ध्यान करता हूँ।) ॥ ८॥

मन्त्रेण न्यासः । आदौ वेदादिमुच्चार्य स्वराद्यं सविसर्गकम् । पञ्चार्णं तत उद्धृत्य अतरं सविसर्गकम् । अन्ते समुद्धरेत्तारं मनुरेष नवाक्षरः ॥ ९॥

मन्त्र के द्वारा न्यास करें—

प्रारम्भ में वेद का आदि अक्षर ॐ का उच्चारण करके स्वर के आदि अक्षर को विसर्ग के साथ बोले, पुनः पंचार्ण अर्थात् 'दक्षिणामूर्तिः' पद का उच्चारण करे। इसके बाद विसर्ग के साथ 'अतर' इस पद का उच्चारण करे तथा अन्त में 'तार' अर्थात् ॐ शब्द का उच्चारण करे। यह नवाक्षरी मनु मंत्र है, (मन्त्र इस प्रकार है- ॐ दक्षिणामूर्तिरतरों) ॥ ९॥

मुद्रां भद्रार्थदात्रीं सपरशुहरिणं बाहुभिर्बाहुमेकं जान्वासक्तं दधानो भुजगवरसमाबद्ध-कक्ष्यो वटाधः। आसीनश्चन्द्रखण्डप्रतिघटित जटाक्षीरगौरस्त्रिनेत्रो दद्यादाद्यः शुकाद्यैर्मुनिभिर-भिवृतो भावशुद्धिं भवो नः ॥ १०॥

(ध्यान) जो एक हाथ में अभय मुद्रा तथा दो हाथों में परशु एवं हरिण (मृगीमुद्रा), एक हाथ को अपनी जंघा पर रखे हुए जो वट वृक्ष के नीचे विराजे हुए हैं एवं जिन्होंने कटिभाग पर नागराज लिपटा रखा है तथा द्वितीया का चन्द्रमा जिनकी जटाओं में सुशोभित है। दुग्ध के समान गौर वर्ण, त्रिनेत्रधारी तथा शुकादि मुनियों से आवृत भगवान् शंकर का हम ध्यान करते हैं। वे हमारी भावनाओं को शुद्ध करके सद्बुद्धि प्रदान करें॥ १०॥

मन्त्रेण न्यासः ब्रह्मर्षिन्यासः—तारं ब्लूं नम उच्चार्य मायां वाग्भवमेव च । दक्षिणापदमुच्चार्य ततः स्यान्मूर्तये पदम् ॥ ११॥ ज्ञानं देहि पदं पश्चाद्वह्निजायां ततो न्यसेत्। मनुरष्टादशार्णोऽयं सर्वमन्त्रेषु गोपितः ॥ १२॥

सर्वप्रथम तारं अर्थात् ॐ का उच्चारण करे, पुनः 'ब्लूं नमः' कहकर माया बीज अर्थात् 'ह्रीं' बोले, फिर वाग्बीज 'ऐं' तथा 'दक्षिणा' इस पद का उच्चारण करके, बाद में 'मूर्तये' एवं 'ज्ञानं देहि' पद कहे। उसके बाद अग्नि की स्त्री अर्थात् 'स्वाहा' पद बोले (इस प्रकार 'ॐ ब्लूं नमो ह्रीं ऐं दक्षिणामूर्तये ज्ञानं देहि स्वाहा') यह अट्ठारह अक्षर का मनु मन्त्र है, इसका जप करे। सभी मन्त्रों में यह अति गोपनीय मन्त्र है॥ ११-१२॥

भस्मव्यापाण्डराङ्गः शशिशकलधरो ज्ञानमुद्राक्षमालावीणापुस्तैर्विराजत्करकमलधरो योगपट्टाभिरामः। व्याख्यापीठे निषण्णो मुनिवरनिकरैः सेव्यमानः प्रसन्नः सव्यालः कृत्तिवासाः सततमवतु नो दक्षिणामूर्तिरीशः ॥ १३॥

(ध्यान) भस्म के लेपन से जिसका पूरा शरीर श्वेत हो रहा है, जिन्होंने चन्द्रकला को (मस्तक पर) धारण कर रखा है, जो अपने कर कमलों में रुद्राक्ष माला, वीणा, पुस्तक तथा ज्ञानमुद्रा धारण किये हुए हैं, जो योगियों के पास रहने वाले पट्ट से सुशोभित हैं, जो व्यास पीठ पर विराजित श्रेष्ठ मुनियों द्वारा सेवित प्रसन्न मुद्राधारी, सर्पों से सुशोभित, व्याघ्रचर्मधारी भगवान् दक्षिणामूर्ति हैं, वे भगवान् सदैव हमारी रक्षा करें॥ १३॥

मन्त्रेण न्यासः। (ब्रह्मर्षिन्यासः)। तारं परां रमाबीजं वदेत्साम्बशिवाय च। तुभ्यं चानलजायां च मनुर्द्वादशवर्णकः ॥ १४॥ वीणां करैः पुस्तकमक्षमालां बिभ्राणमभ्राभगलं वराढ्यम्। फणीन्द्रकक्ष्यं मुनिभिः शुकाद्यैः सेव्यं वटाधः कृतनीडमीडे ॥ १५॥

मन्त्र के द्वारा न्यास करें — सर्वप्रथम तारं अर्थात् 'ॐ' फिर परा बीज 'ह्रीं' पुनः रमाबीज 'श्रीं' कहे, इसके बाद 'साम्बशिवाय' पुनः 'तुभ्यं' और अन्त में 'स्वाहा' का उच्चारण करे। इस प्रकार यह द्वादश अक्षर वाला मनु मंत्र है। (मन्त्र इस प्रकार बनता है- 'ॐ ह्रीं श्रीं साम्बशिवाय तुभ्यं स्वाहा')। (ध्यान) जिन भगवान् शंकर ने अपने हाथों में वीणा, पुस्तक एवं अक्षमाला धारण कर रखी है, एक हाथ जिनका अभय मुद्रा में है तथा श्यामवर्ण के घनघोर बादल की तरह जिनका कण्ठ प्रदेश सुशोभित है, जो श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ हैं, जिनके कटिभाग पर नागराज शोभित हैं, जो वट वृक्ष के नीचे विराजमान हैं तथा शुकादि मुनियों से सेवित हैं, उन भगवान् (शंकर) की मैं प्रार्थना करता हूँ॥१४-१५॥

विष्णु ऋषिरनुष्टुप् छन्दः । देवता दक्षिणास्यः । मन्त्रेण न्यासः । तारं नमो भगवते तुभ्यं वटपदं ततः । मूलेति पदमुच्चार्य वासिने पदमुद्धरेत् ॥ १६॥ वागीशाय ततः पश्चान्महाज्ञानपदं ततः। दायिने पदमुच्चार्य मायिने नम उद्धरेत्॥ १७॥

इस मन्त्र के विष्णु ऋषि, अनुष्टुप् छन्द, दक्षिणा मुख (मूर्ति) देवता हैं, इससे न्यास करे। सर्वप्रथम तार अर्थात् 'ॐ' पुनः 'नमो भगवते तुभ्यं' फिर 'वटमूल' पद उच्चारण करे, इसके बाद 'वासिने' पद कहकर 'वागीशाय' कहे, फिर 'महाज्ञान' एवं 'दायिने मायिने' पद को कहते हुए 'नमः' शब्द का उच्चारण करे। (मन्त्र इस प्रकार हुआ-ॐ नमो भगवते तुभ्यं वटमूलवासिने वागीशाय महाज्ञानदायिने मायिने नमः)॥ १६-१७॥

आनुष्टुभो मन्त्रराजः सर्वमन्त्रोत्तमोत्तमः ॥ १८॥ ध्यानम्। मुद्रापुस्तकवह्निनागविलसद्बाहुं प्रसन्नाननं मुक्ताहारविभूषणं शशिकलाभास्वत्किरीटोज्ज्वलम्। अज्ञानापहमादिमादिमगिरामर्थं भवानीपतिं न्यग्रोधान्तनिवासिनं परगुरुं ध्यायाम्यभीष्टाप्तये ॥ १९॥ मौनमुद्रा। सोऽहमिति यावदास्थितिः सा निष्ठा भवति॥ २०॥

सभी श्रेष्ठ मन्त्रों में उत्तम यह आनुष्टुभमन्त्रराज है। ध्यान-जिनके हाथ अभय मुद्रा, पुस्तक एवं अग्नि तुल्य महाभयंकर सर्पों से सुशोभित हैं,प्रसन्न मुख वाले हैं,मोतियों के हार से सुशोभित हैं,चन्द्रमा की कला से मुकुट अधिक शोभा पा रहा है,जो अज्ञानान्धकार को समाप्त करने वाले हैं,जिन्हें वाणी से नहीं जाना जा सकता,जो आदि पुरुष हैं,सबके हैं,वटवृक्ष के नीचे निवास करने वाले भगवान् शिव का अभीष्टप्राप्ति के लिए हम ध्यान करते हैं। मौन मुद्रा-वह परमात्मा मैं ही हूँ,इस भाव की पूर्ण स्थिरता मृत्युपर्यन्त बनी रहे,वही निष्ठा है॥१८-२०

तदभेदेन मन्त्राम्रेडनं ज्ञानसाधनम्॥ २१॥ चित्ते तदेकतानता परिकरः॥ २२॥ अङ्गचेष्टार्पणं बलिः॥ २३॥ त्रीणि धामानि कालः॥ २४॥ द्वादशान्तपदं स्थानमिति॥ २५॥

मनु मन्त्रों को परब्रह्म से अभिन्न मान कर बार-बार उच्चारण अर्थात् निरन्तर जप करना ही ज्ञान का साधन है। उस परमात्मा में एकाग्रचित्त होकर ध्यान लगाना ही 'उपकरण' सामग्री है। शरीर के अंगों अर्थात् इन्द्रियों की चेष्टाओं को बार-बार रोकना एवं उन्हें भगवत्कार्य में नियोजित करना ही 'बलि' है। (स्व अविद्या पद, स्थूल तथा सूक्ष्म बीज के रूप में ये) तीनों धाम ही काल हैं। (परमात्मा को प्राप्त करने का स्थान हृदय या सहस्रार है, इसलिए यह) द्वादशान्त पद ही स्थान है॥ २१-२५ ॥

ते ह पुनः श्रद्दधानास्तं प्रत्यूचुः। कथं वाऽस्योदयः। किं स्वरूपम्। को वाऽस्योपासक इति ॥२६ ॥
स होवाच। वैराग्यतैलसंपूर्णे भक्तिवर्तिसमन्विते। प्रबोधपूर्णपात्रे तु ज्ञप्तिदीपं विलोकयेत् ॥२७ ॥

उन श्रद्धावान् ऋषियों ने मार्कण्डेय ऋषि से पुनः प्रश्न किया- किस प्रकार इसका उदय होता है? क्या स्वरूप है? इसका उपासक कौन है? उन्होंने कहा-वैराग्य रूपी तेल से परिपूर्ण, भक्ति रूपी वर्तिका से युक्त ज्ञानरूपी पात्र में ज्ञप्ति(ज्ञान का विषय)रूपी दीपिका अर्थात् सर्वत्र समान रूप से व्याप्त ईश सत्ता का अपनी आत्मा के रूप में दर्शन होता है ॥२६-२७ ॥

मोहान्धकारे निःसारे उदेति स्वयमेव हि । वैराग्यमरणिं कृत्वा ज्ञानं कृत्वा तु चित्रगुम्॥ २८ ॥
गाढतामिस्त्रसंशान्त्यै गूढमर्थं निवेदयेत्। मोहभानुजसंक्रान्तं विवेकाख्यं मृकण्डुजम्॥ २९ ॥
तत्त्वाविचारपाशेन बद्धं द्वैतभयातुरम् । उज्जीवयन्निजानन्दे स्वस्वरूपेण संस्थितः॥ ३० ॥

भगवद् दर्शन के लिए ज्ञान-भक्ति एवं वैराग्य की आवश्यकता है। इसके आते ही अज्ञानान्धकार समाप्त होकर आत्मारूपी दीपक स्वयं प्रज्वलित हो उठता है। अपने ज्ञानरूपी दण्ड से वैराग्य रूपी अरणी में मन्थन (चिन्तन) करके अज्ञानान्धकार के समापन के लिए गूढ़ अर्थ अर्थात् परमतत्त्व को जानने का प्रयास करना चाहिए। उस परमतत्त्व का दर्शन, निरन्तर ज्ञान और वैराग्य के परिपालन एवं चिन्तन से ही सम्भव है। परमतत्त्व के बारे में चिन्तन न करना ही पाश है, उक्त पाश से बँधे हुए द्वैतवाद से भयभीत-व्याकुल, मोहरूपी शनि अर्थात् मृत्यु के मुँह में गये हुए विवेक रूप मार्कण्डेय को परमतत्त्व का चिन्तन फिर से जीवन दान करते हुए अर्थात् आत्म-तत्त्व का बोध कराते हुए परमात्मा के परम आनन्द (अपने स्वरूप) में स्थित कर देता है॥ २८-३० ॥

शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम्। दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः॥ ३१ ॥ सर्गादिकाले भगवान्विरिञ्चिरुपास्यैनं सर्गसामर्थ्यमाप्य। तुतोष चित्ते वाञ्छितार्थांश्च लब्ध्वा धन्यः सोऽस्योपासको भवति धाता॥ ३२ ॥

ब्रह्म को प्रकाशित करने वाली तत्त्वज्ञान रूपिणी बुद्धि को ही दक्षिणा कहा है, वही ब्रह्म साक्षात्कार के लिए द्वार अर्थात् मुँह है। इसलिए ब्रह्म-ज्ञानियों ने उसी को 'दक्षिणामुख' नामक शिव कहा है। सृष्टि के आदि में प्रजापति ब्रह्माजी ने इनकी ही उपासना की। उसी से शक्ति प्राप्त करके सृष्टि की रचना रूपी अपने मनोरथ को पूर्ण किया और प्रसन्न हुए, इसलिए प्रजापति ब्रह्मा ही इनके उपासक हैं॥ ३१-३२ ॥

य इमां परमरहस्यशिवतत्त्वविद्यामधीते स सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति।
य एवं वेद स कैवल्यमनुभवतीत्युपनिषत्॥ ३३ ॥

इस शिवतत्त्वरूपी गुप्त विद्या का जो पाठ करता है, वह समस्त कल्मषों से छूट जाता है एवं इसको अच्छी तरह से जानने तथा मनन, चिन्तन करने वाला मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। ऐसी यह उपनिषद् है ॥ ३३ ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः॥

॥ इति दक्षिणामूर्त्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ देव्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा के अन्तर्गत आती है। देवगणों और महादेवी के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में यह उपनिषद् विवेचित है। इसमें सर्वप्रथम 'चित्' शक्ति के सर्वात्म रूप और सर्वधारक रूप का वर्णन किया गया है। तदुपरान्त देवों द्वारा देवी की स्तुति है। इसके बाद क्रमशः आदिविद्या का उद्धार, आदिविद्या की महिमा, भुवनेशी एकाक्षर मन्त्र, महाचण्डी नवाक्षर विद्या तथा अन्त में इस विद्या की फलश्रुति वर्णित हुई है। यह उपनिषद् वैसे तो छोटी है; परन्तु देवी साधना के तन्त्र मार्ग की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- कृष्णोपनिषद्)

सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः। कासि त्वं महादेवि ॥ १ ॥ साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च अहमानन्दानानन्दाः विज्ञानाविज्ञानेऽहम्। ब्रह्मा ब्रह्मणी वेदितव्ये। इत्याहाथर्वणी श्रुतिः ॥ २ ॥

समस्त देवगण देवी के समक्ष उपस्थित होकर प्रार्थना करते हुए बोले- 'हे महादेवि! आप कौन हैं? कृपा करके बताने का अनुग्रह करें'। तदनन्तर उन (देवी) ने उत्तर दिया-हे देवो! मैं ब्रह्म स्वरूपा हूँ। मेरे द्वारा ही यह प्रकृति-पुरुषात्मक विश्व प्रादुर्भूत हुआ है। (अज्ञानियों के लिए) यह मुझसे शून्य (रहित) तथा (ज्ञानियों के लिए) अशून्य (सहित) है। मैं ही आनन्दस्वरूपा एवं आनन्दरहिता हूँ। मैं विज्ञानमयी एवं विज्ञान-विहीना हूँ। निश्चय ही मैं जानने योग्य ब्रह्म एवं ब्रह्म से भी परे हूँ। ऐसा ही अथर्ववेद का यह मंत्र है ॥१-२॥

अहं पञ्च भूतान्यपञ्चभूतानि। अहमखिलं जगत् वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्चाहम् ॥ ३ ॥ अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणावुभौ बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ ॥ ४ ॥अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधाम्यहम्। विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि ॥५ ॥ अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३यजमानाय सुन्वते। अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनामहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् ॥६ ॥

मैं ही पञ्चीकृत (पाँच तत्त्वों का सम्मिलित रूप) और अपञ्चीकृत (पाँच तत्त्वों का स्वतंत्र रूप) महाभूत भी हूँ। दृष्टिगोचर होने वाला सम्पूर्ण विश्व भी मैं ही हूँ। वेद (ज्ञान) एवं अवेद (अज्ञान) भी मैं हूँ। विद्या और अविद्या भी मैं ही हूँ। अजा (प्रकृति) और अनजा (प्रकृति से भिन्न) भी मैं ही हूँ। ऊर्ध्व एवं अधः और अगल-बगल भी मैं ही हूँ। मैं रुद्रों एवं वसुओं के रूप में सर्वत्र सञ्चरणशील हूँ। मैं आदित्यों एवं विश्वेदेवों के रूप में सर्वत्र विचरण किया करती हूँ। मैं ही मित्र तथा वरुण का, इन्द्र एवं अग्नि का तथा दोनों अश्विनीकुमारों का सदैव पालन-पोषण किया करती हूँ। मैं ही सोम, पूषा, त्वष्टा एवं भग को भी धारण करती हूँ। मैं ही त्रिलोकी को आक्रान्त करने के लक्ष्य-प्राप्ति हेतु विस्तीर्ण पादक्षेप करने वाले भगवान् विष्णु, ब्रह्मदेव एवं प्रजापति को भी धारण करती हूँ। मैं ही देवताओं को हवि पहुँचाने तथा सावधानी पूर्वक सोमाभिषव करने वाले यजमान के निमित्त हविर्द्रव्यों से सम्पन्न धन को धारण करती हूँ। मैं ही सम्पूर्ण विश्व की अधीश्वरी, उपासकों के लिए धन-प्रदान करने वाली, ज्ञानवती और यजन करने योग्य देवों में प्रमुख हूँ। मैं ही इस विश्व के पितास्वरूप सर्वाधिष्ठानरूप परमात्मा को प्रकट करती हूँ ॥ ३-६ ॥

मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे। य एवं वेद स देवीपदमाप्नोति ॥ ७ ॥ ते देवा अब्रुवन्। नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः। नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम् ॥ ८ ॥

सभी प्राणियों के हृदय कमल (अन्त: समुद्र) और अप्तत्त्व (सृष्टि के मूल घटक पंचभूतादि) में मेरा निवास स्थान निहित है। जो मनुष्य ऐसा जानता है, वह देवी पद (देवी की विभूतियों) को प्राप्त करता है। इसके पश्चात् देवों ने पुन: निवेदन किया-हे महादेवि! आपको नमस्कार है। महान् प्रख्यात पुरुषों को भी स्वकर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ करने वाली कल्याणमयी महादेवी को सादर नमन-वन्दन है। प्रकृति-स्वरूपा एवं भद्रा अर्थात् कल्याणमयी देवी को प्रणाम है। हम उन महान् देवी को नियमपूर्वक प्रणाम करते हैं॥ ७-८॥

तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम्। दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये सुतरां नाशयते तमः॥ ९॥ देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु॥ १०॥

उन अग्नि के सदृश वर्ण वाली, तप से प्रकाशित, दीप्तिमती एवं कर्मफल के प्राप्ति हेतु हम माँ भगवती दुर्गा देवी की शरण प्राप्त करते हैं। (हे देवि!) आप मेरे अज्ञानान्धकार को पूर्णतया नष्ट करें। प्राण रूपी देवताओं ने जिस प्रकाशमती 'वैखरी' वाणी को प्रकट किया, उस विविध रूपों वाली 'वैखरी' वाणी को सभी प्राणी बोलते हैं। कामधेनु के समान आनन्दमयी एवं अन्न और बल प्रदान करने वाली वाणी स्वरूपिणी माँ भगवती श्रेष्ठ एवं महान् स्तुतियों से प्रसन्न होकर हमारे समक्ष पधारें॥ ९-१०॥

कालरात्रिं ब्रह्मस्तुतां वैष्णवीं स्कन्दमातरम्। सरस्वतीमदितिं दक्षदुहितरं नमामः पावनां शिवाम्॥ ११॥ महालक्ष्मीश्च विद्महे सर्वसिद्धिश्च धीमहि। तन्नो देवी प्रचोदयात्॥ १२॥

कालरात्रि (सदृश), वेदों द्वारा स्तुत, वैष्णवी शक्ति, स्कन्दमाता, सरस्वती, देवों की माता अदिति और दक्ष कन्या आदि रूपों में पापों को विनष्ट करने वाली एवं कल्याणमयी भगवती को हम नमस्कार करते हैं। हम माता महालक्ष्मी को जानते हुए सतत उन सर्वसिद्धिदात्री देवी को हृदय में धारण करते हैं, वे देवी हमें (सद्ज्ञान एवं सच्चिन्तन की ओर) प्रेरित करें॥ ११-१२॥

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव। तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः॥ १३॥ कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः। पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्योम्॥ १४॥

हे दक्ष! जो आपकी कन्या अदिति हैं,वे प्रसूता होने के पश्चात् स्तुत्य हैं एवं उन्होंने कल्याणकारी अमृतत्व गुणों से युक्त देवों को प्रादुर्भूत किया है। (आदिमूल विद्या इस प्रकार है-) यह काम,योनि,वज्रपाणि, कामकला-गुहा,वर्ण (ह और स),वायु,अभ्र,इन्द्र,पुन: गुहा,वर्ण(स,क,ल)और माया आदि से विशिष्ट-रूपा(बहुसुखदात्री या सर्वत्र गमनशीला या ऐश्वर्यरूपा) ब्रह्मस्वरूपिणी एवं 'आदि' मूल विद्या (प्रवर्धमान हुई) है॥ १३-१४॥

[यहाँ आदिविद्या के बीज मन्त्रों का संकेत किया गया है। काम से 'क', योनि से 'ए', कामकला से 'ई', वज्रपाणि से 'ल', गुहा से 'ह्रीं', हस से 'ह' - 'स', मातरिश्वा से 'क', अभ्र से 'ह', इन्द्र से 'ल', पुनर्गुहा से 'ह्रीं', सकल से 'स'-'क'-'ल', माया से 'ह्रीं' का संकेत तन्त्र ग्रन्थों में प्राप्त होता है।]

एषात्मशक्तिः। एषा विश्वमोहिनी पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरा। एषा श्रीमहाविद्या॥ १५॥ य एवं वेद स शोकं तरति॥ १६॥ नमस्ते अस्तु भगवति भवती मातरस्मान्पातु सर्वतः॥ १७॥

ये जगन्माता विश्व को सम्मोहित करने वाली परमात्मशक्ति हैं। ये पाश,अंकुश, बाण एवं धनुष को धारण करती हैं तथा यही श्रीमहाविद्या के नाम से जानी जाती हैं। जो मनुष्य इस प्रकार से इन्हें जानता है,वह शोक से मुक्त हो जाता है। हे भगवती! आपको प्रणाम है। हे माता! आप हमारी पूरी तरह से रक्षा करें॥१५-१७॥

सैषाऽष्टौ वसवः। सैषैकादश रुद्राः। सैषा द्वादशादित्याः। सैषा विश्वेदेवाः सोमपा असोमपाश्च। सैषा यातुधाना असुरा रक्षांसि पिशाचा यक्षाः सिद्धाः। सैषा सत्त्वरजस्तमांसि। सैषाब्रह्म-

विष्णुरुद्ररूपिणी। सैषा प्रजापतीन्द्रमनवः। सैषा ग्रहा नक्षत्रज्योतींषि कलाकाष्ठादिकालरूपिणी। तामहं प्रणौमि नित्यम्॥ १८॥ तापापहारिणीं देवीं भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम्। अनन्तां विजयां शुद्धां शरण्यां शिवदां शिवाम्॥ १९॥

(इसके पश्चात् आगे ऋषि जगन्माता भगवती के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि) वही जगदम्बा आठ वसुओं के रूप में हैं, एकादश रुद्र एवं द्वादश आदित्य भी वही हैं। सोम को ग्रहण करने वाले और ग्रहण न करने वाले जितने भी विश्वेदेव हैं, वे सभी जगन्माता के रूप में स्थित हैं। वे ही (जगन्माता) यातुधान (एक तरह के असुर), राक्षस, असुर, पिशाच, यक्ष एवं सिद्ध आदि भी हैं। वे ही ये सत, रज, तम आदि तीनों गुण हैं। वे ही ये ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्रस्वरूपा हैं। वे ही ये प्रजापति, इन्द्र और मनु भी हैं। वे ही ग्रह, नक्षत्र एवं समस्त तारागण हैं तथा वे ही कला-काष्ठादि से युक्त कालस्वरूपिणी हैं। ताप (मनस्ताप) का शमन करने वाली, भोग एवं मोक्ष को प्रदान करने वाली, अनन्त गुणों वाली विजय की अधिष्ठात्री, दोष-विहीन, शरण प्राप्ति के योग्य, कल्याणदायिनी एवं मंगलमयी उन भगवती देवी को हम सर्वदा नमस्कार करते हैं॥ १८-१९॥

वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम्। अर्धेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम् ॥ २०॥ एवमेकाक्षरं मंत्रं यतयः शुद्धचेतसः । ध्यायन्ति परमानन्दमया ज्ञानाम्बुराशयः ॥ २१॥

वियत् अर्थात् आकाश एवं 'ई' कार से संयुक्त, वीतिहोत्र अर्थात् अग्नि के सहित, अर्द्धचन्द्र (ँ) से सुशोभित जो देवी का बीज (मन्त्र ह्रीं) शब्द है, वह समस्त इच्छा-आकांक्षाओं को पूर्ण करने में सक्षम है। इस एकाक्षर स्वरूप ब्रह्म का (संयमशील) साधुजन, जो शुद्धचित्त वाले हैं, परमानन्द से युक्त हैं तथा अगाध ज्ञान के सागर हैं, निरन्तर ध्यान करते हैं॥ २०-२१॥

वाङ्माया ब्रह्मभूस्तस्मात्षष्ठं वक्त्रसमन्वितम्। सूर्योऽवामश्रोत्रबिन्दुःसंयुक्ताष्टात्तृतीयकः ॥२२॥ नारायणेन संयुक्तो वायुश्चाधरसंयुतः। विच्चे नवार्णकोऽर्णः स्यान्महदानन्ददायकः॥ २३॥

वाक्शक्ति (ऐं), माया (ह्रीं), ब्रह्मभू-काम (क्लीं), वक्त्र अर्थात् आकार युक्त छठा व्यञ्जन (चा), सूर्य (म), अवामश्रोत्र-दक्षिण कर्ण (उ) एवं बिन्दु अर्थात् अनुस्वार सहित (मुं), नारायण अर्थात् 'आ' से युक्त 'ट' कार से तृतीय वर्ण (डा), वायु (य) वही अधर अर्थात् 'ऐ' से युक्त (यै) और 'विच्चे'- यह नवार्ण मन्त्र साधकों को आनन्द एवं ब्रह्मसायुज्य पद प्रदान करने वाला है॥ २२-२३॥

[उपर्युक्त मन्त्रों में जिस नवार्ण मन्त्र का संकेत है, उसका स्पष्ट स्वरूप है-'ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे।' इसका अर्थ इस प्रकार है- हे चिद्रूपिणी महासरस्वती! हे सत् स्वरूपिणी महालक्ष्मी! हे आनन्द स्वरूपिणी महाकाली! ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हेतु हम सदैव आपका ध्यान करते हैं, आपको प्रणाम करते हैं। अज्ञानरूपी रज्जु की सुदृढ़ गाँठ को खोलकर आप हमें मुक्ति प्रदान करें।]

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थां प्रातःसूर्यसमप्रभाम्। पाशाङ्कुशधरां सौम्यां वरदाभयहस्तकाम्। त्रिनेत्रां रक्तवसनां भक्तकामदुघां भजे॥ २४॥ नमामि त्वामहं देवीं महाभयविनाशिनीम्। महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम्॥ २५॥

जो(देवी)हृदय-कमल के मध्य में विराजमान रहती हैं, जो प्रातःकाल के सूर्य की भाँति प्रभावाली,पाश एवं अंकुश धारण करने वाली,सौम्यरूपा,वर एवं अभय मुद्राओं से युक्त हाथ वाली,तीन नेत्रों से युक्त,लाल परिधान वाली तथा भक्तों की मनोकामना पूर्ण करने वाली हैं। हे देवि! आप महान् भय का विनाश करने वाली,महासंकट को शान्त करने में समर्थ एवं महान् करुणामयी हैं, मैं आपकी वन्दना करता हूँ॥ २४-२५॥

यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यतेऽज्ञेया। यस्या अन्तो न विद्यते तस्मादुच्यतेऽनन्ता। यस्या ग्रहणं नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽलक्ष्या। यस्या जननं नोपलभ्यते

तस्मादुच्यतेऽजा। एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यत एका। एकैव विश्वरूपिणी तस्मादुच्यते नैका। अत एवोच्यतेऽज्ञेयाऽनन्ताऽलक्ष्याऽजैका नैकेति॥ २६॥

जिन (देवी) के स्वरूप को ब्रह्मा आदि भी नहीं जानते, इस कारण उन्हें 'अज्ञेया' कहा गया है। जिनका अन्त नहीं होता, अत: वे अनन्ता (अन्तरहित) हैं। जिनका स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता, इस कारण उन्हें अलक्ष्या कहते हैं। जिनके जन्म का अता-पता नहीं, इसलिए उन्हें 'अजा' कहा जाता है। जो एकाकी ही सर्वत्र विद्यमान रहती हैं, इस कारण उन्हें 'एका' कहते हैं। जो अकेले ही विश्वरूप में विद्यमान हैं, इसलिए उन्हें 'नैका' कहा गया है। अत: वे इन्हीं कारणों से अज्ञेया, अनन्ता, अजा, एका और नैका के नाम से जानी जाती हैं॥ २६॥

मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी। ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसा-क्षिणी॥ २७॥ यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता। तां दुर्गां दुर्गमां देवीं दुराचारविघातिनीम्। नमामि भवभीतोऽहं संसारार्णवतारिणीम्॥ २८॥

वे (देवी) समस्त मंत्रों में 'मातृका' अर्थात् मूलाक्षर में प्रतिष्ठित हैं और शब्दों में ज्ञान रूप से स्थित हैं। ज्ञान में 'चिन्मयातीता' रूप में और शून्यों में 'शून्यसाक्षिणी' के रूप में रहती हैं। जिनके अतिरिक्त और कुछ भी श्रेष्ठतम नहीं है, ऐसी वे दुर्गादेवी के नाम से प्रख्यात हैं। उन दुराचार का शमन करने वाली, दुर्विज्ञेया एवं भव-सागर से पार उतारने वाली दुर्गादेवी को जगत् से भयभीत हुआ मैं प्रणाम करता हूँ॥२७-२८॥

इदमथर्वशीर्षं योऽधीते स पञ्चाथर्वशीर्षजपफलमवाप्नोति। इदमथर्वशीर्षं ज्ञात्वा योऽर्चां स्थापयति॥ २९॥ शतलक्षं प्रजप्त्वापि नार्चासिद्धिं च विन्दति। शतमष्टोत्तरं चास्याः पुरश्चर्याविधिः स्मृतः॥ ३०॥ दशवारं पठेद्यस्तु सद्यः पापैः प्रमुच्यते। महादुर्गाणि तरति महादेव्याः प्रसादतः॥

इस अथर्वशीर्ष के मन्त्रों का जो मनुष्य पाठ करता है, वह पाँचों अथर्वशीर्षों के जप करने का फल-प्राप्त कर लेता है। इस अथर्वशीर्ष को न जानकर जो मनुष्य अर्चा (प्रतिमा को) स्थापित करता है, वह सैकड़ों-लाखों जप करके भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता है। (वैसे) १०८ बार जप करना ही इस पुरश्चरण की विधि कही गई है। जो पुरुष इस उपनिषद् का दस बार भी पाठ कर लेता है, वह उसी क्षण अपने दुष्कृतों (पापों) से मुक्त होकर महादेवी की कृपा से महान् से महान् दुष्कर कठिनाइयों-मुसीबतों से पार हो जाता है॥ २९-३१॥

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायं-प्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो भवति। निशीथे तुरीयसंध्यायां जप्त्वा वाक्सिद्धिर्भवति। नूतनप्रतिमायां जप्त्वा देवतासान्निध्यं भवति। प्राणप्रतिष्ठायां जप्त्वा प्राणानां प्रतिष्ठा भवति। भौमाश्विन्यां महादेवीसंनिधौ जप्त्वा महामृत्युं तरति। य एवं वेदेत्युपनिषत्॥ ३२॥

इस (उपनिषद्) का प्रात:कालीन वेला में पाठ करने से रात्रि में किये हुए पापों का और सायंकाल में पाठ करने से दिन में किये गये दुष्कृत्यों का शमन हो जाता है। दोनों संध्याओं में अध्ययन करने से पाप करने वाला भी पापरहित हो जाता है। मध्यकालीन रात्रि में तुरीय संध्या के समय में जप करने से वाणी की सिद्धि मिल जाती है। नवीन प्रतिमा के समक्ष जप करने से देवता का सान्निध्य प्राप्त होता है। अमृतसिद्धि योग (मंगलवार को अश्विनी नक्षत्र) में महादेवी के समीप में जप करने से मनुष्य महामृत्यु से पार हो जाता है। जो इस तरह से इस उपनिषद् को जानता है (वह महामृत्यु से पार हो जाता है), ऐसी ही यह देव्युपनिषद् है॥ ३२॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः॥

॥ इति देव्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ ध्यानबिन्दूपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् के नाम से ही स्पष्ट है कि इसका केन्द्रीय भाव 'ध्यान' है। इस उपनिषद् का शुभारम्भ ही 'ब्रह्म ध्यानयोग' से किया गया है। तत्पश्चात् क्रमशः ब्रह्म की सूक्ष्मता एवं सर्वव्यापकता, प्रणव (ओंकार) का स्वरूप, प्रणव के ध्यान की विधि, प्राणायाम के साथ प्रणव का ध्यान, सविशेष ब्रह्म का ध्यान, हृदय में ध्यान एवं उसका प्रतिफल, षडंगयोग, आसन चतुष्टय (सिद्ध, भद्र, सिंह और पद्म), मूलाधार आदि चार चक्र, नाड़ी चक्र, दस प्राण, जीव का प्राण-अपान का वशवर्ती होना, योग के समय प्राण और अपान की एकता, अजपा हंस विद्या, कुण्डलिनी से मोक्ष प्राप्ति, ब्रह्मचर्यादि से कुण्डलिनी जागरण, तीनों बन्ध, खेचरी मुद्रा, खेचरी से वज्रोली सिद्धि, महामुद्रा, हृदय में आत्मानुभव तथा नादानुसन्धान द्वारा आत्मदर्शन आदि विषय वर्णित हैं। साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक साधकों के लिए इस उपनिषद् में बड़ा ही व्यावहारिक मार्गदर्शन उपलब्ध है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्। भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन॥ १॥

यदि पर्वत की तरह (अनेक जन्मों के सञ्चित) अनेक योजन व्यापकत्व लिए पाप समूह हों, तो भी ध्यान योग साधना द्वारा उनको नष्ट किया जाना सम्भव है, अन्य किसी साधन से उनका नाश सम्भव नहीं॥ १॥

बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्। सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥ २॥

बीजाक्षर (ॐकार) से परे बिन्दु स्थित है और उसके ऊपर नाद विद्यमान है, जिसमें मनोहर शब्द-ध्वनि सुनाई पड़ती है। उस नादध्वनि के अक्षर में विलय हो जाने पर जो शब्द विहीन स्थिति होती है, वही 'परमपद' के नाम से जानी गयी है॥ २॥

अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्। तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः॥ ३॥

उस अनाहत शब्द (मेघ गर्जना की तरह प्रकृति का आदि शब्द) का जो परम कारण तत्त्व है, उससे भी परे परम कारण (निर्विशेष ब्रह्म) स्वरूप को जो योगी प्राप्त कर लेता है, उसके सब संशय नष्ट हो जाते हैं॥ ३॥

वालाग्रशतसाहस्रं तस्य भागस्य भागिनः। तस्य भागस्य भागार्धं तत्क्षये तु निरञ्जनम्॥ ४॥

यदि बाल (गेहूँ आदि की बाल) के अग्रभाग अर्थात् नोक के एक लाख हिस्से किये जाएँ, (तो उसका एक सूक्ष्म भाग जीव कहलाएगा), उसके पुनः उतने भाग अर्थात् एक लाख भाग किये जाएँ (इन सूक्ष्मतर भागों को ईश्वर कहा जायेगा)। तत्पश्चात् उस (एक लाखवें) हिस्से के भी पचास हजार हिस्से किये जाने पर जो शेष रहे, उसके भी (साक्ष्य-साक्षी आदि विशेषण के भी) क्षय हो जाने पर जो सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म शेष रहे, वह उस निरञ्जन (विशुद्ध) ब्रह्म की सत्ता है॥ ४॥

पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम्। तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम्॥ ५॥

एवं सर्वाणि भूतानि मणौ सूत्र इवात्मनि। स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥ ६॥

जिस प्रकार पुष्प में गन्ध, दूध में घृत, तिल में तेल तथा सोने की खान के पाषाणों में सोना प्रत्यक्ष रूप से न दिखने पर भी अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व सभी प्राणियों में निहित है। स्थिर बुद्धि से सम्पन्न मोहरहित ब्रह्मवेत्ता मणियों में पिरोये गये सूत्र की तरह आत्मा के व्यापकत्व को जानकर उसी ब्रह्म में स्थित रहते हैं॥ ५-६॥

तिलानां तु यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवाश्रितः। पुरुषस्य शरीरे तु स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः॥ ७॥

जिस प्रकार तिलों में तेल और पुष्पों में गन्ध आश्रित है, उसी प्रकार पुरुष के शरीर के भीतर और बाहर आत्मतत्त्व विद्यमान है॥ ७॥

वृक्षं तु सकलं विद्याच्छाया तस्यैव निष्कला। सकले निष्कले भावे सर्वत्रात्मा व्यवस्थितः॥८॥

जिस प्रकार वृक्ष अपनी सम्पूर्ण कला के साथ स्थित रहता है और उसकी छाया कलाहीन (निष्कल) होकर रहती है। उसी प्रकार आत्मा कलात्मक स्वरूप और निष्कल (छाया स्थानीय मायारूप) भाव से सभी जगह विद्यमान है॥ ८॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वमुमुक्षुभिः। पृथिव्यग्निश्च ऋग्वेदो भूरित्येव पितामहः॥ ९॥
अकारे तु लयं प्राप्ते प्रथमे प्रणवांशके। अन्तरिक्षं यजुर्वायुर्भुवो विष्णुर्जनार्दनः॥ १०॥
उकारे तु लयं प्राप्ते द्वितीये प्रणवांशके। द्यौः सूर्यः सामवेदश्च स्वरित्येव महेश्वरः॥ ११॥
मकारे तु लयं प्राप्ते तृतीये प्रणवांशके। अकारः पीतवर्णः स्याद्रजोगुण उदीरितः॥ १२॥
उकारः सात्त्विकः शुक्लो मकारः कृष्णतामसः। अष्टाङ्गं च चतुष्पादं त्रिस्थानं पञ्चदैवतम्॥१३॥

ॐ कार रूपी एकाक्षर ब्रह्म ही सभी मुमुक्षुओं का लक्ष्य रहा है। प्रणव के पहले अंश 'अकार' में पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, भूः तथा पितामह ब्रह्मा का लय होता है। दूसरे अंश 'उकार' में अन्तरिक्ष, यजुर्वेद, वायु, भुवः तथा जनार्दन विष्णु का लय होता है। तृतीय अंश 'मकार' में द्यौ, सूर्य, सामवेद, स्वः तथा महेश्वर का लय होता है। 'अकार' पीतवर्ण और रजोगुण से युक्त है, 'उकार' श्वेत वर्ण और सात्त्विक गुण वाला तथा 'मकार' कृष्णवर्ण एवं तमोगुण से युक्त है। इस प्रकार ॐकार आठ अङ्ग, चार पैर, तीन नेत्र और पाँच दैवत से युक्त है॥ ९-१३॥

[यहाँ ॐ कार के 'आठ अंग' का अभिप्राय- अकार, उकार, मकार, नाद, बिन्दु, कला, कलातीत तथा उससे भी परे से है। 'चतुष्पाद' का अभिप्राय- व्यष्टिपरक-विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय तथा समष्टिपरक- विराट्, सूत्र, बीज और तुर्य से है। 'त्रिस्थान' का तात्पर्य-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; स्थूल, सूक्ष्म, कारणशरीर; सत, रज, तम गुण; ज्ञान, इच्छा, क्रिया शक्ति अथवा भूत, वर्तमान, भविष्यत् काल से है। पंचदेवता का अभिप्राय-ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव से है।]

ओंकारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः। प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते॥१४॥
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। निवर्तन्ते क्रियाः सर्वास्तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ १५॥

जो व्यक्ति ॐकार (प्रणव) से अनभिज्ञ है, उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। प्रणव को धनुष, आत्मा को बाण और ब्रह्म को ही लक्ष्य कहा जाता है। बिना प्रमाद किये तन्मयतापूर्वक बाण से लक्ष्य का वेधन करना चाहिए। (इसके परिणाम स्वरूप) परावर अर्थात् ब्रह्म के सायुज्यत्व को प्राप्त कर लेने पर सभी क्रियाओं से निवृत्ति (मोक्ष की प्राप्ति) होती है॥१४-१५॥

ओंकारप्रभवा देवा ओंकारप्रभवाः स्वराः। ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥ १६॥

ॐ कार से देवों की उत्पत्ति, ॐकार से स्वर की उत्पत्ति और ॐ कार से ही त्रिलोक के सभी स्थावर-जंगम की उत्पत्ति हुई है॥ १६॥

ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः संपत्प्रदोऽव्ययः। अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः ॥ १७ ॥

ॐ का ह्रस्व अंश पापों का दहन करता है, दीर्घ अंश अमृतत्वरूप अक्षय सम्पदा को प्रदान करता है तथा अर्द्धमात्रा से युक्त प्रणव मोक्षदायक है ॥ १७ ॥

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्। अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित्॥ १८ ॥

तेल की अजस्र धारा की तरह, घण्टा के लम्बे निनाद के समान प्रणव के आगे ध्वनिरहित शब्द होता है, उसका ज्ञाता ही वेदवेत्ता है ॥ १८ ॥

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम् । अङ्गुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम्॥ १९ ॥

हृदयकमल की कर्णिका के मध्य स्थिर ज्योतिशिखा के समान अंगुष्ठमात्र आकार के नित्य ॐकार रूप परमात्मा का ध्यान करे॥ १९ ॥

इडया वायुमापूर्य पूरयित्वोदरस्थितम्। ओंकारं देहमध्यस्थं ध्यायेज्ज्वालावलीवृतम्॥ २० ॥

ब्रह्मा पूरक इत्युक्तो विष्णुः कुम्भक उच्यते। रेचो रुद्र इति प्रोक्तः प्राणायामस्य देवताः ॥२१ ॥

इड़ा (बायीं नासिका) से वायु को भरकर उदर में स्थापित करे और देह के बीच में ज्योतिर्मय ॐ कार का ध्यान करे। पूरक, कुम्भक और रेचक को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र कहा गया है, ये प्राणायाम के देवता कहलाते हैं ॥ २०-२१ ॥

[यहाँ यह ध्यातव्य है कि आगे चलकर २९ से ३१ मन्त्र में पूरक के समय 'विष्णु', कुम्भक के समय 'ब्रह्मा' एवं रेचक के समय 'शिव' का ध्यान करना लिखा है। यही पुरातन परम्परा भी है, परन्तु इस मन्त्र में पूरक को 'ब्रह्मा' और कुम्भक को 'विष्णु' कहा जाना परम्परा से हटकर है, जो विचारणीय है।]

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥ २२ ॥

अन्तःकरण और प्रणवाक्षर को नीचे और ऊपर की अरणिरूप बनाकर मंथनरूप ध्यान के अभ्यास से अग्नि की भाँति व्याप्त गूढ़तत्त्व (परमात्मा) का साक्षात्कार करे॥ २२ ॥

ओंकारध्वनिनादेन वायोः संहरणान्तिकम्। यावद्बलं समादध्यात्सम्यङ्नादलयावधि ॥ २३ ॥

प्रणव ध्वनि का, नाद सहित रेचक वायु के विलय हो जाने तक अपनी सामर्थ्यानुसार (तब तक) ध्यान करे, जब तक नाद का भली प्रकार लय नहीं हो जाता॥ २३ ॥

गमागमस्थं गमनादिशून्यमोंकारमेकं रविकोटिदीप्तम्।
पश्यन्ति ये सर्वजनान्तरस्थं हंसात्मकं ते विरजा भवन्ति॥ २४ ॥

गमन और आगमन में विद्यमान तथा गमनादि से रहित, करोड़ों सूर्यों की प्रभा के समान सभी मनुष्यों के अन्तःकरण में विराजमान हंसात्मक प्रणव का जो दर्शन करते हैं, वे कृतकृत्य हो जाते हैं ॥ २४ ॥

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत्। तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ २५ ॥

अष्टपत्रं तु हृत्पद्मं द्वात्रिंशत्केसरान्वितम्। तस्य मध्ये स्थितो भानुर्भानुमध्यगतः शशी॥ २६ ॥

जो मन त्रिगुणमय संसार के सृजन, पालन और संहार का कारण है, उसके विलय हो जाने पर विष्णु के परमपद की प्राप्ति होती है। अष्टदल और बत्तीस पंखुड़ियों से युक्त जो हृदयकमल है, उसके बीच सूर्य और सूर्य के बीच चन्द्रमा विद्यमान है॥ २५-२६ ॥

शशिमध्यगतो वह्निर्वह्निमध्यगता प्रभा । प्रभामध्यगतं पीठं नानारत्नप्रवेष्टितम् ॥ २७ ॥

तस्य मध्यगतं देवं वासुदेवं निरञ्जनम्। श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्तामणिविभूषितम्॥ २८ ॥

चन्द्रमा के बीच अग्नि और अग्नि के बीच दीप्ति स्थित है। उसके बीच नानाविध रत्नों से सुसज्जित पीठस्थान है। उस पीठ के बीच निरञ्जन प्रभु वासुदेव विराजमान हैं, जो श्रीवत्स, कौस्तुभमणि एवं मणि-मुक्ताओं से विशेष रूप से सुशोभित हैं॥ २७-२८॥

शुद्धस्फटिकसंकाशं चन्द्रकोटिसमप्रभम्। एवं ध्यायेन्महाविष्णुमेवं वा विनयान्वितः॥ २९॥

शुद्ध स्फटिक के सदृश करोड़ों चन्द्रमा की कान्ति वाले महाविष्णु का विनयान्वित होकर ध्यान करे॥२९

अतसीपुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम्। चतुर्भुजं महाविष्णुं पूरकेण विचिन्तयेत्॥ ३०॥

पूरक द्वारा साँस अन्दर खींचते समय नाभिस्थान में प्रतिष्ठित अतसी पुष्प के समान चतुर्भुज महाविष्णु भगवान् का ध्यान करना चाहिए॥ ३०॥

कुम्भकेन हृदि स्थाने चिन्तयेत्कमलासनम्। ब्रह्माणं रक्तगौराभं चतुर्वक्त्रं पितामहम्॥ ३१॥

कुम्भक द्वारा साँस भीतर रोकने के समय हृदय स्थल में कमल के आसन पर सुशोभित लालिमामय गौर वर्ण वाले चतुर्मुख पितामह ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिए॥ ३१॥

रेचकेन तु विद्यात्मा ललाटस्थं त्रिलोचनम्। शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम्॥३२॥

रेचक से साँस छोड़ते हुए ललाट में शुद्ध स्फटिक के सदृश श्वेत रंग के त्रिनेत्रयुक्त, निष्कल(कलारहित), पाप संहारक भगवान् शिव का ध्यान करना चाहिए॥ ३२॥

अब्जपत्रमधः पुष्पमूर्ध्वनालमधोमुखम्। कदलीपुष्पसंकाशं सर्ववेदमयं शिवम्॥ ३३॥

नीचे की ओर पुष्पित हुआ, ऊपर की ओर नाल वाला तथा अधोभाग की ओर मुख किये हुए कदली पुष्प की तरह हृदयकमल में सभी वेदों के आधारभूत भगवान् शिव अवस्थित हैं॥ ३३॥

शतारं शतपत्राढ्यं विकीर्णाम्बुजकर्णिकम्। तत्रार्कचन्द्रवह्नीनामुपर्युपरि चिन्तयेत्॥ ३४॥

सौ अरे वाले, सौ पत्ते वाले और विकसित पंखुड़ियों से युक्त हृदय पद्म में सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का एक के बाद दूसरे का क्रमशः ध्यान करना चाहिए॥ ३४॥

पद्मस्योद्घाटनं कृत्वा बोधचन्द्राग्निसूर्यकम्। तस्य हृद्बीजमाहृत्य आत्मानं चरते ध्रुवम्॥३५॥

सूर्य, चन्द्र और अग्नि के बोध हेतु सर्वप्रथम हृदयकमल के विकसित होने का ध्यान करे। तत्पश्चात् हृदय कमल में स्थित बीजाक्षरों को ग्रहण करके ही अचल चेतनावस्था की प्राप्ति होती है॥ ३५॥

त्रिस्थानं च त्रिमार्गं च त्रिब्रह्म च त्रयाक्षरम्। त्रिमात्रमर्धमात्रं वा यस्तं वेद स वेदवित्॥ ३६॥

तीन स्थान, तीन मार्ग, त्रिविध ब्रह्म, त्रयाक्षर, त्रिमात्रा तथा अर्द्धमात्रा में जो परमात्मा स्थित है, उसके ज्ञाता ही वेद के तात्पर्य के ज्ञाता हैं॥ ३६॥

[यहाँ कुछ सांकेतिक शब्द प्रयुक्त हैं, जिनका तात्पर्य इस प्रकार है- त्रिस्थान=अवस्थात्रय-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; त्रिमार्ग=धूम, अर्चि, अगति; ब्रह्मत्रय=विश्व, विराट्, ओतृब्रह्म; त्रयाक्षर=अ, उ, म्; त्रिमात्रा=ह्रस्व,दीर्घ, प्लुत।]

तैलधारामिवाच्छिन्नदीर्घघण्टानिनादवत्। बिन्दुनादकलातीतं यस्तं वेद स वेदवित्॥ ३७॥

दीर्घ घण्टा निनाद के सदृश, तेल की अविच्छिन्न धारा की तरह तथा बिन्दु-नाद और कला से अतीत उस परम तत्त्व (ॐकार) को जो जानता है, वही वेदज्ञ है॥ ३७॥

यथैवोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः। तथैवोत्कर्षयेद्वायुं योगी योगपथे स्थितः॥ ३८॥

जिस प्रकार मनुष्य कमलनाल से जल को धीरे-धीरे खींचते हैं, उसी प्रकार योगी योगस्थ होकर प्राणायाम द्वारा वायु को धीरे-धीरे ऊर्ध्व भूमिका में ले जाए॥ ३८॥

अर्धमात्रात्मकं कृत्वा कोशभूतं तु पङ्कजम्। कर्षयेन्नालमात्रेण भ्रुवोर्मध्ये लयं नयेत्॥ ३९॥

प्रणव की अर्द्धमात्रा (अव्यक्त नाद उच्चारण) को रस्सी बनाकर हृदयकमल रूपी कूप नाल (सुषुम्ना) मार्ग द्वारा जलरूपा कुण्डलिनी को भौंहों के मध्य में लय करे॥ ३९॥

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः। जानीयादमृतं स्थानं तद्ब्रह्मायतनं महत्॥ ४०॥

नासिका के मूल से लेकर भौंहों के बीच में जो ललाट स्थान है, वहाँ तक अमृत स्थान जानना चाहिए, वही ब्रह्म का महान् निवास स्थान है॥ ४०॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥ ४१॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-ये छः योग के अङ्ग कहे गये हैं॥ ४१॥

आसनानि च तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः। एतेषामतुलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः॥ ४२॥

विश्व में जितनी जीव प्रजातियाँ हैं, उतनी ही आसनों की विधियाँ भी बतायी गई हैं, इस प्रकार के असंख्य भेदों के ज्ञाता भगवान् शंकर हैं॥ ४२॥

सिद्धं भद्रं तथा सिंहं पद्मं चेति चतुष्टयम्। आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्॥ ४३॥

सिद्ध, भद्र, सिंह और पद्म ये चार प्रमुख आसन हैं, पहला चक्र आधार (मूलाधार) और दूसरा स्वाधिष्ठान है॥ ४३॥

योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते। आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम्॥४४॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिःकामाख्या सिद्धवन्दिता। योनिमध्ये स्थितं लिङ्गं पश्चिमाभिमुखं तथा॥४५

इन दोनों के बीच में कामरूप प्रजनन स्थान है। गुदा स्थान के आधारचक्र में चतुर्दल कमल विद्यमान है। उसके बीच काम नाम से प्रख्यात प्रजनन-योनि (कुण्डलिनी शक्ति) है, जिसकी अभ्यर्थना सिद्धजन करते हैं। प्रजनन योनि के बीच पश्चिम की ओर पुरुष जननेन्द्रिय लिङ्ग है॥ ४४-४५॥

मस्तके मणिवद्भिन्नं यो जानाति स योगवित्। तप्तचामीकराकारं तडिल्लेखेव विस्फुरत्॥४६॥
चतुरस्रमुपर्यग्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम्। स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम्॥ ४७॥

मस्तक में मणि की तरह जो प्रकाश है,उसे जो जानता है वह योगवेत्ता है। तपे हुए सोने के समान वर्णवाला और तडित् की धारा की तरह विशेष प्रकाशित, अग्निमण्डल से चार अंगुल ऊपर और मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) से नीचे स्वसंज्ञक प्राण विद्यमान है, उसके आश्रय में स्वाधिष्ठान है॥ ४६-४७॥

स्वाधिष्ठानं ततश्चक्रं मेढ्रमेव निगद्यते। मणिवत्तन्तुना यत्र वायुना पूरितं वपुः॥ ४८॥
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्। द्वादशारमहाचक्रे पुण्यपापनियन्त्रितः॥ ४९॥

उसके बाद स्थित स्वाधिष्ठान चक्र को मेढ्र ही कहा जाता है। जहाँ मणि के प्रकाश की तरह वायु से पूर्ण शरीर है। नाभिमण्डल में स्थित चक्र को मणिपूरक कहा गया है। वहाँ बारह दल से युक्त महाचक्र में पुण्य और पाप का नियन्त्रण रहता है॥४८-४९॥

तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति। ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति खगाण्डवत्॥५०
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः। तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः॥ ५१॥

इस तत्त्वज्ञान को न समझ पाने तक जीवात्मा को भ्रमजाल में ही फँसे रहना पड़ता है। मेढ्र स्थान से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे की तरह कन्द का स्थान है। उसी स्थान से बहत्तर हजार नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं,उन हजारों नाड़ियों में बहत्तर नाड़ियाँ प्रमुख हैं॥ ५०-५१॥

प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः । इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ॥ ५२ ॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी । अलम्बुसा कुहूरत्र शङ्खिनी दशमी स्मृता ॥ ५३ ॥

इनमें से दस प्रमुख नाड़ियाँ प्राण का संचार करने वाली हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं- इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू तथा शंखिनी ॥ ५२-५३ ॥

एवं नाडीमयं चक्रं विज्ञेयं योगिना सदा। सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥ ५४ ॥
इडापिङ्गलासुषुम्नास्तिस्त्रो नाड्यः प्रकीर्तिताः । इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ॥५५
सुषुम्ना मध्यदेशे तु प्राणमार्गास्त्रयः स्मृताः । प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानस्तथैव च ॥ ५६
नागः कूर्मः कृकरको देवदत्तो धनंजयः । प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ॥५७ ॥

इस नाड़ी चक्र की जानकारी योग-साधकों को होना आवश्यक है। सतत प्राण का संचार करने वाली इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियाँ सूर्य, चन्द्र और अग्नि देवों से युक्त हैं। इड़ा नाड़ी बायीं ओर, पिङ्गला दाहिनी ओर तथा सुषुम्ना इन दोनों के बीच विद्यमान है, ये तीनों नाड़ियाँ प्राण के संचरण-मार्ग-रूपा हैं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर,देवदत्त और धनञ्जय ये दस प्राण हैं, प्राणादि पाँच प्राण प्रख्यात हैं तथा नागादि पाँच उपप्राण कहे गये हैं ॥ ५४-५७ ॥

एते नाडीसहस्त्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः । प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं प्रधावति ॥ ५८ ॥

इन हजारों नाड़ियों में प्राण जीवरूप से वास करते हैं। प्राण और अपान के वशीभूत होकर जीव ऊपर-नीचे आवागमन करता रहता है ॥ ५८ ॥

वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते। आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ॥ ५९ ॥
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तद्वज्जीवो न विश्रमेत्। अपानात्कर्षति प्राणोऽपानः प्राणाच्च कर्षति ॥६० ॥
खगरज्जुवदित्येतद्यो जानाति स योगवित्। हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥ ६१ ॥
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा। शतानि षड् दिवारात्रं सहस्त्राण्येकविंशतिः ॥ ६२ ॥
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा। अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥६३ ॥

प्राण कभी दायें तो कभी बायें मार्ग से गमन करता है, परन्तु चञ्चल प्रकृति का होने से देखने में नहीं आता। हाथों से फेंकी हुई गेंद जैसे इधर-उधर दौड़ती है, उसी प्रकार प्राण और अपान द्वारा भली प्रकार फेंकने से जीव को कभी आराम नहीं मिल पाता। अपान और प्राण की एक दूसरे को खींचने की प्रक्रिया उसी प्रकार की है, जैसे रस्सी में आबद्ध पक्षी अपनी ओर खींच लिया जाता है। इस तत्त्व के ज्ञाता को ही योगी कहा जा सकता है। 'ह' कार ध्वनि से प्राण बाहर जाता है और 'स' कार से पुनः अन्दर प्रवेश करता है। 'हंस' 'हंस' इस प्रकार का 'मन्त्र जप' जीव हमेशा जपता रहता है। इस अजपा-जप की संख्या दिन-रात में इक्कीस हजार छः सौ होती है। इतनी संख्या में मन्त्र जीव हमेशा जपता है। जो योगियों के लिए मोक्ष प्रदान करने वाली है, यही अजपा गायत्री कहलाती है ॥ ५९-६३ ॥

अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ॥६४ ॥
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति।
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥ ६५ ॥

इस (अजपा गायत्री) के संकल्प मात्र से व्यक्ति पापकर्मों से मुक्त हो जाता है। जिस मार्ग से योग साधक सुगमता से ब्रह्मपद को प्राप्त करता है। जिसके सदृश न कोई विद्या है, न जप है और न ही कोई पुण्य, जो पहले न कभी हुआ है और न आगे कभी हो सकेगा॥ ६४-६५॥

मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी। प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह॥ ६६॥
सूचिवद्गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया। उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्॥ ६७॥
कुण्डलिन्या तया योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥ ६८॥

वह्नियोग द्वारा जाग्रत् होने वाली परमेश्वरी (कुण्डलिनी) उस द्वार-पथ को अपने मुँह से आच्छादित करके प्रसुप्त स्थिति में है। वह जाग्रत् किये जाने पर सुषुम्ना मार्ग से मन और प्राण वायु के साथ ऊर्ध्वगमन करती है, जैसे सुई धागे को साथ ले जाती है। योगी मुक्ति द्वार को कुण्डलिनी शक्ति द्वारा उसी प्रकार उद्घाटित करते हैं, जैसे ताली से प्रयासपूर्वक दरवाजे को खोल लिया जाता है॥ ६६-६८॥

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वाथ पद्मासनं गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेतसि।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयन्पूरितं मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः॥ ६९॥

सुदृढ़ रूप में पद्मासन लगाकर, दोनों हाथों को सम्पुटित करके ठोड़ी से वक्षभाग (कण्ठकूप) को दृढ़तापूर्वक दबाकर, चित्त में स्वरूप का ध्यान करते हुए बार-बार अपान वायु को ऊपर की ओर चलायमान करता हुआ और अन्दर खींची हुई प्राण वायु को नीचे छोड़ता हुआ योग साधक अतुलित कुण्डलिनी शक्ति के सामर्थ्य बोध. को प्राप्त करता है॥ ६९॥

पद्मासनस्थितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयन्। मारुतं कुम्भयन्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः॥ ७०॥

जो योगसाधक पद्मासन में बैठकर नाड़ीद्वार से प्राणवायु को खींचकर, कुम्भक द्वारा उसे रोकता है। वह सुनिश्चित रूप से मोक्ष को प्राप्त करता है, इसमें संदेह की गुंजायश नहीं॥ ७०॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमजातेन वारिणा। कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी॥ ७१॥
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः। अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा॥ ७२॥

(प्राणायाम के) परिश्रम द्वारा जो स्वेदकण निकले, उन्हें अङ्गों में ही मल ले। कटु, अम्ल और नमक का परित्याग करके दुग्ध का सेवन करने वाला सुखी रहता है। इस प्रकार योगस्थ होकर अल्प आहार करने वाला ब्रह्मचारी योगी एक साल के अन्तराल में ही सिद्धि को प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं॥ ७१-७२॥

कन्दोर्ध्वकुण्डली शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः॥७३॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्॥७४॥
अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते।
उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः॥ ७५॥
उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्॥ ७६॥

कन्द के ऊपरी भाग में स्थित कुण्डलिनी शक्ति से योग साधक सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। सतत मूलबन्ध का अभ्यास करने से अपान और प्राण में एकीकरण होता है, मल-मूत्र के क्षीण हो जाने पर बूढ़ा व्यक्ति भी जवान हो जाता है। एड़ी भाग से योनिस्थान को दबाकर मलद्वार को संकुचित करे और अपान वायु को ऊर्ध्व की ओर खींचे, इस क्रिया को मूलबन्ध कहा गया है। उड्डियानबन्ध की विधि में कहा गया है कि जिस प्रकार बिना थका महापक्षी उड़ने की क्रिया करता है, उसी प्रकार पेट की पश्चिम 'ताण' क्रिया (पेट को पीछे की ओर सिकोड़ने) के साथ नाभि को ऊपर की ओर खींचना चाहिए॥ ७३-७६॥

उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी। बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम्॥ ७७॥
ततो जालन्धरो बन्धः कर्मदुःखौघनाशनः। जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे॥ ७८॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति। कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा॥ ७९॥
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी। न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा॥ ८०॥

यह उड्डियान बन्ध मृत्यु के निमित्त उसी तरह है, जैसे गजराज के लिए सिंह निमित्त बनता है। जिसमें शिरोनभ (आकाश) से उत्पादित जल को नीचे आने की अपेक्षा ऊपर ही अवरुद्ध कर लिया जाता है, उसे जालन्धर बन्ध कहा गया है। इससे कर्मबन्धन और पापजन्य दुःखों का नाश होता है। जालन्धर बन्ध करते समय कण्ठ को सिकोड़ा जाता है, जिससे वायु की गति रुक जाती है और अमृत के अग्नि में गिरने की सम्भावना नहीं रहती। खेचरी मुद्रा उसे कहते हैं, जिसमें जिह्वा को उल्टाकर कपाल कुहर में प्रविष्ट किया जाए और अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच स्थिर रखा जाए। इसके सिद्ध हो जाने से निद्रा, क्षुधा, पिपासा नहीं सताती और न व्याधि एवं मृत्यु का भय ही रहता है॥ ७७-८०॥

न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्। पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा॥८१॥
बध्यते न च कालेन यस्य मुद्रास्ति खेचरी। चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा भवति खे गता॥ ८२
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धनमस्कृता। खेचर्या मुद्रया यस्य विवरं लम्बिकोर्ध्वतः॥ ८३॥
बिन्दुः क्षरति नो यस्य कामिन्यालिङ्गितस्य च। यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः॥८४

जो खेचरी मुद्रा का ज्ञाता है, उसे न तो मूर्च्छा होती है, न रोग उसे कष्ट देते हैं और न ही वह कर्मों से ही लिप्त हो पाता है। खेचरी मुद्रा से जिसका चित्त आकाश में विचरण करने लगता है और जिसकी जिह्वा भी अन्तरिक्षगामिनी हो जाती है, ऐसा साधक काल के बन्धन से बँधता नहीं है। इसलिए यह 'खेचरी मुद्रा' योगियों द्वारा प्रशंसनीय है। इस मुद्रा द्वारा जिसने तालु के छिद्र को अवरुद्ध कर दिया है, उसके द्वारा स्त्री समागम से भी वीर्य का क्षरण नहीं होता और जब तक वीर्य शरीर में विद्यमान रहता है, तब तक मौत के भय की सम्भावना ही कैसी?॥ ८१-८४॥

यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति। गलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले॥ ८५॥
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया। स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा॥८६॥
पाण्डरं शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः। विद्रुमद्रुमसंकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः॥ ८७॥
शशिस्थाने वसेद्बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्। बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः॥८८॥

खेचरी मुद्रा में रहते हुए वीर्य का क्षरण सम्भव नहीं, फिर भी किसी तरह यदि वीर्य स्खलित होकर योनि में चला जाए, तो उसे हठशक्तिपूर्वक योनिमण्डल से पुनः ऊपर की ओर खींच लेते हैं। वह वीर्य भी सफेद और रक्त वर्ण दोनों तरह का होता है। सफेद वर्ण वाले को शुक्र और रक्त वार्ण वाले को महारज कहा गया है। मूँगे की तरह वर्ण वाला रज (योगी के) योनिस्थान में विद्यमान है और शुक्ल वीर्य चन्द्रस्थान में है, पर इन दोनों के

एक होने की सम्भावना बड़ी दुर्लभ है। वीर्य को शिवरूप और रज को शक्तिरूप कहा गया है, वीर्य ही चन्द्रमा और रज ही सूर्य है॥ ८५-८८॥

उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं वपुः। वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं खे यथा रजः॥ ८९॥ रविणैकत्वमायाति भवेद्दिव्यं वपुस्तदा। शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम्॥ ९०॥ द्वयोः समरसीभावं यो जानाति स योगवित्। शोधनं मलजालानां घटनं चन्द्रसूर्ययोः॥ ९१॥ रसानां शोषणं सम्यङ्महामुद्राभिधीयते॥ ९२॥ वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्च वामाङ्घ्रिणा हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रविततं पादं तथा दक्षिणम्। आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचयेदेषा पातकनाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते॥ ९३॥

इन दोनों के संयुक्त होने पर परम देह की प्राप्ति होती है। वायु को शक्ति से संचालित किये जाने से रज अन्तरिक्ष की ओर प्रेरित होता है और सूर्य से संयुक्त होकर दिव्य शरीर को प्राप्त करता है। शुक्लवर्ण वीर्य चन्द्रमा से और रज सूर्य से युक्त है। इन दोनों की समरसता का जो ज्ञाता है, वही योगवेत्ता है। नाड़ियों में स्थित मल के शोधन के लिए सूर्य और चन्द्र के संयोगत्व और वात, पित्त, कफ आदि रसों के भली प्रकार शोषण किये जाने को महामुद्रा कहा गया है। वक्षस्थल को ठोड़ी से और बायीं एड़ी से योनिस्थल को दबाकर, प्रसारित दाहिने पैर को हाथों से पकड़कर कुक्षियुगल को श्वास से भरकर, कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकाले। इसे योगियों द्वारा सर्वपापनाशिनी महामुद्रा कहा गया है॥ ८९-९३॥

अथात्मनिर्णयं व्याख्यास्ये— हृदि स्थाने अष्टदलपद्मं वर्तते। तन्मध्ये रेखावलयं कृत्वा जीवात्मरूपं ज्योतीरूपमणुमात्रं वर्तते। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं भवति सर्वं जानाति सर्वं करोति सर्वमेतच्चरितमहं कर्ताऽहं भोक्ता सुखी दुःखी काणः खञ्जो बधिरो मूकः कृशः स्थूलोऽनेन प्रकारेण स्वतन्त्रवादेन वर्तते॥ ९३-१॥

अब आत्मा के सम्बन्ध में विवेचन करते हैं-हृदय स्थल में आठ दल का कमल है,उसके बीच रेखा वलय बनाकर जीवात्मा ज्योतिरूप होकर अणुमात्र स्वरूप में निवास करता है। वह सर्वज्ञाता,सब कुछ करने वाला है और सब कुछ उसी में प्रतिष्ठित है। उसका ऐसा विचार है कि सभी चरित्रों का मैं ही कर्त्ता,भोक्ता, सुखी, दुःखी,काना, लँगड़ा, बहरा,गूँगा, दुबला और मोटा हूँ; इस प्रकार का उसका स्वतन्त्र व्यवहार रहता है॥ ९३-१॥

पूर्वदले विश्रमते पूर्वं दलं श्वेतवर्णं तदा भक्तिपुरःसरं धर्मे मतिर्भवति॥ ९३-२॥

उस अष्टदल कमल का पूर्वदिशा वाला दल सफेद रंग का है, उस दल में रहते हुए धर्म और भक्तिभाव में मति (श्रद्धा) रहती है॥ ९३-२॥

यदाऽऽग्नेयदले विश्रमते तदाग्नेयदलं रक्तवर्णं तदा निद्रालस्यमतिर्भवति॥ ९३-३॥

जब आग्नेय दिशा के लाल रंग के दल में निवास होता है, तब मति निद्रा और आलस्य से युक्त हो जाती है॥९३-३॥

यदा दक्षिणदले विश्रमते तद्दक्षिणदलं कृष्णवर्णं तदा द्वेषकोपमतिर्भवति॥ ९३-४॥

जब दक्षिण दिशा के काले रंग के दल में निवास होता है, तब द्वेषभाव और क्रोधी स्वभाव की मति रहती है॥ ९३-४॥

यदा नैर्ऋतदले विश्रमते तन्नैर्ऋतदलं नीलवर्णं तदा पापकर्महिंसामतिर्भवति॥ ९३-५॥

नैर्ऋत्य दिशा के नीले रंग वाले दल में निवास करने पर पाप कर्मों और हिंसक वृत्ति वाली मति रहती है॥ ९३-५॥

यदा पश्चिमदले विश्रमते तत्पश्चिमदलं स्फटिकवर्णं तदा क्रीडाविनोदे मतिर्भवति॥ ९३-६॥
यदा वायव्यदले विश्रमते वायव्यदलं माणिक्यवर्णं तदा गमनचलनवैराग्यमतिर्भवति॥९३-७

जब स्फटिक वर्ण वाले पश्चिम दल में निवास रहता है, तब क्रीड़ा और विनोद में अभिरुचि उत्पन्न हो जाती है। वायव्यकोण के माणिक्य वर्ण वाले दल में निवास होने पर घूमने-फिरने और वैराग्य भाव की ओर झुकाव होता है॥ ९३-६,९३-७॥

यदोत्तरदले विश्रमते तदुत्तरदलं पीतवर्णं तदा सुखशृंगारमतिर्भवति॥ ९३-८॥

जब उत्तर के पीले रंग के दल में निवास करता है, तो सुख-साधन और सजने-सँवरने में अभिरुचि रहती है॥ ९३-८॥

यदेशानदले विश्रमते तदीशानदलं वैडूर्यवर्णं तदा दानादिकृपामतिर्भवति॥ ९३-९॥

ईशान कोण के वैडूर्यमणि-रंग के दल में रहने पर दान-पुण्य और अनुग्रह करने में अभिरुचि जागती है॥ ९३-९॥

यदा संधिसंधिषु मतिर्भवति तदा वातपित्तश्लेष्ममहाव्याधिप्रकोपो भवति॥ ९३-१०॥

जब जोड़ों के सन्धिभाग में मति वास करती है, तब वात, पित्त, कफ से सम्बन्धित बड़ी बीमारियों का प्रकोप होता है॥ ९३-१०॥

यदा मध्ये तिष्ठति तदा सर्वं जानाति गायति नृत्यति पठत्यानन्दं करोति॥ ९३- ११॥

जब मति मध्य में रहती है, ऐसे में सब कुछ जानने, गाने, नाचने, पढ़ने और आनन्द मनाने में ध्यान रहता है॥ ९३-११॥

यदा नेत्रश्रमो भवति श्रमनिर्भरणार्थं प्रथमरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते प्रथमरेखा बन्धूकपुष्पवर्णं तदा निद्रावस्था भवति। निद्रावस्थामध्ये स्वप्नावस्था भवति। स्वप्नावस्थामध्ये दृष्टं श्रुतमनुमानसंभववार्ता इत्यादिकल्पनां करोति तदादिश्रमो भवति॥ ९३-१२॥

जब आँख श्रमशील रहती है, तो उसे विश्राम देने के उद्देश्य से पहली रेखा का आश्रय लेकर बीच में निमज्जन करती है। वह प्रथम रेखा बन्धूक पुष्प के वर्ण वाली होती है, जिससे निद्रावस्था की प्राप्ति होती है। निद्रावस्था के बीच में ही स्वप्नावस्था रहती है। स्वप्नावस्था के बीच में देखी गई, सुनी हुई और अनुमान की हुई सम्भावित बातों की कल्पना करने से जो श्रम करना पड़ता है॥ ९३-१२॥

श्रमनिर्हरणार्थं द्वितीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते द्वितीयरेखा इन्द्रकोपवर्णं तदा सुषुप्त्यवस्था भवति सुषुप्तौ केवलपरमेश्वरसंबन्धिनी बुद्धिर्भवति नित्यबोधस्वरूपा भवति पश्चात्परमेश्वरस्वरूपेण प्राप्तिर्भवति॥ ९३-१३॥

उस श्रम के निवारणार्थ द्वितीय रेखा वलय में डुबकी लगाती है। वह दूसरी रेखा वीर-बहूटी के वर्ण की है, जिससे सुषुप्ति अवस्था होती है। इस सुषुप्तावस्था में बुद्धि मात्र परमेश्वर से सम्बन्ध रखने वाली और नित्य बोधस्वरूपा होती है। इसके पश्चात् ही परमेश्वर की प्राप्ति सम्भव है॥ ९३-१३॥

तृतीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते तृतीयरेखा पद्मरागवर्णं तदा तुरीयावस्था भवति

तुरीये केवलपरमात्मसंबन्धिनी मतिर्भवति नित्यबोधस्वरूपा भवति तदा शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतयात्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ ९३-१४॥

तृतीय रेखा वलय बनाकर जब पद्मराग वर्ण वाली रेखा में निमज्जन किया जाता है, तब तुरीयावस्था प्राप्त होती है। इसमें बुद्धि मात्र परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने वाली और नित्य बोधस्वरूपा होती है। इस अवस्था में बुद्धि को धीरे-धीरे सबसे पृथक् करते हुए धैर्यपूर्वक मन को आत्म-केन्द्रित करके अन्य कुछ भी विचार न करे॥ ९३-१४॥

तदा प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा सर्वं विश्वमात्मस्वरूपेण लक्ष्यं धारयति। यदा तुरीयातीतावस्था तदा सर्वेषामानन्दस्वरूपो भवति द्वन्द्वातीतो भवति यावद्देहधारणा वर्तते-तावत्तिष्ठति पश्चात्परमात्मस्वरूपेण प्राप्तिर्भवति इत्यनेन प्रकारेण मोक्षो भवतीदमेवा-त्मदर्शनोपाया भवन्ति॥ ९३-१५॥

तब प्राण और अपान में एकीकरण करके सम्पूर्ण जगत् को आत्मस्वरूप मानते हुए लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करे। तुरीयातीतावस्था प्राप्त होने पर द्वन्द्वभाव मिटते ही सभी कुछ आनन्दस्वरूप लगने लगता है। जब तक जीव में देहधारणा रहती है, तभी तक वह उसमें निवास करता है, बाद में परमात्मतत्त्व की प्राप्ति होती है, इसी मार्ग से मोक्ष और आत्मदर्शन दोनों की प्राप्ति सम्भव है॥ ९३-१५॥

चतुष्पथसमायुक्तमहाद्वारगवायुना । सहस्थितत्रिकोणार्धगमने दृश्यतेऽच्युतः॥ ९४॥

चारों मार्ग से संयुक्त महाद्वार की ओर गमन करने वाले वायु के साथ स्थिर होने पर अर्द्ध त्रिकोण में जाकर परमात्मा का साक्षात्कार होता है॥ ९४॥

पूर्वोक्तत्रिकोणस्थानादुपरि पृथिव्यादिपञ्चवर्णकं ध्येयम्। प्राणादिपञ्चवायुश्च बीजं वर्णं च स्थानकम्। यकारं प्राणबीजं च नीलजीमूतसन्निभम्। रकारमग्निबीजं च अपानादित्यसंनि-भम्॥ ९५॥

पूर्व में कथित त्रिकोण स्थान से ऊपर पृथ्वी आदि पाँच रंग वाले तत्त्व ध्यान के योग्य हैं। इसके साथ बीज, वर्ण और स्थानयुक्त प्राणादि पाँच वायु ध्यान के योग्य हैं। 'य' कार जो नीले बादलों के समान है, वह प्राण का बीज है। 'र' कार आदित्यरूप वर्ण अग्निरूप अपान का बीज है॥ ९५॥

लकारं पृथिवीरूपं व्यानं बन्धूकसंनिभम्। वकारं जीवबीजं च उदानं शङ्खवर्णकम्॥ ९६॥

'ल' कार बन्धूक पुष्प के रंग वाला पृथ्वीरूप व्यान का बीज है। शंख के रंग वाला 'व' कार जीवरूप उदान का बीज है॥ ९६॥

हकारं वियत्स्वरूपं च समानं स्फटिकप्रभम्। हृन्नाभिनासाकर्णं च पादाङ्गुष्ठादिसंस्थितम्॥९७॥

'ह' कार स्फटिक प्रभायुक्त आकाश रूप 'समान' का बीज है। हृदय, नाभि, नासिका, कान तथा पैर का अंगुष्ठ-ये समान प्राण के स्थान हैं॥ ९७॥

द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीमार्गेषु वर्तते। अष्टाविंशतिकोटीषु रोमकूपेषु संस्थिताः॥ ९८॥

यह समान बहत्तर हजार नाड़ियों तथा शरीर के अट्ठाईस करोड़ रोम कूपों में रहता है॥ ९८॥

समानप्राण एकस्तु जीवः स एक एव हि। रेचकादित्रयं कुर्याद्दृढचित्तः समाहितः॥ ९९॥
शनैः समस्तमाकृष्य हृत्सरोरुहकोटरे। प्राणापानौ च बध्वा तु प्रणवेन समुच्चरेत्॥ १००॥

समान और प्राण भिन्न-भिन्न नहीं, अपितु एक हैं, दोनों एक ही जीव हैं। चित्त को दृढ़ता से समाहित कर पूरक, कुम्भक, रेचक तीनों क्रियायें सम्पन्न करे। हृदयकमल के कोटर में धीरे-धीरे सबको आकर्षित करके, प्राणवायु और अपान को अवरुद्ध करते हुए प्रणव (ॐकार) का उच्चारण करे॥ ९९-१००॥

कण्ठसंकोचनं कृत्वा लिङ्गसंकोचनं तथा। मूलाधारात्सुषुम्ना च पद्मतन्तुनिभा शुभा॥ १०१ ॥

कण्ठ का संकोचन करके लिङ्ग का संकोचन करे, तत्पश्चात् मूलाधार से पद्मतन्तु की तरह प्रकट होने वाली सुषुम्ना नाड़ी का संकोचन करे॥ १०१ ॥

अमूर्तो वर्तते नादो वीणादण्डसमुत्थितः। शङ्खनादादिभिश्चैव मध्यमेव ध्वनिर्यथा॥ १०२ ॥

सुषुम्ना के आश्रित वीणा-दण्ड से उठने वाला अमूर्त नाद सुनाई पड़ता है, जैसे शंखनाद आदि के मध्य (अमूर्त ध्वनि) सुनाई पड़ता है॥ १०२॥

व्योमरन्ध्रगतो नादो मायूरं नादमेव च। कपालकुहरे मध्ये चतुर्द्वारस्य मध्यमे॥ १०३॥
तदात्मा राजते तत्र यथा व्योम्नि दिवाकरः। कोदण्डद्वयमध्ये तु ब्रह्मरन्ध्रेषु शक्ति च॥ १०४॥
स्वात्मानं पुरुषं पश्येन्मनस्तत्र लयं गतम्। रत्नानि ज्योत्स्निनादं तु बिन्दुमाहेश्वरं पदम्॥ १०५॥
य एवं वेद पुरुषः स कैवल्यं समश्नुत इत्युपनिषत् ॥ १०६॥

व्योमरन्ध्र (आकाशरन्ध्र) से गमन करने वाला नाद मोर (पक्षी की) ध्वनि के समान रहता है, कपाल कुहर के मध्य चार द्वारों वाला बीच का स्थान है। व्योम में सूर्य के सुशोभित होने के समान ही आत्मा यहाँ प्रतिष्ठित है और ब्रह्म प्राप्ति के स्थान पर ब्रह्मरन्ध्र में कोदण्ड (धनुष) द्वय के बीच शक्ति स्थित है। जहाँ मन को तल्लीन करके अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करते हैं, वहीं रत्नों से ज्योतिष्मान् नादबिन्दु महेश का स्थान है। जो पुरुष इसका ज्ञाता है, वह कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ १०३-१०६॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः॥

॥ इति ध्यानबिन्दूपनिषत्समाप्ता॥

॥ नारायणोपनिषद् ॥

यह लघुकाय उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसे 'नारायणाथर्वशिर उपनिषद्' भी कहा जाता है। इस उपनिषद् में चारों वेदों का उपदेश-सार 'शिर' (मस्तक) के रूप में वर्णित है। सर्वप्रथम 'नारायण' से ही समस्त चेतन-अचेतन के प्राकट्य का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् नारायण की सर्वात्मकता (सभी की आत्मा के रूप में) का विवेचन है। तदुपरान्त नारायण के अष्टाक्षर मंत्र (ॐ नमो नारायणाय) की विवेचना है। इसके पश्चात् नारायण और प्रणव (ॐ कार) की ऐक्यता तथा अन्त में इस उपनिषद् के अध्ययन करने का प्रतिफल बताया गया है। जिसमें कहा गया है कि इस लघुकाय (संक्षिप्त) उपनिषद् के अध्ययन करने से चारों वेदों के पाठ का पुण्यलाभ प्राप्त हो जाता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति। नारायणात्प्राणो जायते। मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी। नारायणाद्ब्रह्मा जायते। नारायणाद्रुद्रो जायते। नारायणादिन्द्रो जायते। नारायणात्प्रजापतिः प्रजायते। नारायणाद्द्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते। नारायणात्प्रवर्तन्ते। नारायणे प्रलीयन्ते। एतदृग्वेदशिरोऽधीते॥ १ ॥

उन पुरुषरूप भगवान् नारायण ने संकल्प किया कि 'मैं' प्रजा (जीवों) की सृष्टि करूँ। अतः उन्हीं के द्वारा समस्त जीवों की उत्पत्ति हुई। नारायण से समष्टिगत प्राण का प्रादुर्भाव हुआ। उन्हीं के द्वारा मन और समस्त इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। भगवान् नारायण द्वारा ही आकाश, वायु, तेज, जल एवं सम्पूर्ण जगत् को धारण करने वाली पृथ्वी आदि सभी का प्राकट्य हुआ। भगवान् नारायण से ही ब्रह्मा जी प्रादुर्भूत हुए। नारायण से भगवान् रुद्र उत्पन्न होते हैं। नारायण द्वारा ही देवराज इन्द्र प्रकट हुए। नारायण द्वारा प्रजापति का भी प्रादुर्भाव हुआ। नारायण से ही द्वादश आदित्य उत्पन्न हुए। ग्यारह रुद्र, अष्टवसु एवं सम्पूर्ण छन्द भगवान् नारायण से प्रकट हुए। नारायण द्वारा ही प्रेरणा प्राप्त करके सभी अपने-अपने कार्यों में लग जाते हैं तथा भगवान् नारायण में ही अन्त में विलीन हो जाते हैं। ऐसा ही यह ऋग्वेदीय उपनिषद् का कथन है॥ १ ॥

अथ नित्यो नारायणः। ब्रह्मा नारायणः। शिवश्च नारायणः। शक्रश्च नारायणः। कालश्च नारायणः। दिशश्च नारायणः। विदिशश्च नारायणः। ऊर्ध्वं च नारायणः। अधश्च नारायणः। अन्तर्बहिश्च नारायणः। नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। निष्कलंको निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्। य एवं वेद स विष्णुरेव भवति स विष्णुरेव भवति। एतद्यजुर्वेदशिरोऽधीते॥ २ ॥

भगवान् नारायण ही नित्य (शाश्वत) हैं। ब्रह्माजी भी नारायण हैं। भगवान् शिव एवं देवराज इन्द्र भी नारायण हैं। काल और दिशाएँ भी नारायण हैं। विदिशायें (दिशाओं के मध्य के कोण) भी नारायण हैं। ऊर्ध्व भी नारायण और अधः भी नारायण है। अन्तः एवं बाह्य भी नारायण हैं। जो कुछ हो गया और जो कुछ हो रहा है तथा जो होने वाला है, वह सभी कुछ भगवान् नारायण ही हैं। नारायण ही एकमात्र निष्कलंक, निरञ्जन, निर्विकल्प, अनिर्वचनीय और विशुद्ध देव हैं। उनके अतिरिक्त अन्य दूसरा कोई नहीं। जो मनुष्य ऐसा जानता है, वह स्वयं विष्णुमय हो जाता है, वह विष्णु ही हो जाता है, ऐसा ही यजुर्वेदीय उपनिषद् का कथन है॥ २ ॥

ॐ इत्यग्रे व्याहरेत्। नम इति पश्चात्। नारायणायेत्युपरिष्टात्। ॐ इत्येकाक्षरम्। नम इति द्वे अक्षरे। नारायणायेति पञ्चाक्षराणि। एतद्वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदम्। यो ह वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदमध्येति। अनपब्रुवः सर्वमायुरेति। विन्दते प्राजापत्यं रायस्पोषं गौपत्यं ततोऽमृतत्वमश्नुते ततोऽमृतत्वमश्नुत इति। एतत्सामवेदशिरोऽधीते॥ ३॥

सर्वप्रथम आरम्भ में 'ॐ' कार का उच्चारण करे, तदुपरान्त बाद में 'नमः' शब्द का और फिर अन्त में 'नारायण' पद का उच्चारण करे। 'ॐ' यह एक अक्षर है। 'नमः' ये दो अक्षर हैं और 'नारायणाय' ये पाँच अक्षर हैं। इस प्रकार यह 'ॐ नमो नारायणाय' पद भगवान् नारायण के आठ अक्षरों से युक्त मन्त्र है। भगवान् नारायण के इस अष्टाक्षरी मन्त्र का जो भी मनुष्य जप और ध्यान करता है, वह श्रेष्ठतम कीर्ति से युक्त होकर पूर्णायुष्य प्राप्त करता है। उसे जीवों का आधिपत्य, स्त्री-पुत्र एवं धन-धान्यादि की वृद्धि तथा गौ-आदि पशुओं का स्वामित्व भी प्राप्त होता है। तदुपरान्त वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, यही सामवेदीय उपनिषद् का प्रतिपादन है॥ ३॥

प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपम्। अकार उकारो मकार इति। ता अनेकधा समभवत्तदेतदोमिति। यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात्। ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठभुवनं गमिष्यति। तदिदं पुण्डरीकं विज्ञानघनं तस्मात्तडिदाभमात्रम्। ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः। ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युत इति। सर्वभूतस्थमेकं वै नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मोम्। एतदथर्वशिरोऽधीते॥ ४॥

'अ' कार, 'उ' कार और 'म' कार मात्राओं से युक्त यह प्रत्यक् (ॐ कार) आनन्दमय, ब्रह्मपुरुष प्रणवस्वरूप है। ये भिन्न-भिन्न हैं, इन मात्राओं के सम्मिलित स्वरूप को 'ॐ' कहते हैं। इस प्रणवरूप 'ॐ' कार का जप करके योगी-साधक जन्म-मृत्यु रूपी सांसारिक-बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्र की साधना करने वाला साधक वैकुण्ठ धाम को जाता है। वह यह वैकुण्ठ धाम पुण्डरीक (हृदय कमल) विज्ञानमय है। इस कारण इसका स्वरूप विद्युत् के सदृश परम प्रकाशस्वरूप है। ब्रह्ममय देवकी नन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मण्य अर्थात् ब्राह्मण प्रिय हैं। वे ही मधुसूदन पुण्डरीकाक्ष और वे ही विष्णु एवं अच्युत हैं। प्राणि-मात्र में वे भगवान् नारायण ही निवास करते हैं। वे ही कारण पुरुष होते हुए भी कारण रहित हैं। वे ही परब्रह्म हैं। विद्वज्जन अथर्ववेदीय ॐकार रूपी इस शिरोभाग (सारभाग) का अध्ययन करते हैं॥ ४॥

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायं-प्रातरधीयानः पापोऽपापो भवति। माध्यंदिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः पञ्चमहापातकोपपात-कात्प्रमुच्यते। सर्ववेदपारायणपुण्यं लभते। नारायणसायुज्यमवाप्नोति श्रीमन्नारायणसायुज्यम-वाप्नोति य एवं वेद॥ ५॥

इस उपनिषद् का प्रातःकाल पाठ करने से रात्रि में किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। दोनों संध्याओं-प्रातः एवं सायंकाल के समय में इस उपनिषद् का पाठ करने से साधक पूर्व समय (पूर्वजन्म) का भी यदि पापी हो, तो वह पापरहित हो जाता है। मध्याह्न के समय भगवान् भास्कर की ओर अभिमुख होकर पाठ करने से मनुष्य पाँच महापातकों एवं उपपातकों से सदैव के लिए मुक्त हो जाता है। वह चारों वेदों के पाठ का पुण्यलाभ प्राप्त करता है तथा शरीर का परित्याग कर देने पर अन्तकाल में श्री नारायण के सायुज्य पद को प्राप्त कर लेता है। जो ऐसा जानता है, वह भी श्रीमन्नारायण के सायुज्य पद को पा जाता है॥ ५॥

॥ इति नारायणोपनिषत्समाप्ता॥

॥ नीलरुद्रोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें कुल तीन खण्ड हैं। जिसमें 'नीलकण्ठ रुद्र' के 'रौद्र' स्वरूप का विवेचन किया गया है।

प्रथम खण्ड में भगवान् रुद्र के रौद्र रूप का वर्णन है। उनसे अपने रौद्ररूप को शान्त रखकर कल्याणकारी स्वरूप को प्रकट करने की प्रार्थना की गई है। द्वितीय खण्ड में भगवान् रुद्र के गोपाल (कृष्ण) स्वरूप का चित्रण करते हुए उन्हें मोरमुकुटधारी कहा गया है। अन्यत्र उन्हें 'इन्द्र' भी कहा गया है। इस खण्ड में भगवान् रुद्र के अति सामर्थ्यशाली आयुधों की भी प्रशस्ति है। तृतीय खण्ड में रुद्र के नीलकण्ठ रूप की प्रतिष्ठा है। लोक कल्याण हेतु हलाहल विष पान करने वाले भगवान् रुद्र की स्तुति करते हुए उन्हें केदारेश्वर, विरूपाक्ष (त्रिनेत्र) आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। इसी के साथ इस उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

॥ प्रथमःखण्डः ॥

अपश्यं त्वावरोहन्तं दिवितः पृथिवीमवः। अपश्यं रुद्रमस्यन्तं नीलग्रीवं शिखण्डिनम्॥ १ ॥
दिव उग्रोऽवारुक्षत् प्रत्यस्थाद्भूम्यामधि। जनासः पश्यतेमं नीलग्रीवं विलोहितम्॥ २ ॥
एष एत्यवीरहा रुद्रो जलासभेषजीः । वित्तेऽक्षेममनीनशद्वातीकारोऽप्येतु ते ॥ ३ ॥

हे नीलकण्ठ! अपने दिव्य लोक से धरित्री पर अवतरित होते हुए हम आपको देखते हैं। अपने उग्र रौद्ररूप से मोर के पंख की तरह अन्तरिक्ष को मुकुट बनाये हुए धरती पर अवतीर्ण होते हुए हम आपका दर्शन करते हैं;क्योंकि आप धरती के अधिपति हैं। हे मनुष्यो! लाल वर्ण से युक्त इन नीलकण्ठ के दर्शन करो। भगवान् रुद्र जल में स्थित ओषधियों में प्रवेश करके रोगरूप पापों का संहार करते हैं। ये प्राण-धारियों के जीवन-आधार हैं। अनिष्टों की समाप्ति और अनुपलब्ध साधन की पूर्ति हेतु वे आपके समीप पदार्पण करें ॥१-३॥

नमस्ते भवभामाय नमस्ते भवमन्यवे। नमस्ते अस्तु बाहुभ्यामुतो त इषवे नमः॥ ४॥
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिꣳसीः पुरुषं जगत् ॥ ५ ॥

हे क्रोधरूप रुद्रदेव! आपके प्रति हमारा प्रणाम है। हे नीलकण्ठ रुद्र! आपकी दोनों भुजाओं और उनमें धारण किये हुए बाणों को प्रणाम। हे कैलासपति! आप पर्वत पर रहते हुए भी सबका मंगल करते हैं। हे गिरित्र (पर्वतों के रक्षक) रुद्रदेव! दुष्टों का संहार करने के लिए जिस बाण को आप धारण किये हुए हैं, उस बाण को हम मनुष्यों के लिए कल्याणप्रद बनाएँ। उससे हमारे स्वजनों का संहार न करें ॥ ४-५ ॥

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि। यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ॥ ६ ॥
या त इषुः शिवतमा शिवं बभूव ते धनुः। शिवा शरव्या या तव तया नो मृड जीवसे॥ ७ ॥

हे कैलासपति शिव! अपनी कल्याणकारी वाणी द्वारा हम आपके निर्मल गुणों का गान करते हैं। ऐसा गान करने से यह सारा संसार हमारे निमित्त दुःखों से रहित होकर अनुकूलता युक्त हो जाएगा। आपके धनुष, उसकी प्रत्यञ्चा और बाण ये सभी मंगल करने वाले हैं। हे मंगलरूप मृड़देव! इन सभी अस्त्र-शस्त्रों से आप हमारे जीवन को संरक्षण प्रदान करते हैं ॥ ६-७ ॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी। तया नस्तन्वा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशत्॥ ८॥
असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुर्विलोहितः। ये चेमे रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेड ईमहे॥ ९॥

हे रुद्रदेव! पर्वत पर विराजमान रहते हुए भी आप हम सबका मंगल करने वाले हैं। आप अपने पाप-नाशक सौम्य स्वरूप तथा मंगलमय स्वरूप द्वारा हमें सभी ओर से प्रकाशमान करें। आपकी जो ताम्रवर्ण, लाल, भूरी, अत्यन्त लाल तथा हजारों सूर्यकिरणरूपी मूर्तियाँ चारों दिशाओं में संव्याप्त हैं, हम स्तुतिगान हेतु उनकी हृदय से कामना करते हैं॥ ८-९॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अपश्यं त्वावरोहन्तं नीलग्रीवं विलोहितम्। उत त्वा गोपा अदृशन्नुत त्वोदहार्यः ॥ १॥
उत त्वा विश्वा भूतानि तस्मै दृष्टाय ते नमः। नमो अस्तु नीलशिखण्डाय सहस्राक्षाय वाजिने॥२॥

हे रक्त वर्ण वाले नीलकण्ठ रुद्रदेव! हमने धरती पर अवतरित होते हुए आपके स्वरूप का दर्शन किया है। आपके उस स्वरूप को या तो गोपों ने देखा या फिर जल भरने वाली गोपिकाओं ने देखा है या विश्व के समस्त प्राणियों ने देखा है। आपके उस देखे हुए श्रीकृष्ण स्वरूप को हम प्रणाम करते हैं। हे मोरमुकुटधारी भगवन्! आपके प्रति हमारा नमस्कार है। महान् शक्तिशाली इन्द्ररूप भी आप ही हैं। आप अपने प्रिय भक्तजनों के सामने असंख्य नेत्रों से युक्त होकर अपने विराट् रूप में प्रकट होते हैं ॥ १-२॥

अथो ये अस्य सत्वानस्तेभ्योऽहमकरं नमः। नमांसि त आयुधायानातताय धृष्णवे॥ ३॥
उभाभ्यामकरं नमो बाहुभ्यां तव धन्वने। प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्नियोर्ज्याम् ॥ ४॥

आपके इस स्वरूप को जिसमें सात्त्विक भाव वाले गोपाल, गोपिकाएँ भी सहचर रूप में आपके साथ हैं, उनके प्रति हम नमस्कार करते हैं। हे भगवान् रुद्र! आपके अति सामर्थ्ययुक्त उन आयुधों को हमारा अनेक बार नमन है, जो इस समय उपयोग में नहीं लाये जा रहे। आपके धनुष के प्रति दोनों हाथ जोड़कर हमारा नमन है। आप अपने और शत्रु पक्ष के राजाओं के प्रति अपने धनुष की प्रत्यञ्चा को उतार दें अर्थात् शान्त स्वरूप धारण करके युद्ध की सम्भावना को ही मिटा दें॥ ३-४॥

याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप। अवतत्य धनुस्त्वꣳ सहस्राक्ष शतेषुधे॥ ५॥
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः शंभुराभर। विज्यं धनुः शिखण्डिनो विशल्यो बाणवाꣳउत॥६॥

आप अपने हाथ में धारण किये बाण को पुनः तूणीर में लौटा लें। हे मोरपंखधारी सहस्राक्ष! आप सौ-सौ बाणों के एक साथ संधानकर्त्ता हैं। हमें मंगल एवं सुख प्रदान करने हेतु आप अपने बाणों के अग्रभाग को तीक्ष्ण करके धनुष पर चढ़ायें। (शत्रुओं के विनष्ट होने पर) आपका धनुष प्रत्यञ्चा रहित हो। संताप देने की प्रक्रिया त्यागकर बाण पुनः तरकस में लौट आयें ॥ ५-६॥

अनेशन्नस्येषव आभुरस्य निषङ्गथिः । परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः ॥ ७॥
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मिन्निधेहि तम्। या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः॥ ८॥
तया त्वं विश्वतो अस्मानयक्ष्मया परिब्भुज। नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु॥ ९॥
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः। ये वाभिरोचने दिवि ये च सूर्यस्य रश्मिषु॥ १०॥

येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः। या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीनाम्। ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ ११॥

आपके तीखे बाण जो पर्वत को भी विदीर्ण करने वाले हैं, आपके तरकस में लौटकर कल्याणप्रद हों। आपके धनुष पर संधान किया हुआ बाण हमारा सभी ओर से संरक्षण करे। संरक्षण के पश्चात् आप अपने बाण को तरकस में स्थापित कर लें। हे भक्तवत्सल कृपावर्षक प्रभो! आप अपने अक्षय बाण और धनुष द्वारा चारों ओर से हमारा संरक्षण करें। उन सर्पों को हमारा प्रणाम है, जो पृथिवी पर वास करते हैं।

आकाश और स्वर्ग में वास करने वाले सर्पों (पीड़ा पहुँचाने वाली शक्तियों) को हमारा प्रणाम। प्रकाश युक्त लोकों, सूर्य की किरणों और जल में रहने वाले उन सभी सर्पों (कष्टदायिनी शक्तियों) को प्रणाम। राक्षसों के बाण रूप सर्पों को प्रणाम है, जो गड्ढों और वनस्पतियों में वास करते हैं॥ ७-११॥

॥ तृतीयः खण्डः॥

यः स्वजनान्नीलग्रीवो यः स्वजनान्हरिः। कल्माषपुच्छमोषधे जम्भयोताश्वरुन्धति॥ १॥

जो भगवान् शंकर विश्वकल्याणार्थ हलाहल पान करके नीलकण्ठ कहे जाते हैं तथा स्वभक्तों का कल्याण करने के लिए श्रीहरि (विष्णु) रूप को धारण करते हैं। हे ओषधियो! उन काली पूँछ वाले (महिष रूपधारी केदारेश्वर) के निमित्त शीघ्र ही अमोघ सामर्थ्ययुक्त होकर आप उन्हें तुष्टि प्रदान करें॥ १॥

बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च नीलग्रीवश्च यः शिवः। शर्वेण नीलकण्ठेन भवेन मरुतां पिता॥ २॥
विरूपाक्षेण बभ्रुणा वाचं वदिष्यतो हतः। शर्व नीलशिखण्ड वीर कर्मणि कर्मणि॥ ३॥

पिङ्गल (भूरे) वर्ण देह और पिङ्गल कानों वाले नीलकण्ठधारी भगवान् शंकर सर्वस्वरूप तथा सर्वव्यापी हैं। उन्हीं विरूपाक्ष भव (शंकर) द्वारा वाणी बोलने वाले (गर्जन करने वाले) का संहार हुआ। हे वीर! प्रत्येक कर्म में उन्हें ही सर्वव्यापक रूप में देखना चाहिए॥ २-३॥

इमामस्य प्राशं जहि येनेदं विभजामहे। नमो भवाय। नमश्शर्वाय। नमः कुमाराय शत्रवे। नमः सभाप्रपादिने। यस्याश्वतरौ द्विसरौ गर्दभावभितस्सरौ। तस्मै नीलशिखण्डाय नमः। नीलशिखण्डाय नमः॥ ४॥

उनके बारे में पूछताछ करने की इच्छा (शंकाभाव) का परित्याग कर देना चाहिए। इस संशय दृष्टि से हम विश्व को उनसे भिन्न मान बैठते हैं, यह शंका सर्वथा परित्याज्य है। जगत् के कारण रूप भगवान् भव को नमन, संहार करने वाले रुद्रदेव को नमन, नीलशिखण्डधारी अथवा महिषरूप केदारेश्वर को नमन तथा दक्ष प्रजापति के यहाँ विवाह मण्डप को शोभायमान करने वाले कुमाररूप शंकर को नमन। जिन महिषरूप केदारेश्वर नीलरूप से अश्व, खच्चर तथा चारों ओर दौड़ने वाले गर्दभों का सृजन हुआ, उन्हें हमारा नमन। नीलशिखण्डरूप भगवान् को बारम्बार नमन॥ ४॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः॥

॥ इति नीलरुद्रोपनिषद् समाप्ता॥

॥ नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें देवगणों एवं प्रजापति के बीच प्रश्नोत्तर के माध्यम से सविशेष (साकार) और निर्विशेष (निराकार) ब्रह्म का निरूपण किया गया है। पाँच प्रखण्डों में यह उपनिषद् उपनिबद्ध है। ये पाँचों प्रखण्ड भी 'उपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस उपनिषद् में परमात्मा को परम पुरुषार्थी (नृसिंह) रूप में व्यक्त किया गया है। कहा गया है कि परम पुरुष के तप से सृष्टि विकसित हुई। सृष्टि विकास उसका पहला-पूर्व तप कहा जाने योग्य है। सृष्टि विकास का क्रम स्पष्ट करने वाले उपनिषद् को 'पूर्वतापिनी' कहा गया है। प्रथम उपनिषद् का वर्ण्य विषय है-सृष्टि के मूल में प्रजापति की कामना, प्रजापति द्वारा आनुष्टुभ मन्त्र का दर्शन, सम्पूर्ण जगत् आनुष्टुभमय, मन्त्रराज के चार पाद, ऋषि-देवता-छन्द विषयक प्रश्न, पाद और अंगसहित मन्त्र का फल, लोक, वेद, ब्रह्मा आदि के रूप में साम का ध्यान, मन्त्रराज साम का माहात्म्य तथा इस विद्या की महिमा। द्वितीय उपनिषद् का वर्ण्य विषय है-नारसिंह मन्त्रराज द्वारा संसार से पार होना, प्रणव के पादों का साम के पादों के साथ तादात्म्य, साम की अनुष्टुपता, साम की पंचांगता, ओंकार की न्यास प्रक्रिया, मन्त्रराज के प्रत्येक पद द्वारा न्यास, मन्त्रराज के उग्र, वीर आदि पदों की सार्थकता। तृतीय उपनिषद् में मन्त्रराज के शक्ति-बीज आदि की जिज्ञासा तथा शक्ति और बीज का स्वरूप निरूपण है। चतुर्थ उपनिषद् का वर्ण्य विषय है- अंग मन्त्र का उपदेश, प्रणव की ब्रह्मात्मकता, प्रणव के चारों पदों का निरूपण, सावित्री-गायत्री मन्त्र का स्वरूप, यजुर्लक्ष्मी मन्त्र, नृसिंह गायत्री मन्त्र आदि का स्वरूप निरूपण। पंचम उपनिषद् का वर्ण्य विषय है- देवों द्वारा 'महाचक्र' की जिज्ञासा, षड्, अष्ट, द्वादश, द्वात्रिंशत् (३२) अरों वाले चक्रों का निरूपण, अवयव दर्शन, महाचक्रदर्शन, महाचक्र वेधन महिमा, मन्त्रराज के अध्ययन का फल, मन्त्रराज के जापक की सर्वोत्कृष्टता तथा मन्त्रराज के जापक की ब्रह्मत्व प्राप्ति का निरूपण। इस प्रकार निर्विशेष ब्रह्म का सविशेष ब्रह्म (नृसिंह भगवान्) के साथ तादात्म्य निरूपित हुआ है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अद्वयतारकोपनिषद्)

॥ प्रथमोपनिषद् ॥

आपो वा इदमासन् सलिलमेव। स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्। तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत इदं सृजेयमिति। तस्माद्यत्पुरुषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति। तदेषाभ्यनूक्ता— कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषेति उपैनं तदुपनमति यत्कामो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

कहा जाता है कि जब सारा संसार जल के रूप में ही था। सर्वत्र सलिल राशि ही दृष्टिगोचर हो रही थी। उसी जल राशि के मध्य कमल पत्र पर प्रजापति ब्रह्मा जी प्रकट हुए। प्रजापति ब्रह्माजी के मन में यह कामना उत्पन्न हुई कि मैं सृष्टि रचना करूँ। यह लोक प्रसिद्ध उक्ति है कि मनुष्य मन में जैसी भावना करता है, भीतर से वैसी ही वाणी निकलती है और वैसी ही क्रिया होने लगती है। इसी सम्बन्ध में ऋषियों ने कहा है— प्राचीन काल में सृष्टि रचना के समय पहले मन से काम की उत्पत्ति हुई। निरन्तर आत्म निरीक्षण करने वाले ज्ञानी जन काम को अंतःस्थित आत्मा का बन्धन मानते हैं। प्रकृति के कार्यभूत मन में ही काम प्रकट होता है, ऐसा ज्ञानी जनों का मानना है। सृष्टि के आदि में यह आपः (मूल क्रियाशील तत्त्व) ही विश्व का कारणभूत बना। जिससे सृष्टि रचना हुई। जो लोग इस रहस्य को जानते हैं, वे जिस वस्तु की इच्छा करते हैं,उसे प्राप्त भी कर लेते हैं ॥१ ॥

स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभमपश्यत्। तेन वै सर्वमिदमसृजत यदिदं किंच । तस्मात्सर्वमानुष्टुभमित्याचक्षते यदिदं किंच । अनुष्टुभो वा इमानि भूतानि जायन्ते। अनुष्टुभा जातानि जीवन्ति। अनुष्टुभं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तस्यैषा भवत्यनुष्टुप्प्रथमा भवत्यनुष्टुबुत्तमा भवति वाग्वा अनुष्टुब्वाचैव प्रयन्ति वाचोद्यन्ति परमा वा एषा छन्दसां यदनुष्टुबिति॥ २ ॥

सृष्टि रचना के उद्देश्य से ब्रह्माजी ने तप प्रारम्भ किया। उस तप के परिणाम स्वरूप अनुष्टुप् छन्द में आबद्ध इस नारसिंह मन्त्रराज का साक्षात्कार हुआ। उन्होंने मंत्र राज के प्रभाव से इस दृश्य जगत् की रचना की। इस प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले जगत् को इसीलिए मंत्रराज आनुष्टुभमय कहते हैं। सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति इस अनुष्टुप् मन्त्र से ही हुई है। इस अनुष्टुप् के ही द्वारा उन्हें जीवन धारण की शक्ति मिलती है और इस लोक से प्रयाण करते समय अनुष्टुप् में ही प्रवेश कर जाते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करने वाली यह अनुष्टुप् वृत्ति ही है। अनुष्टुप् ही वाणी है। इसलिए इसी वाणी सें मनुष्य जन्म और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। सभी छन्दों में अनुष्टुप् छन्द निश्चित ही श्रेष्ठ है॥ २॥

[यहाँ अनुष्टुप् को ही उद्भव, विकास एवं विलय का कारण कहा गया है। अनुष्टुप् छन्द में चार चरण होते हैं। छन्द का एक अर्थ 'काव्यात्मक' गठन विशेष होता है तथा दूसरा व्यापक अर्थ होता है- जो आच्छादित किये हुए है। जिस प्रकार अनुष्टुप् चार चरणों में व्यक्त होता है, उसी प्रकार इस सृष्टि की विभिन्न धाराएँ चार-चार चरणों में व्यक्त हैं, यथा- चार वेद, चार प्रकार के प्राणी- (स्वेदज, अण्डज, जरायुज और उद्भिज्ज), अन्त:करण चतुष्टय, चार वर्ण, चार आश्रम आदि। अगले ही मन्त्र में सृष्टि को चार चरणों (भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक एवं परमव्योम) में व्यक्त कहा गया है। अगले मन्त्रों में भी सृष्टि के विभिन्न चतुष्टय कहे गये हैं। इसीलिए सृष्टि को अनुष्टुप् मय कहा गया है।]

ससागरां सपर्वतां सप्तद्वीपां वसुन्धरां तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात्। यक्षगन्धर्वाप्सरोगण-सेवितमन्तरिक्षं तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयाद्वसुरुद्रादित्यैः सर्वैर्देवैः सेवितं दिवं तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात्। ब्रह्मस्वरूपं निरञ्जनं परमं व्योमकं तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ ३ ॥

सप्तद्वीपा वसुन्धरा, पर्वत और समुद्र इस सामरूपी मन्त्रराज के प्रथम चरण से उत्पन्न हुए, ऐसा जानना चाहिए। उस साम के द्वितीय चरण से यक्ष, गन्धर्व और अप्सराओं से सेवित यह अंतरिक्ष बना, ऐसा समझना चाहिए। उसी साम के तीसरे चरण से वसु, रुद्र और आदित्य आदि देवताओं से सेवित द्युलोक है, ऐसा जानना चाहिए तथा जो मायारूपी मल से मुक्त निरंजन, पवित्र, परम व्योममय ब्रह्मरूप है, उसे साम के चतुर्थ चरण से उत्पन्न हुआ जानें। इस प्रकार से जानकर प्राणी अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है॥ ३॥

ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति॥ ४॥

समस्त अंगों और शाखाओं सहित ऋक्,यजुः,साम और अथर्व, चारों वेद(इस मंत्रराज के)चार पाद हैं॥

किं ध्यानं किं दैवतं कान्यङ्गानि कानि दैवतानि किं छन्दः क ऋषिरिति॥ ५॥

मन्त्रराज का ध्यान कैसे किया जाए? उनका देवता कौन है? अंग कौन-कौन से हैं? देवताओं का गण एवं छन्द कौन सा है और इस मन्त्रराज के ऋषि कौन हैं?॥ ५॥

स होवाच प्रजापतिः स यो ह वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाऽभिषिक्तं तत्साम्नोऽङ्गं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते। सर्वे वेदाः प्रणवादिकास्तं प्रणवं तत्साम्नोऽङ्गं वेद स त्रींल्लोकाञ्जयति

चतुर्विंशत्यक्षरा महालक्ष्मीर्यजुस्तत्साम्नोऽङ्गं वेद स आयुर्यशःकीर्तिज्ञानैश्वर्यवान्भवति। तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ ६ ॥

उन प्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा, श्री बीज (श्रीं) से अभिषिक्त अष्टाक्षरी गायत्री मन्त्र के रूप में जो पुरुष इस मन्त्रराज का स्वरूप जानता है, वह श्री सम्पन्न होता है। वेदमंत्रों के आदि में प्रणव का उच्चारण किया जाता है। प्रणव को इस साम का अंग समझने वाला त्रैलोक्य विजयी होता है। जो ज्ञानी पुरुष चौबीस अक्षर वाले महालक्ष्मी मंत्र को यजुः स्वरूप जानता है, वह यश, ज्ञान, आयु और ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है। अंगों सहित साम को जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, अतः अंगों सहित इस साम को जानना चाहिए॥ ६ ॥

सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति। द्वात्रिंशदक्षरं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः स मृतोऽधो गच्छति तस्मात्सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव स मृतोऽधो गच्छति॥ ७॥

ज्ञानी लोग अनधिकारियों स्त्री-शूद्रों को प्रणव गायत्री एवं यजुः स्वरूप महालक्ष्मी मंत्र का उपदेश नहीं करना चाहते। (वे) बत्तीस अक्षरों वाले साम को जानें, इसे जो जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। गायत्री, प्रणव और यजुर्वेद स्वरूप महालक्ष्मी मन्त्र को यदि अनधिकारी स्त्री-शूद्र जान लें, तो भी वे मरने के बाद अधोगति को प्राप्त होते हैं। ऐसे में मंत्र देने वाले आचार्य को सावधान रहना चाहिए; क्योंकि वे भी उन्हीं के साथ अधोगति को प्राप्त करते हैं॥ ७॥

[यहाँ स्त्री-शूद्र को अनधिकारी कहने का विशेष प्रयोजन है। जो निरन्तर बात-चीत करने में दत्तचित्त रहती है अथवा गर्भधारण करने-उसके संरक्षण में संलग्न रहती है, वह स्त्री है। (स्त्यायति गर्भो यस्यामिति,स्त्यायेते शुक्रशोणिते यस्याम्; स्त्यै शब्द संघातयोः+उट्), ऐसी स्त्री के लिए मन्त्रानुष्ठान की प्रक्रिया कैसे सुकर हो सकती है। 'शूद्र' उसे कहते हैं, जो शोकाभिभूत रहता है-शोचतीति शूद्रः। निरन्तर शोकाकुल रहने वाले के लिए मन्त्र आदि का क्या प्रयोजन; क्योंकि मन्त्र आदि का जप-मनन-चिन्तन शान्त मनःस्थिति में ही सम्भव है। इन्हीं कारणों से स्त्री-शूद्र को अनधिकारी कहा गया है, जो इन स्थितियों से परे हों, उनकी बात यहाँ नहीं कही गई है।]

स होवाच प्रजापतिः—अग्निर्वै देवा इदं सर्वं विश्वा भूतानि प्राणा वा इन्द्रियाणि पशवोऽन्नममृतं सम्राट् स्वराड्विराट् तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात्। ऋग्यजुःसामाथर्वरूपः सूर्योऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषस्तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयात्। य ओषधीनां प्रभुर्भवति ताराधिपतिः सोमस्तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात्। स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ ८ ॥

प्रजापति ब्रह्मा जी पुनः कहने लगे- मंत्रराज साम के प्रथम पाद के रूप में सभी देवों, सभी अग्नियों, सभी प्राणियों, सभी प्राणों, सभी इन्द्रियों, सभी पशुओं, अन्न, अमृत, सम्राट्, स्वराट् और विराट् को जानना चाहिए। द्वितीय पाद के रूप में ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्ववेद, सूर्य तथा सूर्य मण्डल में स्थित हिरण्यमय पुरुष को जानना चाहिए। तृतीय पाद के रूप में सभी ओषधियों और तारापति चन्द्रमा को जानना चाहिए और उस साम के चतुर्थ चरण के रूप में उन भगवान् विष्णु, ब्रह्मा, शिव, अग्नि, इन्द्र और अविनाशी परमात्मा को जानना चाहिए। जो इस प्रकार (चारों पादों को) जान लेता है, वह अमरता को प्राप्त कर लेता है॥ ८ ॥

उग्रं प्रथमस्याद्यं ज्वलं द्वितीयस्याद्यं नृसिंं तृतीयस्याद्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। तस्मादिदं साम यत्र कुत्रचिन्नाचष्टे यदि दातुमपेक्षते पुत्राय शुश्रूषवे दास्यत्यन्यस्मै शिष्याय वा चेति॥ ९ ॥

मंत्रराज आनुष्टुभ में 'उग्रम्' यह पद प्रथम चरण का आदि अंश है। 'ज्वलम्' पद दूसरे चरण का आदि अंश है। तीसरे चरण का आदि अंश 'नृसिं' यह पद है एवं चौथे चरण का आदि भाग 'मृत्यु' यह पद है। ये चारों पद साम के ही स्वरूप हैं। जो इस प्रकार समझता है, वह अमरता प्राप्त कर लेता है। इसलिए इस साम को यदि किसी को देना हो, तो सेवाभावी पुत्र को एवं सदाचारी शिष्य को दिया जा सकता है। अनधिकारी को इसका उपदेश न करे॥ ९॥

क्षीरोदार्णवशायिनं नृकेसरिं योगिध्येयं परमं पदं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥

प्रजापति ने आगे कहा-क्षीरसागर में शयन करने वाला भगवान् का जो नृसिंह रूप है,वह परम पद रूप योगियों द्वारा ध्यान करने योग्य है। जो इस साम को इस तरह जानता है,वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है॥ १०॥

[यहाँ क्षीरसागर में शयन करने वाले नृसिंह भगवान् के ध्यान से अमृतत्व की प्राप्ति का तथ्य वर्णित है, जो युक्तियुक्त है। क्षीरसागर का अर्थ है- क्षीर (अद्यते इति)= खाने योग्य पदार्थ तथा सागर (न गरः मृत्युः येन स अगरः अमृतं तेन सह वर्तमानः)=मृत्यु रहित अमृतत्व से युक्त अर्थात् क्षीरसागर ऐसा खाद्य (ग्राह्य) पदार्थ है, जो अमृतत्व से युक्त है। इसे पदार्थ रचना के पूर्व का सृष्टि तत्त्व का प्रवाह भी कहा जा सकता है, जिसमें नृसिंह (मनुष्यों की जीवात्मा में तेज सिंचित करने वाले) सोये हुए हैं अर्थात् अति सामर्थ्यशाली ईश्वरीय सामर्थ्य उसमें प्रसुप्तावस्था में है, ऐसे ईश तत्त्व का ध्यान करने, उसे आत्मसात् करने से अमृतत्व की प्राप्ति होना निश्चित ही है।]

वीरं प्रथमस्याद्यार्धान्त्यं तं स द्वितीयस्याद्यार्धान्त्यं हंभी तृतीयस्याद्यार्धान्त्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यार्धान्त्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। तस्मादिदं साम येन केनचिदाचार्यमुखेन यो जानीते स तेनैव शरीरेण संसारान्मुच्यते मोचयति मुमुक्षुर्भवति। जपात्तेनैव शरीरेण देवतादर्शनं करोति तस्मादिदमेव मुख्यद्वारं कलौ नान्येषां भवति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ ११॥

'वीर' यह पद मंत्रराज आनुष्टुभ के प्रथम पाद के पूर्वार्ध का अन्तिम भाग समझना चाहिए। 'तं स' यह पद इस साम के द्वितीय पाद के पूर्वार्ध का अन्तिम भाग समझना चाहिए। 'हंभी' यह पद इस साम के चतुर्थ पाद के पूर्वार्ध का अन्तिम भाग जानना चाहिए। यह सब साम ही है; जो ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। इसलिए इस साम को किसी आचार्य के द्वारा जो इस प्रकार जानता है, वह उसी शरीर में मुक्ति प्राप्त कर लेता है तथा दूसरों को भी मुक्त कराने वाला होता है। इसको जानने वाला यदि माया मोह में आसक्त भी हो, तो वह मुक्ति की इच्छा करने लगता है। इस सामरूपी मंत्र का जप करने वाला भगवान् नृसिंह का उसी शरीर से प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त कर लेता है। मुक्ति का इससे सरल मार्ग कलियुग में दूसरा नहीं है। समस्त अंगों सहित इस साम को जो जान लेता है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है॥ ११॥

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नरकेसरिविग्रहं कृष्णपिङ्गलम्। ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं शंकरं नीललोहितम्। उमापतिः पशुपतिः पिनाकी ह्यमितद्युतिः। ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्यो वै यजुर्वेदवाच्यस्तं हि साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ १२॥

साक्षात् ऋत और सत्य स्वरूप भगवान् नृसिंह सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापी परमात्मा हैं। वे काले और भूरे वर्ण के, मनुष्य और सिंह की संयुक्त आकृति वाले हैं। ऊर्ध्वरेता भगवान् नृसिंह के नेत्र अत्यन्त विकराल एवं भयंकर हैं। वे सबके लिए कल्याणकारी हैं। उनके कण्ठ में नील एवं उनके ऊर्ध्व भाग में लोहित वर्ण होने के कारण भक्त जन उनकी आराधना नीललोहित नाम से करते हैं। सर्वदेवस्वरूप भगवान् नृसिंह ही उमापति, पशुपति, पिनाकधारी (पिनाक नामक धनुष धारण करने वाले) एवं अमित द्युतिमान् (प्रकाशधारी) महेश्वर हैं।

भगवान् नृसिंह ही सभी विद्याओं एवं भूतों के अधिपति हैं। भगवान् नृसिंह ही ब्रह्माजी के स्वामी, ब्रह्म के अधीश्वर एवं यजुर्वेद के वाच्यार्थ हैं, उन्हें साम ही जानें। ऐसा जानने वाला अमरता को प्राप्त कर लेता है ॥ १२ ॥

[यहाँ नृसिंह के स्वरूप और उनकी सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हुई है, जो बड़ी रहस्यात्मकता से पूर्ण है। नृसिंह भगवान् को ऋत और सत्य कहा गया है, जो सृष्टि के आदिम घटक हैं-ऋतं च सत्यं ....सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् .... इत्यादि (ऋ० १०.१९०.१-३) मन्त्रों में इन्हीं घटकों से सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया बताई गई है। यहाँ 'नृसिंह' के तीन नाम आए हैं-कृष्णपिंगल, नीललोहित और द्युतिमान्। ये पदार्थ की अभिव्यक्ति के क्रमिक स्वरूप को प्रकट करते हैं। पहला स्वरूप कृष्णपिंगल-कालाभूरा, जो अस्पष्टता को द्योतित करता है, दूसरा नीललोहित-नीला लाल, जो अल्प स्पष्टता का द्योतक है और तीसरा द्युतिमान्-प्रकाशमय, जो पूर्ण स्पष्टता का द्योतक है। सृष्टि में पदार्थ रचना इसी क्रम से होने का यहाँ संकेत प्रतीत होता है।]

महा प्रथमान्तार्धस्याद्यं र्वतो द्वितीयान्तार्धस्याद्यं षणं तृतीयान्तार्धस्याद्यं नमा चतुर्थान्तार्धस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। तस्मादिदं साम सच्चिदानन्दमयं परं ब्रह्म तमेवं विद्वानमृत इह भवति। तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ १३ ॥

'महा' यह पद मंत्रराज आनुष्टुभ के प्रथम पाद के उत्तरार्ध का आदि भाग है। 'र्वतो' यह पद मंत्रराज आनुष्टुभ के द्वितीय पाद के उत्तरार्ध का आदि भाग है। 'षणं' यह पद तृतीय पाद के उत्तरार्ध का आदि भाग है और 'नमा' यह पद चतुर्थ पाद के उत्तरार्ध का आदि भाग है। यह सब साम ही है, इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। साम ही सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म है। इस तरह जान लेने से इसी जीवन में अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। इस साम को अंगों सहित जो जानता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ॥ १३ ॥

विश्वसृज एतेन वै विश्वमिदमसृजन्त यद्विश्वमसृजन्त तस्माद्विश्वसृजो विश्वमेनाननु प्रजायते ब्रह्मणः सलोकतां सार्ष्टितां सायुज्यं यन्ति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ १४॥

विश्व सृजेता प्रजापतियों ने साममय मंत्र के द्वारा ही संपूर्ण विश्व की रचना की है। इस कारण वे विश्व स्रष्टा कहे गये हैं। उन्हीं से उत्पन्न होने वाला यह विश्व है, इस रहस्य को जानने वाले ब्रह्म लोक को प्राप्त होकर उसी में लीन हो जाते हैं। इसलिए अंगसहित इस साम को जानना चाहिए। इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

विष्णुं प्रथमान्त्यं मुखं द्वितीयान्त्यं भद्रं तृतीयान्त्यं म्यहं चतुर्थान्त्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। योऽसौ वेद यदिदं किंचात्मनि ब्रह्मण्येवानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति स्त्रीपुंसयोर्वा। य इहैव स्थातुमपेक्षते तस्मै सर्वैश्वर्यं ददाति। यत्र कुत्रापि म्रियते देहान्ते देवः परमं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा सोऽमृतत्वं च गच्छति॥१५॥

मंत्रराज आनुष्टुभ के प्रथम चरण का अन्तिम पद 'विष्णुम्' है। द्वितीय चरण का अन्तिम पद 'मुखम्' है तृतीय चरण का अन्तिम पद 'भद्रं' है और चतुर्थ चरण का अन्तिम पद 'म्यहं' है। इस प्रकार इस साम को जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। उपर्युक्त उपासनादि तत्त्वों को प्रजापति ब्रह्माजी ने ही जाना है। मंत्रराज आनुष्टुभ सबकी आत्मा रूप में है एवं ब्रह्म में ही उसकी स्थिति है। इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। इस लोक में सुख समृद्धि चाहने वाले श्रेष्ठाचारी साधक को भगवान् नृसिंह समस्त प्रकार के ऐश्वर्य

प्रदान करते हैं। वह साधक चाहे जहाँ देह त्याग करे, भगवान् नृसिंह वहीं पर उसे परब्रह्ममय तारक मंत्र का बोध कराते हैं। मंत्र बोध के बाद वह अमृतस्वरूप को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥ १५॥

तस्मादिदं साममध्यगं जपति तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिस्तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिर्य एवं वेदेति महोपनिषत्। य एतां महोपनिषदं वेद स कृतपुरश्चरणो महाविष्णुर्भवति महाविष्णुर्भवति॥ १६॥

अत: तारक मंत्र रूपी साम का जप सदैव करना चाहिए; क्योंकि साम मंत्र के भीतर प्रजापति ब्रह्मा की ही शक्ति है। इस प्रकार जानने वाला ही वास्तविक साधक है। महान् परमेश्वर के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान होने के कारण इसे महोपनिषद् कहते हैं। इसके अन्तर्गत बताये मार्ग के द्वारा जो पुरश्चरण साधना करता है, उसे पूर्ण पुरश्चरण का लाभ प्राप्त होता है और वह महाविष्णु रूप हो जाता है॥ १६॥

॥ द्वितीयोपनिषद्॥

देवा ह वै मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयुस्ते प्रजापतिमुपाधावंस्तेभ्य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रायच्छत्तेन वै ते मृत्युमजयन् पाप्मानं चातरन्संसारं चातरंस्तस्माद्यो मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयात्स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रतिगृह्णीयात्स मृत्युं जयति स पाप्मानं तरति स संसारं तरति॥ १॥

प्राचीन काल में एक बार सभी देवता संसार, पाप और मृत्यु से भयभीत होकर, भागकर प्रजापति ब्रह्माजी के पास गये। प्रजापति ब्रह्माजी ने देवों को भगवान् नृसिंह के मंत्रराज आनुष्टुभ मंत्र का उपदेश किया। इसकी साधना करके उन्होंने मृत्यु को जीता तथा समस्त पापों से छूटकर संसार सागर को पार कर लिया। इसलिए मृत्यु, पाप एवं भवसागर से डरने वाले को मंत्रराज आनुष्टुभ की शरण में जाना चाहिए। जो व्यक्ति मंत्रराज की शरण में जाता है, वह मृत्यु को जीतकर, पापों का शमन कर संसार सागर से पार हो जाता है॥ १॥

तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः स साम्नः प्रथमः पादो भवति। द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णुरुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः स साम्नो द्वितीयः पादो भवति। तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्रा आदित्या जगत्याहवनीयः स साम्नस्तृतीयः पादो भवति। याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ओंकारः सोऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता सा साम्नश्चतुर्थः पादो भवति॥ २॥

यह जो प्रणव मंत्रराज का अंगभूत है, उसकी प्रथम मात्रा 'अ' कार है, उसका लोक पृथ्वी एवं ऋचाओं से सुशोभित ऋग्वेद ही वेद, ब्रह्मा देवता, अष्टवसु ही गण, छन्द गायत्री तथा गार्हपत्य अग्नि है। प्रणव की पहली मात्रा में ही यह सब निहित है। यह प्रथम मात्रा ही साम का प्रथम चरण है। 'उ' प्रणव की द्वितीय मात्रा है। इस द्वितीय मात्रा का लोक अंतरिक्ष, विष्णुदेवता और एकादश रुद्र ही गण, यजुर्मन्त्रों सहित यजुर्वेद इसका वेद, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि दक्षिणाग्नि है। मन्त्रराज साम का यह द्वितीय पाद है। मंत्रराज साम के अंगभूत प्रणव की तीसरी मात्रा 'म' कार है। इसका लोक 'द्यु' लोक है, वेद-सामवेद, रुद्र देवता और द्वादश आदित्य ही गण, छन्द जगती तथा अग्नि आहवनीय है। तृतीय मात्रा के अंतर्गत यह सब है। साम का तृतीय पाद यह तृतीय मात्रा ही है। नादात्मक अर्धमात्रा जो प्रणव के उच्चारण के अंत में ध्वनि के रूप में सुनाई देती है, उसका लोक

सोमलोक, ओंकार वाचक परब्रह्म ही देवता, वेद-अथर्ववेद, संवर्तक नाम की अग्नि, उनचास मरुत् ही गण विराट् छन्द है। (इस चतुर्थ मात्रा विशिष्ट ॐ कार के) एक ही ऋषि हैं (ब्रह्माजी)। अत्यन्त प्रकाशमयी यह मात्रा ब्रह्म स्वरूपा है। प्रणव की यह चतुर्थ मात्रा ही साम का चतुर्थ पाद है॥ २॥

अष्टाक्षरः प्रथमः पादो भवत्यष्टाक्षरास्त्रयः पादा भवन्त्येवं द्वात्रिंशदक्षराणि संपद्यन्ते द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्वमुपसंहृतम्॥ ३॥

यह अनुष्टुप् मंत्र कुल बत्तीस अक्षरों का है। जिसमें प्रथम चरण आठ अक्षरों का एवं शेष तीनों चरण भी आठ-आठ अक्षरों के ही होते हैं। सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि का केन्द्र यह अनुष्टुप् मंत्र ही है। उसी से उत्पत्ति एवं उसी से संहार भी होता है॥ ३॥

तस्य हैतस्य पञ्चाङ्गानि भवन्ति चत्वारः पादाश्चत्वार्यङ्गानि भवन्ति सप्रणवं सर्वं पञ्चमं भवति हृदयाय नमः शिरसे स्वाहा शिखायै वषट् कवचाय हुं अस्त्राय फडिति प्रथमं प्रथमेन संयुज्यते द्वितीयं द्वितीयेन तृतीयं तृतीयेन चतुर्थं चतुर्थेन पञ्चमं पञ्चमेन व्यतिषजति व्यतिषिक्ता वा इमे लोकास्तस्माद्व्यतिषिक्तान्यङ्गानि भवन्ति॥ ४॥

पाँच अंगों वाला यह अनुष्टुप् मंत्र है। चारों चरणों के साथ पाँचवाँ प्रणव भी उसका एक अंग है। प्रणव के साथ ही यह मंत्र पूरा होता है। मानव शरीर के भी पाँच अंग बताये गये हैं—हृदय, सिर, शिखा, बाहुमूल और मस्तक। इस प्रकार हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा, शिखायै वषट्, कवचाय हुम्, अस्त्राय फट् के साथ अनुष्टुप् के प्रत्येक अंगों का संयोग करना चाहिए। मंत्र के प्रथम भाग के साथ शरीर का प्रथम अंग का संयोग, द्वितीय के साथ द्वितीय, तृतीय के साथ तृतीय, चतुर्थ के साथ चतुर्थ एवं पंचम भाग के साथ पंचम अंग का संयोग करे। सम्पूर्ण लोक जिस प्रकार आपस में सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार से उक्त अंग भी परस्पर सम्बद्ध हैं॥ ४॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्मात्प्रत्यक्षरमुभयत ओंकारो भवति। अक्षराणां न्यासमुपदिशन्ति ब्रह्मवादिनः॥ ५॥

यह ओंकार सम्पूर्ण विश्व है। इसलिए इस अनुष्टुप् मंत्र के हर एक अक्षर के पहले और पीछे 'ॐकार' का सम्पुट लगाकर न्यास करना चाहिए। ब्रह्मवादी लोग इस प्रकार प्रत्येक अक्षर के साथ अंगन्यास करने के लिए कहते हैं॥ ५॥

तस्य ह वा उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति वीरं द्वितीयं स्थानं महाविष्णुं तृतीयं स्थानं ज्वलन्तं चतुर्थं स्थानं सर्वतोमुखं पञ्चमं स्थानं नृसिंहं षष्ठं स्थानं भीषणं सप्तमं स्थानं भद्रमष्टमं स्थानं मृत्युमृत्युं नवमं स्थानं नमामि दशमं स्थानमहमेकादशं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ ६॥

इस अनुष्टुप् का प्रथम पद 'उग्रम्' मंत्र का प्रथम स्थान है, यह जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। मंत्र में 'वीरम्' का द्वितीय स्थान है। 'महाविष्णुम्' पद का तृतीय स्थान है। 'ज्वलंतम्' का चतुर्थ स्थान है। 'सर्वतोमुखम्' का पंचम स्थान है। 'नृसिंहम्' का षष्ठ स्थान है। 'भीषणम्' का सप्तम स्थान है। 'भद्रम्' का अष्टम स्थान है। 'मृत्युमृत्युम्' का नवम स्थान है। 'नमामि' का दशम स्थान है। 'अहम्' का एकादश स्थान है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है॥ ६॥

[यहाँ दिये गये संकेतानुसार आनुष्टुभ मन्त्र इस प्रकार बनेगा- ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥]

एकादशपदा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्वमिदमुपसंहृतं तस्मात्सर्वानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ७॥

ग्यारह पदों वाली यह अनुष्टुप् वृत्ति है। सारे विश्व की रचना इसके द्वारा ही हुई है तथा उपसंहार भी इसी के द्वारा होता है। यह अनुष्टुप् की ही महिमा है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है॥ ७॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कस्मादुच्यत उग्रमिति। स होवाच प्रजापतिर्यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतान्युद्गृह्णात्यजस्त्रं सृजति विसृजति वासयत्युद्ग्राह्यत उद्गृह्यते। स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्। मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यं ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः तस्मादुच्यत उग्रमिति॥ ८॥

प्रजापति भगवान् ब्रह्माजी से देवताओं ने प्रश्न किया-'उग्रम्' विशेषण नृसिंह भगवान् के लिए क्यों कहा गया है। प्रजापति ने कहा-नृसिंह भगवान् अपनी महिमा से सभी लोकों,देवताओं, सब भूतों और सभी आत्माओं का निरन्तर उत्थान करते रहते हैं। सबकी सृष्टि करते, सबका विस्तार करते तथा संहार भी वे ही करते हैं। पूरी सृष्टि को अपने में लीन कर लेते हैं। वे ही संसार पर अनुग्रह करते तथा दूसरों से भी कराते हैं,उनको इसीलिए उग्र कहा जाता है। ऋग्वेद में इस विषय में कहा गया है कि जिनकी प्रार्थना श्रुतियाँ करती हैं,उन्हीं परमात्मा की स्तुति करो। परमात्मा हृदय रूपी गुफा में नव तारुण्य रूप में शोभायमान हैं। वे भगवान् सिंहरूप धारण करने के बाद भी भक्तों के लिए विकराल नहीं हैं। वे सर्वत्र सबके पास पहुँचकर सब पर अनुग्रह करने वाले हैं। साधकों का कल्याण और दुष्टों का संहार करने के कारण उन्हें उग्र कहा जाता है। हे नृसिंह भगवन्! हम आपकी प्रार्थना करते हैं, आप हमारा कल्याण करें। हमारे ऊपर आपकी भयंकर सेना आक्रमण न करे, कहीं अन्यत्र चली जाये। इन्हीं कारणों से उन्हें 'उग्रम्' कहा गया है॥ ८॥

अथ कस्मादुच्यते वीरमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि विरमति विरामयत्यजस्त्रं सृजति विसृजति वासयति। यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामस्तस्मादुच्यते वीरमिति॥ ९॥

देवताओं ने पुनः प्रश्न किया- प्रभो! 'वीरम्' विशेषण भगवान् नृसिंह को क्यों दिया गया है? ब्रह्माजी बोले- वे अपनी महिमा से सभी लोकों, सभी आत्माओं, सभी देवताओं और सभी भूतों के साथ अनेक प्रकार से क्रीड़ा करते हैं, क्रीड़ा (का आनन्द प्राप्त) कराते हैं, सतत सबको उत्पन्न करते, सभी का उपसंहार करते एवं सभी को स्थिरता प्रदान करते हैं। (ऋग्वेद की ऋचाओं में भी कहा गया है कि) भगवान् नृसिंह भक्तों पर अविलम्ब कृपा करने वाले हैं। वे वीर हैं, कर्मठ रूप होकर सोमयाग में पाषाण युक्त होकर अध्वर्यु आदि के रूप में सोम अभिषुत करने वाले हैं। देवताओं को उत्पन्न करने की कामना भी वही करते हैं। इस कारण उन्हें 'वीरम्' कहा जाता है।॥ ९॥

अथ कस्मादुच्यते महाविष्णुमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि व्याप्नोति व्यापयति स्नेहो यथा पललपिण्डं शान्तमूलमोतं प्रोतमनुव्याप्तं व्यतिषिक्तो व्याप्यते व्यापयते। यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया संविदानः त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशीं तस्मादुच्यते महाविष्णुमिति॥१०॥

(देवताओं ने प्रश्न किया- भगवन्! यह बताने की कृपा करें कि भगवान् नृसिंह को) 'महाविष्णुम्' नाम से क्यों सम्बोधित करते हैं। (प्रजापति बोले) सभी भूतों, सभी देवों, सभी लोकों में भगवान् नृसिंह अपनी महिमा से समान रूप से व्याप्त हैं। जिस प्रकार से मांस-पिण्ड में चिकनाई व्याप्त है, वैसे ही वे सभी अवयवों समेत पूरे शरीर में व्याप्त हैं। यह संसार उन्हीं से ओत-प्रोत होने के कारण प्रलयकाल में उन्हीं में लीन हो जाता है। (इनकी महिमा का वर्णन ऋग्वेद में किया गया है-) जो प्रजापालक, प्रजा द्वारा उपासना किये जाने वाले, सर्वत्र समान रूप से व्याप्त प्रजापालक हैं और जिनके समान कोई हुआ ही नहीं, वे भगवान् नृसिंह विविध ज्योतियों में सोलह कलाओं से युक्त होकर व्याप्त रहते हैं, इसी कारण उन्हें 'महाविष्णुम्' कहा गया है ॥ १० ॥

अथ कस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वतेजसा ज्वलति ज्वालयति ज्वाल्यते ज्वालयते। सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन्दीप्यमानः ज्वलञ्ज्वलिता तपन्वितपन्त्संतपन्रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणस्तस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति॥ ११ ॥

(देवताओं ने पुनः प्रश्न किया) कि भगवान् नृसिंह के लिए 'ज्वलंतम्' का प्रयोग क्यों होता है? (ब्रह्माजी बोले-) सभी भूतों, सभी देवों और सभी आत्माओं को भगवान् नृसिंह अपनी महिमा से प्रकाशित करते एवं स्वयं प्रकाशित रहते हैं। समस्त ज्योतियाँ एवं सम्पूर्ण लोक उनके ही प्रकाश से प्रकाशित होकर सबको प्रकाशित करते हैं (भगवान् नृसिंह की महिमा का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में लिखा है कि) वे ही सविता के रूप में प्रकाश फैलाने वाले एवं प्रसविता के रूप में उत्पादन करने वाले सदैव प्रकाशमान रहते हैं। स्वयं प्रकाशित होते हुए दूसरों को प्रकाश पहुँचाते हैं। स्वयं तपते हुए दूसरों को भी तपाते हैं। स्वयं कान्तियुक्त होकर दूसरों को भी कान्तिमान् बनाते हैं। स्वयं परम कल्याण स्वरूप होकर सुशोभित होते एवं सबको सुशोभित करते हैं। इसी कारण उन्हें 'ज्वलंतम्' कहा गया है ॥ ११ ॥

अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वयमनिन्द्रियोऽपि सर्वतः पश्यति सर्वतः शृणोति सर्वतो गच्छति सर्वत आदत्ते सर्वगः सर्वगतस्तिष्ठति। एकः पुरस्ताद्य इदं बभूव यतो बभूव भुवनस्य गोपाः। यमप्येति भुवनं सांपराये नमामि तमहं सर्वतोमुखमिति तस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति॥ १२ ॥

(देवताओं ने पुनः प्रश्न किया-हे प्रजापति!) भगवान् नृसिंह के लिए 'सर्वतोमुखम्' का प्रयोग क्यों हुआ है? (ब्रह्माजी ने कहा-) वे अपनी महिमा से सभी भूतों, सभी आत्माओं, सभी देवताओं और सभी लोकों को, स्वयं इन्द्रियों से परे होने पर भी सबको सब ओर से देखते, सुनते, ग्रहण करते और सभी तरफ गमन करते हुए सभी स्थानों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं। (ऋग्वेद में भी कहा गया है कि) सृष्टि के आदि में जो भगवान् स्वयं एक ही थे, वे ही इस विश्व के रूप में प्रकट हो गये। वे भगवान् ही विश्व के उत्पादक, पालक एवं संहारक हैं, ऐसे 'सर्वतोमुख' भगवान् को नमस्कार है। इसी कारण उन्हें 'सर्वतोमुखम्' कहा गया है ॥ १२ ॥

अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति। यस्मात्सर्वेषां भूतानां ना वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च सिंहो वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च। तस्मान्नृसिंह आसीत्परमेश्वरो जगद्धितं वा एतद्रूपं यदक्षरं भवति। प्रतद्विष्णुःस्तवते वीर्याय मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। तस्मादुच्यते नृसिंहमिति॥ १३ ॥

(देवताओं ने पुनः प्रश्न किया-) 'नृसिंहम्' यह विशेषण क्यों दिया गया है? (ब्रह्माजी ने कहा-) सभी

जीवों में मनुष्य सबसे अधिक पराक्रमी और श्रेष्ठ है। सिंह को भी सबसे अधिक पराक्रमी कहा जाता है। इस कारण भगवान् को नर और सिंह दोनों विशेषताओं से युक्त कहा गया। भगवान् का यह स्वरूप विश्व के लिए कल्याणकारी, सनातन एवं अविनाशी है। (वेद भगवान् ने कहा है-) वे भगवान् विष्णु सिंह का रूप धारण कर अपने भक्तों द्वारा स्तुत्य होते हैं। अनेक प्रकार की शक्ति प्राप्त करने के लिए भक्तजन प्रार्थना करते हैं। अपने भक्तों के लिए सिंह रूप में होने पर भी वे भयंकर नहीं होते। भगवान् नृसिंह पृथ्वी और पर्वत पर सब जगह विचरण करते हैं। वे सभी रूपों में स्थित होते हैं। स्तोताओं की वाणी में भी वे ही निहित हैं। उनके तीन डगों में तीनों लोक समाहित हो जाते हैं। इन कारणों से उनको 'नृसिंहम्' कहते हैं॥ १३॥

अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति। यस्माद्भीषणं यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वयं यतः कुतश्च न बिभेति। भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति तस्मादुच्यते भीषणमिति॥ १४॥

(देवताओं ने प्रश्न किया-) हे देव! यह बतायें कि इस मंत्र में भगवान् के लिए 'भीषणम्' शब्द का प्रयोग क्यों हुआ है? (प्रजापति बोले कि) भगवान् के भीषण रूप से सभी लोक, सभी देवता एवं सभी भूत प्राणी भयभीत हो जाते हैं, भय से काँपते हुए इधर-उधर भागने लगते हैं; परन्तु स्वयं भगवान् किसी से नहीं डरते। (वेद में कहा गया है-) इन भगवान् के भय से वायु देवता प्रवहमान रहते हैं। समय पर भगवान् सूर्य प्रकाशित होते हैं। अग्निदेव और इन्द्र भी इनके ही भय से अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं तथा पाँचवें मृत्यु देवता इनके ही भय से सक्रिय रहते हैं। इस कारण भगवान् को 'भीषणम्' कहा गया है॥ १४॥

अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति। यस्मात्स्वयं भद्रो भूत्वा सर्वदा भद्रं ददाति। रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणः। भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। तस्मादुच्यते भद्रमिति॥ १५॥

(देवताओं ने पूछा कि हे देव! यह बतायें कि) भगवान् नृसिंह को 'भद्रम्' क्यों कहा गया है? (प्रजापति ने कहा) कि भगवान् भद्र अर्थात् कल्याणस्वरूप हैं। स्वयं कान्तिमान् होकर दूसरों को भी कान्तिमान् बनाते एवं स्वयं सुशोभित होकर दूसरों को भी शोभायमान करते हैं। (वेद में कहा गया है-) याजकों के पोषक हे देवताओ! हम सदैव कल्याणकारी वचनों को ही अपने कानों से सुनें, नेत्रों से सदैव कल्याणकारी दृश्य ही देखें। हे देव! परिपुष्ट अंगों से युक्त सुदृढ़ शरीर वाले हम आपकी वन्दना करते हुए पूर्ण आयु तक जीवित रहें। जिससे हम भगवान् का काम कर सकें। इसीलिए भगवान् को 'भद्रम्' कहा गया है॥१५॥

अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युं च मारयति। य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छायामृतं यो मृत्युमृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम। तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति॥ १६॥

(उन देवताओं ने प्रश्न किया कि हे देव!) इस मंत्रराज में 'मृत्युमृत्युम्' पद क्यों आया है? (प्रजापति ने कहा-) भगवान् अपनी महिमा से अपने उपासकों द्वारा स्मरण किये जाने पर उपासकों की मृत्यु एवं अपमृत्यु (अकाल मृत्यु) को भी समाप्त कर देते हैं। (वेद में कहा गया है-) जो भौतिक एवं आध्यात्मिक सामर्थ्य को प्रदान करने वाला है, जिसकी छत्र-छाया (आश्रय) में रहकर अमरत्व का सुख तथा जिससे विमुख होकर मृत्यु-जन्य दुःख प्राप्त होता है, सन्मार्गगामी सभी देवगण जिसकी उत्तम शिक्षाओं का पालन करते हैं। उस सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा के लिए हम आहुतियाँ समर्पित करते हैं। इसी आधार पर उन्हें 'मृत्यु-मृत्युम्' कहते हैं॥ १६॥

अथ कस्मादुच्यते नमामीति। यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च। प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्। यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे। तस्मादुच्यते नमामीति॥ १७॥

(देवताओं ने पूछा कि) इस आनुष्टुभ में 'नमामि' पद क्यों आया है? (प्रजापति ने कहा) भगवान् नृसिंह की स्तुति सभी देवता, ब्रह्मज्ञानी पुरुष एवं मुमुक्षु जन करते हैं, इससे वे सबके स्तुत्य हैं। (वेद भगवान् कहते हैं-) ब्रह्माजी जिन भगवान् के लिए स्तुति करते हैं,जो ब्रह्मा और वेदों के आश्रयभूत हैं,इन्द्र,वरुण,मित्र एवं अर्यमा आदि देवों ने जिनको अपना इष्ट बनाया है,उन भगवान् के प्रति नमस्कार है। इसी कारण 'नमामि' शब्द आया है॥ १७॥

अथ कस्मादुच्यतेऽहमिति। अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः। यो मा ददाति स इ देवमावाः अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योतीः। य एवं वेदेति महोपनिषत्॥ १८॥

(देवता पुनः पूछने लगे-हे देव!) इस मंत्र में 'अहम्' पद क्यों आया है? (ब्रह्माजी ने कहा-) श्रुति का वचन है 'मैं इस सृष्टिरूपी सनातन यज्ञ से पहले उत्पन्न हुआ हूँ। अमृत की उत्पत्ति का स्थान मैं ही हूँ। अन्न मैं ही हूँ। मैं समस्त ज्योतियों एवं शक्तियों का प्रदाता हूँ। जो मुझे सत्पात्रों को प्रदान करते हैं,उससे सभी का कल्याण होता है। जो स्वयं ही अन्न का उपभोग करते हैं, मैं उन्हें खा जाता हूँ।' सच्चे साधक वे हैं, जो इस प्रकार से जानते हैं। यही महान् उपनिषद् (सान्निध्य या अनुभूति से प्राप्त महान् ज्ञान) है॥ १८॥

॥ तृतीयोपनिषद्॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य शक्तिं बीजं नो ब्रूहि भगव इति॥१

एक समय देवगणों ने प्रजापति ब्रह्माजी से पूछा, हे देव! भगवान् नृसिंह के आनुष्टुभ मंत्र की 'शक्ति' और उसके 'बीज' के बारे में बताने की कृपा करें ॥ १॥

स होवाच प्रजापतिर्माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति सर्वमिदं रक्षति सर्वमिदं संहरति। तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्याद्य एतां मायां शक्तिं वेद स पाप्मानं तरति स मृत्युं तरति स संसारं तरति सोऽमृतत्वं च गच्छति महतीं श्रियमश्नुते॥ २॥

तब प्रजापति ने कहा-नृसिंह भगवान् की सनातनी शक्ति माया के द्वारा ही यह संसार रचा गया है, वे ही इसकी रक्षा करती हैं एवं उन्हीं के द्वारा सृष्टि का विनाश होता है। इस कारण भगवान् की यह माया ही मंत्रराज की शक्ति है। इस माया को जान लेने पर व्यक्ति पापों से मुक्त हो जाता है, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है,अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। भवसागर से पार हो जाता है तथा इस लोक में समस्त प्रकार की समृद्धि प्राप्त करता है॥ २॥

मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनो ह्रस्वा दीर्घा प्लुता चेति। यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मानं दहत्यमृतत्वं च गच्छति यदि दीर्घा भवति महतीं श्रियमाप्नोत्यमृतत्वं च गच्छति यदि प्लुता भवति ज्ञानवान्भवत्यमृतत्वं च गच्छति॥ ३॥

ब्रह्मज्ञानी चिन्तन करते हैं कि नृसिंह भगवान् की मायारूपी शक्ति ह्रस्व,दीर्घ या प्लुत है? यदि यह माया शक्ति ह्रस्व है, तो उस साधक के माया रूप में जानने से उसके समस्त पापों का विनाश हो जाता है और अमृतत्व

प्राप्त कर लेता है। यदि साधक दीर्घ रूप में जानता है,तो वह महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करके अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। यदि प्लुत रूप में जानता है, तो इस रूप में जानने से साधक ज्ञानवान् होकर अमृतत्व प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनं—स ईं पाहि य ऋजीषी तरुत्रः श्रियं लक्ष्मीमौपलामम्बिकां गां षष्ठीं च यामिन्द्रसेनेत्युदाहुः तां विद्यां ब्रह्मयोनिं सरूपामिहायुषे शरणं प्रपद्ये ॥ ४ ॥

इस विषय में ऋषि कहते हैं-हे माया शक्ति रूप बिन्दुमय स्वर! मैं संसार सिंधु से पार होने के लिए सरल भावयुक्त, प्रयत्नशील होकर उपयोगी साधनों के साथ दीर्घायुष्य प्राप्त करने के लिए भगवान् की श्रीशक्ति (भगवती लक्ष्मी),शिवशक्ति(अम्बिका),ब्राह्मीशक्ति(सरस्वती), षष्ठीशक्ति(स्कन्दशक्ति)तथा इन्द्रसेना एवं ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली विद्याशक्ति की शरण में हूँ। आप सभी शक्तियों के साथ मेरी रक्षा करें ॥ ४ ॥

सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः परायणं सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्त आकाशादेव जातानि जीवन्त्याकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तस्मादाकाशं बीजं विद्यात् ॥ ५ ॥

आकाश ही समस्त प्राणियों का आश्रयभूत है। समस्त प्राणि-समुदाय की उत्पत्ति आकाश से ही होती है। आकाश से उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और आकाश में ही विलीन हो जाते हैं, इसलिए प्राणियों का सृष्टि बीज आकाश ही है ॥ ५ ॥

तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनं-हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्। य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥६ ॥

इस विषय में ऋषियों ने कहा है कि स्वयं प्रकाश पुरुषोत्तम भगवान् परमधाम में स्थित हैं। अन्तरिक्ष में निवास करने वाले वसु वे ही हैं। अतिथि के रूप में वे ही घरों में उपस्थित होते हैं। यज्ञवेदी पर प्रतिष्ठित अग्नि एवं आहुति देने वाले होता भी वे ही हैं। भूलोक में, इससे श्रेष्ठ स्वर्ग लोक में तथा सबसे श्रेष्ठ सत्यलोक में भी उन्हीं का निवास है। आकाश में उन्हीं का निवास है। सबसे महान् परम सत्य के रूप में पृथ्वी, जल, पर्वत तथा सत्कर्मों में वे ही प्रकट होते हैं। इस प्रकार जानने से पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है। यही महोपनिषद् है ॥ ६ ॥

॥ चतुर्थोपनिषद् ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्याङ्गमन्त्रान्नो ब्रूहि भगव इति ॥१

देवताओं ने प्रजापति ब्रह्माजी से पुनः प्रश्न किया-हे देव! मंत्रराज आनुष्टुभ के अंगभूत मंत्रों को बताने की कृपा करें ॥ १ ॥

स होवाच प्रजापतिः प्रणवं सावित्रीं यजुर्लक्ष्मीं नृसिंहगायत्रीमित्यङ्गानि जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ २ ॥

तब ब्रह्माजी ने कहा- ॐ कार(प्रणव),सावित्री(गायत्री),यजुर्लक्ष्मी तथा नृसिंह गायत्री को मंत्रराज का अंगभूत जानना चाहिए। जो इनको जानता है, वह भौतिक ऐश्वर्य के साथ अमृतत्व को भी प्राप्त कर लेता है ॥२ ॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्य-त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव। सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ ३ ॥

ॐ अविनाशी है। सम्पूर्ण दृश्य जगत् ओंकार की महिमा से ही चल रहा है। इस ओंकार से भूत,भविष्यत् एवं वर्तमान सभी सम्बन्धित हैं। तीनों कालों से परे जो कुछ है,वह भी ओंकार ही है। यह सब ब्रह्ममय जगत् ओंकार रूप है। परमात्मा रूप भगवान् नृसिंह ब्रह्म ही हैं। सर्वात्मस्वरूप भगवान् नृसिंह के चार पाद हैं ॥ ३ ॥

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ४ ॥

जिसका निवास स्थान जाग्रत् अवस्था और उससे व्याप्त यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् है और बाह्य जगत् में जो अपने ज्ञान का विषय बनाते हैं; भूः, भुवः आदि सातों लोक जिनके अंग के रूप में हैं; पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण तथा अन्तःकरण चतुष्टय ये उन्नीस जिनके मुख हैं; जो इस भौतिक जगत् के भोक्ता हैं; यह समस्त विश्व जिनका शरीर है तथा इसमें स्थित अंतर्यामी पुरुष होने के कारण जिनका नाम वैश्वानर है; वे वैश्वानर भगवान् पूर्णतम परमात्मा भगवान् नृसिंह के प्रथम पाद हैं ॥ ४ ॥

[यहाँ सप्तांग का तात्पर्य-सप्त संख्यक द्यु, सूर्य, वायु, आकाश, जल, पृथ्वी और आहवनीय अग्नि से है। उन्नीस मुख का तात्पर्य- ५ ज्ञानेन्द्रिय + ५ कर्मेन्द्रिय + ५ प्राण तथा ४ अन्तःकरण से है।]

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयःपादः ॥ ५ ॥

जिनका निवास स्थान स्वप्नावस्था और उससे व्याप्त यह सूक्ष्म जगत् है, जिनका ज्ञान आंतरिक अर्थात् सूक्ष्म जगत् में पूर्णतया व्याप्त है, जिनके सातों अंग हैं, जिनके उन्नीस मुख हैं, जो सूक्ष्म जगत् में व्याप्त उसके भोक्ता एवं पालक हैं, वे प्रकाश पुरुष हिरण्यगर्भ भगवान् नृसिंह के द्वितीय पाद हैं ॥ ५ ॥

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकी-भूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ ६ ॥

जिस स्थिति में सोया व्यक्ति न कोई कामना करता है,न कोई स्वप्न देखता है,वह सुषुप्तावस्था है। उस सुषुप्ति अवस्था और उससे उपलक्षित समस्त विश्व की प्रलयावस्था जिनका स्थान है, एक रूप में ही जिनकी स्थिति है, सर्वांगपूर्ण विज्ञान ही जिनका रूप है, जो स्वयं आनन्दमय हैं और चिन्मय प्रकाश रूप मुख वाले हैं, जो अपने स्वरूपभूत आनन्द के भोगने वाले हैं; वे प्राज्ञ पुरुष(नृसिंह के)तीसरे पाद हैं। वे परमात्मा सब कुछ जानने वाले, सर्वांतर्यामी,समस्त जगत् के कारण, सबकी उत्पत्ति,स्थिति और प्रलय के कारण वे प्रभु ही हैं ॥ ६ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनमदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणम-चिन्त्यमव्यपदेश्यमैकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥

जिसको स्थूल का ज्ञान नहीं है, न सूक्ष्म का ही ज्ञान है तथा जो स्थूल और सूक्ष्म दोनों का ज्ञाता नहीं है; जिसे ज्ञाता या अज्ञानी कुछ भी नहीं कहा जा सकता, जो प्रज्ञान का भी घनीभूत रूप नहीं है; जो दिखाई नहीं देता, जिसे न पकड़ा जा सकता, न व्यवहार में ही लाया जा सकता है तथा जो निराकार, अचिन्त्य अर्थात् अनुभूति रहित एवं अवर्णनीय है; जिसकी अनुभूति आत्मसत्ता के रूप में ही की जा सकती है, जो कल्याणकारी, प्रपञ्चरहित, सर्वथा शान्त, अद्वितीय तत्त्व है; वही भगवान् नृसिंह का चतुर्थ पाद है, ऐसा ज्ञानी पुरुष मानते हैं। वह आत्मा (परमात्मा) है, वह जानने योग्य है ॥ ७ ॥

अथ सावित्री गायत्र्या यजुषा प्रोक्ता तया सर्वमिदं व्याप्तं घृणिरिति द्वे अक्षरे सूर्य इति त्रीणि आदित्य इति त्रीणि। एतद्वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तं य एवं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते ॥ ८ ॥

अब सावित्री मंत्र के बारे में बताते हैं-यह सावित्री-मंत्र यजुर्मंत्र के रूप में गायत्री छंद से संयुक्त होकर कहा गया है। यह सारा विश्व उसी से ओत-प्रोत है। (घृणिः सूर्यः आदित्यः मंत्र में) घृणिः में दो अक्षर,सूर्यः (व्यूहन क्रिया से सूरयः)में तीन अक्षर और आदित्यः में तीन अक्षर हैं,इस प्रकार आठ अक्षरों वाला यह सावित्री मंत्र श्री(विभूति)से विभूषित है। इस मंत्र को इस तरह से जानने वाला लक्ष्मी के द्वारा विभूषित होता है ॥ ८ ॥

तदेतदृचाभ्युक्तं—ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति ॥ ९ ॥

ऐसा ऋचा के द्वारा कहा गया है-ऋग्वेद की ऋचाएँ स्वयं प्रकाशित परमाकाश रूप अविनाशी ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं। जहाँ पर सभी देवता निवास करते हैं। उन स्वप्रकाश परमात्मा को जो साधक नहीं जानते, वे वेद पाठ से क्या लाभ प्राप्त कर लेंगे ? जो उपासक उस ब्रह्म को इस प्रकार जानते हैं, वे आनन्द पूर्वक परम धाम में निवास करते हैं॥ ९ ॥

न ह वा एतस्यर्चा न यजुषा न साम्नाऽर्थोऽस्ति यः सावित्रं वेदेति॥ १० ॥

सावित्री मंत्र को जो इस तरह से जान लेता है, ऋग्, यजु: और सामवेद के मंत्रों की उसे आवश्यकता नहीं रहती ॥ १० ॥

ॐ भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः स्वर्लक्ष्मीः कालकर्णी तन्नो महालक्ष्मीः प्रचोदयात् इत्येषा वै महालक्ष्मीर्यजुर्गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा भवति॥ ११ ॥

जो सर्व ऐश्वर्यमयी देवी भू:लोक की लक्ष्मी, भुवः लोक की लक्ष्मी तथा स्वः लोक की लक्ष्मी हैं। जिनका नाम कालकर्णी है, वे महालक्ष्मी हमें श्रेष्ठ कर्मों की ओर प्रेरित करें। यह यजुर्वेदोक्त गायत्री महालक्ष्मी की गायत्री है, जो चौबीस अक्षरों वाली है॥ ११ ॥

गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किंच तस्माद्य एतां महालक्ष्मीं याजुषीं वेद महतीं श्रियमश्नुते॥१२

यह जो कुछ भी दृश्य जगत् है, निश्चय ही गायत्रीस्वरूप है। इन महालक्ष्मी यजुर्वेदमयी महारूपिणी गायत्री को जो जान लेता है, वह महान् ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है॥ १२॥

ॐ नृसिंहाय विद्महे वज्रनखाय धीमहि। तन्नः सिंहः प्रचोदयात् इत्येषा वै नृसिंहगायत्री देवानां वेदानां निदानं भवति य एवं वेद निदानवान्भवति॥ १३ ॥

हम नृसिंह भगवान् को (गुरु या शास्त्र से) जानते हैं, उन वज्र सदृश नख वाले (परमात्मा) को हम हृदय में धारण करते हैं, वे भगवान् नृसिंह हमें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान करें। देवताओं और वेदों की कारणभूता यही नृसिंह गायत्री है। जो इस तरह जान लेता है, वह भगवान् को प्राप्त कर लेता है॥ १३॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कैर्मन्त्रैः स्तुतो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तन्नो ब्रूहि भगवन्निति॥ १४॥

प्रजापति ब्रह्माजी से देवताओं ने पूछा-हे प्रजापति! आप हमें यह बतायें कि भगवान् नृसिंह किन मंत्रों से प्रार्थना करने पर प्रसन्न होते हैं॥ १४॥

स होवाच प्रजापतिः ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च ब्रह्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १ ॥ (यथा प्रथममन्त्रोक्तावाद्यन्तौ तथा सर्वमन्त्रेषु द्रष्टव्यौ) ...यश्च विष्णुः ...॥ २ ॥ .... यश्च महेश्वरः ...॥ ३ ॥ .... यश्च पुरुषः .....॥ ४॥ .... यश्चेश्वरः॥ ५ ॥ ....या सरस्वती .....॥ ६ ॥..... या श्रीः .....॥ ७॥..... या गौरी.....॥ ८ ॥..... या प्रकृतिः.....॥ ९ ॥ ..... या विद्या.... ॥ १० ॥ .....यश्चोंकारः ......॥ ११ ॥ .... याश्चतस्रोऽर्धमात्राः ....॥ १२ ॥ .... ये वेदाः साङ्गाः सशाखाः सेतिहासाः ....॥ १३ ॥ .... ये पञ्चाग्नयः ....॥ १४॥ .... याः सप्त महाव्याहृतयः ......॥ १५ ॥ .... ये चाष्टौ लोकपालाः ....॥ १६ ॥ ...... ये चाष्टौ वसवः ....॥ १७॥..... ये चैकादश रुद्राः ....॥ १८ ॥........ ये च द्वादशादित्याः ......॥ १९ ॥...... ये चाष्टौ ग्रहाः ......॥ २० ॥.......यानि च पञ्च महाभूतानि .....॥ २१ ॥ .....

यश्च कालः .... ॥ २२ ॥ ....यश्च मनुः .... ॥ २३ ॥ .... यश्च मृत्युः .... ॥ २४ ॥ ......यश्च यमः ..... ॥ २५ ॥ ..... यश्चान्तकः ...... ॥ २६ ॥ .... यश्च प्राणः ...... ॥ २७ ॥ ..... यश्च सूर्यः ..... ॥ २८ ॥ .....यश्च सोमः ..... ॥ २९ ॥ ..... यश्च विराट् पुरुषः ..... ॥ ३० ॥ ..... यश्च जीवः ..... ॥ ३१ ॥ ....यश्च सर्वम् .... ॥ ३२ ॥ इति द्वात्रिंशत् इति तान्प्रजापतिरब्रवीदेतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवध्वम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर प्रजापति ने कहा-मंत्रराज आनुष्टुभ मंत्र के प्रत्येक अक्षर-३२ अक्षर से एक स्तुति मंत्र प्रकट हुआ है, इन्हीं मंत्रों से स्तुति करनी चाहिए ॥ १५ ॥

[यहाँ प्रजापति ने नृसिंह भगवान् की स्तुति के रूप में बत्तीस मन्त्र प्रकट किये हैं। नृसिंह भगवान् को अनुष्टुप्मय कहा गया है (देखें-इसी उपनिषद् के १.२ की पाद टिप्पणी)। सृष्टि के उद्भव-विकास का उन्हें आधारभूत तत्त्व स्वीकारा गया है। यहाँ उन्हीं बत्तीस घटकों को आधार मानकर नृसिंह भगवान् की स्तुति की गई है। 'बत्तीस' मन्त्रों का विशेष प्रयोजन अनुष्टुप् छन्द के बत्तीस वर्ण होने से है। बत्तीस वर्णों वाले अनुष्टुप् छन्द के बत्तीस मन्त्रों द्वारा अनुष्टुप्मय नृसिंह भगवान् की स्तुति किया जाना और उनकी बत्तीस शक्ति धाराओं से तादात्म्य स्थापित करके लाभान्वित होना-समीचीन ही है।]

ततो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छति य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥ १६ ॥

इसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं। इसलिए जो नित्य प्रति इन मंत्रों से स्तुति करता है, वह प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त कर उनके विराट् रूप को देख लेता है और अमृतत्व को भी प्राप्त कर लेता है। इस तरह जानने वाले को वही (उक्त) फल प्राप्त होता है। यही महोपनिषद् है ॥ १६ ॥

॥ पञ्चमोपनिषद् ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य महाचक्रं नाम चक्रं नो ब्रूहि भगव इति सार्वकामिकं मोक्षद्वारं यद्योगिन उपदिशन्ति ॥ १ ॥

एक बार देवताओं ने श्रद्धापूर्वक प्रजापति ब्रह्माजी से प्रश्न किया कि हे भगवन्! मंत्रराज आनुष्टुभ का जो 'महाचक्र' नामक चक्र है, उसके बारे में बताने की कृपा करें। यह महाचक्र सभी मनोकामनाओं को पूर्ण करता है तथा मुक्ति दाता है, ऐसा योगी लोग कहते हैं ॥ १ ॥

[व्यक्त-अव्यक्त सृष्टि को अनुशासित ढंग से संचालित करने के लिए जो व्यवस्था चक्र बनाया गया है, उसे परमपुरुष का महाचक्र कहना उचित है। नृसिंह षट्चक्रोपनिषद् में चक्रों के विभिन्न रूप वर्णित हैं।]

स होवाच प्रजापतिः षडक्षरं वा एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्मात्षडरं भवति षट्पत्रं चक्रं भवति षड्वा ऋतव ऋतुभिः संमितं भवति मध्ये नाभिर्भवति नाभ्यां वा एतेऽराः प्रतिष्ठिता मायया एतत्सर्वं वेष्टितं भवति नात्मानं माया स्पृशति तस्मान्मायया बहिर्वेष्टितं भवति ॥ २ ॥

प्रश्न सुनकर ब्रह्माजी ने कहा- छः अक्षरों से युक्त यह सुदर्शन नामक महाचक्र है। छः ऋतुएँ इसमें छः अरों के समान हैं। यह अरे इसकी नाभि में प्रतिष्ठित होते हैं। मायारूप नेमि से यह सम्पूर्ण चक्र आवेष्टित है। आत्मा का स्पर्श माया नहीं करती है, इसलिए बाहर से ही वह षड्दल चक्र माया द्वारा घिरा हुआ है ॥ २ ॥

अथाष्टारमष्टपत्रं चक्रं भवत्यष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्र्या संमितं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति क्षेत्रं क्षेत्रं वै मायैषा संपद्यते ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् अष्टाक्षर युक्त अष्टदल चक्र आठ अरों वाला चक्र बनता है। गायत्री के एक पद में आठ अक्षर होते हैं, इसलिए इस चक्र के अरों की समता गायत्री के आठ अक्षरों से होती है। इसे भी माया ने बाहर से आवृत कर रखा है। यह माया हर क्षेत्र में व्याप्त रहती है॥ ३॥

अथ द्वादशारं द्वादशपत्रं चक्रं भवति द्वादशाक्षरा वै जगती जगत्या संमितं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति॥ ४॥

फिर द्वादशाक्षरी चक्र बनाते हैं, इस द्वादशाक्षरी चक्र की तुलना जगती छन्द से करते हैं, जिसका एक चरण द्वादश अक्षर का होता है। यह चक्र भी बाहर से ही माया द्वारा आवृत होता है॥ ४॥

अथ षोडशारं षोडशपत्रं चक्रं भवति षोडशकलो वै पुरुषः पुरुष एवेदं सर्वं पुरुषेण संमितं भवति मायया बहिर्वेष्टितं भवति॥ ५॥

तत्पश्चात् षोडशार चक्र बनाते हैं, जिसमें सोलह दल होते हैं, ये षोडश कलायें भगवान् नृसिंह की सोलह कलाओं के रूप में होती हैं। भगवान् सोलह कलायुक्त हैं, इस कारण इस चक्र को साक्षात् भगवान् ही समझना चाहिए। यह चक्र भी माया द्वारा बाहर से ही आवेष्टित है॥ ५॥

अथ द्वात्रिंशदरं द्वात्रिंशत्पत्रं चक्रं भवति द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति॥ ६॥

तत्पश्चात् बत्तीस दलों वाला चक्र बत्तीस अरों के रूप में होता है। बत्तीस अक्षरों वाला अनुष्टुप् छन्द होता है। प्रत्येक अक्षर में एक अरे की भावना करनी चाहिए। माया के द्वारा यह भी बाहर से ही आवेष्टित होता है॥

अरैर्वा एतत्सुबद्धं भवति वेदा वा एतेऽराः पत्रैर्वा एतत्सर्वतः परिक्रामति छन्दांसि वै पत्राणि॥ ७॥

अरों के द्वारा यह भलीप्रकार आबद्ध होता है। इस चक्र के अरे वेद हैं, इसके पत्ते छन्द हैं, यह चक्र छंदरूपी पत्तों से ही सब तरफ घूमता है॥ ७॥

एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्य मध्ये नाभ्यां तारकं यदक्षरं नारसिंहमेकाक्षरं तद्भवति षट्सु पत्रेषु षडक्षरं सुदर्शनं भवत्यष्टसु पत्रेष्वष्टाक्षरं नारायणं भवति द्वादशसु पत्रेषु द्वादशाक्षरं वासुदेवं भवति। षोडशसु पत्रेषु मातृकाद्याः सबिन्दुकाः षोडश स्वरा भवन्ति। द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति। तद्वा एतत्सुदर्शनं नाम चक्रं महाचक्रं सार्वकामिकं मोक्षद्वारमृङ्मयं यजुर्मयं साममयं ब्रह्ममयममृतमयं भवति। तस्य पुरस्ताद्वसव आसते रुद्रा दक्षिणत आदित्याः पश्चाद्विश्वेदेवा उत्तरतो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा नाभ्यां सूर्याचन्द्रमसौ पार्श्वयोः॥८॥

यह सुदर्शन नामक 'महाचक्र' बत्तीस दलों के कारण ही विख्यात है। उसके मध्य में स्थित नाभि स्थान में भगवान् नृसिंह से सम्बन्धित एकाक्षरी तारक मंत्र 'ॐ' का न्यास करना चाहिए। यह तारक मंत्र एकाक्षर का ही है। चक्र के छः पत्रों में 'सहस्रार हुं फट्' इस छः अक्षरों वाले सुदर्शन मंत्र का न्यास करना चाहिए। चक्र के अष्टदलों में अष्टाक्षरी नारायण मंत्र (ॐ नमो नारायणाय) का स्थान है(न्यास करे)। द्वादशाक्षर वासुदेव मंत्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) की चक्र के द्वादश दलों में स्थापना करनी चाहिए। षोडश दलों में वर्णमाला के प्रारम्भ के स्वर और बिन्दु सहित सोलह अक्षरों का न्यास करना चाहिए। चक्र के बत्तीस दलों में बत्तीस अक्षर वाले मंत्रराज आनुष्टुभ का न्यास करे। यह सुदर्शन नामक महाचक्र समस्त मनोभिलषित कार्य पूरे करने वाला,

मुक्ति का द्वार, ऋक्, यजुः, साम वेदरूप, साक्षात् परब्रह्म और अमृतमय है। अष्टवसु इसके पूर्व भाग में, एकादश रुद्र दक्षिण भाग में, द्वादश आदित्य पश्चिम में, विश्वेदेवा उत्तर में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर नाभि में तथा सूर्य और चन्द्रमा पार्श्व भाग में स्थित होते हैं॥ ८॥

[यहाँ जिस सुदर्शन महाचक्र के निर्माण की प्रक्रिया वर्णित है, उसका रेखा चित्र-यन्त्र भी बनता है। साधना-अनुष्ठान के अन्तर्गत मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र का उल्लेख मिलता है। इन यन्त्रों को धारण करने का विशेष लाभ बताया गया है।]

तदेतदृचाभ्युक्तं— ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति॥ ९॥

वेद की ऋचा कहती है- परमाकाश रूप अविनाशी (भगवान् नृसिंह) में सभी वेद स्थित हैं। सभी देवता भी उन्हीं में स्थित हैं। उन परमेश्वर(भगवान् नृसिंह एवं उनके महाचक्र सुदर्शन) को जो नहीं जानता, उसे ऋग्वेदादि वेदाध्ययन से कोई लाभ नहीं। (भगवान् नृसिंह एवं उनके चक्र को) जानने वाला साधक श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है।॥ ९॥

तदेतत्सुदर्शनं महाचक्रं बालो वा युवा वा वेद स महान्भवति स गुरुःसर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवत्यनुष्टुभा होमं कुर्यादनुष्टुभार्चनं कुर्यात्तदेतद्रक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते तस्माच्छ्रद्धया यां कांचिद्गां दद्यात्सा दक्षिणा भवति ॥ १०॥

यदि कोई बालक अथवा युवा इस सुदर्शन नामक महाचक्र की जानकारी प्राप्त कर लेता है, वह महानता प्राप्त कर सबका गुरु हो जाता है। वह सभी मन्त्रों का उपदेष्टा बन जाता है। इस यंत्र का पूजन और हवन, मंत्रराज आनुष्टुभ के द्वारा होता है। इस सुदर्शन नामक यन्त्र को राक्षसों के भय से मुक्त करने वाला तथा मृत्यु से तार देने वाला कहा गया है। गुरु द्वारा प्राप्त इस यंत्र को कण्ठ, बाँह या शिखा में धारण करे। सप्तद्वीपा पृथ्वी भी यदि दक्षिणा में इसके उपदेशक गुरु को दी जाये, तो कम है। इसलिए जितना बन पड़े, उतना श्रद्धायुक्त भूदान करना चाहिए॥ १०॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य फलं नो ब्रूहि भगव इति॥ ११॥

देवताओं ने प्रजापति से पूछा-भगवन्! मंत्रराज आनुष्टुभ का क्या फल है? हमें यह बताने की कृपा करें॥

स होवाच प्रजापतिर्य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आदित्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति स सत्यपूतो भवति स ब्रह्मपूतो भवति स विष्णुपूतो भवति स रुद्रपूतो भवति स देवपूतो भवति स सर्वपूतो भवति स सर्वपूतो भवति॥ १२॥

प्रजापति ने कहा-नियमित रूप से इस मंत्रराज का अध्ययन जप करने वाला अग्नितप्त स्वर्ण की तरह हो जाता है। सूर्य, चन्द्र एवं वायु के द्वारा भी वह पवित्र कर दिया जाता है। सत्य के द्वारा पवित्र होकर लोक एवं ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र सहित सभी देवों द्वारा वह पवित्र हो जाता है। वह सभी के द्वारा पवित्र हो जाता है॥ १२॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स मृत्युं तरति स पाप्मानं तरति स ब्रह्महत्यां तरति स भ्रूणहत्यां तरति स वीरहत्यां तरति स सर्वहत्यां तरति स संसारं तरति स सर्वं तरति स सर्वं तरति॥ १३॥

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

वह पाप से मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या तथा वीर (भ्रातृ) हत्या से मुक्त हो जाता है। वह समस्त प्रकार की हत्याओं से मुक्त हो जाता है। वह संसार-सागर से पार हो जाता है। वह सबको पार कर देता है ॥१३॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निं स्तम्भयति स वायुं स्तम्भयति स आदित्यं स्तम्भयति स सोमं स्तम्भयति स उदकं स्तम्भयति स सर्वान्देवांस्तम्भयति स सर्वान्ग्रहांस्तम्भयति स विषं स्तम्भयति स विषं स्तम्भयति ॥ १४ ॥

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, वह अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और जल के प्रवाह की गति को अवरुद्ध कर देता है। वह देवताओं को स्तम्भित कर सकता है। वह सभी ग्रहों की गति को अवरुद्ध कर सकता है तथा विष भी स्तम्भित कर सकता है ॥ १४ ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स देवानाकर्षयति स यक्षानाकर्षयति स नागानाकर्षयति स ग्रहानाकर्षयति स मनुष्यानाकर्षयति स सर्वानाकर्षयति स सर्वानाकर्षयति ॥१५॥

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, वह देवताओं, यक्षों, नागों, ग्रहों तथा सभी मनुष्यों को अपने समीप आकर्षित कर लेता है, वह सबको आकर्षित कर सकता है ॥ १५ ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स भूर्लोकं जयति स भुवर्लोकं जयति स स्वर्लोकं जयति स महर्लोकं जयति स जनोलोकं जयति स तपोलोकं जयति स सत्यलोकं जयति स सर्वांल्लोकाञ्जयति स सर्वांल्लोकाञ्जयति ॥ १६ ॥

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है,वह भूलोक,भुवः लोक,स्वःलोक, महः लोक,जनःलोक,तपःलोक और सत्यलोक को जीत लेता है। वह समस्त लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥१६

य एतं मन्त्रराजमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निष्टोमेन यजते स उक्थ्येन यजते स षोडशिना यजते स वाजपेयेन यजते सोऽतिरात्रेण यजते सोऽप्तोर्यामेण यजते सोऽश्वमेधेन यजते स सर्वैः क्रतुभिर्यजते स सर्वैः क्रतुभिर्यजते ॥ १७ ॥

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, वह अग्निष्टोम यज्ञ, उक्थ्य याग, षोडशी याग, वाजपेय यज्ञ, अतिरात्र यज्ञ, अप्तोर्याम याग और अश्वमेध यज्ञों का यजन कर लेता है अर्थात् सभी यज्ञों का फल प्राप्त कर लेता है। वह सभी क्रतुओं से यजन कर लेता है ॥ १७ ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स पुराणान्यधीते स कल्पानधीते स गाथामधीते स नाराशंसीरधीते स प्रणवमधीते यः प्रणवमधीते स सर्वमधीते स सर्वमधीते ॥१८॥

जो इस आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है,उसे ऋग्,यजुः,साम और अथर्ववेद के स्वाध्याय का फल प्राप्त होता है। उसे वेद के आंगिरस भाग के स्वाध्याय का फल मिलता है। उसे पुराण,कल्प गाथाओं, नाराशंसी और प्रणव के अध्ययन का फल प्राप्त होता है। जप करने वाला मानो सबका अध्ययन कर लेता है ॥१८

अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्सममुपनीतशतमेकमेकेन गृहस्थेन तत्समं गृहस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समं वानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समं यतीनां तु शतं पूर्णमेकमेकेन रुद्रजापकेन तत्समं रुद्रजापकशतमेकमेकेनाथर्वशिरः शिखाध्यापकेन तत्सममथर्वशिरः शिखाध्यापकशतमेकमेकेन तापनीयोपनिषदध्यापकेन तत्समं तापनीयोपनिषदध्यापकशतमेकमेकेन मन्त्रराजाध्यापकेन तत्समम् ॥ १९ ॥

एक यज्ञोपवीतधारी सौ बिना यज्ञोपवीतधारी बालकों के समान होता है। एक वेदपाठी सद्गृहस्थ ऐसे सौ ब्रह्मचारियों के समान होता है। एक वानप्रस्थ ऐसे सौ गृहस्थों के समान होता है। एक संन्यासी ऐसे सौ वानप्रस्थियों के समान होता है। एक रुद्रजापक ऐसे सौ संन्यासियों के समान होता है। एक अथर्वशिरस् एवं अथर्वशिख उपनिषद् का स्वाध्याय करने वाला ऐसे सौ रुद्रजापकों के तुल्य है। ऐसे सौ अथर्वशिरस् के पाठ करने वाले एक नारसिंह मंत्र का जप करने वाले के बराबर होते हैं॥ १९॥

तद्वा एतत्परमं धाम मन्त्रराजाध्यापकस्य यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखं सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परमं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः॥ २०॥

भगवान् नारसिंह के मंत्रराज का साधक उस परमधाम को प्राप्त करता है, जहाँ पर वायु गमन नहीं करती, जहाँ पर सूर्य का ताप नहीं होता, जहाँ न चन्द्रमा का प्रकाश होता है, न तारे चमकते हैं; जिस स्थान पर अग्नि प्रज्वलित नहीं होती तथा जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं होता, जो दुःख रहित स्थान है, जो सदैव आनन्ददायी, परम आनन्ददायक, शान्त, शाश्वत, परम कल्याणकारी, ब्रह्मादि देवों द्वारा वन्दित, योगियों का परमलक्ष्य, परमपद है; जहाँ जाकर साधक इस संसार से मुक्त हो जाते हैं॥ २०॥

तदेतदृचाभ्युक्तम्— तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्। तदेतन्निष्कामस्य भवति तदेतन्निष्कामस्य भवति य एवं वेदेति महोपनिषत्॥ २१॥

ऋग्वेद की ऋचा में भी कहा गया है- जिस प्रकार सामान्य नेत्रों से आकाश में स्थित सूर्यदेव को सहजता से देखा जाता है, उसी प्रकार विद्वज्जन अपने ज्ञान चक्षुओं से विष्णुदेव के (देवत्व के परमपद को) श्रेष्ठ स्थान को देखते (प्राप्त करते) हैं। जागरूक विद्वान् स्तोतागण विष्णुदेव के उस परम पद को प्रकाशित करते हैं (अर्थात् जन सामान्य के लिए प्रकट करते हैं); जो ऐसा जानता है, ऐसे कामना रहित साधक को वह दिव्य पद प्राप्त होता है; यही महोपनिषद् है॥ २१॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः॥

॥ इति नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्॥

यह एक लघुकाय उपनिषद् है। यह उपनिषद् देवताओं और प्रजापति के मध्य हुए प्रश्नोत्तर से प्रकट हुई है। एक बार देवों ने प्रजापति से 'नारसिंह चक्र' के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, जिसका समाधान प्रजापति ने प्रदान किया। प्रजापति ने नारसिंह चक्र की संख्या 'छह' बताई। इसी आधार पर इस उपनिषद् की 'नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्' संज्ञा हुई। छहों चक्रों का नाम बताते हुए प्रजापति ने कहा-प्रथम आचक्र, द्वितीय सुचक्र, तृतीय महाचक्र, चतुर्थ सकललोक रक्षणचक्र, पंचम द्यूत चक्र और षष्ठ असुरान्तक चक्र है। तत्पश्चात् देवों ने तीन वलय और उनके भेदों-प्रभेदों की बात पूछी है, जिसे प्रजापति ने बड़ी स्पष्टता से उत्तर दिया है। पुनः देवों ने इन चक्रों को धारण करने के स्थान के विषय में प्रश्न पूछा, तब प्रजापति ने इनके धारण करने के स्थान तथा धारण करने के लाभ भी बताए हैं। अन्त में इस उपनिषद् के अध्ययन की फलश्रुति बताते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

ॐ देवा ह वै सत्यं लोकमायंस्तं प्रजापतिमपृच्छन्नारसिंहचक्रन्नो ब्रूहीति। तान्प्रजापति-र्नारसिंहचक्रमवोचत्। षड्वै नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति। यत्प्रथमं तच्चतुररं यद्द्वितीयं तच्चतुररं यत्तृतीयं तदष्टारं यच्चतुर्थं तत्पञ्चारं यत्पञ्चमं तत्पञ्चारं यत्षष्ठं तदष्टारं तदेतानि षडेव नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति॥ १॥

एक बार देवताओं ने सत्यलोक में पहुँचकर प्रजापति (ब्रह्माजी) से कहा-आप हमें नारसिंह चक्र का उपदेश प्रदान करने की कृपा करें। तदुपरान्त प्रजापति ने उन समस्त देवों को नारसिंह चक्र का उपदेश प्रदान किया, जो इस प्रकार है-नारसिंह चक्र की संख्या छः होती है। प्रथम चक्र चार 'अर' वाला, द्वितीय भी चार 'अर' वाला, तृतीय आठ 'अर' वाला, चतुर्थ पाँच 'अर' वाला, पंचम भी पाँच 'अर' वाला तथा छठवाँ आठ 'अर' वाला है। इस तरह से ये छः नारसिंह चक्र कहलाते हैं॥ १॥

अथ कानि नामानि भवन्ति। यत्प्रथमं तदाचक्रं यद्द्वितीयं तत्सुचक्रं यत्तृतीयं तन्महाचक्रं यच्चतुर्थं तत्सकललोकरक्षणचक्रं यत्पञ्चमं तद्द्यूतचक्रं यद्वै षष्ठं तदसुरान्तकचक्रं तदेतानि षडेव नारसिंहचक्रनामानि भवन्ति॥ २॥

देवों के द्वारा यह पूछने पर कि उनके क्या-क्या नाम हैं? यह सुनकर प्रजापति ने कहा कि प्रथम आचक्र, दूसरा सुचक्र, तीसरा महाचक्र, चौथा सकललोक रक्षणचक्र, पाँचवाँ द्यूतचक्र एवं छठवाँ असुरान्तक चक्र के नाम से प्रख्यात है। ये ही छः नारसिंह चक्रों के नाम हैं॥ २॥

अथ कानि त्रीणि वलयानि भवन्ति। यत्प्रथमं तदान्तरवलयं भवति। यद्द्वितीयं तन्मध्यमं वलयं भवति। यत्तृतीयं तद्बाह्यं वलयं भवति। तदेतानि त्रीण्येव वलयानि भवन्ति। यदा तद्वैतद्बीजं यन्मध्यमं तां नारसिंहगायत्रीं यद्बाह्यं तन्मन्त्रः॥ ३॥

तदनन्तर देवों द्वारा यह पूछे जाने पर कि उसके तीन वलय कौन-कौन से होते हैं? प्रजापति ने बताया कि प्रथम आन्तर, द्वितीय मध्यम और तृतीय बाह्य है। ये ही तीन वलय कहलाते हैं। इनमें से जो मध्यम बीज है, वह नारसिंह गायत्री और जो बाह्य है, वही मन्त्र है॥ ३॥

अथ किमान्तरं वलयम्। षड्वान्तराणि वलयानि भवन्ति। यन्नारसिंहं तत्प्रथमस्य यन्माहालक्ष्म्यं तद्द्वितीयस्य यत्सारस्वतं तत्तृतीयस्य यस्य यत्कामं देवं तच्चतुर्थस्य यत्प्रणवं

तत्पञ्चमस्य यत्क्रोधदैवतं तत्षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षडान्तराणि वलयानि भवन्ति॥ ४॥

आन्तर वलय कितने हैं ? देवों द्वारा यह पूछे जाने पर प्रजापति ब्रह्मा जी ने कहा कि आन्तर वलयों की संख्या छः है। नारसिंहम् पहले का है, महालक्ष्म्यं दूसरे का सारस्वत तीसरे का है, जिन लोगों का जो इष्टदेव हो, वह चौथे का है, ओंकार पाँचवें का और क्रोध दैवत छठे का नाम है। अतः ये छः नारसिंह चक्रों के छः आन्तर वलय हैं॥ ४॥

अथ किं मध्यमं वलयम्। षड्वै मध्यमानि वलयानि भवन्ति। यन्नारसिंहाय तत्प्रथमस्य यद्विद्महे तद्द्वितीयस्य यद्वज्रनखाय तत्तृतीयस्य यद्धीमहि तच्चतुर्थस्य यत्तन्नस्तत्पञ्चमस्य यत्सिंहः प्रचोदयादिति तत्षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षणमध्यमानि वलयानि भवन्ति॥ ५॥

देवों ने जब यह पूछा कि मध्यम वलयों की संख्या कितनी है ? तो प्रजापति जी ने उत्तर दिया कि मध्यम वलयों की संख्या भी छः ही है। 'नारसिंहाय' प्रथम का है, 'विद्महे' दूसरे का, 'वज्रनखाय' तीसरे का है, 'धीमहि' चौथे का, 'तन्नः' पाँचवें का, 'सिंहः प्रचोदयात्' छठे का नाम है। अतः ये छः नारसिंह चक्रों के छः मध्यम वलय होते हैं॥ ५॥

अथ किं बाह्यं वलयम्। षड्वै बाह्यानि वलयानि भवन्ति। यदाचक्रं यदात्मा तत्प्रथमस्य यत्सुचक्रं यत्प्रियात्मा तद्द्वितीयस्य यन्महाचक्रं यज्ज्योतिरात्मा तत्तृयीयस्य यत्सकललो-करक्षणचक्रं यन्मायात्मा तच्चतुर्थस्य यदाचक्रं यद्योगात्मा तत्पञ्चमस्य यदसुरान्तकचक्रं यत्सत्यात्मा तत्षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षट् बाह्यानि वलयानि भवन्ति॥६॥

देवों ने पुनः पूछा कि बाह्य वलय कितने और कौन हैं ? इसका उत्तर देते हुए प्रजापति ने कहा कि बाह्य वलय भी छः होते हैं। जो आचक्र एवं आत्मा है, वह पहले का है; जो सुचक्र तथा प्रियात्मा है, वह दूसरे का है; जो महाचक्र एवं ज्योतिरात्मा है, वह तीसरे का है; जो सम्पूर्ण लोकों का रक्षण चक्र एवं मायात्मा है, वह चौथे का है; जो आचक्र एवं योगात्मा है, वह पाँचवें का है; जो असुरान्तक चक्र एवं सत्यात्मा है, वह छठे का नाम है। अतः ये ही छः नारसिंह चक्रों के छः बाह्य वलय हैं॥ ६॥

[यहाँ प्रथम बाह्य वलय में 'आचक्र' का उल्लेख है; किन्तु पाँचवें वलय के रूप में पुनः इसी 'आचक्र' को उद्धृत किया गया है, जबकि इसके पूर्व पाँचवें वलय के रूप में 'द्यूतचक्र' को स्वीकारा गया है, यह परिवर्तन विचारणीय है।]

क्वैतानि न्यस्यानि। यत्प्रथमं तद्धृदये यद्द्वितीयं तच्छिरसि यत्तृतीयं तच्छिखायां यच्चतुर्थं तत्सर्वेष्वङ्गेषु यत्पञ्चमं तत्सर्वेषु (?) यत्षष्ठं तत्सर्वेषु देशेषु। य एतानि नारसिंहानि चक्राण्येतेष्वङ्गेषु बिभृयात् तस्यानुष्टुप् सिध्यति। तं भगवान् नृसिंहः प्रसीदति। तस्य कैवल्यं सिद्ध्यति। तस्य सर्वे लोकाः सिध्यन्ति। तस्य सर्वे जनाः सिद्ध्यन्ति। तस्मादेतानि षण्णां नारसिंहचक्राण्यङ्गेषु न्यस्यानि भवन्ति। पवित्रं च एतत्तस्य न्यसनम्। न्यसनान्नृसिंहानन्दी भवति। कर्मण्यो भवति। ब्रह्मण्यो भवति। अन्यसनान्न नृसिंहानन्दी भवति। न कर्मण्यो भवति। तस्मादेतत्पवित्रं तस्य न्यसनम्॥ ७॥

इनका न्यास कहाँ करना चाहिए? अर्थात् कहाँ धारण करना चाहिए? देवताओं के द्वारा यह पूछे जाने पर प्रजापति ने कहा कि जो प्रथम है उसे हृदय में, जो द्वितीय है उसे सिर में, जो तृतीय है उसे शिखा में, जो चतुर्थ है उसे समस्त अंगों में, जो पञ्चम है उसे सभी में तथा जो षष्ठ है उसे सम्पूर्ण देशों (पूरे शरीर) में धारण करना चाहिए। जो मनुष्य इन नारसिंह चक्रों को अपने समस्त अङ्गों में धारण करता है, उसे अनुष्टुप् की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उस पर भगवान् नृसिंह प्रसन्न होते हैं। उसे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। उसके समस्त लोक सिद्ध हो जाते हैं। वह समस्त लोकों को प्राप्त कर लेता है। उसे सभी लोग (समस्त परिजन) सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् उसके अनुयायी वशानुवर्ती हो जाते हैं। ये ही छः नारसिंह चक्रों के अङ्गों में न्यास के स्थान हैं। इनका न्यास अत्यधिक शुद्ध है। इनके न्यास द्वारा मनुष्य नृसिंह को आनन्द प्रदान करने वाला हो जाता है। वह कर्मण्य (श्रेष्ठ कर्म) का ज्ञाता हो जाता है, वह ब्रह्मज्ञाता हो जाता है। इस न्यास के बिना नृसिंह प्रसन्न नहीं होते और न ही मनुष्य कर्मण्य हो सकता है। अतः यही अत्यन्त पवित्र है, इसका न्यास ही अत्यन्त शुद्ध-पवित्र है॥ ७॥

[यहाँ न्यास के प्रकरण में चतुर्थ न्यास में सभी अंगों तथा छठे न्यास में सभी स्थानों का उल्लेख है; किन्तु पाँचवें न्यास में सभी शब्द के साथ किसी स्थान का उल्लेख क्यों नहीं हुआ, यह विचारणीय है।]

यो वा एतं नारसिंहं चक्रमधीते स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति। स सर्वेषु यज्ञेषु याजको भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वेषु मन्त्रेषु सिद्धो भवति। स सर्वत्र शुद्धो भवति। स सर्वरक्षो भवति। भूतपिशाचशाकिनीप्रेतवंताकनाशको भवति। स निर्भयो भवति। तदेतन्नाश्रद्दधानाय प्रब्रूयात्तदेतन्नाश्रद्दधानाय प्रब्रूयादिति॥ ८॥

जो मनुष्य इस नारसिंह चक्र उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह सम्पूर्ण वेदों का भी अध्ययन करने वाला हो जाता है। वह समस्त यज्ञों का कर्ता समझा जाता है अर्थात् वह सभी यज्ञ कर लेने वाला माना जाता है। उसने समस्त तीर्थों में स्नान भी कर लिया है, ऐसा जानना चाहिए। उसे सभी मन्त्रों की सिद्धियाँ भी मिल जाती हैं। वह पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। वह सबकी रक्षा करने में समर्थ होता है। वह भूत, पिशाच, शाकिनी, प्रेत एवं वंताक आदि भय प्रदान करने वाली योनियों का नाश करने वाला भी होता है अर्थात् उसके पास ये सभी अनिष्टकारक तत्त्व फटक नहीं सकते। वह निर्भय हो जाता है। इस नारसिंह चक्र का उपदेश श्रद्धाहीन के समक्ष किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए॥ ८॥

॥ इति नृसिंहषट्चक्रोपनिषत् समाप्ता॥

॥ पाशुपतब्रह्मोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें वालखिल्य ऋषि एवं स्वयंभू ब्रह्माजी के बीच हुए 'हंस सूत्र' विषयक प्रश्नोत्तर का वर्णन है। यह उपनिषद् दो काण्डों (पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड) में प्रविभक्त है।

पूर्वकाण्ड में सर्वप्रथम जगत्-नियन्ता के विषय में सात प्रश्न किए गये हैं, जिनका क्रमशः उत्तर दिया गया है। तत्पश्चात् सृष्टियज्ञ में कर्त्ता का निरूपण, नादानुसन्धान यज्ञ, परमात्मा का 'हंस' रूप, यज्ञसूत्र एवं ब्रह्मसूत्र में साम्य, प्रणव हंस का यज्ञत्व, ब्रह्मसन्ध्या का क्रियारूप मानसिक यज्ञ, हंस और प्रणव का अभेदानुसंधान, ९६ हंस सूत्र हंसात्मविद्या से मुक्ति, बाह्य यज्ञ की अपेक्षा आन्तरिक यज्ञ की श्रेष्ठता, ज्ञान यज्ञरूप अश्वमेध तथा तारकहंस ज्योति का वर्णन है।

उत्तरकाण्ड में सर्वप्रथम ब्रह्मसम्पत्ति का तत्पश्चात् परमात्मा में जगत् का आविर्भाव मायाजन्य, हंसार्कप्रणव ध्यान की विधि, शिव द्वारा मन तथा इन्द्रियों की प्रेरकता, आत्मा में अन्य की अनुभूति माया जन्य, आत्मज्ञानी की ब्रह्मात्मता, सत्यादि श्रेष्ठविद्या का साधनत्व, आत्मज्ञानी की आवागमन से मुक्ति, ब्रह्मज्ञानी के लिए भक्ष्याभक्ष्य विवेक की अनुपयोगिता और अन्त में ज्ञानी द्वारा अपने में सभी के दर्शन करने की स्थिति का वर्णन है। इस प्रकार ब्रह्मविषयक गूढ़ सिद्धान्तों का बहुत विशद वर्णन इस उपनिषद् में किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

॥ पूर्वकाण्डः ॥

अथ ह वै स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजाः सृजानीति कामकामो जायते कामेश्वरो वैश्रवणः ॥ १ ॥

एक बार स्वयंभू भगवान् ब्रह्माजी के मन में यह आकांक्षा प्रादुर्भूत हुई कि "मैं प्रजा का सृजन करूँ"। उसी सृष्टि क्रम में कामेश्वर (रुद्र) एवं वैश्रवण की उत्पत्ति हुई॥ १ ॥

वैश्रवणो ब्रह्मपुत्रो वालखिल्यः स्वयंभुवं परिपृच्छति जगतां का विद्या का देवता जाग्रत्तुरीययोरस्य को देवो यानि कस्य वशानि कालाः कियत्प्रमाणाः कस्याज्ञया रविचन्द्रग्रहादयो भासन्ते कस्य महिमा गगनस्वरूप एतदहं श्रोतुमिच्छामि नान्यो जानाति त्वं ब्रूहि ब्रह्मन् ॥ २ ॥

तदुपरान्त ब्रह्मपुत्र वैश्रवण वालखिल्य ऋषि ने स्वयंभू ब्रह्माजी से प्रश्न किया- हे भगवन्! यह जगत् विद्या क्या है? जाग्रत् और तुरीयावस्था के देवता कौन हैं? यह जगत् किसके वश में है? काल का क्या प्रमाण है? सूर्य एवं चन्द्रादि ग्रह किसकी आज्ञा से प्रतिभासित (प्रकाशित) होते हैं? किसकी महिमा गगन के सदृश विशाल है? हम इन सभी प्रश्नों के उत्तर आपसे सुनना चाहते हैं। आपके अतिरिक्त अन्य और कोई इन प्रश्नों का ज्ञाता नहीं है, अतः हे ब्रह्मन्! आप कृपा करके इन प्रश्नों को बताने का अनुग्रह करें॥ ३ ॥

स्वयंभूरुवाच कृत्स्नजगतां मातृका विद्या॥ ३ ॥

स्वयंभू (ब्रह्माजी) ने कहा-सम्पूर्ण जगत् (उत्पन्न) करने वाली मातृका विद्या (अक्षर विद्या) है॥ ३ ॥

द्वित्रिवर्णसहिता द्विवर्णमाता त्रिवर्णसहिता। चतुर्मात्रात्मकोङ्कारो मम प्राणात्मिका देवता ॥४ ॥

वह दो वर्ण (हंस) से युक्त तथा तीन वर्ण (प्रणव) वाली है। दो वर्ण वाली भी तीन वर्ण के सहित (प्रणव) ही है। चार मात्राओं से युक्त ओंकार मेरा प्राण रूप देवता है॥ ४॥

अहमेव जगत्त्रयस्यैकः पतिः॥ ५॥

मैं ही एकमात्र तीनों लोकों का पति (भरण-पोषण करने वाला) हूँ॥।५॥

मम वशानि सर्वाणि युगान्यपि॥ ६॥

समस्त युग मेरे ही वश (नियंत्रण) में रहते हैं॥ ६॥

अहोरात्रादयो मत्संवर्धिताः कालाः॥ ७॥

मेरे द्वारा ही अहोरात्र अर्थात् दिन-रात्रि आदि काल संवर्द्धित (प्रादुर्भूत) हुए हैं॥ ७॥

मम रूपा रवेस्तेजश्चन्द्रनक्षत्रग्रहतेजांसि च॥ ८॥

रवि, चन्द्रमा , समस्त नक्षत्रों एवं ग्रह आदि में जो तेज विद्यमान है, वह मेरा ही स्वरूप है॥८॥

गगनो मम त्रिशक्तिमायास्वरूपो नान्यो मदस्ति॥ ९॥

यह आकाश त्रिशक्ति युक्त (सत, रज, तम) मायारूप में मेरा ही स्वरूप है। मेरे सिवाय अन्य और कुछ भी नहीं है॥ ९॥

तमोमायात्मको रुद्रः सात्त्विकमायात्मको विष्णू राजसमायात्मको ब्रह्मा। इन्द्रादयस्ताम-सराजसात्मिका न सात्त्विकः कोऽपि। अघोरः सर्वसाधारणस्वरूपः॥ १०॥

तमोगुणी मायारूप- रुद्र हैं, विष्णु सतोगुणी मायारूप हैं और ब्रह्मा रजोगुणी माया रूप हैं। इन्द्रादि देवता रजोगुण एवं तमोगुण से ओत-प्रोत हैं। इनमें से कोई भी देव सात्त्विक नहीं हैं। एक मात्र केवल अघोर (शिव) ही सर्वसाधारण सामान्य रूप वाले हैं॥ १०॥

समस्तयागानां रुद्रः पशुपतिः कर्ता। रुद्रो यागदेवो विष्णुरध्वर्युर्होतेन्द्रो देवता यज्ञभुग् मानसं ब्रह्म महेश्वरं ब्रह्म॥ ११॥

समस्त यज्ञों के कर्त्ता-पशुपति रुद्र भगवान् हैं, भगवान् विष्णु यज्ञ के अध्वर्यु हैं तथा इन्द्रदेव होता (मंत्र बोलने वाले) हैं। महेश्वर-ब्रह्म के मानस रूप ब्रह्म ही इस यज्ञ के भोक्ता हैं॥ ११॥

मानसो हंसः सोऽहं हंस इति। तन्मययज्ञो नादानुसंधानम्। तन्मयविकारो जीवः॥ १२॥

उस मानस ब्रह्म का रूप ही ''हंसः-सोऽहं'' है। इस तन्मयता की प्राप्ति हेतु जो यज्ञ सम्पन्न किया जाता है, वही नाद-अनुसंधान है। तन्मय (उस चैतन्यमयता) का विकार ही जीव है॥ १२॥

[हंस साधना और सोऽहं साधना एक ही कही गई है। एक ओर से हंसः यही नाद दूसरी ओर से सोऽहं भाषित होता है। भाव रूप में मैं वह ही हूँ (हं-सः) तथा वह मैं ही हूँ (सोऽहं) यह दोनों भाव तत्त्वतः जीव और ब्रह्म के एकत्व के ही बोधक हैं।]

परमात्मस्वरूपो हंसः। अन्तर्बहिश्चरति हंसः। अन्तर्गतोऽनवकाशान्तर्गतसुपर्णस्वरूपो हंसः॥१३॥

(वह) 'हंस' परमात्मा का स्वरूप है। (वह) हंस बाह्य एवं अन्तः में विचरण करता रहता है। अन्तः के अनवकाश वाले स्थल में यह हंस सुपर्णमय (ईश्वर-परब्रह्म) रूप में विद्यमान रहता है॥ १३॥

षण्णवतितत्त्वतन्तुवद्व्यक्तं चित्सूत्रत्रयचिन्मयलक्षणं नवतत्त्वत्रिरावृतं ब्रह्मविष्णुमहेश्व-रात्मकमग्नित्रयकलोपेतं चिद्ग्रन्थिबन्धनम् अद्वैतग्रन्थिः॥ १४॥

यज्ञसाधारणाङ्गं बहिरन्तर्ज्वलनं यज्ञाङ्गलक्षणब्रह्मस्वरूपो हंसः ॥ १५ ॥

छियानवे तत्त्व तन्तुओं के रूप में व्यक्त होने वाला, चित् के तीन सूत्रों (सत्, चित्, आनन्द) से चिन्मय लक्षणों वाला त्रिगुणित होने से नौ तत्त्वों वाला, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप तीन अग्नियों से संयुक्त, चिद् ग्रन्थियों से बँधा हुआ, अद्वैत ग्रन्थि (ब्रह्मग्रन्थि) से युक्त यज्ञ के सामान्य अंग-रूप में बाह्य एवं अन्त:करण को प्रकाशित करने वाला यज्ञोपवीत, ब्रह्म के लक्षणों से युक्त हंस रूप है॥ १४-१५ ॥

[यहाँ यज्ञोपवीत की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के रूप में की गई है। स्थूल यज्ञोपवीत का निर्माण जिन चेतन तत्त्वों के आधार पर किया जाता है, यहाँ उनका उल्लेख ऋषि कर रहे हैं। यज्ञोपवीत बनाने में चार अंगुलों अथवा उस माप को किसी वस्तु पर कच्चे सूत्र के तीन तारों को ९६ बार लपेटा जाता है। उसे बटकर तिहरन करके पुनः बटते हैं। इस प्रकार एक लड़ में ९ तार हो जाते हैं। इसे तीन लड़ों वाले यज्ञोपवीत रूप में ग्रथित किया जाता है। प्रारंभिक ग्रंथियों के बाद अंत में ब्रह्मग्रन्थि लगाई जाती है। इन्हीं का विश्लेषण-ऋषि ने किया है। अन्य बातें तो मन्त्रार्थ में स्पष्ट हैं, केवल ९६ तत्त्वों का उल्लेख नहीं है। इसका स्पष्टीकरण सामवेदीय छान्दोग्य परिशिष्ट में इस प्रकार दिया गया है-'तिथिवारञ्च नक्षत्रं तत्त्ववेदगुणान्वितम्। कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम्' अर्थात् तत्त्व २५, गुण ३, तिथि १५, वार ७, नक्षत्र २७, वेद ४, काल ३ तथा मास १२ इस प्रकार कुल ९६ तत्त्व वाला ब्रह्मसूत्र है।]

उपवीतलक्षणसूत्रब्रह्मगा यज्ञाः। ब्रह्माङ्गलक्षणयुक्तो यज्ञसूत्रम्। तद्ब्रह्मसूत्रम्। यज्ञसूत्र-संबन्धी ब्रह्मयज्ञः तत्स्वरूपः ॥ १६ ॥

इस प्रकार यह उपवीत के लक्षणों से युक्त सूत्र (ब्रह्मसूत्र) यज्ञ-रूप है अर्थात् यह ब्रह्म का प्रतीक रूप है। ब्रह्म के लक्षणों से युक्त यह यज्ञसूत्र (यज्ञोपवीत) है, वही ब्रह्मसूत्र है। अतः यज्ञोपवीत एवं ब्रह्मयज्ञ दोनों एक दूसरे के स्वरूप ही हैं ॥ १६ ॥

अङ्गानि मात्राणि। मनोयज्ञस्य हंसो यज्ञसूत्रम्। प्रणवं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्मयज्ञमयम्। प्रणवान्तर्वर्ती हंसो ब्रह्मसूत्रम्। तदेव ब्रह्मयज्ञमयं मोक्षक्रमम्॥ १७ ॥

इसके अंग मात्राएँ हैं। यह ब्रह्मसूत्र ही इस मनोयज्ञ का हंस है। ब्रह्मयज्ञ से युक्त यह प्रणव भी ब्रह्मसूत्र ही है। प्रणव का अन्त:वर्ती हंस भी ब्रह्मसूत्र है। यह ब्रह्मयज्ञ मोक्ष का साधन रूप ही है ॥ १७ ॥

[बाहर ब्रह्मसूत्र धारण करने का वास्तविक उद्देश्य अन्त:वर्ती ब्रह्मसूत्र को जाग्रत्-जीवन्त बनाना होता है। जब अन्त:वर्ती ब्रह्मसूत्र परिपक्व अवस्था में पहुँच जाता है, तो बाह्यसूत्र को त्यागकर 'संन्यास' में प्रवेश किया जाता है।]

ब्रह्मसंध्याक्रिया मनोयागः। संध्याक्रिया मनोयागस्य लक्षणम्॥ १८ ॥

ब्रह्मसंध्या मानसिक यज्ञ की क्रिया है, संध्या-क्रिया मानसिक यज्ञ का लक्षण है॥ १८ ॥

[जो लोग ब्रह्मसंध्या को स्थूल कर्मकाण्ड के रूप में ही दुहरा कर अपना दायित्व पूरा मान लेते हैं, मानसिक यज्ञ के रूप में उसे जाग्रत्-विकसित नहीं करते, उन्हें सन्ध्यावन्दन का शास्त्रोक्त लाभ प्राप्त नहीं होता।]

यज्ञसूत्रप्रणवब्रह्मयज्ञक्रियायुक्तो ब्राह्मणः। ब्रह्मचर्येण चरन्ति देवाः। हंससूत्रचर्या यज्ञाः। हंसप्रणवयोरभेदः ॥ १९ ॥

जो मनुष्य यज्ञोपवीत, प्रणव एवं ब्रह्मयज्ञ की क्रिया से सम्पन्न हैं, वही ब्राह्मण हैं। ब्रह्मचर्य में ही देवता विचरण करते हैं। सूत्ररूप हंस एवं प्रणव दोनों एक ही हैं। इन दोनों में कोई भेद नहीं है ॥ १९ ॥

हंसस्य प्रार्थनास्त्रिकालाः। त्रिकालास्त्रिवर्णाः। त्रेताग्न्यनुसंधानो यागः। त्रेताग्न्यात्मा-कृतिवर्णोङ्कारहंसानुसंधानोऽन्तर्यागः ॥ २० ॥

हंस की प्रार्थना त्रिकाल अर्थात् तीन समय में सम्पन्न की जाती है। तीन काल, तीन वर्ण (अकार, उकार,

मकार) होते हैं। यह यज्ञ तीन अग्नियों के अनुसंधान द्वारा सम्पन्न करने का है। तीन अग्नि रूप आत्मा की आकृति एवं वर्ण वाले ॐकार रूप हंस का अनुसंधान ही अन्त: का यज्ञ है॥ २०॥

चित्स्वरूपवत्तन्मयं तुरीयस्वरूपम्। अन्तरादित्ये ज्योतिःस्वरूपो हंसः॥ २१॥

चित् स्वरूप में तन्मय (तल्लीन) होना ही तुरीयावस्था का स्वरूप है। अन्त: के आदित्य में हंस ही ज्योति रूप में अवस्थित है॥ २१॥

यज्ञाङ्गं ब्रह्मसंपत्तिः। ब्रह्मप्रवृत्तौ तत्प्रणवहंससूत्रेणैव ध्यानमाचरन्ति॥ २२॥

यज्ञाङ्ग ही ब्रह्म-सम्पत्ति है। अत: ब्रह्म-प्राप्ति के निमित्त प्रणवरूप हंस की साधना में ही ध्यान द्वारा विचरण करना चाहिए॥ २२॥

प्रोवाच पुनः स्वयंभुवं प्रतिजानीते ब्रह्मपुत्रो ऋषिर्वालखिल्यः। हंससूत्राणि कतिसंख्यानि कियद्वा प्रमाणम्॥ २३॥

ब्रह्मपुत्र वालखिल्य ने पुन: स्वयंभू ब्रह्माजी से पूछा-हे भगवन्! 'हंससूत्रों की संख्या कितनी है तथा उनके प्रमाण कितने हैं? आप तो सभी कुछ जानने में समर्थ हैं, कृपा करके बताने का अनुग्रह करे'॥ २३॥

हृद्यादित्यमरीचीनां पदं षण्णवतिः। चित्सूत्रघ्राणयोः स्वर्निर्गता प्रणवाधारा षडङ्गुलदशाशीतिः॥ २४॥

तदनन्तर स्वयंभू ब्रह्माजी ने उत्तर दिया- 'हृदय- आदित्य की छियानवे रश्मियाँ हैं। चित्-सूत्र घ्राण से स्वरसहित निकलने वाली धारा भी छियानवे अंगुल होती है'॥ २४॥

वामबाहुदक्षिणकट्योरन्तश्चरति हंसः परमात्मा ब्रह्मगुह्यप्रकारो नान्यत्र विदितः॥ २५॥

बायीं भुजा (कंधा) और दक्षिण कट्यन्त (दाहिनी ओर कटि के छोर पर) के मध्य (हृदय क्षेत्र) में परमात्मा हंस का निवास है; किन्तु इस गुह्य विषय की जानकारी किसी को नहीं हो पाती है॥ २५॥

जानन्ति तेऽमृतफलकाः। सर्वकालं हंसं प्रकाशकम्। प्रणवहंसान्तर्ध्यानप्रकृतिं विना न मुक्तिः॥

जिन्हें अमृतत्व की प्राप्ति हो गई है, वे ही उस सर्वकाल प्रकाशमान हंस को जानते हैं। प्रणवरूपी हंस का अन्तर्ध्यान किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो पाती॥ २६॥

नवसूत्रान्परिचर्चितान्। तेऽपि यद्ब्रह्म चरन्ति। अन्तरादित्यं न ज्ञातं मनुष्याणाम्॥ २७॥

जो मनुष्य रँगे हुए इस नौ सूत्र वाले यज्ञोपवीत को धारण करते हैं। वे भी इसकी उपासना ब्रह्ममय मान कर ही करते हैं; किन्तु इन मनुष्यों को अन्त: में स्थित आदित्यरूप ब्रह्म का ज्ञान(आत्मबोध)नहीं होता॥२७॥

जगदादित्यो रोचत इति ज्ञात्वा ते मर्त्या विबुधास्तपनप्रार्थनायुक्ता आचरन्ति॥ २८॥

आदित्य जगत् को प्रकाशित करता है, यह जानकर वे बुद्धिमान् मनुष्य पवित्रता एवं ज्ञान के लिए उसकी प्रार्थना करते हैं॥ २८॥

वाजपेयः पशुहर्ता अध्वर्युरिन्द्रो देवता अहिंसा धर्मयागः परमहंसोऽध्वर्युः परमात्मा देवता पशुपतिः॥ २९॥

वाजपेय यज्ञ (विशिष्ट ज्ञानयज्ञ) पशुहर्ता (पशुत्वभाव-अज्ञान भाव का हरण करने वाला) है। इस यज्ञ के अध्वर्यु एवं देवता इन्द्र (परमेश्वर) हैं। यह अहिंसात्मक धर्मयज्ञ (मोक्षयज्ञ) है, इसके अध्वर्यु परमहंस तथा देवता पशुपति परमात्मा हैं॥ २९॥

ब्रह्मोपनिषदो ब्रह्म। स्वाध्याययुक्ता ब्राह्मणाश्चरन्ति॥ ३०॥

वेद एवं उपनिषद् में जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, उसी (परमात्मतत्त्व) की ये स्वाध्याययुक्त ब्रह्मज्ञानी उपासना करते हैं॥ ३०॥

अश्वमेधो महायज्ञकथा। तद्राज्ञा ब्रह्मचर्यमाचरन्ति। सर्वेषां पूर्वोक्तब्रह्मयज्ञक्रमं मुक्तिक्रममिति॥ ३१॥

इस महायज्ञ का ज्ञान ही अश्वमेध यज्ञ है। इसके आश्रय से ही वे (ज्ञानीजन) ब्रह्मज्ञान का आचरण करते हैं। पूर्व में वर्णित समस्त ब्रह्मयज्ञ-कर्म ही मुक्ति प्रदान करने में समर्थ हैं॥ ३१॥

ब्रह्मपुत्रः प्रोवाच। उदितो हंस ऋषिः। स्वयंभूस्तिरोदधे। रुद्रो ब्रह्मोपनिषदो हंसज्योतिः पशुपतिः प्रणवस्तारकः स एवं वेद॥ ३२॥

ब्रह्मपुत्र ने पुनः कहा-'हंस से सम्बन्धित ज्ञान का प्राकट्य हो गया है।' ऐसा श्रवण कर स्वयंभू तिरोहित हो गये। इस उपनिषद् में जिस हंस ज्योति का वर्णन किया गया है, वही रुद्र है और संसार से उद्धार करने वाला प्रणव (ओंकार) ही पशुपति (ब्रह्म) है, उसे ऐसा जानो॥ ३२॥

॥ उत्तरकाण्डः ॥

हंसात्ममालिकावर्णब्रह्मकालप्रचोदिता। परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसंपत्तिकारिणी॥ १॥

'हंस' का जप ही वर्ण ब्रह्म है, इसी से ब्रह्म-प्राप्ति की प्रेरणा प्राप्त होती है। यह ब्रह्म ही परमात्मा एवं पुरुष है। यह ब्रह्म सम्पत्ति से युक्त होता है॥ १॥

अध्यात्मब्रह्मकल्पस्याकृतिः कीदृशी कथा। ब्रह्मज्ञानप्रभासन्ध्या कालो गच्छति धीमताम्। हंसाख्यो देवमात्माख्यमात्मतत्त्वप्रजः कथम्॥ २॥

जो मनुष्य अपने आत्मिक ज्ञान से ब्रह्म के समान हो गया हो, फिर उसके संदर्भ में कहने के लिए क्या शेष रह जाता है? ज्ञानी मनुष्य अपना सम्पूर्ण समय ब्रह्मचर्चा एवं उपासना में ही व्यतीत करते हैं। जब हंस एवं आत्मा में एकात्मता स्थापित हो जाती है, तो फिर प्रजा कहाँ हो सकती है?॥ २॥

अन्तः प्रणवनादाख्यो हंसः प्रत्ययबोधकः। अन्तर्गतप्रमागूढं ज्ञाननालं विराजितम्॥ ३॥

अन्त:करण से नि:सृत होने वाले प्रणव रूपी नाद से जो हंस ज्ञात होता है, वही सम्पूर्ण ज्ञान का बोध कराने वाला है। अन्तः में अनुभवगम्य गूढ़ ज्ञान के द्वारा बाह्य जगत् के ज्ञान की प्राप्ति होती है॥ ३॥

शिवशक्त्यात्मकं रूपं चिन्मयानन्दवेदितम्। नादबिन्दुकला त्रीणि नेत्रविश्वविचेष्टितम्॥ ४॥

शिव-शक्तिमयात्मकरूप चिन्मय आनन्द से ज्ञात होने वाला है। नाद, बिन्दु एवं कला इन तीनों नेत्रों (जागृति) से ही यह जगत् चेष्टायुक्त है॥ ४॥

त्रियंगानि शिखा त्रीणि द्वित्रीणि संख्यमाकृतिः। अन्तर्गूढप्रमा हंसः प्रमाणान्निर्गतं बहिः॥ ५॥

तीन अंग, तीन शिखा एवं दो या तीन मात्राओं में उसकी संख्या (आकृति) ज्ञात होती है। जब इस प्रकार से वह अन्तर्धान हो जाता है, तब इस गूढ़ आत्मा का ज्ञान बाह्य जगत् में भी प्रमाण के रूप में प्रकट होता है॥५॥

ब्रह्मसूत्रपदं ज्ञेयं ब्राह्म्यं विध्युक्तलक्षणम्। हंसार्कप्रणवध्यानमित्युक्तो ज्ञानसागरे॥ ६॥

जगत् के सूत्ररूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके स्वयमेव ब्रह्म के लक्षणों से युक्त होना चाहिए तथा निरन्तर हंस रूपी सूर्य का प्रणव सहित ध्यान करते रहना चाहिए, यही ज्ञानीजनों का उपदेश है॥ ६॥

एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागरपारगः। स्वतः शिवः पशुपतिः साक्षी सर्वस्य सर्वदा॥ ७॥

इस प्रकार से विशेष ज्ञान-प्राप्ति होने के पश्चात् ही ज्ञान-सागर के पार पहुँचा जा सकता है। स्वयं भगवान् शिवरूप पशुपति-ब्रह्म ही सर्वदा (इसके) साक्ष्य रूप हैं॥ ७॥

[अध्यात्म क्षेत्र में जड़-चेतन दोनों प्रकार के ज्ञान के अतिवाद को उचित नहीं माना गया है, जैसा कि ईशोपनिषद् (९) में 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' .... इत्यादि मन्त्र में 'केवल विद्या की उपासना करने वालों' को भी अन्धकार में फँस जाने की बात कही गई है। यहाँ 'ज्ञान' को डुबाने वाला सागर तथा उससे पार जाने की बात उक्त तथ्य को ध्यान में रखकर ही कही गयी प्रतीत होती है।]

सर्वेषां तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु। विषये गच्छति प्राणश्चेष्टते वाग्वदत्यपि॥ ८॥

यही भगवान् शिव सभी लोगों के मन को प्रेरित एवं संतुलित-नियमित करने वाले हैं, जिसके प्रभाव से मन विषयों में गतिशील होता है। प्राण चेष्टा-रत रहते हैं तथा वाणी उच्चारण का कार्य करती है॥ ८॥

चक्षुः पश्यति रूपाणि श्रोत्रं सर्वं शृणोत्यपि। अन्यानि खानि सर्वाणि तेनैव प्रेरितानि तु॥ ९॥
स्वं स्वं विषयमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते निरन्तरम्। प्रवर्तकत्वं चाप्यस्य मायया न स्वभावतः॥ १०॥

उन्हीं भगवान् की प्रेरणा से चक्षु रूपों-दृश्यों को देखते हैं, कान श्रवण करते हैं तथा अन्य समस्त इन्द्रियाँ भी उन्हीं से प्रेरित हो रही हैं। वे निरन्तर अपने-अपने विषयों के उद्देश्य में प्रवृत्त होती रहती हैं। यह विषयों में प्रवृत्त होना ही मायारूप है, यह स्वभाववश नहीं होता, माया द्वारा ही होता है॥ ९-१०॥

श्रोत्रमात्मनि चाध्यस्तं स्वयं पशुपतिः पुमान्। अनुप्रविश्य श्रोत्रस्य ददाति श्रोत्रतां शिवः॥११॥

श्रोत्र आत्मा के आश्रित हैं तथा स्वयं पशुपति ब्रह्म श्रोत्र में प्रविष्ट होकर उन शिव को श्रवण शक्ति देते हैं॥ ११॥

मनः स्वात्मनि चाध्यस्तं प्रविश्य परमेश्वरः। मनस्त्वं तस्य सत्त्वस्थो ददाति नियमेन तु॥ १२॥

मन भी अपनी अन्तरात्मा में अभ्यस्त है एवं परब्रह्म परमेश्वर उसमें प्रविष्ट होकर, उस सत्त्व में स्थित होते हुए उसे नियम में रखते हैं और मनस्विता प्रदान करते हैं॥ १२॥

स एव विदितादन्यस्तथैवाविदितादपि। अन्येषामिन्द्रियाणां तु कल्पितानामपीश्वरः॥ १३॥
तत्तद्रूपमनुप्राप्य ददाति नियमेन तु। ततश्चक्षुश्च वाक्चैव मनश्चान्यानि खानि च॥ १४॥
न गच्छन्ति स्वयंज्योतिः स्वभावे परमात्मनि। अकर्तृविषयप्रत्यक्प्रकाशं स्वात्मनैव तु॥ १५॥
विना तर्कप्रमाणाभ्यां ब्रह्म यो वेद वेद सः। प्रत्यगात्मा परंज्योतिर्माया सा तु महत्तमः॥ १६॥

ऐसे ही वे परम ईश्वर समस्त इन्द्रियों को सचेष्ट करते हैं, परन्तु लोग उन ब्रह्म को जैसा बताते हैं अथवा कल्पना करते हैं, उससे वे महेश्वर सर्वथा भिन्न हैं। परब्रह्म परमेश्वर ही इन समस्त इन्द्रियों को अपने अनुकूल रूप प्रदान करते हैं एवं उनका नियमन भी करते हैं। इस कारण ये चक्षु, मन,वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ परमपिता परमात्मा के स्वयं प्रकाशतत्त्व (रूप) को प्राप्त नहीं हो सकतीं अर्थात् उनके ज्ञानरूपी प्रकाश को जानने में समर्थ नहीं हो सकतीं। जो मनुष्य ऐसा जानता है कि परमात्मा अन्तः के विषयों से भिन्न(अलग)है,वह तर्क एवं प्रमाण के बिना ही उसे अपनी अन्तरात्मा द्वारा जानने का निरन्तर प्रयास करे, उसे यथार्थ रूप में परमात्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यह आत्मा ही परम प्रकाश स्वरूप है,जबकि वह माया महा अन्धकाररूप है॥१३-१६॥

तथा सति कथं मायासंभवः प्रत्यगात्मनि। तस्मात्तर्कप्रमाणाभ्यां स्वानुभूत्या च चिद्घने॥१७॥
स्वप्रकाशैकसंसिद्धे नास्ति माया परात्मनि। व्यावहारिकदृष्ट्येयं विद्याविद्या न चान्यथा॥ १८॥

इसलिए प्रत्यगात्मा एवं माया की एकता किसी भी तरह से सम्भव नहीं है। उसके तर्कों, प्रमाणों एवं

अनुभव से ज्ञात होता है कि चैतन्यमय स्वयं प्रकाशस्वरूप परमात्मा में माया नहीं है। विद्या एवं अविद्या के विषय व्यावहारिक हैं, परमात्मा से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है॥ १७-१८॥

तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम्। व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः॥ १९॥
प्रकाश एव सततं तस्मादद्वैत एव हि। अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः॥ २०॥

तात्त्विक दृष्टि से यह सभी कुछ मिथ्या ही है। केवल एक तत्त्व ही वास्तविक सत्य है। व्यावहारिक-दृष्टि से जो भी कुछ जान पड़ता है, वह भी वैसे ही आभासित होता है। प्रकाश ही निरन्तर विद्यमान है। इस प्रकार यह अद्वैत ही है, अद्वैत ही इस प्रकार के प्रकाश के अभेद से कहा जाता है॥ १९-२०॥

प्रकाश एव सततं तस्मान्मौनं हि युज्यते। अयमर्थो महान्यस्य स्वयमेव प्रकाशितः॥२१॥
न स जीवो न च ब्रह्म न चान्यदपि किंचन। न तस्य वर्णा विद्यन्ते नाश्रमाश्च तथैव च॥ २२॥
न तस्य धर्मोऽधर्मश्च न निषेधो विधिर्न च। यदा ब्रह्मात्मकं सर्वं विभाति तत एव तु॥ २३॥
तदा दुःखादिभेदोऽयमाभासोऽपि न भासते। जगज्जीवादिरूपेण पश्यन्नपि परात्मवित्॥ २४॥
न तत्पश्यति चिद्रूपं ब्रह्मवस्त्वेव पश्यति। धर्मधर्मित्ववार्ता च भेदे सति हि भिद्यते॥ २५॥

इस प्रकार से सर्वत्र सतत एक प्रकाश स्थित है। इसके सन्दर्भ में और अधिक कुछ कहने की अपेक्षा मौन ही उत्तम है। जिस मनुष्य को यह महान् ज्ञान स्वयमेव ज्ञात हो गया है, वह न जीव रूप है, न ब्रह्म है और न ही कुछ और है। उसका न कोई 'वर्ण' है तथा वह आश्रम भी नहीं है। वह धर्म भी नहीं है और अधर्म भी नहीं है, निषेध एवं विधि भी वह नहीं है। जब उसको सब कुछ ब्रह्ममय ही दृष्टिगोचर होता है, तब उसे इस दु:खादि भेद का आभास बिल्कुल नहीं जान पड़ता। परब्रह्म परमात्मा का इस प्रकार से ज्ञान रखने वाला इस जीवादि स्वरूप वाले विश्व को देखते हुए भी नहीं देखता। वह एकमात्र चिद्रूप ब्रह्म का ही निरन्तर दर्शन करता है। धर्म एवं धर्मों के विषय-भेद के रहते हुए भिन्न ही प्रतीत होते हैं॥ २१-२५॥

भेदाभेदस्तथा भेदाभेदः साक्षात्परात्मनः। नास्ति स्वात्मातिरेकेण स्वयमेवास्ति सर्वदा॥ २६॥

एक मात्र वह परमात्म चेतना ही है, जो हमेशा से अपने वर्तमान स्वरूप में है और दूसरे अन्य सभी भेद आदि एवं समस्त भेद-अभेद उस (परमात्मा) में ही संव्याप्त हैं॥ २६॥

ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च। तथैव ब्रह्मविज्ज्ञानी किं गृह्णाति जहाति किम्॥२७

वस्तु अथवा अवस्तु जो कुछ भी विद्यमान है, वह सभी कुछ साक्षात् परब्रह्ममय ही है। ऐसी दशा में ब्रह्मज्ञान रखने वाला किसी को स्वीकार अथवा परित्याग कैसे कर सकता है?॥ २७॥

अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम्। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम्॥ २८॥
अचक्षुःश्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिपदं तथा। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम्॥ २९॥
ब्रह्मैवेदममृतं तत्पुरस्ताद्ब्रह्मानन्दं परमं चैव पश्चात्। ब्रह्मानन्दं परमं दक्षिणे च ब्रह्मानन्दं परमं चोत्तरे च॥ ३०॥

जो परब्रह्म उपमा-विहीन, वाणी एवं मन से अगोचर, दृष्टि से परिलक्षित न होने वाला, ग्रहण न कर सकने योग्य, गोत्र-रहित, रूप-विहीन है; जो (ब्रह्म) आँख, कान, हाथ-पैर आदि से रहित, नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अव्यय एवं मृत्यु से रहित है, सबका अधिष्ठाता अथवा आधार रूप है; वह (ब्रह्म उस साधक के) आगे-पीछे,उत्तर एवं दक्षिण सर्वत्र सर्वश्रेष्ठ वेदामृत (वेदज्ञानामृत) स्वरूप ब्रह्मानन्द रूप में विद्यमान है और वह परब्रह्म आनन्दमय रूप में दायें-बायें भी प्रतिष्ठित है॥ २८-३०॥

स्वात्मन्येव स्वयं सर्वं सदा पश्यति निर्भयः। तदा मुक्तो न मुक्तश्च बद्धस्यैव विमुक्तता॥३१॥

इस प्रकार वह श्रेष्ठ साधक सभी को निरन्तर अपनी अन्तरात्मा में निर्भय होकर देखता रहता है। ऐसा भाव रखने वाला साधक ज्ञानी ही नहीं, वरन् अज्ञानी होने पर भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ ३१॥

एवंरूपा परा विद्या सत्येन तपसापि च। ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्लभ्या वेदान्तवर्त्मना॥ ३२॥

इस प्रकार परा विद्या,सत्य,तप और ब्रह्मचर्यादि धर्म की प्राप्ति भी वेदान्त मार्ग के द्वारा ही होती है॥३२॥

स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं पारमार्थिकम्। क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे मायया़ऽऽवृताः॥३३॥

जिनका अन्तःकरण पूर्णरूपेण पवित्र है, समस्त दोषादि विकार क्षीण हो गये हैं, वे ही श्रेष्ठ योगी साधक स्वयं प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का दर्शन कर सकते हैं, माया द्वारा आवृत लोग उन परमप्रभु का दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते॥ ३३॥

एवं स्वरूपविज्ञानं यस्य कस्यास्ति योगिनः। कुत्रचिद्गमनं नास्ति तस्य संपूर्णरूपिणः॥ ३४॥

जो योगी साधक अपने स्वरूप को इस तरह से समझ लेता है, वह उस पूर्णता को प्राप्त करके पुनः आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ता ॥ ३४॥

आकाशमेकं संपूर्णं कुत्रचिन्न हि गच्छति। तद्वद्ब्रह्मात्मविच्छ्रेष्ठः कुत्रचिन्नैव गच्छति॥ ३५॥

जिस प्रकार एकमात्र आकाश सर्वत्र उपस्थित रहता है। वह इधर-उधर कहीं गमनागमन नहीं करता, उसी प्रकार जिस योगी साधक ने अपने को ब्रह्ममय जान लिया है, वह कहीं आ-जा नहीं सकता ॥ ३५॥

अभक्ष्यस्य निवृत्त्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत्। आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः॥३६॥

आहार के अन्तर्गत अभक्ष्य-भक्षण का परित्याग कर देने पर चित्त पूर्णतया पवित्र हो जाता है। जब आहार की शुद्धि हो जाती है, तब चित्त की शुद्धि स्वयं ही हो जाती है॥ ३६॥

चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं त्रुट्यन्ति ग्रन्थयः स्फुटम्। अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानविहीनस्यैव देहिनः॥३७॥

जब चित्त पूरी तरह से शुद्ध हो जाता है, तब क्रमशः ज्ञान प्रवर्द्धित होता चला जाता है तथा अज्ञान की समस्त ग्रन्थियाँ विनष्ट हो जाती हैं, लेकिन भक्ष्याभक्ष्य का विचार मात्र उसके लिए आवश्यक है, जिसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति अभी नहीं हुई है॥ ३७॥

न सम्यग्ज्ञानिनस्तद्वत्स्वरूपं सकलं खलु। अहमन्नं सदान्नाद इति हि ब्रह्मवेदनम्॥ ३८॥

इसका कारण यह है कि सम्यक् रूप से ज्ञानी का स्वरूप अज्ञानी के सदृश भेद-ज्ञानयुक्त नहीं होता। ज्ञानी यह समझता है कि भक्षण करने वाला मैं 'ब्रह्म' हूँ तथा अन्न भी मैं ही हूँ॥ ३८॥

ब्रह्मविद्ग्रसति ज्ञानात्सर्वं ब्रह्मात्मनैव तु। ब्रह्मक्षत्रादिकं सर्वं यस्य स्यादोदनं सदा॥ ३९॥

जो साधक योगी-ब्रह्मज्ञानी होता है, वह प्राणि-मात्र को ब्रह्म के रूप में देखता है। इस कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की भावना भी उसके लिए भोज्य (ग्राह्य-पाच्य) है॥ ३९॥

यस्योपसेचनं मृत्युस्तं ज्ञानी तादृशः खलु। ब्रह्मस्वरूपविज्ञानाज्जगद्भोज्यं भवेत्खलु॥ ४०॥

मृत्यु ही जिस ब्रह्म का अन्न (भोज्य पदार्थ) है, ऐसे ब्रह्म को जानने वाला साधक भी तदनुरूप ही हो जाता है तथा यह सम्पूर्ण जगत् ही उसके लिए भोज्य (ग्राह्य) हो जाता है॥ ४०॥

जगदात्मतया भाति यदा भोज्यं भवेत्तदा। ब्रह्मस्वात्मतया नित्यं भक्षितं सकलं तदा ॥ ४१॥

जब इस विश्व की, आत्मा के रूप में अनुभूति की जाती है, तो वह भोज्य रूप हो जाता है तथा आत्मा रूप से अविनाशी ब्रह्म सतत उसका भक्षण करता रहता है॥ ४१॥

यदाभानेन रूपेण जगद्भोज्यं भवेत्तु तत्। मानतः स्वात्मना भातं भक्षितं भवति ध्रुवम्॥४२॥

जिसका आभास हो जाने से यह विश्व भोज्य पदार्थरूप हो जाता है तथा वह जब आत्मस्वरूप ज्ञात हो जाता है, तो निश्चय ही वह ब्रह्म के द्वारा भक्षित होता है॥ ४२॥

स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः। अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम्॥ ४३॥

इस तरह से ब्रह्म स्वयं ही अपने स्वरूप का भक्षण करता है, इसका कारण यह है कि उससे (ब्रह्म से) भोज्य पदार्थ अलग ही नहीं है। जो अस्तिता का रूप है, वही ब्रह्म के अस्तित्व का लक्षण-रूप है॥ ४३॥

अस्तितालक्षणा सत्ता सत्ता ब्रह्म न चापरा। नास्ति सत्तातिरेकेण नास्ति माया च वस्तुतः॥४४

सत्ता का लक्षण ही अस्तित्व माना जाता है तथा ब्रह्म से सत्ता पृथक् नहीं होती। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता है ही नहीं और न माया कोई वास्तविक वस्तु ही होती है॥ ४४॥

योगिनामात्मनिष्ठानां माया स्वात्मनि कल्पिता। साक्षिरूपतया भाति ब्रह्मज्ञानेन बाधिता॥४५॥

योगी साधकगण माया की कल्पना अपनी अन्तरात्मा से ही करते हैं। वह ब्रह्मज्ञान से बाधित होती हुई उन (साधक गणों) को साक्षीरूप में प्रतिभासित होती है॥ ४५॥

ब्रह्मविज्ञानसंपन्नः प्रतीतमखिलं जगत्। पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक्॥ ४६॥ इत्युपनिषत्॥

इस प्रकार से जिस ज्ञानी साधक को ब्रह्म के ज्ञान-विज्ञान की सम्पन्नता की अनुभूति हो गई है, वह चाहे इस सम्पूर्ण विश्व का अपने समक्ष दर्शन करता रहे; किन्तु वह उसे अपने से अलग कभी नहीं मानता। ऐसी ही यह उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है ॥ ४६॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः॥

॥ इति पाशुपतब्रह्मोपनिषत्समाप्ता॥

॥ प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् का मूल प्रयोजन 'चित्त शुद्धि' है, जिसके द्वारा 'ब्रह्मज्ञान' सहज प्राप्य है। इस उपनिषद् में सर्वप्रथम 'शारीर यज्ञ' के विषय में स्पष्टीकरण देने की घोषणा तथा उसका प्रतिफल (सांख्य आदि दर्शनों के ज्ञान के बिना निवृत्ति-मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है) वर्णित है। तत्पश्चात् बाह्य प्राणाग्निहोत्र का प्रयोग स्पष्ट किया गया है। तदुपरान्त शारीराग्नि दर्शन नामक अपर-ब्रह्मविद्या का स्वरूप विवेचित हुआ है। शारीराग्नि विद्या द्वारा 'शारीर यज्ञ' का निरूपण अगले क्रम में है। अन्त में इस 'प्राणाग्निहोत्र' विद्या के पठन-पाठन की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि इस उपनिषद् का अध्येता एक ही जन्म में चित्त शुद्धि तथा (परिणाम स्वरूप) मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। इसी के साथ उपनिषद् पूर्ण हो गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अक्ष्युपनिषद्)

अथातः सर्वोपनिषत्सारं संसारज्ञानातीतमन्नसूक्तं शारीरयज्ञं व्याख्यास्यामः। यस्मिन्नेव पुरुषः शरीरे विनाप्यग्निहोत्रेण विनापि सांख्ययोगेन संसारविमुक्तिर्भवति॥ १ ॥

अब समस्त उपनिषदों का सारभूत सांसारिक ज्ञान से परे (प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् के अन्तर्गत) अन्नसूक्त एवं शारीर यज्ञ की व्याख्या प्रारम्भ की जाती है। जिस पुरुष-शरीर की जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात् अग्निहोत्र के बिना और सांख्य आदि दर्शनों के ज्ञान के बिना ही संसार से निवृत्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है॥ १ ॥

स्वेन विधिनान्नं भूमौ निक्षिप्य या ओषधीः सोमराज्ञीरिति तिसृभिरन्नपत इति द्वाभ्यामनुमन्त्रयते॥

अपनी विधि के अनुसार पृथ्वी पर (निर्मित की गई वेदिका पर) अन्न को रखकर तत्पश्चात् नीचे लिखे (या ओषधयः ....। या फलिनीर्याः ....। जीवला नघारिषां ....।) इन तीन मंत्रों तथा ('अन्नपतेऽन्नस्य ....। यदन्नमग्निर्बहुधा ....।') इन दो ऋचाओं से अभिमंत्रित करना चाहिए॥ २ ॥

अब उपर्युक्त वर्णित तीन व दो ऋचाओं का क्रमानुसार अर्थ लिखते हैं-

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ३॥

जो ओषधियों के अधिष्ठाता देव सोम हैं। वे प्रधान शतवीर्य, बहुशाखा वाले सैकड़ों रोगों को विभिन्न तरह से विनष्ट करने में सक्षम हैं। ये विशिष्ट गुणों से युक्त ओषधियाँ बृहस्पति (देवों के आचार्य) द्वारा तैयार (उत्पन्न) की गई हैं। ये ओषधियाँ हमें पापों-रोगों से मुक्ति प्रदान करें॥ ३॥

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ४॥

जो फलों से युक्त, फलों से रहित, पुष्प युक्त एवं पुष्प रहित ऐसी ये समस्त ओषधियाँ बृहस्पति-प्रसूत (विशेषज्ञ वैद्य द्वारा प्रादुर्भूत) हैं, ये ओषधियाँ हमें रोगों-पापों से मुक्ति प्रदान करें॥ ४॥

जीवला नघारिषां मा ते बध्नाम्योषधिम्। यातयायुरुपाहरादप रक्षांसि चातयात्॥ ५॥

सतत हरी-भरी बनी रहने वाली ओषधि मेरे द्वारा बाँधी जा रही है अर्थात् ग्रहण की जा रही है। आयु क्षीण करने वाले तत्त्वों से वह हमें संरक्षण प्रदान करे॥ ५॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः। प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥ ६

हे अन्न के पति अग्निदेव! आप हम सभी के लिए आरोग्य-प्रद एवं पोषण युक्त अन्न की व्यवस्था करें। दानी मनुष्यों को भली-भाँति पोषित करें। हमारे पुत्र-पौत्रादि एवं पशुओं के लिए भी अन्न प्रदान करें॥ ६॥

यदन्नमग्निर्बहुधा विराद्धि रुद्रैः प्रजग्धं यदि वा पिशाचैः। सर्वं तदीशानो अभयं कृणोतु शिवमीशानाय स्वाहा॥ ७॥

जो अन्न अग्नि के द्वारा प्रजा के निमित्त रुद्रों अथवा पिशाचों से प्रायः बचाकर रखा जाता है, उस कल्याणकारी अन्न को ईशानदेव दोषमुक्त बनाएँ, उन ईशानदेव भगवान् शिव को यह आहुति समर्पित है॥ ७॥

मंत्र सं० २ से ७ तक के मन्त्रों द्वारा अन्न का स्पर्श करके उसे अभिमन्त्रित करें। तदनन्तर हाथ में जल लेकर मंत्र क्र० ८ व ९ क्रमशः 'अन्तश्चरसि .... एवं 'आपः पुनन्तु' ..... इन दो मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर अन्न का प्रोक्षण करें -

अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः। त्वं यज्ञस्त्वं ब्रह्मा त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरों नमः॥ ८॥

प्राणियों के हृदय में सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित रहते हुए निरन्तर भ्रमण करने वाले तुम ही यज्ञ, ब्रह्मा, विष्णु, वषट्कार, आपः, ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भूः, भुवः एवं स्वः स्वरूप हो, तुम्हें नमन है॥ ८॥

आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम्। यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम। सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहं स्वाहा॥ ९॥

हे आपः (जल) ! आप पृथ्वी को पवित्र करें तथा शुद्ध हुई जो पृथ्वी है, वह मुझे पवित्रता प्रदान करे। ब्रह्मपूत पृथ्वी मुझे पवित्रता प्रदान करे। जो उच्छिष्ट, अभक्ष्य अथवा दुश्चरित्रता मेरे में सन्निहित हो, उन सबको हटाकर जल देवता हमें पवित्र बना दें, इस निमित्त यह आहुति समर्पित है॥ ९॥

अमृतमस्यमृतोपस्तरणमस्यमृतं प्राणे जुहोम्यमाशिष्यान्तोऽसि। ॐ प्राणाय स्वाहा। ॐ अपानाय स्वाहा। ॐ व्यानाय स्वाहा। ॐ उदानाय स्वाहा। ॐ समानाय स्वाहा। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा। ॐ ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वायेति ॥ १०॥

(इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों से प्रोक्षण करके दो बार जलाभिषेक करने के बाद बायें हाथ से वेदिका का स्पर्श करते हुए दाहिने हाथ में ग्रहण कर) 'अमृतमस्यमृतोपस्तरणमसि'(हे जल! तुम अमृत स्वरूप हो,तुम अमृत स्वरूप आच्छादन हो) यह कहते हुए उसे पीकर 'अमृतं प्राणे जुहोम्यमाशिष्यान्तोऽसि'(अमृतोपम होम करने के योग्य पदार्थ का आस्वादन प्राप्त कर लिया गया है।) यह कहकर अपनी आत्मा का अनुसंधान करते हुए प्राण में आहुतियाँ समर्पित करे। प्राण के लिए आहुति समर्पित है। अपान,व्यान,उदान,समान के लिए आहुति समर्पित है। ब्रह्मा के लिए आहुति समर्पित है। ब्रह्म में मेरी आत्मा अमृतत्व का रसास्वादन प्राप्त करे॥ १०॥

कनिष्ठिकाङ्गुल्याङ्गुष्ठेन च प्राणे जुहोति अनामिकयापाने मध्यमया व्याने सर्वाभिरुदाने प्रदेशिन्या समाने॥ ११॥

कनिष्ठिका अँगुली और अँगूठे के द्वारा प्राण में, अनामिका से अपान में, मध्यमा से व्यान में तथा सभी अँगुलियों के द्वारा समान में आहुति डालनी चाहिए॥ ११॥

[काया में सक्रिय पाँचों प्राणों का हाथ की विभिन्न अँगुलियों से सम्बन्ध होने का संकेत है। विभिन्न अँगुलियों के माध्यम से पाँचों प्राणों का संवर्धन कैसे संभव है, यह शोध का विषय है।]

तूष्णीमेकामेकऋचा जुहोति द्वे आहवनीये एकां दक्षिणाग्नौ एकां गार्हपत्ये एकां सर्वप्रायश्चित्तीये॥ १२॥

मौन रहते हुए एक आहुति (प्राणाय स्वाहा से) करे। (अपानाय स्वाहा से) दो आहुतियाँ आहवनीय में,एक (आहुति) दक्षिणाग्नि में, एक गार्हपत्य में एवं एक सर्वप्रायश्चित्तीय अग्नि में समर्पित करे॥ १२॥

अथापिधानमस्यमृतत्वायोपस्पृश्य पुनरादाय पुनरुपस्पृशेत्॥ १३॥

(इस प्रकार पाँच आहुतियाँ समर्पित करके यथा-नियम ग्रहण कर अर्थात् अन्न सेवन कर 'अथ पुरस्तात् चोपरिष्टाच्च अद्भिः परिदधाति', इस श्रुति के अनुरोध से) अपिधान (अनावृत) स्वरूप को अमृतत्व के लिए स्पर्श करके फिर ग्रहण कर पुनः स्पर्श करे॥ १३॥

सव्ये प्राणावाऽऽपो गृहीत्वा हृदयमन्वालभ्य जपेत्। प्राणोऽग्निः परमात्मा पञ्चवायुभिरा-वृतः। अभयं सर्वभूतेभ्यो न मे भीतिः कदाचन॥ १४॥

बायें हाथ में जल लेकर हृदयालम्भन कर अर्थात् हृदय के समीप में हाथ रखकर जप करे। मुख्य प्राण पाँच प्रकार के वायु (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) से घिरा हुआ परमात्मा स्वरूप है। वह मुझे समस्त प्राणियों से भय-रहित करे, मैं उनसे कभी भयभीत न होऊँ॥ १४॥

विश्वोऽसि वैश्वानरो विश्वरूपं त्वया धार्यते जायमानम्। विश्वं त्वाहुतयः सर्वा यत्र ब्रह्माऽमृतोऽसि॥

हे मुक्तप्राण! आप विश्वस्वरूप हैं। आप ही विश्व में वैश्वानर रूप में विराट् होकर समस्त विश्व को अपने स्वरूप में धारण करते हैं। वह वैश्वानर सम्पूर्ण भूत-प्राणियों की देह में स्थित है। आप ब्रह्मामृत स्वरूप हैं, आपसे प्रादुर्भूत होने वाला यह विश्व तुरीयाग्नि में सभी आहुतियों के रूप में विलीन हो जाता है॥ १५॥

महानवोऽयं पुरुषो योऽङ्गुष्ठाग्रे प्रतिष्ठितः। तमद्भिः परिषिञ्चामि सोऽस्यान्ते अमृताय च॥ १६॥

जो प्राणरूप से पैर के दोनों अँगूठों के अग्रभाग में प्रतिष्ठित है, वहाँ पर तुम प्रतिक्षण अभिनव पुरुष के रूप में स्थित रहते हो। इस भोजन के अन्त में अमृतत्व की प्राप्ति हेतु तुम्हें सब ओर से सिंचित(तुष्ट)करता हूँ॥

अनावित्येष बाह्यात्मा ध्यायेताग्निहोत्रं जुहोमीति। सर्वेषामेव सूनुर्भवति। अस्य यज्ञपरिवृता आहुतीर्होमयति॥ १७॥

वे (प्राणरूप पुरुष) विशिष्ट चेष्टासम्पन्न हैं, अतः बाह्यात्मा इनका चिन्तन करे। यह पुरुष (प्रत्येक दिन प्राण-रूपी) अग्निहोत्र करता है। [क्योंकि तुम्हारा परमात्मा (अग्नि रूप का) पुत्रवत् पोषण करते हैं।] अतः तुम सभी के पुत्र भी होते हो, इस यज्ञीय भाव से परिवृत होकर तुम आहुतियों का होम करते हो॥ १७॥

स्वशरीरे यज्ञं परिवर्तयामीति। चत्वारोऽग्नयस्ते किं नारमर्धयाः॥ १८॥

अपने शरीर में यज्ञ को परिवर्तित करता हूँ। इस शरीर में अग्नियों की संख्या चार मानी गई है, जो अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। ये सभी अर्धमात्रिक मात्र हैं॥ १८॥

तत्र सूर्योऽग्निर्नाम सूर्यमण्डलाकृतिः सहस्त्ररश्मिपरिवृत एकऋषिर्भूत्वा मूर्धनि तिष्ठति। यस्मादुक्तो दर्शनाग्निर्नाम चतुराकृतिराहवनीयो भूत्वा मुखे तिष्ठति। शारीरोऽग्निर्नाम जराप्रणुदा हविरवस्कन्दति। अर्धचन्द्राकृतिर्दक्षिणाग्निर्भूत्वा हृदये तिष्ठति। तत्र कोष्ठाग्निरिति-कोष्ठाग्निर्नामा-शितपीतलीढस्वादितं सम्यग् व्यष्ट्यं विषयित्वा गार्हपत्यो भूत्वा नाभ्यां तिष्ठति॥ १९॥

इन चार अग्नियों में से 'सूर्याग्नि' नामक अग्नि, सूर्य मण्डलाकृति के अनुरूप है। यह अत्यधिक तेजोमयी सहस्त्र (असंख्य) रश्मियों से सम्पन्न व्यापकरूप में होकर मूर्धा भाग में प्रतिष्ठित रहती है। (जैसा कि प्रसिद्ध है- 'तुरीयं' मूर्ध्नि संस्थितम्)। चूँकि यह जीवात्मा सर्वत्र ईश्वररूप में दृष्टिगोचर होता है, इसी कारण यह दर्शनाग्नि कहा गया है। यह विराड् आदि चार आकृतियों से युक्त आहवनीय बनकर मुख में स्थित रहता है। स्थूल शरीर को जलाने वाली शारीर अग्नि (हिरण्यगर्भ) स्थूल शरीर के आश्रित जरादि अवस्था के द्वारा कमजोर किया जाता है, स्थूल प्रपंच रूप हवि को ग्रसित करता है, जो कि अर्द्धचन्द्र के स्वरूप वाला दक्षिणाग्नि होकर समस्त भूत-प्राणियों के हृदय में विद्यमान रहता है। (चौथी) 'कोष्ठाग्नि' नामक अग्नि है। जो खायी, पी-हुई, चाटी हुई एवं आस्वादित वस्तु को अच्छी तरह से पकाकर गार्हपत्याग्नि के रूप में नाभिस्थल में प्रतिष्ठित रहती है॥ १९॥

प्रायश्चित्तयस्त्वधस्तात्तिर्यक् तिस्रो हिमांशुप्रभाभिः प्रजननकर्मा॥ २०॥

इस प्रकार प्रायश्चित्त वृत्तियाँ (चित्त की वृत्तियाँ) अधः (नीचे) प्रतिष्ठित हैं, तिर्यक् (वक्र वृत्तियाँ) तथा तीन (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति) अवस्थाओं के प्रकाशक हिमांशु (अर्थात् चिद्रूप चन्द्र) सभी तरह से समर्थ प्रभु हैं। सभी कुछ प्रकाशमय कर देने वाले हैं॥ २०॥

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्य को यजमानः का पत्नी के ऋत्विजः के सदस्याः कानि यज्ञपात्राणि कानि हवींषि का वेदिः काऽन्तर्वेदिः को द्रोणकलशः को रथः कः पशुः कोऽध्वर्युः को होता को ब्राह्मणाच्छंसी कः प्रतिप्रस्थाता कः प्रस्तोता को मैत्रावरुणः क उद्गाता का धारा कः पोता के दर्भाः कः स्रुवः काज्यस्थाली कावाघारौ कावाज्यभागौ केऽत्र याजाः के अनुयाजाः केडा कः सूक्तवाकः कः शंयोर्वाकः काऽहिंसा के पत्नीसंयाजाः को यूपः का रशना का इष्टयः का दक्षिणा किमवभृथमिति॥२१॥

इस शारीर यज्ञ का, जो कि यूप (खम्भे) एवं रसना (रस्सी) से अशोभित (यूप और रसना से रहित) है, उसका यजमान कौन है ? पत्नी, ऋत्विज् एवं सदस्य कौन हैं ? यज्ञ-पात्र, हवि, वेदि, अन्तर्वेदिका, द्रोणकलश, रथ,पशु(बलिपशु),अध्वर्यु, होता, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, मैत्रावरुण, उद्‌गाता, धारा (हवा करने वाला), पोता, दर्भ(कुश),स्रुवा, आज्यस्थाली (घृतपात्र), आघार, आज्यभाग, याज, अनुयाज, इड़ा , सूक्तवाक्, शंयोर्वाक्, अहिंसा, पत्नी संयाज, यूप (खम्भा), रशना, इष्ट, दक्षिणा एवं यज्ञ के समापन पर किया जाने वाला अवभृथ (एक स्नान विशेष) कौन-कौन हैं ? (अर्थात् जैसे यज्ञ में उपर्युक्त सभी वस्तुएँ-पदार्थ अपेक्षित हैं, वैसे ही इस शारीर यज्ञ के लिए भी ये सभी वस्तुएँ आवश्यक हैं, किन्तु ये सब कहाँ और कौन हैं ?) ॥ २१ ॥

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्यात्मा यजमानः बुद्धिः पत्नी वेदा महर्त्विजः अहंकारोऽध्वर्युः चित्तं होता प्राणो ब्राह्मणाच्छंसी अपानः प्रतिप्रस्थाता व्यानः प्रस्तोता उदान उद्गाता समानो मैत्रावरुणः शरीरं वेदिः नासिकाऽन्तर्वेदिः मूर्धा द्रोणकलशः पादो रथः दक्षिणहस्तः स्रुवः सव्यहस्त आज्यस्थाली श्रोत्रे आघारौ चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवा धारा पोता तन्मात्राणि सदस्याः महाभूतानि प्रयाजाः भूतानि गुणा अनुयाजाः जिह्वेडा दन्तोष्ठौ सूक्तवाकः तालुः शंयोर्वाकः स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा पत्नीसंयाजाः ओंकारो यूपः आशा रशना मनो रथः कामः पशुः केशा दर्भाः बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि कर्मेन्द्रयाणि हवींषि अहिंसा इष्टयः त्यागो दक्षिणा अवभृथं मरणात् सर्वा ह्यस्मिन्देवताः शरीरेऽधिसमाहिताः॥ २२॥

इस शारीर यज्ञ का जो कि यूप(खम्भे)एवं रसना से अशोभित(रहित)है, इस शारीर यज्ञ की आत्मा यजमान है, बुद्धि पत्नी है, वेद ही महा ऋत्विज् हैं, अहंकार ही अध्वर्यु है, चित्त होता है, प्राण ब्राह्मणाच्छंसी है, अपान प्रतिप्रस्थाता है,व्यान प्रस्तोता है,उदान उद्‌गाता,समान मैत्रावरुण, शरीर वेदिका,नासिका अन्तःवेदि,मूर्धा (सिर)द्रोणकलश,पैर ही रथ है,दाहिना हाथ स्रुवा है,बायाँ हाथ घृतपात्र है,कान ही आघार हैं,नेत्र ही आज्य भाग हैं, ग्रीवा(गर्दन)ही धारा—पोता हैं, तन्मात्राएँ सदस्य हैं, पञ्च महाभूत प्रयाज,अन्यभूत(प्राणी)गुण और अनुयाज हैं,जिह्वा इड़ा है,दाँत-ओष्ठ सूक्तवाक् हैं, तालु शंयोर्वाक्, स्मृति, दया, शान्ति ही अहिंसा और पत्नीसंयाज हैं, ॐ कार खम्भा है,आशा रशना है,मन रथ है,काम ही पशु है,केश ही कुशाएँ हैं,ज्ञानेन्द्रियाँ यज्ञपात्र हैं, कर्मेन्द्रियाँ हवि हैं,अहिंसा इष्टकायें,त्याग ही दक्षिणा है, मृत्यु ही अवभृथ स्नान है। ऐसा समझकर जब यज्ञ किया जाता है, तभी यह यज्ञ पूर्ण फलदायक होता है और तभी समस्त देवगण इस शरीर में समाहित होते हैं॥ २२॥

वाराणस्यां मृतो वापि इदं वा ब्राह्मणः पठेत्। एकेन जन्मना जन्तुर्मोक्षं च प्राप्नुयादिति मोक्षं च प्राप्नुयादित्युपनिषत्॥ २३॥

यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु काशी में हो अथवा फिर कोई ब्राह्मण इसे ('उपनिषद् को) पढ़े, तो एक ही जन्म में चित्त शुद्धि करने वाला ज्ञान एवं मोक्ष को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेता है, यही उपनिषद् है॥ २३॥

॥ इति प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् समाप्ता॥

॥ बह्वृचोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसमें जगत् की कारण स्वरूपा 'आदिशक्ति' का स्वरूप विवेचित करती है। इसमें सर्वप्रथम 'चित्शक्ति' का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। उसी 'चित् शक्ति' से 'ब्रह्मा' से लेकर स्थावर (जड़) तक सभी प्रकट हुए हैं। चित् शक्ति से ही शब्द, अर्थ और रूप आदि का प्राकट्य हुआ। 'चित् शक्ति' अद्वितीय है। अन्तः और बाह्य में विद्यमान चैतन्य शक्ति एक ही है। वही शक्ति 'अम्बा' आदि के रूप में विद्यमान है। वही परब्रह्मस्वरूपा है। जो इस ब्रह्मस्वरूपा 'चित् शक्ति' को भली प्रकार जान लेते हैं, वे उस परमाकाश में सदा-सर्वदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इन्हीं सब तथ्यों के साथ यह उपनिषद् पूर्ण होती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्षमालिकोपनिषद्)

देवी ह्येकाग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत्। कामकलेति विज्ञायते। शृङ्गारकलेति विज्ञायते ॥१

सृष्टि रचना के पहले एक मात्र देवी ही विद्यमान थीं। उन्हीं के द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि-संरचना सम्पन्न हुई। वे देवी कामकला और शृंगारकला के नाम से प्रख्यात हैं॥ १ ॥

तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरसः किंनरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वं शाक्तमजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किंचैतत्प्राणिस्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत् ॥२

उन देवी के द्वारा ही ब्रह्मा, भगवान् विष्णु एवं रुद्र प्रकट हुए। उन्हीं से सभी मरुद्गण तथा गायन करने वाले गन्धर्व, नर्तन करने वाली अप्सराएँ एवं वाद्ययन्त्रों को झंकृत करने वाले किन्नर प्रकट हुए। उन्हीं से उपभोग की सामग्री भी उत्पन्न हुई, सभी कुछ उन्हीं के द्वारा प्रादुर्भूत हुआ है। अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज एवं जरायुज आदि जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, उनकी एवं मनुष्य की सृष्टि भी उन्हीं जगन्मयी देवी से हुई है॥ २ ॥

सैषाऽपरा शक्तिः। सैषा शांभवी विद्या कादिविद्येति वा हादिविद्येति वा सादिविद्येति वा रहस्यम्। ओमों वाचि प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

वे (देवी) ही अपरा शक्ति कहलाती हैं। वे ही शाम्भवीविद्या, कादिविद्या, हादिविद्या एवं सादिविद्या कहलाती हैं। वे (देवी) रहस्यमयी हैं। वे ही प्रणववाची अक्षर तत्त्वरूपा हैं। ॐ अर्थात् सत्-चित् आनन्दमयी वे देवी समस्त प्राणियों की वागिन्द्रिय में अवस्थित हैं॥ ३ ॥

[शाक्त तन्त्र के विविध प्रयोगों द्वारा भी आत्म-परमात्मतत्त्व की एकरूपता का बोध होता है, उसे ही यहाँ विद्या की संज्ञा प्रदान की गई है, जैसे- शाम्भवी विद्या-जिसके द्वारा परम कल्याणकारी (ईश्वर) का साक्षात्कार हो। कादिविद्या- 'क' आदि (क,ए, ई,ल, ह्रीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या। हादिविद्या- 'ह' आदि (ह,स, क, ह, ल, ह्रीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या तथा सादिविद्या-'स' आदि (स,क,ल, ह्रीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या।]

सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देशकालवस्त्वन्तरसङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः ॥ ४॥

वे (देवी) ही इन तीनों (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति) पुरों और इन तीनों प्रकार के (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) शरीरों को विस्तीर्ण करके बाह्य एवं अन्तः में आलोक फैला रही हैं। वे महात्रिपुर सुन्दरी प्रत्यक् चेतना के रूप में देश, काल एवं पात्र के अन्दर संगरहित होकर निवास करती हैं॥ ४॥

सैवात्मा ततोऽन्यदसत्यमनात्मा। अत एषा ब्रह्मसंवित्तिर्भावाभावकलाविनिर्मुक्ता चिद्विद्याद्वितीयब्रह्मसंवित्तिः सच्चिदानन्दलहरी महात्रिपुरसुन्दरी बहिरन्तरनुप्रविश्य स्वयमेकैव

विभाति। यदस्ति सन्मात्रम्। यद्विभाति चिन्मात्रम्। यत्प्रियमानन्दं तदेतत्सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी। त्वं चाहं च सर्वं विश्वं सर्वदेवता। इतरत्सर्वं महात्रिपुरसुन्दरी। सत्यमेकं ललिताख्यं वस्तु तदद्वितीयमखण्डार्थं परं ब्रह्म॥ ५॥

वे (देवी) ही आत्मस्वरूपा हैं, उनके अतिरिक्त और सभी कुछ सत्यरहित, आत्मविहीन है। ये ब्रह्मविद्या रूपा हैं, भाव एवं अभाव आदि कला से विनिर्मुक्त चिन्मयीरूपा विद्या शक्ति हैं तथा वे ही अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली हैं। वे सच्चिदानन्दरूपी लहरों (तरंग) वाली श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बाह्य एवं अन्तः में प्रविष्ट होकर स्वयमेव अकेली ही सुशोभित हो रही हैं। (उन देवी के अस्ति, भाति एवं प्रिय इन तीनों रूपों में) जो अस्ति है-वह सन्मात्र का बोध कराने वाला है, जो भाति है-वह चिन्मात्र का बोध कराने वाला है तथा जो प्रिय (आत्मीय) है- वही आनन्दमय है। इस तरह से समस्त आकारों में श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही विद्यमान हैं। तुम और मैं, यह सारा जगत् एवं समस्त देवगण और अन्य सभी कुछ श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही हैं। 'ललिता' नामक एक मात्र वस्तु (शक्ति) ही शाश्वत सत्य है। वही अद्वितीय, अखण्ड, अविनाशी परमात्म तत्त्व है॥ ५॥

पञ्चरूपपरित्यागादस्वरूपप्रहाणतः। अधिष्ठानं परं तत्त्वमेकं सच्छिष्यते महत् इति॥६॥

(उन देवी के) पाँचों रूप अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, नाम तथा रूप के परित्याग कर देने से एवं अपने स्वरूप के त्याग न करने से अधिष्ठान स्वरूप जो एक सत्ता शेष रह जाती है, वही परम अविनाशी तत्त्व है॥ ६॥

प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा भाष्यते। तत्त्वमसीत्येव संभाष्यते। अयमात्मा ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा ब्रह्मैवाहमस्मीति वा॥ ७॥

उसी परमात्म तत्त्व को 'प्रज्ञान ब्रह्म' है या 'मैं ब्रह्म हूँ', 'वह तू है','यह आत्मा ब्रह्म है' या 'मैं ही ब्रह्म हूँ' या 'ब्रह्म ही मैं हूँ' आदि वाक्यों से अभिव्यक्त किया जाता है॥ ७॥

योऽहमस्मीति वा सोऽहमस्मीति वा योऽसौ सोऽहमस्मीति वा या भाष्यते सैषा षोडशी श्रीविद्या पञ्चदशाक्षरी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बालाम्बिकेति बगलेति वा मातङ्गीति स्वयंवरकल्याणीति भुवनेश्वरीति चामुण्डेति चण्डेति वाराहीति तिरस्करिणीति राजमातङ्गीति वा शुकश्यामलेति वा लघुश्यामलेति वा अश्वारूढेति वा प्रत्यङ्गिरा धूमावती सावित्री सरस्वती गायत्री ब्रह्मानन्दकलेति॥ ८॥

'जो मैं हूँ,' 'वह मैं हूँ,' 'जो वह है,' 'सो भी मैं हूँ' इत्यादि श्रुति वचनों के द्वारा जिनका निरूपण होता है, वे ही यही षोडशी श्रीविद्या हैं। वही पञ्चदशाक्षर मंत्र से युक्त श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी,बाला,अम्बिका, बगला,मातङ्गी, स्वयंवर-कल्याणी,भुवनेश्वरी,चामुण्डा,चण्डा,वाराही,तिरस्करिणी,राजमातङ्गी,शुकश्यामला, लघुश्यामला, अश्वारूढ़ा, प्रत्यङ्गिरा, धूमावती, सावित्री, सरस्वती,गायत्री, ब्रह्मानन्दकला आदि नामों के द्वारा जानी जाती हैं॥ ८॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्। यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ इत्युपनिषत्॥ ९॥

ऋचाएँ,अक्षर-अविनाशी परमाकाश में स्थित रहती हैं,उसी में समस्त देवगण सम्यक् रूप से निवास करते हैं। उस(श्रेष्ठ-शाश्वत ज्ञान)को जानने का प्रयास जिसने नहीं किया, ऐसा वह(मनुष्य) ऋचाओं के पठन-मात्र से क्या प्राप्त कर सकता है ? जो पुरुष उस परम आकाश को पूर्ण दृढ़निश्चयी होकर जान लेते हैं, वे ही पुरुष उस परमाकाश में हमेशा के लिए प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ ९॥

॥ इति बह्वृचोपनिषत्समाप्ता॥

॥ भावनोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें पराम्बा त्रिपुरसुन्दरी के श्रीचक्र पर आसीन होकर सर्वशक्तिमयी रूप को प्रकट करने का वर्णन है। सर्वप्रथम 'शिव' के ईश्वरत्व का विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'शक्ति' के सहयोग से ही वह 'शिव' कहे जाते हैं। तत्पश्चात् तीनों शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) में श्रीचक्र की भावना का विशद वर्णन है। इसके बाद देवशक्तियों के आवाहन, आसन, पाद्य आदि उपचार की भावना वर्णित है। अन्त में भावना का फल बताते हुए कहा गया है कि जो भी साधक इस प्रकार तीन मुहूर्त तक भावना-परायण रहता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। वह एकमात्र ब्रह्म का ही रूप हो जाता है। वही साधक 'शिवयोगी' कहलाता है। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हो जाती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

श्रीगुरुः सर्वकारणभूता शक्तिः ॥ १ ॥

परम पूज्य 'श्री सद्गुरु' ही सर्वप्रधान परम कारणभूत शक्ति हैं॥ १ ॥

[गुरु का शाब्दिक अर्थ है-गु=अज्ञानान्धकार, रु=नष्ट करने वाला। यह विशेषता परम शिव में ही है, वे ही सर्ग-स्थिति-संहार करने में समर्थ हैं, इसीलिए उन्हें परमकारण शक्ति कहा है।]

केन नवरन्ध्ररूपो देहः। नवशक्तिरूपं श्रीचक्रम्। वाराही पितृरूपा। कुरुकुल्ला बलिदेवता माता। पुरुषार्थाः सागराः। देहो नवरत्नद्वीपः। आधारनवकमुद्राः शक्तयः। त्वगादिसप्तधातुभिरनेकैः संयुक्ताः संकल्पाः कल्पतरवः। तेजः कल्पकोद्यानम्। रसनया भाव्यमाना मधुराम्लतिक्तकटुकषायलवणभेदाः षड्रसाः षडृतवः। क्रियाशक्तिः पीठम्। कुण्डलिनी ज्ञानशक्तिर्गृहम्। इच्छाशक्तिर्महात्रिपुरसुन्दरी। ज्ञाता होता ज्ञानमग्निः ज्ञेयं हविः। ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्रपूजनम्। नियतिसहिताः शृङ्गारादयो नव रसा अणिमादयः। कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यपुण्यपापमया ब्राह्म्याद्यष्टशक्तयः। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनोविकाराः षोडश शक्तयः। वचनादानगमनविसर्गानन्दहानोपेक्षाबुद्ध्योऽनङ्गकुसुमादिशक्तयोऽष्टौ। अलम्बुसा कुहूर्विश्वोदरी वरुणा हस्तिजिह्वा यशस्वत्यश्विनी गान्धारी पूषा शङ्खिनी सरस्वतीडा पिङ्गला सुषुम्ना चेति चतुर्दश नाड्यः। सर्वसंक्षोभिण्यादिचतुर्दशारगा देवताः। प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजया इति दश वायवः। सर्वसिद्धिप्रदा देव्यो बहिर्दशारगा देवताः। एतद्वायुदशकसंसर्गोपाधिभेदेन रेचकपूरकशोषकदाहकप्लावका अमृतमिति प्राणमुख्यत्वेन पञ्चविधोऽस्ति। क्षारको दारकः क्षोभको मोहको जृम्भक इत्यपालनमुख्यत्वेन पञ्चविधोऽस्ति। तेन मनुष्याणां मोहको दाहको भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपेयात्मकं चतुर्विधमन्नं पाचयति। एता दश वह्निकलाः सर्वात्वाद्यन्तर्दशारगा देवताः। शीतोष्णसुखदुःखेच्छासत्त्वरजस्तमोगुणा वशिन्यादिशक्तयोऽष्टौ। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः पञ्च पुष्पबाणा मन इक्षुधनुः। वश्यो बाणो रागः पाशः। द्वेषोऽङ्कुशः। अव्यक्तमहत्तत्त्वमहदहंकार इति कामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिन्योऽन्तस्त्रिकोणाग्रगा देवताः। पञ्चदशतिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनस्थितिः पञ्चदश नित्या श्रद्धानुरूपाधिदेवता। तयोः कामेश्वरी सदानन्दघना परिपूर्णस्वात्मैक्यरूपा देवता॥ २ ॥

किस हेतु से शरीर में श्रीचक्रत्व सिद्ध होता है ? नौ छिद्रों से युक्त यह देह है तथा (विमल से लेकर ईशान तक) नौ शक्तियों से सम्पन्न यह श्रीचक्र है। इस देह की माता कुरुकुल्ला बलि देवी एवं पिता के रूप में वाराही हैं। देह के आश्रय रूप में धर्मादि चारों पुरुषार्थ ही इसके चार समुद्र के रूप में हैं। यह शरीर ही नवरत्न द्वीप है। इस द्वीप की आधारभूता शक्तियाँ (योनिमुद्रा आदि सर्वसंक्षोभिणी पर्यन्त) महात्रिपुरसुन्दरी आदि नौ हैं। त्वचा आदि सप्त धातुओं एवं अनेक अन्तः-बाह्य विकारों से युक्त नानाविध संकल्प-विकल्प ही कल्पवृक्ष है। (उस परमात्मा से भिन्न रमणीय नानाविध) तेजस् स्वरूप-सा जीव ही उद्यान है। जिह्वा द्वारा आस्वादित किये जाने वाला मधुर,अम्ल,तिक्त (तीखा),कड़ुवा, कषैला एवं नमकीन रस आदि छः ऋतुएँ हैं। क्रिया नामक जो शक्ति है,वही पीठ है। कुण्डलिनीरूपी ज्ञानशक्ति ही गृह है। इच्छाशक्ति ही महात्रिपुरसुन्दरी नामक आराध्या भगवती है। ज्ञाता ही होता (हवन करने वाला),ज्ञान ही अर्घ्य एवं ज्ञेय(ज्ञातव्य तत्त्व)ही हविरूप है। ज्ञाता,ज्ञान एवं ज्ञेय को भेदरहित मानना ही श्रीचक्र का पूजन है। अणिमादि सिद्धियों (अणिमा,लघिमा,महिमा,ईशित्व, वशित्व,प्राकाम्य,भुक्ति,इच्छा,प्राप्ति और सर्वकाम मुक्ति) का सम्बन्ध नियति(प्रकृति निर्धारण) सहित शृंगार,वीर,करुण आदि नौ-रसों से है। काम,क्रोध,लोभ,मोह,मद,मात्सर्य,पुण्य एवं पाप से युक्त ब्राह्मी आदि आठ शक्तियाँ हैं। पृथ्वी,जल,तेज,वायु,आकाश,कर्ण,त्वचा,नेत्र,जिह्वा,नासिका,वाणी,हाथ,पैर,मल-मूत्रेन्द्रियाँ तथा मन आदि विकार ही (मूल प्रकृति से उत्पन्न) षोडश शक्तियाँ हैं। वचन (बोलना),आदान(ग्रहण करना),गमन(गतिशील होना), विसर्ग(त्याग करना),आनन्द, हान(त्याज्य),उपेक्षा-बुद्धि एवं अनङ्ग-कुसुम आदि आठ शक्तियाँ हैं। अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरी, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अश्विनी, गान्धारी, पूषा, शंखिनी,सरस्वती, इड़ा,पिङ्गला,सुषुम्ना आदि चौदह नाड़ियाँ सर्वसंक्षोभिणी आदि चतुर्दशार देवता हैं। प्राण,अपान,उदान,समान,व्यान,नाग,कूर्म,कृकर,देवदत्त,धनञ्जय-ये दस प्राण सर्वसिद्धिप्रदा आदि देवियाँ बाह्य दशार देवता हैं। इन दस वायुओं के सम्पर्क एवं उपाधि भेद से रेचक, पूरक,शोषक,दाहक,प्लावक-ये अमृतस्वरूप प्राण मुख्यतः पाँच प्रकार के हैं। मानवों के मोहक एवं दाहक होते हुए चबाये जाने वाले,चाटे जाने वाले,चूसे जाने वाले तथा पिये जाने वाले इन चारों प्रकार के अन्नों को पचाते हैं। ये दस अग्नि की कलास्वरूप वायु ही सर्वज्ञत्व आदि अन्तः दशार देवता हैं। जाड़ा,गर्मी,सुख, दुःख, इच्छा,सत्त्व,रज,तम ही 'वशिनी' आदि आठ शक्तियाँ हैं। शब्द,स्पर्श,रूप,रस एवं गन्ध आदि पञ्च तन्मात्राएँ ही पाँच पुष्पबाण हैं तथा मन ही ईख का बना हुआ धनुष है अर्थात् मन के द्वारा ये रूपादि पञ्चबाण बाहर फेंके जाते हैं। वश में होना ही बाण है,राग (प्रेम) ही पाश (बन्धन) है और द्वेष ही अंकुश है। अव्यक्त,महत्तत्त्व, अहंकार, कामेश्वरी, वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी आदि आन्तरिक त्रिकोण के अग्रभाग में स्थित देवता हैं। पन्द्रह तिथियों के रूप से काल के परिणाम का अवलोकन करने वाले पन्द्रह नित्य श्रद्धानुरूप अधिदेवता हैं। उन (वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी) में आद्याप्रधान कामेश्वरी जो कि सत्,चित्,आनन्दघन स्वरूपा हैं एवं परिपूर्ण (ब्रह्म) और आत्मा की ऐक्य रूपा देवता हैं॥२॥

[यहाँ श्री यन्त्र लेखन की प्रक्रिया का उल्लेख है। बिन्दु, त्रिकोण, अष्टार, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल पद्म, षोडशदलपद्म और चतुरस्त्र आदि इसके पारिभाषिक शब्द हैं, जिनके द्वारा 'श्रीयन्त्र' लिखा जाता है।]

सलिलमिति सौहित्यकारणं सत्त्वं। कर्तव्यमकर्तव्यमिति भावनायुक्त उपचारः। अस्ति नास्तीति कर्तव्यता उपचारः। बाह्याभ्यन्तःकरणानां रूपग्रहणयोग्यताऽस्त्वित्यावाहनम्। तस्य बाह्याभ्यन्तःकरणानामेकरूपविषयग्रहणमासनम्। रक्तशुक्लपदैकीकरणं पाद्यम्। उज्ज्वलदा-मोदानन्दासनदानमर्घ्यम्। स्वच्छं स्वतःसिद्धमित्याचमनीयम्। चिच्चन्द्रमयीति सर्वाङ्गस्त्रवणं स्नानम्। चिदग्निस्वरूपपरमानन्दशक्तिस्फुरणं वस्त्रम्। प्रत्येकं सप्तविंशतिधा भिन्नत्वेनेच्छाज्ञान-क्रियात्मकब्रह्मग्रन्थिमद्रसतन्तुब्रह्मनाडी ब्रह्मसूत्रम्। स्वव्यतिरिक्तवस्तुसङ्गरहितस्मरणं विभूषणम्। स्वच्छस्वपरिपूर्णतास्मरणं गन्धः। समस्तविषयाणां मनसः स्थैर्येणानुसंधानं कुसुमम्। तेषामेव

सर्वदा स्वीकरणं धूपः। पवनावच्छिन्नोर्ध्वज्वलनसच्चिदुल्काकाशदेहो दीपः। समस्तयातायातवर्ज्यं नैवेद्यम्। अवस्थात्रयाणामेकीकरणं ताम्बूलम्। मूलाधारादाब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रादामूलाधारपर्यन्तं गतागतरूपेण प्रादक्षिण्यम्। तुर्यावस्था नमस्कारः। देहशून्यप्रमातृतानिमज्जनं बलिहरणम्। सत्यमस्ति कर्तव्यमकर्तव्यमौदासीन्यनित्यात्मविलापनं होमः। स्वयं तत्पादुकानिमज्जनं परिपूर्णध्यानम्॥ ३॥

सलिल अर्थात् गुरु-मन्त्रात्मक देवों का एकीकरण रूप सत् तत्त्व ही कर्त्तव्य है और एकीकरण रूप न करना ही अकर्त्तव्य है। भावना योग ही इसका उपचार(पूजा)है। अस्ति (ब्रह्म है)-नास्ति(ब्रह्म नहीं है)की कर्त्तव्यता(निरन्तर अनुसन्धान करना)उपचार है। बाह्य एवं आभ्यन्तर कारणों के रूप ग्रहण की योग्यता ही आवाहन है। उसका बाह्य एवं आभ्यन्तर करणों(इन्द्रियों)का एक रूप होकर विषयों का ग्रहण करना ही आसन है। रक्त एवं शुक्ल पद(सत एवं तम गुणों)का एकीकरण पाद्य है। उज्ज्वल(निर्मल)दामोदानन्द(आनन्दमयब्रह्म) में सदैव अवस्थित रहने तथा इसी का दान(योग्य शिष्य को यह ज्ञान प्रदान करना)-अर्घ्य है। स्वयं स्वच्छ एवं स्वतः सिद्ध होना ही आचमन है। चिद्रूप चन्द्रमयी शक्ति से सम्पूर्ण अंगों का स्रवण (स्वेदयुक्त होना) ही स्नान है। चिद् अग्निस्वरूप परमात्मा की शक्ति का स्फुरण(प्रकाशित होना)ही वस्त्र है।(इच्छा-ज्ञान-क्रिया आदि तीन शक्तियों के त्रिगुणात्मक होने से)हर एक के जो सत्ताईस भेद एवं इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्ति स्वरूप ब्रह्म, (विष्णु एवं रुद्र)ग्रन्थि के मध्य स्थित सुषुम्ना नाड़ी ही ब्रह्मसूत्र है,(क्योंकि यही नाड़ी ब्रह्म की द्योतिका है।) अपने से पृथक् वस्तु का स्मरण न करना ही आभूषण है। शुभ्र स्वरूप, जो ब्रह्म है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं, यही स्मरण करना 'गन्ध' है। समस्त विषयों का मन की स्थिरता द्वारा अनुसन्धान करना ही पुष्प(फूल)है तथा उसे स्वीकार करना ही धूप है। पवनयुक्त योग के समय प्राण, अपान की एकता से सुषुम्ना में सत्-चित्, उल्कारूप जो(प्रकाशरूप) आकाश देह है, वही 'दीप' है। अपने से अलग समस्त विषयों में मन की गति का गमनागमन स्थिर हो जाना ही नैवेद्य है। तीनों अवस्थाओं(जाग्रत्,स्वप्न,सुषुप्ति)का एकीकरण ही ताम्बूल (पान)है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त एवं ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधार तक बार-बार आना-जाना ही प्रदक्षिणा है। चतुर्थ अवस्था अर्थात् तुरीयावस्था में रहना ही 'नमस्कार' है। देह की जड़ता में डूबना अर्थात् आत्मा को चैतन्य युक्त मानकर एवं शरीर को जड़ मानकर स्थिर रहना ही 'बलि' है। अपना आत्मतत्त्व ही स्वयं सत्य रूप है, ऐसा निश्चय करके कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, उदासीनता, नित्यात्मक आत्मा में विलास करना अर्थात् निरन्तर आत्मचिन्तन करना ही यज्ञ(हवन)है तथा स्वयमेव उस परब्रह्म-विराट् पुरुष(परमात्मा)की पादुकाओं में अनासक्त भाव से डूबे रहना ही परिपूर्ण ध्यान है।(सारांश यह हुआ कि जिस प्रकार पूजन के लिए धूप, दीप, नैवेद्य, प्रदक्षिणा एवं नमन-वन्दन आदि अपेक्षित होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हेतु उपर्युक्त कहे गये पदार्थों का साधन कर लेना ही तद्-तद् धूप-दीप एवं नैवेद्य आदि हैं। इन्हीं मांगलिक पदार्थों को भावनापूर्वक समर्पित करने से ही उस ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है) ॥३॥

एवं मुहूर्तत्रयं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति। तस्य देवतात्मैक्यसिद्धिः। चिन्तितकार्याण्ययत्नेन सिद्ध्यन्ति। स एव शिवयोगीति कथ्यते ॥ ४॥

इस तरह से जो भी मनुष्य (योगी-साधक) तीन मुहूर्त तक भावनापरायण रहता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। वह एक मात्र ब्रह्म का ही रूप हो जाता है तथा उसके द्वारा चाहे हुए कार्य बिना यत्न के ही पूर्ण हो जाते हैं और वही (साधक) शिवयोगी कहलाता है॥ ४॥

॥ इति भावनोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ महोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। महत् स्वरूप वाली यह महोपनिषद् श्री शुकदेव जी एवं महाराज जनक तथा ऋभु एवं निदाघ के प्रश्नोत्तर रूप में प्रकट हुई है। इसमें कुल छः अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम नारायण की अद्वितीयता एवं ईशत्व का विवेचन है। तदुपरान्त यज्ञीय स्तोम की उत्पत्ति, चौदह पुरुष एवं एक कन्या की उत्पत्ति, पच्चीस तत्त्वात्मक पुरुष की उत्पत्ति, रुद्र की उत्पत्ति, चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति, व्याहृति, छन्द, वेद और देवताओं की उत्पत्ति, नारायण की विराट् रूपता तथा नारायण की उपलब्धि का स्थान हृदय बताया गया है। द्वितीय अध्याय में शुकदेव के स्वयं उद्भूत पारमार्थिक ज्ञान-तत्त्वज्ञान के होते हुए भी शुकदेव की अविश्रान्ति, व्यास जी के उपदेश के प्रति शुकदेव का अनादर, शुकदेव का जनक के पास जाना, जनक द्वारा शुक की परीक्षा, शुक-जनक संवाद, बन्धन-मोक्ष का विवेक, जीवन्मुक्त स्थिति, विदेहमुक्त स्थिति, शुकदेव के भ्रम का निवारण तथा शुकदेव को विश्रान्ति की प्राप्ति आदि विषयों का विवेचन है। तृतीय अध्याय का शुभारम्भ 'निदाघ' के विचार के साथ हुआ है। तदुपरान्त प्रपञ्च (जगत्) का अनित्यत्व, अहंकार, तृष्णा आदि की अनर्थकता, देह तथा उसकी अवस्था की निन्दा, संसार की दुःखमयता, स्त्री निन्दा, दिशाओं आदि की क्षणभंगुरता तथा वैराग्य से तत्त्व जिज्ञासा आदि विषय व्याख्यायित हैं। चतुर्थ अध्याय में मोक्ष के चार उपाय, शास्त्रादि द्वारा आत्मावलोकन विधि, समाधि का स्वरूप, जीवन्मुक्त स्थिति, शम, सन्तोष, आत्मविश्रान्ति से कृतकृत्यता, दृश्य जगत् का मिथ्यात्व, आसक्ति तथा अनासक्ति से बन्धन और मोक्ष की स्थिति, संसार की मनोमयता, चैतन्य की अनुभूति ही समाधि, जगत् का मिथ्यात्व,शान्त मनःस्थिति से ब्रह्म प्राप्ति, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान की महिमा, वासना के परिहार से मोक्ष की प्राप्ति, बन्ध-मोक्ष का मूल संकल्प तथा अनात्माभिमान के त्याग की विधि इत्यादि विषयों का विशद विवेचन किया गया है। पाँचवें अध्याय में अज्ञान एवं ज्ञान की भूमिका, 'स्वरूप' में स्थिति मोक्ष और 'स्वरूप' से नष्ट होना बन्धन, ज्ञान एवं अज्ञान की सात भूमिकाएँ, जीवन्मुक्त का आचरण, ज्ञान भूमिका का अधिकारी, ब्रह्म की अनुभूति ही ब्रह्म प्राप्ति का उपाय, मनोलय होने पर चैतन्य की अनुभूति, जगत् के भ्रामक ज्ञान को शान्त करने का उपाय, विषयों से उपरामता, तृष्णा को नष्ट करने का उपाय अहंभाव का त्याग, मन के अभ्युदय एवं नाश से बन्धन-मुक्ति, चित् (चैतन्य) विद्या का अधिकारी, माया से बचकर ही ब्रह्म प्राप्ति सम्भव, ब्रह्म की सृष्टि माया के अधीन तथा संकल्प (आकांक्षा) के नष्ट होने से संसार का मूलोच्छेदन सम्भव जैसे विषयों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। छठे अध्याय में समाधि के अभ्यास से परमेश्वरत्व की प्राप्ति, ज्ञानियों की उपासना पद्धति, अज्ञानियों की दुःखद स्थिति, मनोनाश का उपाय, वासना त्याग का उपाय, जीवन्मुक्त की महिमा, तृष्णा की त्याग विधि, चार प्रकार के निश्चय, अद्वैतनिष्ठ व्यक्ति के लिए संसार का अभाव, मुमुक्षु की ब्रह्मनिष्ठता और अन्त में इस उपनिषद् शास्त्र के पठन-पाठन का प्रतिफल वर्णित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह महोपनिषद् अपने नाम के अनुसार अनेकानेक महत्त्वपूर्ण विषयों का बड़ी कुशलता के साथ विशद विवेचन प्रस्तुत करके अध्यात्मपथ के पथिकों का समुचित मार्गदर्शन करती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमेश्वर! मेरे समस्त अंग-अवयव वृद्धि को प्राप्त करें। वाणी, चक्षु, कर्णेन्द्रिय आदि समस्त कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ, समस्त प्राण, शारीरिक एवं मानसिक शक्ति ओजस्-तेजस् से परिपुष्ट एवं विकसित हों। मैं उपनिषद् में प्रतिपादित अविनाशी ब्रह्म के स्वरूप को कभी भी अस्वीकार न करूँ तथा वह ब्रह्म भी हमारा कभी परित्याग न करे। (वह) मुझे सदैव अपने सामीप्य का बोध कराता रहे। (उस ब्रह्म के साथ मेरा तथा मेरे साथ उस ब्रह्म का) प्रगाढ़ सम्बन्ध सतत बना रहे। उपनिषदों में वर्णित जो समस्त धर्म हैं, वे सभी उस परमात्म तत्त्व में निरत मुझमें सदैव प्रकाशित होते हुए स्थिर रहें। हे परमात्मन्! त्रिविध ताप शान्त हों।

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

अथातो महोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ तदाहुरेको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नापो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः ॥२ ॥ स एकाकी न रमते ॥३ ॥

अब (ईश प्रार्थना के बाद) महोपनिषद् के व्याख्यान का शुभारम्भ किया जा रहा है। सृष्टि के आदि में एकमात्र भगवान् नारायण ही थे। इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, रुद्र, आप: (जल), अग्नि एवं सोम आदि देवगण नहीं थे। ये द्युलोक तथा पृथ्वीलोक भी नहीं थे और न ही नक्षत्र, चन्द्रमा एवं सूर्य आदि ही थे। ऐसी स्थिति में उन (विराट् पुरुष) को एकाकी रहना बिल्कुल अच्छा नहीं लगा॥ १-३॥

तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते ॥ ४ ॥ तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दश जायन्ते एका कन्या दशेन्द्रियाणि मन एकादशं तेजो द्वादशोऽहंकारस्त्रयोदशकः प्राणश्चतुर्दश आत्मा पञ्चदशी बुद्धिः भूतानि पञ्च तन्मात्राणि पञ्च महाभूतानि स एकः पञ्चविंशतिः पुरुषः ॥ ५ ॥ तत्पुरुषं पुरुषो निवेश्य नास्य प्रधानसंवत्सरा जायन्ते। संवत्सरादधिजायन्ते ॥ ६ ॥

उन (विराट् पुरुष) का अन्तःकरण में स्थित ध्यान 'यज्ञस्तोम' अर्थात् श्रेष्ठ यज्ञ कहलाया। उनके द्वारा एक कन्या एवं चौदह पुरुष प्रादुर्भूत हुए। जिनमें से चौदह पुरुष ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय सहित दस इन्द्रियाँ, एकादश-तेजस्वी मन, द्वादश अहंकार, तेरह और चौदह क्रमशः प्राण और आत्मा हैं तथा पन्द्रहवीं बुद्धि कन्या के नाम से कही गयी है। इनके अलावा पाँच सूक्ष्मभूत रूपी तन्मात्राएँ एवं पाँच महाभूत आदि इन पच्चीस तत्त्वों के संयोग से एक विराट् पुरुष के शरीर का निर्माण हुआ। उस (विराट् शरीर) में ही परमात्मरूप आदिपुरुष ने प्रवेश किया। (इन पच्चीस तत्त्वों से संयुक्त पुरुष से) प्रधान संवत्सर आदि प्रकट नहीं होते। (अपितु) आदि पुरुष के कालरूप संवत्सर से ही (संवत्सर) प्रादुर्भूत हुए हैं॥ ४-६॥

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषो जायते। बिभ्रच्छ्रियं यशः सत्यं ब्रह्मचर्यं तपो वैराग्यं मन ऐश्वर्यं सप्रणवा व्याहृतय ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसः सर्वाणि छन्दांसि तान्यङ्गे समाश्रितानि। तस्मादीशानो महादेवो महादेवः ॥ ७ ॥

तदनन्तर उन (विराट् पुरुष) भगवान् नारायण ने एक अन्य कामना से संकल्प युक्त हो अन्तःस्थ मन से ध्यान किया। अन्तःस्थ होकर ध्यान करने से उनके ललाट से त्रिनेत्रयुक्त, हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए पुरुष की उत्पत्ति हुई। उस ऐश्वर्यशाली पुरुष के शरीर में यश, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, वैराग्य, नियन्त्रित मन, श्री-सम्पन्नता एवं ओंकार सहित व्याहृतियाँ, ऋग्, यजुः, साम, अथर्व आदि चारों वेद तथा समस्त छन्द प्रतिष्ठित थे। इसी कारण वह ईशान एवं महादेव के नाम से प्रख्यात हुए॥ ७॥

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्स्वेदोऽपतत्। ता इमाः प्रतता आपः। ततस्तेजो हिरणमयमण्डम्। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत॥ ८ ॥

इसके पश्चात् पुनः उन भगवान् नारायण ने अन्य कामना से अन्तः में स्थित होकर ध्यान किया। उस अन्तःस्थ ध्यान में लीन नारायण के ललाट से पसीने की बूँदें निःसृत होने लगीं। वह पसीना ही चारों ओर फैलकर आपः (प्रकृति का मूल क्रियाशील द्रव्य) रूप में परिणत हो गया। उस आपः से ही तेजोमय हिरण्यगर्भरूप अण्ड की उत्पत्ति हुई और उसी तेज से चतुर्मुख ब्रह्माजी प्रकट हुए॥ ८ ॥

सोऽध्यायत्। पूर्वाभिमुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्द ऋग्वेदोऽग्निर्देवता। पश्चिमाभिमुखो भूत्वा भुवरिति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दो यजुर्वेदो वायुर्देवता। उत्तराभिमुखो भूत्वा स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सामवेदः सूर्यो देवता। दक्षिणाभिमुखो भूत्वा मह इति व्याहृतिरानुष्टुभं छन्दोऽथर्ववेदः सोमो देवता॥ ९ ॥

उन पितामह भगवान् ब्रह्माजी ने (चारों दिशाओं में भिन्न-भिन्न देवों का) ध्यान किया। पूर्व दिशा की तरफ मुख करके उन्होंने भूः व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद तथा अग्निदेव का ध्यान किया। पश्चिमाभिमुख होकर भुवः व्याहृति, त्रिष्टुप् छन्द, यजुर्वेद सहित वायुदेव का ध्यान किया। उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर स्वः व्याहृति, जगती छन्द तथा सामवेद सहित सूर्य (सविता) देव का ध्यान किया और दक्षिण की तरफ अभिमुख होकर महः व्याहृति, अनुष्टुप् छन्द तथा अथर्ववेद सहित सोम देवता का ध्यान किया॥ ९ ॥

[यहाँ पितामह के द्वारा जिन-जिनके ध्यान करने का उल्लेख है, वे सभी उसी ध्यान प्रक्रिया से प्रादुर्भूत होते चले गये।]

सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं विश्वशंभुवम्। विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम्॥१०॥

जिन (विराट् पुरुष) के सहस्रों सिर, सहस्रों नेत्र हैं, जो सभी तरह से कल्याणकारी हैं, सर्वत्र संव्याप्त हैं, परात्पर हैं, नित्य हैं, सभी रूपों में प्रतिष्ठित हैं, ऐसे उन भगवान् नारायण का ब्रह्माजी ने ध्यान किया॥१०॥

विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति। पतिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे विश्वरूपिणम्॥ ११ ॥

ये भगवान् नारायण ही सम्पूर्ण विश्व के स्वरूप हैं, इन्हीं विराट् पुरुष पर समस्त जगत् का जीवन आश्रित है। ब्रह्माजी ने सम्पूर्ण जगत् के पालक, विश्वरूप, विश्वेश्वर को तथा क्षीर सागर में योगनिद्रा का आश्रय लेने वाले भगवान् श्रीनारायण का ध्यानावस्था में दर्शन प्राप्त किया॥ ११ ॥

पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसंनिभम्। हृदयं चाप्यधोमुखं संतत्यै सीत्कराभिश्च॥ १२ ॥
तस्य मध्ये महानर्चिर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखम्। तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता॥१३
तस्याः शिखाया मध्ये पुरुषः परमात्मा व्यवस्थितः। स ब्रह्मा स ईशानः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥ इति महोपनिषत्॥ १४ ॥

जो पद्मकोश के सदृश, आकोश (सम्यक् रूप से विकसित कोश) के आकार में लम्बायमान एवं अधोमुख हृदय है, जिससे सतत सीत्कार शब्द निःसृत होता रहता है। उस हृदय के मध्य में एक महान् ज्वाला प्रदीप्त हो रही है। वही ज्वाला दीपशिखा की भाँति दसों दिशाओं में अविनाशी प्रकाश तत्त्व को वितरित करती हुई सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित कर रही है। उसी ज्वाला के बीच में थोड़ी दूर ऊर्ध्व की ओर उठी हुई एक पतली सी वह्निशिखा स्थित है। उसी शिखा के मध्य में उस विराट् पुरुष परमात्मतत्त्व का वास-स्थल है। वे ही ब्रह्मा हैं, वही विष्णु एवं ईशान हैं और वही देवराज इन्द्र हैं। वे ही अविनाशी अक्षर एवं परम स्वराट् भी हैं। यही महोपनिषद् है॥ १२-१४ ॥

[शरीर विज्ञान के अनुसार हृदय के मध्य में एक स्थल होता है— 'पेसमेकर', जहाँ से हृदय को गति देने वाले लयबद्ध स्पंदन उभरते रहते हैं। हृदय की धड़कन पैदा करने वाले मूल कारण को वैज्ञानिक अभी तक स्पष्ट नहीं कर सके हैं। ऋषि ने संभवतः उसी स्थल को चैतन्य ज्वाला के रूप में अनुभव किया है।]

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

शुको नाम महातेजाः स्वरूपानन्दतत्परः। जातमात्रेण मुनिराड् यत्सत्यं तदवाप्तवान्॥ १ ॥
तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः। प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्तवान्॥ २ ॥

शुक नामक महातेजस् सम्पन्न एक मुनीश्वर सतत आत्मा के आस्वादन में संलग्न रहते थे। जन्म के तुरन्त बाद ही उन्हें सत्य एवं तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो गई थी। इस कारण से उन्होंने अपने विवेक से स्वयं ही चिरकाल तक चिन्तन-मनन करने के पश्चात् आत्मा के स्वरूप को जानने की निश्चित धारणा बनाई॥ १-२॥

अनाख्यत्वादगम्यत्वान्मनः षष्ठेन्द्रियस्थितेः। चिन्मात्रमेवमात्माणुराकाशादपि सूक्ष्मकः॥ ३ ॥
चिदणोः परमस्यान्तःकोटिब्रह्माण्डरेणवः। उत्पत्तिस्थितिमभ्येत्य लीयन्ते शक्तिपर्ययात्॥ ४ ॥
आकाशं बाह्यशून्यत्वादनाकाशं तु चित्त्वतः। न किंचिद्यदनिर्देश्यं वस्तु सत्तेति किंचन॥ ५ ॥
चेतनोऽसौ प्रकाशत्वाद्वेद्याभावाच्छिलोपमः। स्वात्मनि व्योमनि स्वस्थे जगदुन्मेषचित्रकृत्॥६ ॥

वचनों से परे होने के कारण, अगम्य होने के कारण तथा मन रूपी छठी इन्द्रिय में प्रतिष्ठित होने के कारण यह आत्मा अणु के आकार वाला, चिन्मात्र एवं आकाश से भी अतिसूक्ष्म है। इस परम चिद्रूप अणु के अन्दर कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड रूपी रेणुकाएँ शक्ति क्रमानुसार प्रकट एवं प्रतिष्ठित होकर विलीन होती रहती हैं। आत्मा बाह्य शून्यता के कारण आकाशरूप है और चिद्रूपता के कारण अनाकाशरूप है। इसके रूप का वर्णन न हो सकने के कारण यह वस्तुरूप नहीं है; किन्तु सत्ता होने से वस्तुरूप है। प्रकाशरूप होने के कारण वह चेतन है तथा वेदना का विषय न होने से वह शिला के सदृश (जड़) है। अपने अन्तः में स्थित आत्माकाश में वह चित्र-विचित्र विभिन्न प्रकार के जगत् का उन्मेष (सृजन) करता है॥ ३-६॥

तद्भामात्रमिदं विश्वमिति न स्यात्ततः पृथक्। जगद्भेदोऽपि तद्भानमिति भेदोऽपि तन्मयः॥७ ॥
सर्वगः सर्वसंबन्धो गत्यभावान्न गच्छति। नास्त्यसावाश्रयाभावात्सद्रूपत्वादथास्ति च ॥ ८ ॥
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्। सर्वसंकल्पसंन्यासश्चेतसा यत्परिग्रहः ॥ ९ ॥
जाग्रतः प्रत्ययाभावं यस्याहुः प्रत्ययं बुधाः। यत्संकोचविकासाभ्यां जगत्प्रलयसृष्टयः॥ १० ॥
निष्ठा वेदान्तवाक्यानामथ वाचामगोचरः। अहं सच्चित्परानन्दब्रह्मैवास्मि न चेतरः॥ ११ ॥

यह विश्व उसी आत्मा का प्रकाशमात्र होने के कारण उस आत्मतत्त्व से पृथक् नहीं है। जो विश्वभेद आत्मा में दृष्टिगोचर होता है, वह भी उस आत्मा से अलग नहीं है। सभी से सम्बद्ध होने से उस आत्मा की गति यत्र-तत्र-सर्वत्र है; किन्तु उसमें गति न होने के कारण वह चलायमान नहीं है। वह आत्मा आश्रयरहित होने से नास्ति रूप है; किन्तु सत्स्वरूप होने के कारण वह अस्तिरूप है। वही धन-प्रदाता (दानी) की परमगति है। जो ब्रह्मानन्दमय और विज्ञानमय है तथा चित्त द्वारा सारे संकल्पों का परित्याग ही जिसका ग्रहण है। जाग्रत् अवस्था की प्रतीति के अभाव को ही ज्ञानीजन जिसकी प्रतीति बताते हैं, जिसके संकोच एवं विकास से जगत् का विनाश एवं सृजन होता है। जो वेदान्त-वाक्यों की निष्ठास्वरूप तथा वाणी के लिए अकथनीय है, मैं वही सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परमात्मा ब्रह्म हूँ और अन्य दूसरा कुछ भी नहीं हूँ॥ ७-११॥

स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवाञ्छुकः। स्वयं प्राप्ते परे वस्तुन्यविश्रान्तमनाः स्थितः॥१२ ॥

इदं वस्त्विति विश्वासं नासावात्मन्युपाययौ। केवलं विररामास्य चेतो विषयचापलम्। भोगेभ्यो भूरिभङ्गेभ्यो धाराभ्य इव चातकः॥ १३॥

इस प्रकार अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा श्री शुकदेव मुनि ने सभी कुछ जान लिया तथा स्वयं प्राप्त हुए परमात्मतत्त्व में वे अविश्रान्त सतत लगे रहने वाले मन से प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार का विश्वास उनकी आत्मा में प्राप्त हो गया कि 'यही वस्तु है', इससे भिन्न और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार जलद के धारा प्रपात से सन्तुष्ट हुए चातक की चंचलता दूर हो जाती है, उसी प्रकार शुकदेव जी का चित्त विभिन्न तरह के भोगों से प्रादुर्भूत विषय-चापल्य से विरत होकर कैवल्यावस्था को प्राप्त हो गया ॥ १२-१३॥

एकदा सोऽमलप्रज्ञो मेरावेकान्तसंस्थितः। पप्रच्छ पितरं भक्त्या कृष्णद्वैपायनं मुनिम्॥ १४॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं मुने। कथं च प्रशमं याति किं यत्कस्य कदा वद॥ १५॥

एक बार उन प्रज्ञावान् मनीषी श्री शुकदेव जी ने मेरु-पर्वत पर एकान्त में प्रतिष्ठित अपने पिता श्रीकृष्ण द्वैपायन मुनि के आश्रम में जाकर भक्तिपूर्वक अर्चना करके पूछा-हे श्रेष्ठ मुने! इस जगत् रूप प्रपञ्च का प्राकट्य किस प्रकार हुआ और इसका विनाश कैसे होता है? यह क्या है? किसका है और इसकी उत्पत्ति कब हुई? यह सभी कुछ कृपापूर्वक हमें बताने का अनुग्रह करें॥ १४-१५॥

एवं पृष्टेन मुनिना व्यासेनाखिलमात्मजे। यथावदखिलं प्रोक्तं वक्तव्यं विदितात्मना॥ १६॥
अज्ञासिषं पूर्वमेवमहमित्यथ तत्पितुः। स शुकः स्वकया बुद्ध्या न वाक्यं बहु मन्यते॥ १७॥
व्यासोऽपि भगवान्बुद्ध्वा पुत्राभिप्रायमीदृशम्। प्रत्युवाच पुनः पुत्रं नाहं जानामि तत्त्वतः॥१८॥
जनको नाम भूपालो विद्यते मिथिलापुरे। यथावद्वेत्त्यसौ वेद्यं तस्मात्सर्वमवाप्स्यसि॥ १९॥
पित्रेत्युक्तः शुकः प्रायात्सुमेरोर्वसुधातलम्। विदेहनगरीं प्राप जनकेनाभिपालिताम्॥ २०॥

शुकदेव जी के इस प्रकार पूछे जाने पर आत्मज्ञानी व्यासजी ने उन्हें सभी बातें यथावत् बतला दीं, लेकिन ये सभी बातें तो दीर्घकाल से ही मालूम हैं, ऐसा जानकर शुकदेव जी ने अपने पिता श्रीव्यास जी की बातों को अपनी बुद्धि से वैसा विशेष सम्मान नहीं दिया। शुकदेव जी के इस भाव को व्यास जी समझकर बोले-हे पुत्र! मैं तुम्हारी इन सभी बातों को तत्त्वतः नहीं जानता हूँ। अतः यदि इस विषय की विशेष जानकारी चाहते हो, तो मिथिलापुरी में 'जनक' नाम के एक राजा राज्य करते हैं, वे तुम्हारी इन सभी बातों को अच्छी तरह से जानते हैं। 'हे पुत्र! तुम उनसे सभी कुछ प्राप्त कर सकते हो।' पिता के द्वारा ऐसा कहे जाने पर शुकदेव जी सुमेरु-पर्वत से उतर कर समतल भूखण्ड पर आये और महाराज जनक के द्वारा संरक्षित मिथिलापुरी में प्रविष्ट हुए॥१६-२०

आवेदितोऽसौ याष्टीकैर्जनकाय महात्मने। द्वारि व्याससुतो राजञ्छुकोऽत्र स्थितवानिति॥ २१॥
जिज्ञासार्थं शुकस्यासावास्तामेवेत्यवज्ञया। उक्त्वा बभूव जनकस्तूष्णीं सप्त दिनान्यथ॥ २२॥
ततः प्रवेशयामास जनकः शुकमङ्गणे। तत्राहानि स सप्तैव तथैवावसदुन्मनाः॥ २३॥
ततः प्रवेशयामास जनकोऽन्तःपुराजिरे। राजा न दृश्यते तावदिति सप्त दिनानि तम्॥ २४॥
तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिर्भोजनैर्भोगसंचयैः। जनको लालयामास शुकं शशिनिभाननम्॥ २५॥
ते भोगास्तानि भोज्यानि व्यासपुत्रस्य तन्मनः। नाजह्रुर्मन्दपवनो बद्धपीठमिवाचलम्॥ २६॥
केवलं सुसमः स्वच्छो मौनी मुदितमानसः। संपूर्ण इव शीतांशुरतिष्ठदमलः शुकः॥ २७॥

तदनन्तर शुकदेव मुनि को आया हुआ देखकर द्वारपालों ने राजा जनक को यह संदेश दिया कि हे राजन्! राजद्वार पर व्यास जी के पुत्र श्रीशुकदेव जी आपसे मिलने के लिए आये हैं, उन (शुकदेव) मुनि की परीक्षा के

लिए महाराज जनक ने अवज्ञापूर्वक मात्र इतना ही कहा कि उनसे कहो कि 'वे वहीं पर रुकें', इतना कहने के उपरान्त राजा सात दिनों तक पूरी तरह से शान्त रहे। इसके पश्चात् उन्होंने शुकदेव मुनि को अपने राज-प्राङ्गण में आमन्त्रित किया और वहाँ भी वे सात दिनों तक उसी तरह शान्त रहे। इसके अनन्तर राजा ने उन्हें अपने अन्तःपुर के आँगन में ससम्मान बुलवाया तथा वहाँ पर भी सात दिनों तक वे उनके समक्ष नहीं आये। विदेहराज जनक ने अन्तःपुर में युवती स्त्रियों, विभिन्न तरह के सुस्वादु पकवान एवं भोज्य पदार्थों सहित उन श्रेष्ठ मुनि शुकदेव जी का स्वागत-सत्कार किया। वे समस्त भोग एवं भोज्य सामग्री उन व्यासपुत्र शुकदेव जी के मन को ठीक वैसे ही नहीं डिगा सके, जैसे कि मन्द-मन्द प्रवाहित पवन दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हुए पर्वत को गतिशील नहीं कर सकता। वहाँ उस अन्तःपुर में ज्ञानी शुकदेव जी असङ्ग, समभाव वाले, निर्मल एवं पूर्णचन्द्र के सदृश प्रतिष्ठित बने रहे॥ २१-२७॥

परिज्ञातस्वभावं तं शुकं स जनको नृपः। आनीय मुदितात्मानमवलोक्य ननाम ह॥ २८॥
निःशेषितजगत्कार्यः प्राप्ताखिलमनोरथः। किमीप्सितं तवेत्याह कृतस्वागतमाह तम्॥ २९॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो। कथं प्रशममायाति यथावत्कथयाशु मे॥ ३०॥
यथावदखिलं प्रोक्तं जनकेन महात्मना। तदेव यत्पुरा प्रोक्तं तस्य पित्रा महाधिया॥ ३१॥
स्वयमेव मया पूर्वमभिज्ञातं विशेषतः। एतदेव हि पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम्॥ ३२॥
भवताप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदां वर। एष एव हि वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते॥ ३३॥
मनोविकल्पसंजातं तद्विकल्पपरिक्षयात्। क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चितः॥ ३४॥
तत्किमेतन्महाभाग सत्यं ब्रूहि ममाचलम्। त्वत्तो विश्रममाप्नोति चेतसा भ्रमता जगत्॥ ३५॥

इस प्रकार जब राजा जनक ने श्रीशुकदेवजी के चरित्र की भली-भाँति परीक्षा ले ली, तब उन्हें अपने समीप बुलाया। उन्हें प्रसन्नचित्त देखकर राजा ने प्रणाम किया और उनका सत्कार करते हुए बोले- हे शुकदेव जी! आपने अपने सांसारिक कृत्यों को समाप्त कर दिया है तथा आपको सभी मनोरथ प्राप्त हैं, कृपया बताने का अनुग्रह करें कि अब आपकी क्या अभिलाषा है? श्रीशुकदेव जी ने जिज्ञासा भाव से कहा-हे गुरुवर! कृपया मुझे यह बताने की कृपा करें कि यह सांसारिक प्रपञ्च कैसे प्रादुर्भूत हुआ है तथा किस तरह से विलय को प्राप्त होता है? तब महान् ज्ञानी राजा जनक ने श्रीशुकदेव जी को सभी बातें तत्त्वतः बतला दी, इन्हीं बातों को उनके परम ज्ञानवान् पिता श्रीव्यास जी पहले ही बता चुके थे। इस पर श्रीशुकदेव जी ने कहा-हे गुरुश्रेष्ठ! हमने स्वयं ही इसकी विशेष रूप से जानकारी प्राप्त की थी, पूछने पर हमारे पिता श्रीव्यास जी ने भी यही बातें बतलायी थी। आपने भी यही बातें हमें बतायी हैं तथा ठीक ऐसा ही शास्त्रों का भी मत है। मन के विकल्प से ही प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है और उस विकल्प के विनष्ट हो जाने पर इस (प्रपञ्च) का भी विनाश हो जाता है। यह जगत् निन्दनीय एवं सार-रहित है, ऐसा निश्चित है, तब हे महान् ज्ञानी राजन्! यह सब (जीवन आदि) क्या है? कृपा करके मुझे यथार्थ रूप से समझाने की कृपा करें। मेरा यह चित्त जगत् के विषय में दिग्भ्रान्त हो रहा है, अतः आपके सदुपदेश से ही शान्ति मिल सकती है॥ २८-३५॥

श्रृणु तावदिदानीं त्वं कथ्यमानमिदं मया। श्रीशुक ज्ञानविस्तारं बुद्धिसारान्तरान्तरम्॥ ३६॥
यद्विज्ञानात्पुमान्सद्यो जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात्॥ ३७॥ दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः॥ ३८॥ अशेषेण परित्यागो वासनाया य उत्तमः। मोक्ष
इत्युच्यते सद्भिः स एव विमलक्रमः॥ ३९॥ ये शुद्धवासना भूयो न जन्मानर्थभागिनः।

ज्ञातज्ञेयास्त उच्यन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः॥ ४०॥ पदार्थभावनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते। वासनातानवं ब्रह्मन्मोक्ष इत्यभिधीयते॥ ४१॥

इसके पश्चात् राजा जनक ने कहा-हे शुकदेव जी! अब मैं आपके प्रति सम्पूर्ण ज्ञान को विस्तारपूर्वक कहता हूँ- सुनो, यह ज्ञान समस्त ज्ञानों का सार एवं सभी रहस्यों का रहस्य है, अतः इसके जान लेने से वह पुरुष अतिशीघ्र मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। विदेहराज ने कहा कि यह दृश्य जगत् है ही नहीं, ऐसा पूर्ण बोध जब हो जाता है, तब दृश्य विषय से मन की शुद्धि हो जाती है। तब यह ज्ञान पूर्ण हो जाता है और तभी उसे निर्वाण रूपी परम शान्ति मिल जाती है। जो वासनाओं का निःशेष परित्याग कर देता है, वही वास्तविक श्रेष्ठ त्याग है, उसी विशुद्धावस्था को ज्ञानीजनों ने मोक्ष कहा है। पुनः जो शुद्ध वासनाओं से युक्त हैं, जो अनर्थ शून्य जीवन वाले हैं और जो ज्ञेय तत्त्व के ज्ञाता हैं, हे महान् ज्ञानी शुकदेव जी! वे ही मनुष्य पूर्ण जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। पदार्थों की भावनात्मक दृढ़ता को ही बन्धन और वासनाओं की क्षीणता को ही मोक्ष कहा गया है॥३६-४१

तपःप्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः। भोगा इह न रोचन्ते स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४२॥ आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतः। न हृष्यति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४३॥ हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः। न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४४॥ अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः। तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४५॥

जिसे तप आदि साधनों के अभाव में स्वभाववश ही सांसारिक भोग अच्छे नहीं लगते,वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो प्रतिपल प्राप्त होने वाले सुखों या दुःखों में आसक्त नहीं होता तथा जो न हर्षित होता है और न ही दुःखी होता है,वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो हर्ष,अमर्ष,भय,काम,क्रोध एवं शोक आदि विकारों से मुक्त रहता है,वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहंकार युक्त वासना को अति सहजता से त्याग देता है तथा चित्त के अवलम्बन में जो सम्यक् रूप से त्याग भाव रखता है,वही वास्तव में जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ४२-४५

ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु। सुषुप्तिवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४६॥ अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः। प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्न किंचिदिह वाञ्छति। यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४७॥ संवेद्येन हृदाकाशे मनागपि न लिप्यते। यस्यासावजडा संवित्स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४८॥ रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले। यः करोत्यनपेक्ष्यैव स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४९॥ मौनवान्निरहंभावो निर्मानो मुक्तमत्सरः। यः करोति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५०॥

जो सदैव अन्तर्मुखी दृष्टिवाला, पदार्थ की आकांक्षा से रहित और किसी भी वस्तु की अपेक्षा अथवा कामना से रहित सुषुप्ति के समान अवस्था में विचरण करता रहता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सदैव आत्मा में लीन रहता है, जिसका मन पूर्ण एवं पवित्र है, अत्यन्त श्रेष्ठ एवं शान्त स्वभाव को प्राप्त कर जो इस नश्वर संसार में किसी वस्तु की इच्छा नहीं रखता, जो किसी के प्रति आसक्ति न रखता हुआ उदासीन भाव से भ्रमण करता रहता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका हृदय किसी भी पदार्थ में लिप्त नहीं होता तथा जो चेतन संवित्(सद्ज्ञानयुक्त)स्वरूप वाला है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो पुरुष राग-द्वेष, सुख-दुःख, मान-अपमान, धर्म-अधर्म एवं फलाफल की इच्छा-आकांक्षा न रखता हुआ सदैव अपने कार्यों में व्यस्त रहता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहंभाव को त्याग करके, मान एवं मत्सर से रहित, उद्वेगरहित तथा संकल्पविहीन रहकर कर्म करता रहता है,उसी पुरुष को ज्ञानीजन जीवन्मुक्त कहते हैं॥४६-५०

सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः। निरिच्छो वर्तते कार्ये स जीवन्मुक्त उच्यते॥५१॥
येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम्। सर्वमन्तः परित्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते॥५२॥
यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते। सा येन सुष्ठु संत्यक्ता स जीवन्मुक्त उच्यते॥५३॥
कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमेव च। सममेव च यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते॥५४॥
जरामरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च। रम्यमित्येव यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते॥५५॥
धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी। धिया येन सुसंत्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते॥५६॥

जो सर्वत्र मोहरहित होकर साक्षी भाव से जीवनयापन करता है तथा बिना किसी फल की कामना किये ही अपने कर्त्तव्य कर्म में रत रहता है, वही जीवन्मुक्त है। जिसने धर्म-अधर्म का, सांसारिक विषय के चिन्तन का तथा सभी तरह की कामनाओं का परित्याग कर दिया है, उसे ही जीवन्मुक्त कहा गया है। यह समस्त दृश्य प्रपञ्च जो दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका जिसने पूरी तरह से परित्याग कर दिया है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो ज्ञानी पुरुष खट्टे, चरपरे, कड़वे, नमकीन, स्वादयुक्त एवं अस्वाद को एक जैसा मानकर भोजन ग्रहण करता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जरा, मृत्यु, विपत्ति, राज्य एवं दारिद्र्य आदि में से जो समान भाव रखते हुए हर स्थिति में सन्तुष्ट रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने धर्म-अधर्म, सुख-दुःख एवं जन्म-मृत्यु आदि का अपने हृदय से पूर्णरूपेण परित्याग कर दिया है, वही वास्तव में जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ५१-५६॥

उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया। न शोचते न चोदेति स जीवन्मुक्त उच्यते॥५७॥
सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः। धिया येन परित्यक्ताः स जीवन्मुक्त उच्यते॥५८॥
जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च। सममेव मनो यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते॥५९॥
न किंचन द्वेष्टि तथा न किंचिदपि काङ्क्षति। भुङ्क्ते यः प्रकृतान्भोगान्स जीवन्मुक्त उच्यते॥६०
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः। यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥६१॥
यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि निःस्पृहः। परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते॥६२॥

जो मनुष्य उद्वेग एवं आनन्द से रहित है तथा शोक और हर्षोल्लास में समान भाव एवं परिष्कृत बुद्धि से सम्पन्न है। सभी तरह की इच्छाओं एवं आकांक्षाओं, कामनाओं तथा सारे निश्चयों को जिसने मन से पूर्णतः त्याग दिया है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय की अवस्था में तथा प्रगति और अवनति में जिस पुरुष का मन समान रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो किसी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष आदि के भाव नहीं रखता है, जो न किसी की इच्छा-आकांक्षा करता है। जो केवल प्रारब्धवश प्राप्त भोगों का उपभोग करने वाला है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने सांसारिक विषयों की प्राप्ति की कामना को त्याग दिया है, जो चित्त में रहते हुए भी चित्तरहित हो गया है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो पुरुष जगत् के सम्पूर्ण अर्थ जाल के बीच में प्रतिष्ठित होकर भी उससे पराये धन से अलग रहने वाले धर्मात्मा के सदृश अनासक्त रहता है, निश्चय ही वह आत्मा में ही परमात्मतत्त्व की अनुभूति करने वाला महान् पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ५७-६२॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते। विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥६३॥
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति। न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः॥६४॥

वह पुरुष अपने शरीर के काल-कवलित हो जाने के पश्चात् जीवन्मुक्त स्थिति का परित्याग करके गतिहीन पवन के सदृश विदेहमुक्त स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में जीव की न तो उन्नति होती है और न ही अवनति तथा उसका विनाश भी नहीं होता। उसकी वह अवस्था सत्-असत् से परे होती है और वह किसी के दूरस्थ-समीपस्थ भी नहीं होता॥ ६३-६४॥

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्। अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते॥ ६५॥
न शून्यं नापि चाकारि न दृश्यं नापि दर्शनम्। न च भूतपदार्थौघसदनन्ततया स्थितम्॥ ६६॥
किमप्यव्यपदेशात्मा पूर्णात्पूर्णतराकृतिः। न सन्नासन्न सदसन्न भावो भावनं न च॥ ६७॥
चिन्मात्रं चैत्यरहितमनन्तमजरं शिवम्। अनादिमध्यपर्यन्तं यदनादि निरामयम्॥ ६८॥

विदेहमुक्ति गम्भीर एवं स्तब्ध अवस्था को कहते हैं। उस अवस्था में न सर्वत्र प्रकाश व्याप्त होता है और न ही अन्धकार। उसमें नामविहीन एवं अभिव्यक्त न होने वाला एक तरह का सत् तत्त्व अवशिष्ट रहता है। वह शून्य एवं साकार भी नहीं होता है। दृश्य एवं दर्शन रूप भी नहीं होता है। उसमें ये भूत एवं पदार्थ- समूह भी नहीं होते हैं। केवल वह सत् अन्तरहित स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। वह ऐसा आश्चर्ययुक्त तत्त्व होता है कि जिसके रूप का निर्देशन नहीं किया जा सकता है। उसकी आकृति एवं प्रकृति पूर्ण से भी पूर्णतर होती है। वह न सत् होता है और न असत् तथा सत्-असत् दोनों भी नहीं होता। वह भाव एवं भावना से परे होता है। वह मात्र चैतन्य ही होता है; किन्तु चित्तविहीन एवं अनन्त भी होता है। वह जरारहित, शिवस्वरूप एवं आत्मकल्याण -प्रद होता है। उसका आदि, मध्य एवं अन्त भी नहीं होता। वह अनादि एवं दोषरहित होता है॥ ६५-६८॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां मध्ये यद्दर्शनं स्मृतम्। नातः परतरं किंचिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने॥ ६९॥
स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम्। स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पाद्विमुच्यते॥ ७०॥
तेन स्वयं त्वया ज्ञातं ज्ञेयं यस्य महात्मनः। भोगेभ्यो ह्यरतिर्जाता दृश्याद्वा सकलादिह॥ ७१॥
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा। स्वरूपे तपसि ब्रह्मन्मुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज॥ ७२॥
अतिबाह्यं तथा बाह्यमन्तराभ्यन्तरं धियः। शुक पश्यन्न पश्येस्त्वं साक्षी संपूर्णकेवलः॥ ७३॥

द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन की त्रिपुटी के मध्य में मात्र वह दर्शन स्वरूप ही कहा गया है। हे श्रीशुकदेव जी! इस सन्दर्भ में इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा निश्चय नहीं किया जा सकता। आपने इस तत्त्वज्ञान को स्वयमेव समझ लिया है और अपने पिता श्रीव्यास जी से भी श्रवण कर लिया है कि जीव अपनी संकल्प शक्ति से ही बन्धन में पड़ता है और संकल्प से ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अत: आपने स्वयं ही उस तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लिया है, जिसे जानने के पश्चात् इस नश्वर जगत् में साधुजनों को सभी दृश्यों से अथवा भोगों से विरक्ति पैदा हो जाती है। आपने पूर्ण चैतन्यावस्था में पहुँच कर सभी प्राप्त होने वाले पदार्थों को भी प्राप्त कर लिया है। आप तप:स्वरूप में स्थित हैं। हे ब्रह्मन्! आप मुक्तावस्था को प्राप्त हो चुके हैं, अतः भ्रान्ति का परित्याग कर दें। हे शुकदेव जी! बाह्य एवं अति बाह्य, अन्तः में एवं उसके भी अन्तरंग को देखते हुए भी आप नहीं देखते हैं। आप सर्वदा पूर्ण कैवल्यावस्था में साक्षी भाव से विद्यमान हैं॥ ६९-७३॥

विशश्राम शुकस्तूष्णीं स्वस्थे परमवस्तुनि। वीतशोकभयायासो निरीहश्छिन्नसंशयः॥ ७४॥
जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमखण्डितम्॥ ७५॥ तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना।
देशे स्थित्वा शशामासावात्मन्यस्नेहदीपवत्॥ ७६॥ व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः स्वयममलात्मनि
पावने पदेऽसौ। सलिलकण इवाम्बुधौ महात्मा विगलितवासनमेकतां जगाम॥ ७७॥

विदेहराज जनक के इस तत्त्वदर्शन को सुनने के पश्चात् श्रीशुकदेव शोक,भय एवं श्रमविहीन होकर, संशयरहित और कामनारहित होकर परमतत्त्वरूप आत्मा में स्थित होकर शान्त भाव से विश्राम को प्राप्त हुए। अखण्ड समाधि हेतु वे सुमेरु पर्वत की चोटी की ओर वापस चले गये। वहाँ सहस्रों वर्षों तक स्नेहरहित दीपक के सदृश उन शुकदेव मुनि ने अन्तर्मुखी होकर निर्विकल्प समाधि द्वारा परमशान्ति लाभ प्राप्त किया। संकल्प रूपी दोषों से मुक्त,शुद्ध स्वरूप,पवित्र,निर्मल एवं वासना रहित होकर वे महान् ज्ञानी शुकदेव जी अपने आत्मपद में वैसे ही एकाकार हुए,जैसे कि जलकण महासागर में विलीन होकर समुद्र रूप हो जाते हैं॥७४-७७॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

निदाघो नाम मुनिराट् प्राप्तविद्यश्च बालकः। विहृतस्तीर्थयात्रार्थं पित्रानुज्ञातवान्स्वयम्॥ १ ॥
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा गृहमुपागतः। स्वोदन्तं कथयामास ऋभुं नत्वा महायशाः॥ २ ॥
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नानपुण्यप्रभावतः। प्रादुर्भूतो मनसि मे विचारः सोऽयमीदृशः॥ ३ ॥

अपने पिता (ऋभु) से अनुमति लेकर निदाघ नामक श्रेष्ठ मुनिपुत्र एकाकी ही तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े। साढ़े तीन करोड़ तीर्थ-स्थलों में स्नान आदि सम्पन्न कर लेने के पश्चात् वे श्रेष्ठ मुनि अपने घर वापस लौट आए। उन महान् यशस्वी मुनि ने घर आकर अपने पिता ऋभुमुनि से अपनी समस्त यात्रा का वृत्तान्त कह सुनाया। उन्होंने कहा- हे पिताजी! साढ़े तीन करोड़ तीर्थस्थलों में स्नान करने के पश्चात् जो पुण्य-फल प्राप्त हुआ है, उसके प्रतिफल स्वरूप हमारे अन्त:करण में इस तरह के श्रेष्ठ विचार प्रादुर्भूत हो रहे हैं॥ १-३॥

जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च। अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः॥ ४॥ सर्वापदां पदं पापा भावा विभवभूमयः। अयःशलाकासदृशाः परस्परमसङ्गिनः। श्लिष्यन्ते केवला भावा मनःकल्पनयानया॥ ५ ॥ भावेष्वरतिरायाता पथिकस्य मरुष्विव। शाम्यतीदं कथं दुःख-मिति तप्तोऽस्मि चेतसा॥ ६ ॥ चिन्तानिचयचक्राणि नानन्दाय धनानि मे। संप्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव॥ ७ ॥ इयमस्मिन् स्थितोदारा संसारे परिपेलवा। श्रीर्मुने परिमोहाय सापि नूनं न शर्मदा॥ ८ ॥ आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गुरम्। उन्मत्त इव संत्यज्य याम्यकाण्डे शरीरकम्॥ ९ ॥ विषयाशीविषासङ्गपरिजर्जरचेतसाम्। अप्रौढात्मविवेकानामायुरायास-कारणम्॥ १० ॥

यह जगत् उत्पन्न होता है मरने (विनष्ट होने) के लिए , पुनः मरता है जन्मने के लिए। समस्त चराचर प्राणियों की चेष्टा के साथ यह सारा प्रपञ्च (जगत्) अस्थिर एवं क्षणिक है। ऐश्वर्य की भूमि में प्रकट होने वाले ये समस्त पदार्थ आपत्तियों के मूलभूत कारण हैं। ये सभी पदार्थ लौह शलाका के सदृश परस्पर पृथक् रहते हुए मानसिक कल्पना रूपी चुम्बक द्वारा एकत्रित होते रहते हैं। जिस तरह मार्ग में गमन करने वाला व्यक्ति मरुस्थल में चलते-चलते (कष्ट के कारण) विरक्त हो जाता है, उसी तरह मैं भी इन सांसारिक पदार्थों से विरक्त हो रहा हूँ; क्योंकि ये सांसारिक भोग-पदार्थ मुझे दुःखदायी प्रतीत होने लगे हैं। अब इन समस्त दुःखों का शमन किस प्रकार होगा, ऐसा सोचकर मेरा हृदय अत्यधिक संतप्त हो रहा है। ये ऐश्वर्य रूपी धन-जिनके पीछे चिन्ताओं के समूह चक्र की भाँति घूमते रहते हैं, मुझे आनन्दप्रद नहीं लग रहे हैं। स्त्री-पुत्रादि समस्त स्वजन सम्बन्धी मानो उग्र आपदाओं के घर हैं। हे मुनीश्वर! इस जगत् में उदारता की प्रतिमूर्ति, अत्यन्त कोमलांगी ये श्रीलक्ष्मी जी भी परम मोह को उत्पन्न करने वाली हैं। निश्चय ही इनके द्वारा जीव को आनन्द नहीं मिल सकता। जिस प्रकार पल्लव के अग्रभाग में जल कणिका बूँदरूप में लटकती हैं, वह क्षणिक है। उसी प्रकार मनुष्य की आयु भी जल की बूँद के सदृश क्षणभंगुर है। इस नाशवान् शरीर को असमय ही छोड़कर उन्मत्त की भाँति मुझे प्रस्थान करना ही पड़ेगा। जिनका चित्त विषय-वासना रूपी सर्प के सङ्ग से जर्जर हो गया है तथा जिन्हें प्रौढ़ आत्मिक ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है, उनका जीवन कष्ट का ही हेतु बना है॥ ४-१०॥

युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम्। ग्रन्थनं च तरङ्गाणामास्था नायुषियुज्यते॥११ ॥
प्राप्यं संप्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते। पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते॥ १२ ॥

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति॥ १३॥
जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः। ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः॥ १४॥
भारो विवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः। अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः॥१५

वायु का लपेटना, आकाश को खण्ड-खण्ड करना एवं जल की लहरों का गुन्थन भले ही सम्भव हो जाए, किन्तु जीवन में आस्था एवं विश्वास रखना सम्भव नहीं हो पाता। जिसके द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तु को (सम्यक् रूप से) प्राप्त कर लिया जाता है, जिसके कारण शोक न करना पड़े और जिसमें परम शान्ति की उपलब्धि हो जाए, वही तो वास्तविक जीवन कहलाता है। यों तो वृक्ष, मृग एवं पक्षी भी जीवन धारण किये रहते हैं; किन्तु यथार्थ में वही जीवित है, जिसका मन निरन्तर आत्मचिन्तन में लीन रहता है। इस नश्वर जगत् में उत्पन्न हुए उन्हीं प्राणियों का जीवन उत्कृष्ट है, जिन्हें पुनः आवागमन के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता है। इससे भिन्न तो जरावस्था को प्राप्त गधे के सदृश हैं, जो कि अशक्त होते हुए भी भार ढोने के लिए विवश हैं। ज्ञानवान् मनुष्य के लिए शास्त्र, भार ढोने के सदृश है। राग-द्वेष में लिप्त मनुष्य के लिए ज्ञान भारस्वरूप है, अशान्त मनुष्य का मन तो स्वयं में ही भारस्वरूप होता है तथा जो आत्मज्ञानी नहीं हैं, उनके लिए यह शरीर भी बोझा ढोने के सदृश ही है॥ ११-१५॥

अहंकारवशादापदहंकाराद्दुराधयः। अहंकारवशादीहा नाहंकारात्परो रिपुः॥ १६॥
अहंकारवशाद्यद्यन्मया भुक्तं चराचरम्। तत्तत्सर्वमवस्त्वेव वस्त्वहंकाररिक्तता॥ १७॥
इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाभिधावति। मनो दूरतरं याति ग्रामे कौलेयको यथा॥ १८॥
क्रूरेण जडतां याता तृष्णाभार्यानुगामिना। वशः कौलेयकेनैव ब्रह्मन्मुक्तोऽस्मि चेतसा॥ १९॥
अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि। अपि वह्न्यशनाद्ब्रह्मन्विषमश्चित्तनिग्रहः॥ २०॥
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन्सति जगत्त्रयम्। तस्मिन्क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः॥२१॥

अहंकार ही समस्त विपत्तियों के आगमन का हेतु है। इसी से मनोविकार उत्पन्न होते हैं और तरह-तरह की इच्छा-आकांक्षाओं का प्रादुर्भाव होता है। इस कारण मनुष्य का अहंकार से बढ़कर और कोई भी शत्रु नहीं है। अहंकार के वशीभूत होकर मैंने चराचर रूप जिन-जिन भोगों का उपभोग किया है, वे सभी मिथ्या, भ्रमरूप थे। अहंकार का शून्य होना ही जीवन की यथार्थता है। वस्तु तो मात्र अहंकार शून्यता ही है। यह मन व्यर्थ ही परेशान होकर यत्र-तत्र दौड़ता रहता है। व्यर्थ ही दूर-दूर तक भ्रमण करता रहता है। इसका स्वभाव गाँव में इधर-उधर घूमने वाले कुत्ते की तरह है। मैं भी तृष्णारूपी कुतिया के पीछे-पीछे कुत्ते की भाँति भटकता हुआ इस प्रकार क्रूर मन के वशीभूत होकर जड़वत् हो गया था। हे ब्रह्मन्! अब मैं उसके प्रभाव से पूर्णरूपेण मुक्त हो गया हूँ। हे ब्रह्मन्! चित्त को नियंत्रित करना, समुद्र को पूरी तरह पीने से भी कठिन है, सुमेरु पर्वत को उखाड़ फेंकने से भी कठिन है और अग्नि के भक्षण से भी कठिन है। यह चित्त बाह्य एवं अन्तःकरण में विषय भोगों को ग्रहण करने वाला है, उसके आधार पर ही जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति रूप तीनों अवस्थाओं से युक्त संसार की स्थिति निर्भर है। चित्त के नष्ट होने पर यह जगत् नष्ट हो जाता है। अतः प्रयासपूर्वक चित्त की ही चिकित्सा करनी चाहिए॥ १६-२१॥

यां यामहं मुनिश्रेष्ठ संश्रयामि गुणश्रियम्। तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कुमूषिका॥२२॥
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्ता विफलमीहते। चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी॥ २३॥
क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभःस्थलम्। क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी॥२४॥

सर्वसंसारदु:खानां तृष्णैका दीर्घदु:खदा। अन्त:पुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे॥ २५॥
तृष्णाविषूचिकामन्त्रश्चिन्तात्यागो हि स द्विज। स्तोकेनानन्दमायाति स्तोकेनायाति खेदताम्॥२६

हे श्रेष्ठ मुने! मैं जिन श्रेष्ठ सद्‌गुणों का आश्रय प्राप्त करता हूँ, मेरी तृष्णा उन श्रेष्ठ गुणों को ठीक वैसे ही काट देती है, जैसे कि दुष्ट मूषिका (चुहिया) वीणा के तारों को काट देती है। यह तृष्णा चञ्चल बँदरिया के समान है, जो न लाँघने योग्य स्थान पर भी अपना पैर टिकाना चाहती है। वह तृप्त होने पर भी भिन्न-भिन्न फलों की इच्छा करती रहती है। एक जगह पर लम्बे समय तक नहीं रुकती। क्षणमात्र में ही वह आकाश एवं पाताल की सैर कर डालती है, क्षण मात्र में ही दिशारूपी कुञ्जों में भ्रमण करने लगती है। यह तृष्णा हृदय कमल में विचरण करने वाली भ्रमरी के समान है। यह तृष्णा ही इस नश्वर जगत् के समस्त दु:खों में दीर्घ काल तक दु:ख देने वाली है, जो अन्त:पुर में निवास करने वालों को भी महान् संकट में डाल देती है। यह तृष्णा एक महामारी-हैजा है। इसे वही श्रेष्ठ ब्राह्मण नष्ट कर सकता है, जिसने चिन्ता का पूरी तरह से परित्याग कर दिया है। यदि चिन्ता का थोड़ा भी परित्याग कर दिया जाए, तो अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि थोड़ी-सी भी चिन्ता मन में शेष रही, तो उससे असीम दु:ख की प्राप्ति होती है॥ २२-२६॥

नास्ति देहसम: शोच्यो नीचो गुणविवर्जित:॥ २७॥ कलेवरमहंकारगृहस्थस्य महागृहम्।
लुठत्वभ्येतु वा स्थैर्यं किमनेन गुरो मम॥ २८॥ पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं वल्गत्तृष्णागृहाङ्गणम्।
चित्तभृत्यजनाकीर्णं नेष्टं देहगृहं मम॥ २९॥ जिह्वामर्कटिकाक्रान्तवदनद्वारभीषणम्।
दृष्टदन्तास्थिशकलं नेष्टं देहगृहं मम॥ ३०॥

देह के सदृश तुच्छ, गुणरहित तथा शोक करने योग्य अन्य दूसरा कोई नहीं। इस शरीर रूपी विशाल गृह में अहंकाररूपी गृहस्थ निवास करता है। यह शरीर चाहे दीर्घकाल तक रहे अथवा शीघ्र ही नष्ट हो जाए, उसकी मुझे किञ्चित् मात्र भी चिन्ता नहीं है। जिस शरीर रूपी घर में इन्द्रियरूपी पशु पंक्तिवत् खड़े हैं तथा जिसके प्रांगण में तृष्णा रूपी बँदरी विचरण करती रहती है, जिसमें चित्त-वृत्तिरूप भृत्यों का समावेश है। ऐसा शरीर रूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। जिह्वा रूपी बँदरी से पीड़ित हुआ यह मुख रूपी द्वार इतना भयभीत हो गया है कि आरम्भ में ही दन्तरूपी हड्डियाँ दिखाई पड़ रही हैं। ऐसा यह शरीररूपी घर मुझे प्रिय नहीं लगता है॥२७-३०

रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने। नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता॥ ३१॥
तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च। स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वसितु विग्रहे॥ ३२॥
शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृत: पितृतस्तथा। जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम्॥ ३३॥
स्वचित्तबिलसंस्थेन नानाविभ्रमकारिणा। बलात्कामपिशाचेन विवश: परिभूयते॥ ३४॥
दासा: पुत्रा: स्त्रियश्चैव बान्धवा: सुहृदस्तथा। हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्धककम्पितम्॥ ३५॥
दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्धते वार्धके स्पृहा। सर्वापदामेकसखी हृदि दाहप्रदायिनी॥ ३६॥

हे मुनीश्वर! यह शरीर बाहर एवं अन्दर रक्त एवं मांसादि से संव्याप्त है, तो इस नश्वर शरीर में रमणीयता कहाँ से आई? यदि किसी ने शरत्कालीन बादलों की विद्युत् में एवं गन्धर्व की नगरी में स्थिरता निश्चित की है, तो वह इस नश्वर देह की स्थिरता में विश्वास कर सकता है। बाल्यकाल में गुरु से, माता-पिता से, लोगों से, आयु में बड़े लड़कों से एवं अन्य दूसरे लोगों से भी भय लगता है, अत: यह बाल्यावस्था भय का ही घर है। युवावस्था के आने पर अपने ही चित्त रूपी गुफा में निवास करने वाले, भिन्न-भिन्न तरह के भ्रमों में फँसाने वाले इस काम रूपी पिशाच से बलपूर्वक विवश होकर व्यक्ति पराजय को प्राप्त हो जाता है। वृद्धावस्था के प्राप्त होने

पर उन्मत्त की भाँति काँपते हुए व्यक्ति को देखकर दास, पुत्र-पुत्रियाँ, स्त्रियाँ एवं बन्धु-बान्धव भी हँसी करते हैं। वृद्धावस्था में शरीर असमर्थ हो जाने पर इच्छा-आकांक्षाएँ अत्यधिक बढ़ जाती हैं। यह वृद्धावस्था हृदय में दाह प्रदान करने वाली सारी आपत्तियों की प्रिय सहेली है॥ ३१-३६ ॥

क्वचिद्वा विद्यते यैषा संसारे सुखभावना। आयुः स्तम्बमिवासाद्य कालस्तामपि कृन्तति ॥३७॥
तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुवर्णं मेरुसर्षपम्। आत्मंभरितया सर्वमात्मसात्कर्तुमुद्यतः। कालोऽयं सर्वसंहारी तेनाक्रान्तं जगत्त्रयम्॥ ३८॥

इस नश्वर जगत् में रहने वाले सांसारिक प्राणी जिस सुख की भावना करते हैं, आखिर वह कहाँ है? काल आयु को तृण के सदृश काटता ही जा रहा है। वह काल छोटे से तृण एवं रज:कण को महेन्द्र एवं स्वर्णमय सुमेरु जैसे विशाल पर्वतों को भी सरसों के समान बना देने में समर्थ है। यह सभी का संहार करने में सक्षम तथा अपनी उदरपूर्ति के लिए सभी को आत्मसात् करने को उद्यत है। इस काल के द्वारा तीनों लोक आक्रान्त हैं॥

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे। स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियः किमिव शोभनम्॥
त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने। समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि॥ ४०॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाचलरयोपमा। दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता॥ ४१॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः। श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः॥ ४२॥
केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः। दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम्॥ ४३॥

यंत्रवत् चञ्चल अङ्गरूपी पिंजड़े में मांस की पुतली की भाँति, स्नायु एवं हड्डियों की ग्रन्थि से बनी हुई इस स्त्रीदेह में ऐसी कौन सी-वस्तु है, जो शोभनीय कही जा सकती है? आँखों में स्थित त्वचा, मांस, रक्त एवं अश्रु आदि इन सबको अलग-अलग करके अवलोकन करो; इनमें कौन सी वस्तु आकर्षक प्रतीत होती है? यदि कोई भी वस्तु आकर्षक नहीं, तो फिर व्यर्थ में मोह करने से क्या लाभ है? हे मुने! जो नारी सुमेरु पर्वत की चोटियों से उल्लसित होने वाली भगवती माँ गंगा की चञ्चल गति की भाँति है; जो मुक्ताहार से पूर्णरूपेण सुशोभित देखी गई है; कालचक्र के समीप आने पर उसी नारी के मांस पिण्डरूप स्तन को श्मशान में कुत्ते भक्षण करते हैं। जो नारियाँ केश एवं काजल धारण करने वाली तथा देखने में प्रिय लगने वाली होने पर भी न जिनका स्पर्श दु:ख देने वाला होता है, वे ही विधाता की दुष्कृति रूप अग्नि की ज्वाला के समान दग्ध कर देने वाली नारियाँ पुरुष को तिनके की भाँति जला डालती हैं॥ ३९-४३॥

ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः। स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम्॥ ४४॥
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः। नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः॥ ४५॥
जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम्। पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका॥ ४६॥
सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयानया। दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया॥ ४७॥
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः। स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥ ४८॥

ये दूरस्थ प्रज्वलित नरकाग्नियों की तरह अशोभनीय एवं दु:खदायी ईंधनस्वरूपा हैं। ये रसयुक्त प्रतीत होने पर भी वस्तुतः रसहीन हैं। काम नामक किरात ने पुरुष रूपी मृगों को आबद्ध कर लेने के लिए स्त्री रूपी पाश को विस्तृत कर रखा है। ये पुरुष जीवनरूपी तलैया के मत्स्य हैं, जो चित्तरूपी कीचड़ में सतत विचरते

रहते हैं। इन मत्स्यरूपी पुरुषों को अपने बाहुपाश में फँसाने के लिए नारी दुर्वासना रूपी रस्सी में बँधी पिण्डिका अर्थात् चारे की भाँति है। यह नारी समस्त दोषरूपी रत्नों को प्रकट करने वाले सागर की भाँति है। यह दु:खों की जंजीर सदैव हमसे दूर रहे। जिस पुरुष के पास नारी है, उसे भोग की इच्छा प्रादुर्भूत होती है और जिसके पास नारी नहीं है, उसके लिए भोग का कोई कारण ही नहीं है। जिसने स्त्री का परित्याग कर दिया, उसका संसार छूट गया और वास्तव में इस नश्वर जगत् का परित्याग करके ही मनुष्य सुख को प्राप्त कर सकता है, वही सचमुच सुखी हो सकता है॥ ४४-४८॥

दिशोऽपि न हि दृश्यन्ते देशोऽप्यन्योपदेशकृत्। शैला अपि विशीर्यन्ते शीर्यन्ते तारका अपि ॥४९॥
शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च ध्रुवोप्यध्रुवजीवनः। सिद्धा अपि विनश्यन्ति जीर्यन्तो दानवादयः॥ ५०॥
परमेष्ठ्यपि निष्ठावान्हीयते हरिरप्यजः। भावोऽप्यभावमायाति जीर्यन्ते वै दिगीश्वराः॥ ५१॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः। नाशमेवानुधावन्ति सलिलानीव वाडवम्॥ ५२॥
आपदः क्षणमायान्ति क्षणमायान्ति संपदः। क्षणं जन्माथ मरणं सर्वं नश्वरमेव तत्॥ ५३॥
अशूरेण हताः शूरा एकेनापि शतं हतम्। विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते॥ ५४॥
जन्मान्तरघ्ना विषया एकजन्महरं विषम्। इति मे दोषदावाग्निदग्धे संप्रति चेतसि॥ ५५॥

(यह जगत् नश्वर है, जब यह अव्यक्त स्थिति में चला जाता है, तब) दिशाएँ भी अदृश्य हो जाती हैं, देश भी दूसरों के लिए उपदेश-प्रद बन जाते हैं अर्थात् काल के गाल में विलीन हो जाते हैं, पर्वत भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं तथा तारागण भी टूक-टूक होकर गिर जाते हैं, ध्रुव-नक्षत्रादि का जीवन भी अस्थिर हो जाता है। सिद्धयोगी जन भी विनष्ट हो जाते हैं, दानवादि भी जराग्रस्त शक्तिरहित होकर नष्ट हो जाते हैं। दीर्घकाल तक स्थायीरूप से निवास करने वाले पितामह ब्रह्मा जी एवं जन्मरहित भगवान् विष्णु भी अन्तर्धान हो जाते हैं, समस्त भाव अभाव में परिणत हो जाते हैं, दिशाओं के अधिपति भी जरा-जीर्ण हो जाते हैं। बड़े-बड़े देवगण एवं समस्त प्राणिसमूह वैसे ही विनाश की ओर दौड़ते चले जाते हैं, जिस प्रकार सागरों का जल बड़वानल की ओर दौड़ता चला जा रहा है। आपत्तियाँ क्षणभर में विपत्तिग्रस्त बना देती हैं, तो क्षणभर में समस्त वैभव-सम्पदाएँ समीप में एकत्रित हो जाती हैं। क्षणभर में मृत्यु एवं क्षणभर में जन्म हो जाता है। ये सभी प्रपञ्च नश्वर हैं। इस जगत् में कायर पुरुषों के द्वारा शूरवीरों का संहार होता है, कभी-कभी एक के द्वारा सैकड़ों-हजारों का विनाश हो जाता है। विषय-भोगों के द्वारा चित्त में जो विषमता आ जाती है, वही विषरूप है। प्रत्यक्ष विष इतना भीषण विष नहीं कहा जाता; क्योंकि वह विष तो मात्र एक ही जन्म को नष्ट करता है और विषय-भोग तो जन्म-जन्मान्तर को ही विनष्ट कर देते हैं। अत: इस समय दोषरूपी दावानल से जला मेरा चित्त ऐसा ही प्रतीत हो रहा है॥४९-५५॥

स्फुरन्ति हि न भोगाशा मृगतृष्णासरःस्वपि। अतो मां बोधयाशु त्वं तत्त्वज्ञानेन वै गुरो॥ ५६॥
नो चेन्मौनं समास्थाय निर्मानो गतमत्सरः। भावयन्मनसा विष्णुं लिपिकर्मार्पितोपमः॥ ५७॥
इति महोपनिषद्॥

मृगमरीचिका (तृष्णा) के सरोवर में खड़े होने के बाद भी मुझमें भोग-लिप्सा की स्फुरणा नहीं हो रही है। अत: हे पिता, हे गुरु! आप मुझे तत्त्वज्ञानात्मक बोध शीघ्रातिशीघ्र प्रदान करने की कृपा करें। अन्यथा मैं मान एवं मत्सर का परित्याग कर अपने चित्त में भगवान् विष्णु का ध्यान करते हुए चित्रलिखित की तरह से मौनव्रत स्वीकार कर लूँगा॥ ५६-५७॥ यही महोपनिषद् है।

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

निदाघ तव नास्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर। प्रज्ञया त्वं विजानासि ईश्वरानुगृहीतया। चित्तमालिन्यसंजातं मार्जयामि भ्रमं मुने॥ १ ॥ मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः। शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः॥ २ ॥ एकं वा सर्वयत्नेन सर्वमुत्सृज्य संश्रयेत्। एकस्मिन्वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं गताः॥ ३ ॥

अपने पुत्र निदाघ मुनि की सभी बातें सुनकर ऋषिवर ऋभु ने कहा-हे प्रभु! तुम ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हो। अब तुम्हारे लिए कुछ भी जानकारी के योग्य शेष नहीं रह गया है। तुम ईश्वर की महती कृपा से अपनी ही प्रज्ञा-बुद्धि के द्वारा सभी कुछ समझ गये हो। फिर भी हे मुने! तुम्हारे चित्त में मलिनता के द्वारा जो भी भ्रम प्रादुर्भूत हुआ है, उसका मैं निवारण करूँगा। शम (मनोनिग्रह), विचार, संतोष एवं सत्संग ही मोक्षद्वार के चार द्वारपाल के रूप में कहे गये हैं। यदि इनमें से किसी एक का भी आश्रय प्राप्त कर लिया जाये, तो शेष तीनों द्वारपाल सहजतापूर्वक स्वयमेव ही अपने वश में हो जाते हैं॥ १-३ ॥

शास्त्रैः सज्जनसंपर्कपूर्वकैश्च तपोदमैः। आदौ संसारमुक्त्यर्थं प्रज्ञामेवाभिवर्धयेत्॥ ४॥ स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता। यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते॥ ५॥

सर्वप्रथम इस नश्वर जगत् से मोक्ष प्राप्त करने के लिए तप, दम (इन्द्रिय निग्रह), शास्त्र एवं सत्संग के द्वारा अपने सद्ज्ञान को बढ़ाया जाना चाहिए। अपनी आत्मा के अनुभव, शास्त्रों एवं गुरु के वचनों के उपदेश से सतत अभ्यास द्वारा आत्मचिन्तन करना चाहिए॥ ४-५ ॥

संकल्पाशानुसंधानवर्जनं चेत्प्रतिक्षणम्। करोषि तदचित्तत्वं प्राप्त एवासि पावनम्॥ ६॥ चेतसो यदकर्तृत्वं तत्समाधानमीरितम्। तदेव केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा॥ ७॥ चेतसा संपरित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम्। यथा तिष्ठसि तिष्ठ त्वं मूकान्धबधिरोपमः॥ ८॥ सर्वं प्रशान्तमजमेकमनादिमध्यमाभास्वरं स्वदनमात्रमचैत्यचिह्नम्। सर्वं प्रशान्तमिति शब्दमयी च दृष्टिर्बाधार्थमेव हि मुधैव तदोमितीदम्॥ ९ ॥ सर्वं किंचिदिदं दृश्यं दृश्यते चिज्जगद्गतम्। चिन्निष्पन्दांशमात्रं तन्नान्यदस्तीति भावय॥ १० ॥ नित्यप्रबुद्धचित्तस्त्वं कुर्वन्वापि जगत्क्रियाम्। आत्मैकत्वं विदित्वा त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत्॥ ११ ॥

यदि तुमने सदैव के लिए संकल्प एवं आशा के अनुसन्धान का परित्याग कर दिया है, तो तुम्हें वह कैवल्य की प्राप्ति हो ही गयी होगी। जो चित्त का अकर्तृत्व है, वही चित्त-वृत्तियों का निरोध अर्थात् समाधि कही गयी है। यही कैवल्यावस्था एवं परम कल्याणस्वरूपा परम शान्ति कहलाती है। इस जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में आत्म भावना का सम्यक् रूप से त्याग करके संसार में गूँगे, अंधे एवं बधिरों के समान तुम्हारे रहने से ही यह संभव है। सभी कुछ प्रशान्त है, एक है, जन्मरहित है, केवल अनुभवगम्य है, चित्तरहित है आदि जो शब्दरूप दृष्टि है, वह व्यर्थ ही है। आत्मबोध में बाधास्वरूप है। जो कुछ भी प्रपञ्च में दृष्टिगोचर होता है- तत्त्वतः वही प्रणवरूप है। यहाँ पर जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है- वही दृश्य चिद्-जगत् में भी दृष्टिगोचर होते हैं, वह चित् के निष्पन्द का एक अंशरूप ही है। अतः चित् से (चैतन्य से) अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, तुम ऐसी ही भावना करो। सांसारिक कार्यों को सतत करते हुए भी नित्य प्रबुद्धचित्त होकर आत्मा के एकत्व को जानकर प्रशान्त रहने वाले महासागर के सदृश निश्चल एवं स्थिरचित्त बने रहो। ऐसे ही कार्य करने में कल्याण की सम्भावनायें हैं॥ ६-११ ॥

तत्त्वावबोध एवासौ वासनातृणपावकः। प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः॥ १२॥
निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोकः प्रवर्तते। सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः॥ १३॥
अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने। निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता संनिधिमात्रतः॥ १४॥
ते द्वे ब्रह्मणि विन्देत कर्तृताकर्तृते मुने। यत्रैवैष चमत्कारस्तमाश्रित्य स्थिरो भव॥ १५॥
तस्मान्नित्यमकर्ताहमिति भावनयेद्धया। परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते॥ १६॥

यह आत्मज्ञान वासनारूपी तृण को दग्ध कर देने वाले अग्नि के सदृश है। इसे ही समाधि कहते हैं। केवल मौन रहकर बैठे रहना ही समाधि नहीं है। जैसे रत्न के इच्छारहित होकर पड़े रहने पर भी मनुष्य उसकी तरफ आकृष्ट होते ही हैं, वैसे ही मात्र सत्तारूप में विद्यमान परमात्म तत्त्व की ओर भी सम्पूर्ण विश्व आकृष्ट होता है। अत: हे पुत्र! इस आत्मा में ही कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व दोनों ही स्थित हैं। कामनाविहीन रहने पर ही आत्मा अकर्ता है और सन्निधि मात्र से वह कर्त्ता बन जाता है। हे मुने! कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनों का ही निवास अविनाशी परमात्मा में है। तुम्हें यह चमत्कार जिसमें भी परिलक्षित हो, उसी में प्रतिष्ठित हो जाओ। 'मैं नित्य ही अकर्ता हूँ',ऐसी भावना करने पर केवल परमअमृत नामक सत्ता ही शेष रह जाती है॥ १२-१६॥

निदाघ शृणु सत्त्वस्था जाता भुवि महागुणाः। ते नित्यमेवाभ्युदिता मुदिताः ख इवेन्दवः॥१७॥
नापदि ग्लानिमायान्ति निशि हेमाम्बुजं यथा। नेहन्ते प्रकृतादन्यद्रमन्ते शिष्टवर्त्मनि॥ १८॥
आकृत्यैव विराजन्ते मैत्र्यादिगुणवृत्तिभिः। समाः समरसाः सौम्य सततं साधुवृत्तयः॥ १९॥
अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः। नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव॥ २०॥

अत: हे निदाघ! जो प्राणी सत्त्व में स्थित होकर इस लोक में प्रकट हुए हैं, वे ही महान् गुणवान् हैं। वे ही सदा उन्नतिशील होते हुए आकाश में स्थित चन्द्रमा के समान हर्षित होते रहते हैं। सत्त्वगुण में स्थित मनुष्य स्वर्णिम कमल की भाँति रात्रिकालरूप आपत्तियों में कुम्हलाते नहीं हैं। वे प्राप्त भोगों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की इच्छा नहीं करते, वरन् शास्त्रोक्त मार्ग में ही भ्रमण करते रहते हैं। वे स्वत: अपने मन के अनुकूल रहकर ही मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा आदि गुणों से विभूषित होते रहते हैं। हे सौम्य! वे समान भाव में रहते हुए सतत साधु वृत्ति में एकरस बने रहते हैं। मर्यादा से परे होकर भी वे समुद्र के समान विशाल हृदय वाले हो जाते हैं। वे भगवान् भास्कर की भाँति अपने नियत-पथ पर हमेशा गमन करते रहते हैं॥ १७-२०॥

कोऽहं कथमिदं चेति संसारमलमाततम्। प्रविचार्यं प्रयत्नेन प्राज्ञेन सह साधुना॥ २१॥
नाकर्मसु नियोक्तव्यं नानार्येण सहावसेत्। द्रष्टव्यः सर्वसंहर्ता न मृत्युरवहेलया॥ २२॥
शरीरमस्थि मांसं च त्यक्त्वा रक्ताद्यशोभनम्। भूतमुक्तावलीतन्तुं चिन्मात्रमवलोकयेत्॥ २३॥
उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविसर्जनम्। यदेतन्मनसो रूपं तद्बाह्यं विद्धि नेतरत्॥ २४॥
गुरुशास्त्रोक्तमार्गेण स्वानुभूत्या च चिद्घने। ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा वीतशोको भवेन्मुनिः॥२५॥

प्राज्ञों, संतजनों के साथ प्रयत्नपूर्वक यह चिन्तन करना चाहिए कि 'मैं कौन हूँ?' यह विराट् विश्व-प्रपञ्च किस प्रकार प्रादुर्भूत हुआ? कभी निरर्थक कार्यों में न लगा रहे तथा अनार्य पुरुष के संग से सदैव अपने को बचाता रहे। सभी की संघारक, मृत्यु के प्रति उपेक्षा भाव से न देखे। यदि उपेक्षा करनी ही है, तो शरीर, अस्थि, मांस एवं रक्त आदि को घृणास्पद जानकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। जिस प्रकार मोती की लड़ियों में सूत्र पिरोया जाता है, उसी प्रकार प्राणियों में पिरोये हुए परमपिता परमात्मा पर ही दृष्टि रखे। उपयोगी वस्तु की ओर भागना एवं अनुपयोगी वस्तु का सदैव के लिए त्याग कर देना ही मन का स्वभाव है। वह बाह्य है, आन्तरिक

नहीं, इसे जानना चाहिए। परमात्मतत्त्व के विषय में गुरु एवं शास्त्र के अनुसार बताये हुए मार्ग से तथा स्वानुभूति से 'मैं ही ब्रह्म हूँ', ऐसा जानकर शोक-रहित हो जाए॥ २१-२५॥

यत्र निशितासिशतपातनमुत्पलताडनवत्सोढव्यमग्निदाहो हिमसेचनमिवाङ्गारावर्तनं चन्दनचर्चेव निरवधिनाराचविकिरपातो निदाघविनोदनधारागृहशीकरवर्षणमिव स्वशिरश्छेदः सुखनिद्रेव मूकीकरणमाननमुद्रेव बाधिर्यं महानुपचय इवेदं नावहेलनया भवितव्यमेवं दृढवैराग्याद्बोधो भवति। गुरुवाक्यसमुद्भूतस्वानुभूत्यादिशुद्धया। यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते॥२६

ऐसी अवस्था में खड्ग जैसा कठोर आघात, कमल के कोमल आघात के सदृश तथा अग्नि द्वारा दग्ध किये जाने का प्रभाव,शीतल जल में स्नान करने की भाँति सहन करने योग्य हो जाता है। आग के दहकते अंगारों पर लेटना,चन्दन के लेप के समान शीतल प्रतीत होता है। शरीर पर सतत बाणों के समूह का आघात, गर्मी को शान्त करने वाले फव्वारे के जलकणों की वर्षा के सदृश बन जाता है। सिर का काटा जाना, सुखप्रदायिनी निद्रा के समान; (जिह्वा आदि काटकर)गूँगा हो जाना, मौनावलम्बन के समान;बधिर हो जाना, उन्नति के समान सुख प्रदायी होता है; लेकिन यह अवस्था उपेक्षा करने से नहीं मिलती। इसकी प्राप्ति दृढ़निश्चयी होकर वैराग्यजनित आत्मज्ञान से ही सम्भव है। गुरु एवं शास्त्र वचनों के अनुसार तथा अन्त: अनुभूति के माध्यम आदि से जो अन्त: की शुद्धि होती है, उसी के सतत अभ्यास से आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है॥ २६॥

विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक्। तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्नास्तीति भावय॥ २७॥ न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः। न कायक्लेशवैधुर्यं न तीर्थायतनाश्रयः। केवलं तन्मनोमात्रमयेनासाद्यते पदम्॥ २८॥

जैसे दिशा-भ्रम नष्ट हो जाने से पूर्व की भाँति ही दिशाबोध होने लगता है, वैसे ही विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान)के द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाने पर जगत् की स्थिति नहीं रहती,ऐसी भावना करनी चाहिए। मनुष्य का उपकार न धन से,न मित्रों से, न बान्धवों से; न शारीरिक क्लेश के नष्ट होने से और न ही तीर्थ-स्थल में निवास करने से ही मनुष्य लाभान्वित होता है; वह तो चिन्मात्र में विलीन होकर ही परमपद प्राप्त कर सकता है॥ २७-२८॥

यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधयः। शान्तचेतःसु तत्सर्वं तमोऽर्केष्विव नश्यति॥२९॥ मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च। विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि॥ ३०॥ न रसायनपानेन न लक्ष्म्यालिङ्गितेन च। न तथा सुखमाप्नोति शमेनान्तर्यथा जनः॥ ३१॥ श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा ज्ञात्वा शुभाशुभम्। न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते॥ ३२॥ तुषारकरबिम्बाच्छं मनो यस्य निराकुलम्। मरणोत्सवयुद्धेषु स शान्त इति कथ्यते॥ ३३॥ तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च। वनवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते॥३४॥

स्थिर शान्तचित्त वाले व्यक्तियों के जितने भी दु:ख, तृष्णायें एवं दु:सह दुश्चिन्तायें हैं, वे और समस्त विकार ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाते हैं, जैसे कि सूर्य की किरणों से अन्धकार विनष्ट हो जाता है। इस नश्वर जगत् में शम (मनोनिग्रह) से युक्त मनुष्य का कठोर एवं मृदु स्वभाव के समस्त प्राणी-जन वैसे ही विश्वास करते हैं, जैसा माता पर उसके पुत्र विश्वास करते हैं। अमृत-पान एवं लक्ष्मी के आलिङ्गन से वैसा सुख नहीं प्राप्त होता, जैसा सुख व्यक्ति अपने मन की शान्ति से प्राप्त करता है। शुभ एवं अशुभ के श्रवण से, भोजन से, स्पर्श से, दर्शन से एवं जानने से, जिस मनुष्य को न तो प्रसन्नता होती है और न ही दु:ख होता है, वही मनुष्य शान्त कहलाता है। चन्द्रमा के मण्डल की भाँति जिसका मन सदा स्वच्छ रहता है एवं मरण-काल, मांगलिक उत्सव तथा युद्ध

में जिसका मन व्यग्र नहीं होता, वही मनुष्य शान्त कहलाता है। वह (शम प्रधान) पुरुष तपस्वी जनों में, बहुश्रुतों में,याज्ञिकों में,राजाओं में, वन में वास करने वालों में एवं गुणज्ञों में भी शोभायमान होता है॥ २९-३४॥

संतोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः। आत्मारामा महात्मानस्ते महापदमागताः ॥ ३५॥
अप्राप्तं हि परित्यज्य संप्राप्ते समतां गतः। अदृष्टखेदाखेदो यः संतुष्ट इति कथ्यते॥ ३६॥
नाभिनन्दत्यसंप्राप्तं प्राप्तं भुङ्क्ते यथेप्सितम्। यः स सौम्यसमाचारः संतुष्ट इति कथ्यते॥ ३७॥
रमते धीर्यथाप्राप्ते साध्वीवाऽन्तःपुराजिरे। सा जीवन्मुक्ततोदेति स्वरूपानन्ददायिनी॥ ३८॥

जो सन्तोषरूपी अमृत को पीकर शान्त एवं सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे ही ज्ञानीजन आत्मा में रमण करते हुए 'महापद (परमात्मपद)' को प्राप्त करते हैं। जो प्राप्त न होने वाली वस्तु के प्रति चिन्तित नहीं होता और प्राप्त होने वाली वस्तु के प्रति समान (हर्ष रहित) रहता है, जिसने सुख एवं दु:ख का अवलोकन नहीं किया, वास्तव में वही सन्तुष्ट कहा जाता है। जो अप्राप्त वस्तु की कभी आकांक्षा नहीं करता तथा उपलब्ध वस्तु का आवश्यकतानुसार ही उपभोग करता है, वही सौम्य एवं समभाव से श्रेष्ठ आचरण करने वाला व्यक्ति सन्तुष्ट कहा जाता है। अन्त:पुर के प्राङ्गण में जिस तरह साध्वी पत्नी प्रसन्न रहती है, वैसे ही सहज क्रम में प्राप्त वस्तु में जब बुद्धि रमण करने लगती है, तभी वह स्वरूपानंद प्रदायी जीवन्मुक्त स्थिति कहलाती है॥ ३५-३८॥

यथाक्षणं यथाशास्त्रं यथादेशं यथासुखम्। यथासंभवसत्सङ्गमिमं मोक्षपथक्रमम्।
तावद्विचारयेत्प्राज्ञो यावद्विश्रान्तिमात्मनि॥ ३९॥ तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य निवृत्तस्य भवार्णवात्।
जीवतोऽजीवतश्चैव गृहस्थस्याथवा यतेः॥ ४०॥ नाकृतेन कृतेनार्थो न श्रुतिस्मृतिविभ्रमैः।
निर्मन्दर इवाम्भोधिः स तिष्ठति यथास्थितः॥ ४१॥

समय एवं देश के अनुसार शास्त्रानुकूल आनन्दपूर्वक यथाशक्ति सत्संग में ही विचरण करते हुए इस मोक्षपथ के क्रम का तब तक ज्ञानीजन चिन्तन करते रहें, जब तक कि उन्हें आत्मिक विश्रान्ति न मिल जाये। सद्गृहस्थ हो अथवा संन्यासी, जो भी व्यक्ति तुरीयावस्था की विश्रान्ति से सम्पन्न है एवं इस संसार सागर से निवृत्त हो गया है, वह चाहे सांसारिक जीवन में व्यस्त रहे अथवा न रहे, उसे कोई भी कार्य करने या न करने से कोई मतलब नहीं है। उसे श्रुति-स्मृति के भ्रमजाल में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह तो मन्दराचल से विहीन (शान्त) सागर की भाँति आत्म-स्थित रहते हुए सभी कुछ प्राप्त कर लेता है॥ ३९-४१॥

सर्वात्मवेदनं शुद्धं यदोदेति तदात्मकम्। भाति प्रसृतिदिक्कालबाह्यं चिद्रूपदेहकम्॥ ४२॥
एवमात्मा यथा यत्र समुल्लासमुपागतः। तिष्ठत्याशु तथा तत्र तद्रूपश्च विराजते॥ ४३॥

जब सभी के प्रति शुद्ध आत्मतत्त्व की अनुभूति की तदात्मक (एकत्व) वृत्ति का उदय हो जाता है,तब दिशा एवं काल में विस्तीर्ण हुआ सम्पूर्ण बाह्य जगत्, चिद्रूपात्मक ही प्रतीत होता है। इस तरह आत्मा जहाँ जिस रूप में उल्लास को प्राप्त होता है, वहाँ शीघ्र ही उसी रूप में वह अवस्थित हो जाता है एवं तदनुरूप ही विराजमान हो जाता है॥ ४२-४३॥

यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्। तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति॥४४॥
ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः। कल्पिता व्यवहारार्थं यस्य संज्ञा महात्मनः॥ ४५॥
यथा कटकशब्दार्थः पृथग्भावो न काञ्चनात्। न हेम कटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परा॥ ४६॥

जो भी कुछ स्थावर एवं जंगम दृश्यरूप यह सम्पूर्ण जगत् परिलक्षित होता है, वह प्रलय के समय में ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाता है, जैसे सुषुप्तावस्था में स्वप्न अदृश्य हो जाता है। यह आत्मा ऋत (आदिकारण)

रूप है, परब्रह्म परमेश्वर है। वह सत्यरूप है। ये समस्त संज्ञायें विद्वज्जन एवं महान् आत्माओं ने व्यवहार के लिए कल्पित की हैं। जैसे कङ्कण (हाथ का आभूषण) शब्द एवं उसका अर्थ स्वर्ण से अलग अस्तित्व नहीं रखता और कङ्कण से प्रतिष्ठित स्वर्ण कङ्कण से अलग अपना अस्तित्व नहीं रखता, ठीक वैसे ही 'जगत्' शब्द का तात्पर्य भी परब्रह्म ही होता है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं॥ ४४-४६ ॥

तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते। द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्तान्तर्बन्ध इत्यभिधीयते॥ ४७॥
द्रष्टा दृश्यवशाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते। जगत्त्वमहमित्यादिसर्गात्मा दृश्यमुच्यते॥ ४८॥
मनसैवेन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते। यावदेतत्संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते॥ ४९॥

उस अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर ने जगत् के रूप में यह इन्द्रजाल विस्तीर्ण किया है। द्रष्टा का दृश्य श्री सत्ता से अन्तः सम्बद्ध होना 'बन्ध' कहा जाता है। दृश्य के वशीभूत होकर ही द्रष्टा बन्धन में पड़ता है और दृश्य के अभाव में ही वह मोक्ष प्राप्त करता है। यह जगत्, 'मेरा-तेरा' रूप भाव वाली सृष्टि, दृश्य कहलाती है। इस संसार में प्रपञ्चरूपी इन्द्रजाल मन के द्वारा ही प्रबुद्ध होता है। जब तक मन की यह कल्पना समाप्त नहीं होती, तब तक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता नहीं दिखलाई पड़ता॥ ४७-४९ ॥

ब्रह्मणा तन्यते विश्वं मनसैव स्वयंभुवा। मनोमयमतो विश्वं यन्नाम परिदृश्यते॥ ५०॥
न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः। यदर्थं प्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते॥ ५१॥
संकल्पनं मनो विद्धि संकल्पस्तत्र विद्यते। यत्र संकल्पनं तत्र मनोऽस्तीत्यवगम्यताम्॥ ५२॥
संकल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केनचित्। संकल्पजाते गलिते स्वरूपमवशिष्यते॥ ५३॥

यह संसार स्वयंभू ब्रह्मा जी की मानसिक सृष्टि है, अतः दृष्टिगोचर होने वाले इस विश्व को मनोमय ही समझना चाहिए। बाह्य अथवा अन्तःकरण में कहीं पर भी यह मन सद्रूप में अवस्थित नहीं है। विषय वस्तुओं का बोध ही मन कहलाता है। संकल्प-विकल्प होना ही मन का स्वभाव है; क्योंकि वह संकल्प में ही रमण कर रहा है। अतः जो संकल्प है, वही मन है, ऐसा जानना चाहिए। आज तक कोई भी संकल्प और मन को पृथक् नहीं कर सका। समस्त संकल्पों के विनष्ट हो जाने पर आत्मस्वरूप ही शेष रहता है॥ ५०-५३ ॥

अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे। स्यात्तादृशी केवलता दृश्ये सत्तामुपागते॥ ५४॥
महाप्रलयसंपत्तौ ह्यसत्तां समुपागते। अशेषदृश्ये सर्गादौ शान्तमेवावशिष्यते॥ ५५॥
अस्त्यनस्तमितो भास्वानजो देवो निरामयः। सर्वदा सर्वकृत्सर्वः परमात्मेत्युदाहृतः॥ ५६॥
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते। यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावतः॥५७

'मेरा-तेरा' एवं इस जगत् आदि दृश्य प्रपञ्च (इन्द्रजाल) के शान्त हो जाने पर दृश्य जब सत्ता को अर्थात् परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, तब तदनुरूप ही वह कैवल्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। महाप्रलय की स्थिति आने पर जब सम्पूर्ण दृश्य जगत् अस्तित्व रहित हो जाता है, तब उस समय सृष्टि के पूर्वकाल में केवल प्रशान्त आत्मा मात्र ही शेष रहता है। जो आत्मारूपी सूर्य (सविता) कभी अस्ताचल की ओर गमन नहीं करता, जो अजन्मा एवं सर्वदोषरहित देव है, सदैव सर्वकर्त्ता तथा सर्वरूप है; जहाँ वाक्शक्ति जाकर वापस आ जाती है; जिसे मुक्त पुरुष ही जानते हैं और जिसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ कल्पना मात्र हैं, स्वाभाविक नहीं हैं; (वे ही अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर कहे जाते हैं)॥ ५४-५७॥

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्। द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं महामुने॥५८॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत्। निमेषेण चिदाकाशं तद्विद्धि मुनिपुङ्गव॥ ५९॥

तस्मिन्निरस्तनिःशेषसंकल्पस्थितिमेषि चेत्। सर्वात्मकं पदं शान्तं तदा प्राप्नोष्यसंशयः॥ ६०॥
उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसगर्भिणी। आनन्दस्यन्दिनी यैषा समाधिरभिधीयते॥ ६१॥
दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे। रतिर्बलोदिता यासौ समाधिरभिधीयते॥ ६२॥
दृश्यासंभवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं चिदात्मकम्। तदेव केवलीभावं ततोऽन्यत्सकलं मृषा॥ ६३॥

'चित्ताकाश, चिदाकाश एवं (भौतिक) आकाश—ये ही तीन आकाश कहे गये हैं। हे मुने! इन तीनों में से चिदाकाश अति सूक्ष्म बतलाया गया है। हे मुनिश्रेष्ठ! एक देश (विषय) से दूसरे देश (विषय) में गमन करते समय निमेष भर का (वृत्तिशून्य) मध्यकाल आता है, वही चिदाकाश है— ऐसा जानना चाहिए। यदि तुम उस अतिश्रेष्ठ चिदाकाश में सभी संकल्पों को छोड़कर प्रतिष्ठित होते हो, तो निश्चय ही सर्वात्मक शान्त पद को प्राप्त करोगे। चिदाकाश की स्थिति तक पहुँच जाने के बाद जिस सुन्दर, उदार एवं वैराग्यरस से ओत-प्रोत आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे ही सहज समाधि कहा जाता है। जब यह बोध हो जाता है कि दृश्य पदार्थों की सत्ता है ही नहीं और राग-द्वेष आदि समस्त दोषों की समाप्ति हो जाती है; तब उस समय अभ्यास बल के द्वारा जो एकाग्र-रति (आनन्द) प्रादुर्भूत होती है, उसे ही समाधि कहा जाता है। दृश्य जगत् की सत्ता का अभाव जब अन्त:करण में बोधरूप में आता है, तभी वह संशयरहित ज्ञान का स्वरूप कहलाता है। वह ही चिदात्मक ज्ञेयतत्त्व है, वही आत्म कैवल्य रूप है, इसके सिवाय अन्य सभी कुछ असत्य है॥ ५८-६३॥

मत्त ऐरावतो बद्धः सर्षपीकोणकोटरे। मशकेन कृतं युद्धं सिंहौघैरेणुकोटरे॥ ६४॥
पद्माक्षे स्थापितो मेरुर्निगीर्णो भृङ्गसूनुना। निदाघ विद्धि तादृक्त्वं जगदेतद्भ्रमात्मकम्॥ ६५॥

जिस प्रकार मदोन्मत्त ऐरावत हाथी का सरसों के एक किनारे के छिद्र में बाँधा जाना असंभव है, एक धूलिकण के बिल में मच्छरों का सिंहों के साथ युद्ध करना शक्य नहीं है और कमल की पंखुड़ी में प्रतिष्ठित सुमेरुपर्वत को भ्रमर के बच्चे द्वारा निगले जाने की कथा मिथ्या है। उसी प्रकार यह विश्व भी अस्तित्व में नहीं आ सकता। अत: हे निदाघ! तुम्हें इसकी सत्ता को भ्रमात्मक ही जानना चाहिए॥६४-६५॥

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम्। तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥ ६६॥
मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः। देहवासनया मुक्तो देहधर्मैर्न लिप्यते॥ ६७॥
कल्पं क्षणीकरोत्यन्तः क्षणं नयति कल्पताम्। मनोविलाससंसार इति मे निश्चिता मतिः॥ ६८
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ ६९॥

राग-द्वेष आदि के विकारों से दूषित चित्त ही जगत् है। वही चित्त समस्त दोषों से मुक्त हो जाता है, तभी इसे जगत् का अन्त यानी मोक्ष की प्राप्ति होना कहा जाता है। मन के द्वारा शरीर की भावना किये जाने पर ही आत्मा देहात्मक बनती है। जब वह शारीरिक वासनाओं से मुक्त होती है, तभी वह (मन) शरीर के धर्मों में लिप्त नहीं होती। यह मन ही कल्प को क्षण बना देता है और क्षण में कल्पत्व भर देता है। अत: मेरी समझ में यह जगत् केवल मनोविलास अर्थात् मन का खेल मात्र ही है। जो मनुष्य दुश्चरित्रता से विलग नहीं हुआ है, एकाग्रचित्त नहीं है और जिसका चित्त अभी शान्त नहीं हुआ है, ऐसे पुरुष को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता॥

तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम्। विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कदाचन॥७०॥ परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम्। कविं पुराणं पुरुषं सनातनं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम्॥ ७१॥ अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्। द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च। ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥ ७२॥

उस आनन्द स्वरूप, द्वन्द्वों से परे, गुणरहित (गुणों से परे), सत् स्वरूप, चिद्घन परब्रह्म को अपना-निज स्वरूप जान लेने के पश्चात् मनुष्य को किञ्चित् भी भय नहीं होता। जो महान् से महानतम एवं श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम, तेजःस्वरूप, शाश्वत, कल्याण-प्रद, सर्वज्ञ, पुराणपुरुष, सनातन, सर्वेश्वर तथा सभी देवगणों के द्वारा सम्पूजित एवं उपास्य है, वह अविनाशी ब्रह्म मैं हूँ- ऐसा निश्चय महात्माओं के लिए मुक्ति का माध्यम होता है। बन्धन एवं मोक्ष के दो ही कारण बनते हैं, जिनमें प्रथम है— ममता एवं द्वितीय ममतारहित होना। ममता के द्वारा जीव बन्धन में पड़ता है और ममता से रहित हो जाने के पश्चात् वह (जीव) मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥ ७०-७२॥

जीवेश्वरादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम्। ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता। जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः॥ ७३॥ त्रिणाचिकादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः। लोकायतादिसांख्यान्ता जीवविभ्रान्तिमाश्रिताः॥ ७४॥ तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः। कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम्॥ ७५॥

जीव रूप एवं ईश्वररूप से ईक्षण अर्थात् ब्रह्म के संकल्प से प्रारम्भ होकर तथा ब्रह्म में प्रवेश के अन्त वाले इस सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक सृष्टि की कल्पना ईश्वर के द्वारा ही की गई है। जाग्रत् अवस्था से लेकर मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् जीव के द्वारा ही कल्पित है। कठोपनिषद् के अन्तर्गत त्रिणाचिकेताग्नि से लेकर श्वेताश्वतर का योगपर्यन्त ज्ञान ईश्वरीय भ्रान्ति के आश्रित है। चार्वाक मत से लेकर कपिल के सांख्यसिद्धान्त तक का दार्शनिक ज्ञान (सांख्य आदि दर्शनों में प्रतिपादित ज्ञान) जीव भ्रान्ति का आधार है। अतः जो पुरुष मुक्ति की आकांक्षा करता है, वह जीव तथा ईश्वर के वाद-विवाद में बुद्धि को भ्रमित न करे, वरन् उसे दृढ़तापूर्वक ब्रह्मतत्त्व का ही निरन्तर चिन्तन करना चाहिए॥ ७३-७५॥

अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात्। स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः॥७६॥ दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्। दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥ ७७॥ उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः। योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते॥ ७८॥ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः। विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः॥ ७९॥ सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते। अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत्॥ ८०॥ प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म सत्यं प्रज्ञानलक्षणम्। एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत्॥ ८१॥ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ ८२॥

ज्ञानवान् पुरुष वही है, जो सम्पूर्ण दृश्य-जगत् को निर्विशेष चित् रूप मानता हो। वही (कल्याणकारी) शिव है, वही ब्रह्मा एवं विष्णु भी वही है। विषय वासनाओं का त्याग अत्यन्त दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना भी अत्यन्त कठिन है और सद्गुरु की अनुकम्पा के बिना सहजावस्था को प्राप्त करना भी अत्यधिक दुःसाध्य है। जिसने अपनी बोधात्मिका शक्ति को जाग्रत् कर लिया है और अपने समस्त कर्मों का परित्याग कर दिया है, ऐसा योगी स्वयमेव सहजावस्था को प्राप्त कर लेता है; जब तक व्यक्ति को इसमें थोड़ा भी अन्तर मालूम पड़ता है, तब तक उसके लिए भय है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। सर्वरूप-परब्रह्म परमेश्वर को ज्ञान के नेत्रों से देखा जा सकता है, जिसके पास ज्ञान के नेत्रों का अभाव है, वह अविनाशी ब्रह्म को ठीक वैसे ही नहीं देख सकता, जिस प्रकार अंधे व्यक्ति को प्रकाशमान सूर्य (सवितादेवता) के दर्शन नहीं होते। वह ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप है। सत्य ही प्रज्ञान का लक्षण है। अतः ब्रह्म के परिज्ञान से ही मर्त्य जीव अमरत्व को प्राप्त करता है। उस कार्य-कारण स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही मनुष्य के हृदय की गाँठें खुल जाती हैं, सभी संशय समाप्त हो जाते हैं और समस्त कर्म (प्रारब्धादि) क्षीणता को प्राप्त हो जाते हैं॥ ७६-८२॥

अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ। एकनिष्ठतयान्तःस्थः संविन्मात्रपरो भव॥ ८३॥
मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत्। जगत्त्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः॥ ८४॥
लक्ष्यालक्ष्यमतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना। शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः॥ ८५॥
अधिष्ठानमनौपम्यामवाङ्मनसगोचरम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम्॥ ८६॥
सर्वशक्तेर्महेशस्य विलासो हि मनो जगत्। संयमासंयमाभ्यां च संसारः शान्तिमन्वगात्॥८७॥

हे पुत्र निदाघ! अनात्म भाव को त्यागकर, सांसारिक स्थिति में विकाररहित होकर अनन्य निष्ठापूर्वक अन्तः में प्रतिष्ठित होकर आत्म-चैतन्य में ही रमण करते रहो। जिस प्रकार मरुभूमि में भ्रम से दिखाई देने वाला जल मरुस्थल मात्र ही रहता है, उसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तावस्था से युक्त यह सम्पूर्ण जगत् आत्मविचार से ही चिन्मय जानना चाहिए। जो लक्ष्य एवं अलक्ष्य बुद्धि का परित्याग करके केवल आत्मनिष्ठ हो जाता है, वही श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी एवं स्वयं साक्षात् शिवरूप है। इस जगत् का अधिष्ठान अद्वितीय है, वाणी एवं मन की पहुँच से परे है। नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अव्यय स्वरूप से युक्त है। यह विश्व सर्वशक्तिमान् भगवान् महाशिव का मनोविलास मात्र ही है। संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) एवं असंयम (सहज ज्ञान) के द्वारा ये सभी सांसारिक प्रपञ्च शान्ति को प्राप्त होते हैं॥ ८३-८७॥

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते। यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते॥ ८८॥
स्वायत्तमेकान्तहितं स्वेप्सिततत्यागवेदनम्। यस्य दुष्करतां यातं धिक्तं पुरुषकीटकम्॥ ८९॥
स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सिततत्यागरूपिणा। मनः प्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः॥ ९०॥
असंकल्पनशस्त्रेण छिन्नं चित्तमिदं यदा। सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ ९१॥
भव भावनया मुक्तो मुक्तः परमया धिया। धारयात्मानमव्यग्रो ग्रस्तचित्तं चितः पदम्॥ ९२॥

हे निदाघ मुने! मैं तुम्हारे मन में प्रादुर्भूत होते हुए विकारों की चिकित्सा के लिए उपाय बतलाता हूँ। जिन-जिन इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए मन चंचल हो, उन पदार्थों का त्याग ही मानव के मोक्ष-प्राप्ति का साधन है। जिसके लिए अभिलषित सांसारिक पदार्थों के त्याग की भावना, एकान्त प्रिय होना एवं आत्मा की अधीनता दुष्कर हो जाती है, ऐसे उस मनुष्य रूपी कीट (कीड़े) को धिक्कार है। अपनी इच्छित वस्तुओं एवं पदार्थों का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना ही वास्तविक मन की शान्ति का श्रेष्ठ मार्ग है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य दूसरी गति नहीं है। सङ्कल्पशून्यता रूपी शस्त्रास्त्रों से जब इस चित्त का कर्तन कर दिया जाता है, तब सर्वस्वरूप सर्वान्तर्यामी, शान्तरूप ब्रह्म की उपलब्धि होती है। इसलिए प्रपञ्च की भावना से रहित होकर प्रज्ञासम्पन्न होकर तथा चित्त को नियन्त्रित करके चिन्मात्र में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ ८८-९२॥

परं पौरुषमाश्रित्य नीत्वा चित्तमचित्तताम्। ध्यानतो हृदयाकाशे चिति चिच्चक्रधारया। मनो मारय निःशङ्कं त्वां प्रबध्नन्ति नारयः॥ ९३॥ अयं सोऽहमिदं तन्म एतावन्मात्रकं मनः। तदभावनमात्रेण दात्रेणेव विलीयते॥ ९४॥ छिन्नाभ्रमण्डलं व्योम्नि यथा शरदि धूयते। वातेन कल्पकेनैव तथान्तर्धूयते मनः॥ ९५॥ कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः। तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः॥। ९६॥ असंकल्पनमात्रैकसाध्ये सकलसिद्धिदे। असंकल्पातिसाम्राज्ये तिष्ठावष्टब्धतत्पदः॥ ९७॥

श्रेष्ठ पौरुष रूप अभ्यास एवं वैराग्य का आश्रय प्राप्त करके तथा चित्त को अचित्तावस्था में ले जाकर आकाश रूपी हृदय में चिन्तन करते हुए बराबर चैतन्य तत्त्व में लगे हुए चित्त रूपी चक्र की तीक्ष्ण धार से मन

का दमन कर देना चाहिए; ऐसा करते ही तुम्हारी सभी शंकायें निर्मूल हो जायेंगी तथा कामादि रूप शत्रु, बन्धन में न बाँध सकेंगे। यह वह है, मैं यह हूँ, वे समस्त पदार्थ मेरे हैं, यह भावना ही मन है। इन्हीं भावनाओं के त्याग से मन को (काटने के उपकरण द्वारा काटने की तरह) विनष्ट किया जा सकता है। जैसे शरत्-काल के आकाश में छिन्न-भिन्न हुए बादलों के समूह वायु की ठोकरों से विलीन हो जाते हैं, वैसे ही सद्विचारों के द्वारा ही मन अन्तर्हित हो जाता है। चाहे प्रलयंकारी उनचासों पवन एक साथ प्रवाहित हों अथवा सभी सागर एक साथ सम्मिलित होकर एकार्णवरूप हो जायें। चाहे द्वादश आदित्य भी एक साथ मिलकर क्यों न तपने लगें; किन्तु फिर भी मन से विहीन मनुष्य को किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती। केवल संकल्पहीनता रूपी एक साध्य ही सम्पूर्ण सिद्धियों की प्राप्ति का साधन है। अत: तत्पद का आश्रय ग्रहण करके संकल्पहीनता के विस्तृत साम्राज्य में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ ९३-९७॥

न हि चञ्चलताहीनं मनः क्वचन दृश्यते। चञ्चलत्वं मनोधर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता॥ ९८॥
एषा हि चञ्चला स्पन्दशक्तिश्चित्तत्वसंस्थिता। तां विद्धि मानसीं शक्तिं जगदाडम्बरात्मिकाम्॥
यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनोऽमृतमुच्यते। तदेव च तपः शास्त्रसिद्धान्ते मोक्ष उच्यते॥ १००॥
तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या वासनात्मिका। वासनाऽपरनाम्नीं तां विचारेण विनाशय॥ १०१॥

अचञ्चल मन कहीं पर नहीं दीखता, चञ्चलता मन का सहज धर्म है, जैसे अग्नि का सहज धर्म गर्मी प्रदान करना है। यही चञ्चल स्वभाव वाली स्पन्दन शक्ति चित्त का स्वाभाविक धर्म है। इसी मानसिक शक्ति को सांसारिक प्रपञ्च का सहजस्वरूप जानना चाहिए। जो मन अचञ्चल हो जाता है, वही अमृतस्वरूप कहा जाता है, वही तप है। उसे ही शास्त्रीय-सिद्धान्त की दृष्टि से मोक्ष कहते हैं। मन की चञ्चलता ही अविद्या है और वासना उसका स्वरूप है। शत्रुरूपी वासना को सद्विचारों के द्वारा काट देना चाहिए॥ ९८-१०१॥

पौरुषेण प्रयत्नेन यस्मिन्नेव पदे मनः। योज्यते तत्पदं प्राप्य निर्विकल्पो भवानघ॥ १०२॥
अतः पौरुषमाश्रित्य चित्तमाक्रम्य चेतसा। विशोकं पदमालम्ब्य निरातङ्कः स्थिरो भव॥ १०३॥
मन एव समर्थं हि मनसो दृढनिग्रहे। अराज्ञा कः समर्थः स्याद्राज्ञो निग्रहकर्मणि॥ १०४॥
तृष्णाग्राहगृहीतानां संसारार्णवपातिनाम्। आवर्तैरूह्यमानानां दूरं स्वमन एव नौः १०५॥
मनसैव मनश्छित्त्वा पाशं परमबन्धनम्। भवादुत्तारयात्मानं नासावन्येन तार्यते॥ १०६॥

हे निष्पाप मुने! मन को पुरुषार्थ के द्वारा जिस उद्देश्य में स्थिर करो, उसे प्राप्त करके निर्विकल्प समाधि को अर्जित करो। अतएव प्रयासपूर्वक चित्त को चित्त से वशीभूत करके शोकरहित अवस्था के आश्रय से, आतंक से दूर रहकर शान्ति प्राप्त करो। विषय विकारों से रहित मन ही मन का पूर्णरूपेण निरोध करने में समर्थ हो सकता है। किसी राजा को पराजित करने में कोई राजा ही समर्थ होता है। जो तृष्णारूपी ग्राह के द्वारा ग्रसित किये जा चुके हैं, जो संसार-सागर में गिरकर भँवरों के जाल में फँसकर अपने लक्ष्य से दूर भटक गये हैं, उन्हें बचाने के लिए विषय-विकारों से रहित मन ही समर्थ है, वही नौका का रूप धारण करके पार लगा सकता है। हे मुने! इस प्रकार के विकार-रहित मन के द्वारा इस विशाल बन्धनरूपी जाल को विनष्ट कर दो। स्वयमेव संसार-सागर से पार हो जाओ। अन्य और किसी के द्वारा यह संसार रूप सागर नहीं पार किया जा सकता॥

या योदेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा। तां तां परिहरेत्प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत्॥ १०७॥
भोगैकवासनां त्यक्त्वा त्यज त्वं भेदवासनाम्। भावाभावौ ततस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव॥ १०८॥ एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च। यत्तत्संवेद्यते किंचित्तत्रास्थापरिवर्जनम्।

अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः ॥ १०९ ॥ अविद्या विद्यमानैव नष्टप्रज्ञेषु दृश्यते।
नाम्नैवाङ्गीकृताकारा सम्यक्प्रज्ञस्य सा कुतः ॥ ११० ॥

जब-जब अन्त:करण को आच्छादित करने वाली मनरूपी वासना का प्राकट्य हो, तब-तब उसका परित्याग करना ज्ञानी मनुष्य का परम कर्तव्य हो जाता है,क्योंकि ऐसा करने से अविद्या का विनाश हो जाता है। सर्वप्रथम भोगरूपी वासना का त्याग करो, फिर भेदरूपी वासना का त्याग करो,उसके पश्चात् भाव-अभाव दोनों का ही त्याग करके निर्विकल्प होकर पूर्ण सुखी हो जाओ। मन का विनाश ही अविद्या का विनाश कहा गया है। मन द्वारा जो कुछ भी अनुभूति में आता हो, उस-उसमें आस्था कदापि न होने दो। आस्था का परित्याग करना ही निर्वाण है और आस्था के आश्रित रहना ही दु:ख है। जो प्रज्ञा से रहित है,उन्हीं में अविद्या प्रतिष्ठित रहती है। सम्यक् प्रज्ञासम्पन्न मनुष्य नाम मात्र के लिए भी कहीं अविद्या को स्वीकार नहीं करते॥ १०७-११०॥

तावत्संसारभृगुषु स्वात्मना सह देहिनम्। आन्दोलयति नीरन्ध्रं दुःखकण्टकशालिषु॥ १११ ॥
अविद्या यावदस्यास्तु नोत्पन्ना क्षयकारिणी। स्वयमात्मावलोकेच्छा मोहसंक्षयकारिणी॥ ११२ ॥
अस्याः परं प्रपश्यन्त्याः स्वात्मनाशः प्रजायते। दृष्टे सर्वगते बोधे स्वयं ह्येषा विलीयते॥ ११३ ॥
इच्छा मात्रमविद्येयं तन्नाशो मोक्ष उच्यते। स चासंकल्पमात्रेण सिद्धो भवति वै मुने॥ ११४ ॥
मनागपि मनोव्योम्नि वासनारजनीक्षये। कलिका तनुतामेति चिदादित्यप्रकाशनात्॥ ११५ ॥

इस दु:खरूपी कंटक से ओत-प्रोत संसार रूपी भ्रमजाल में तभी तक अविद्या अपने साथ देहधारी को निरन्तर भ्रमाती है, जब तक इसको विनष्ट करने वाली मोहनाशिनी आत्मसाक्षात्कार की आकांक्षा स्वयं ही उत्पन्न नहीं होती। यह अविद्या जब परमात्मतत्त्व की ओर देखती है, तब इसका स्वयं ही नाश हो जाता है। सर्वात्मबोध के दर्शन होते ही अविद्या स्वयं ही लुप्त हो जाती है। केवल इच्छा मात्र ही अविद्या का स्वरूप है और इच्छा का पूरी तरह से नष्ट होना ही मोक्ष कहा गया है। हे मुने! किन्तु इच्छा तभी समाप्त होती है,जब संकल्प का पूर्णरूपेण विनाश हो जाये, अन्यथा इच्छा का नाश असम्भव है। चित् रूपी सूर्य के प्रकाश से कलिरूपी अन्धकार क्षीण हो जाता है॥ १११-११५॥

चैत्यानुपातरहितं सामान्येन च सर्वगम्। यच्चित्तत्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः॥ ११६ ॥
सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यचिद्घनमक्षतम्। कल्पनान्या मनोनाम्नी विद्यते नहि काचन॥ ११७ ॥
न जायते न म्रियते किंचिदत्र जगत्त्रये। न च भावविकाराणां सत्ता क्वचन विद्यते॥ ११८ ॥
केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम्। चैत्यानुपातरहितं चिन्मात्रमिह विद्यते॥ ११९ ॥
तस्मिन्नित्ये तते शुद्धे चिन्मात्रे निरुपद्रवे। शान्ते शमसमाभोगे निर्विकारे चिदात्मनि॥ १२० ॥
यैषा स्वभावाभिमतं स्वयं संकल्प्य धावति। चिच्चैत्यं स्वयमम्लानं मननान्मन उच्यते॥ १२१ ॥

जब चित्त विषय वासनाओं का त्याग कर देता है तथा सर्वत्र गमन करने वाला बन जाता है, तब उसकी ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था ही आत्मा एवं परमात्मा के नाम से अभिहित होती है। अवश्य ही यह सभी कुछ ब्रह्म है। वह नित्य एवं चिद्घनस्वरूप है। वही अव्यय है। इसके अतिरिक्त जो अन्य मन नाम की कल्पना की जाती है, उसका कहीं पर भी अस्तित्व नहीं है। वह तो मात्र भ्रम ही है। इन तीनों लोकों में न तो किसी का जन्म होता है और न ही मृत्यु। ये जो भी भाव-विकार दृष्टिगोचर होते हैं, ये सभी अस्तित्वहीन हैं। एकमात्र केवलाभासरूप, सर्वव्यापी, अव्यय तथा चित्त के विषयों का अनुगमन न करने वाले केवल चिन्मात्र की ही सत्ता यहाँ विद्यमान है। उस नित्य, सर्वत्रव्यापी, शुद्ध, चिन्मात्र, उपद्रव-रहित, शान्तस्वरूप एवं शमरूप में स्थित विकाररहित चिदात्मा में स्वयंचित्त ही स्वभावानुसार संकल्पपूर्वक गमन करता है, चित्त की वही संकल्परूप अवस्था स्वयं निर्दोष होते हुए भी मनन करने के कारण मन कही जाती है॥ ११६-१२१॥

अतः संकल्पसिद्धेयं संकल्पेनैव नश्यति। नाहं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढाद्बध्यते मनः। सर्वं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढान्मुच्यते मनः॥ १२२॥ कृशोऽहं दुःखबद्धोऽहं हस्तपादादिमानहम्। इति भावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते॥ १२३॥ नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्यात्मनि स्थितः। इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते॥ १२४॥ नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्यः परोऽस्म्यहम्। इति निश्चितवानन्तः क्षीणाविद्यो विमुच्यते॥ १२५॥

इस कारण संकल्प के द्वारा सिद्ध मन संकल्प द्वारा ही विनष्ट हो जाता है 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' ऐसा सुदृढ़ संकल्प हो जाने से मन बन्धन-ग्रस्त नहीं होता और 'यह सभी कुछ ब्रह्म ही है', ऐसा दृढ़ निश्चयी संकल्प हो जाने पर मन मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। 'मैं क्षीणकाय हूँ, दुःखों से ग्रस्त हूँ, मैं हाथ पैर से युक्त हूँ, इस प्रकार के भावानुकूल व्यवहार से प्राणी बन्धनग्रस्त हो जाता है। मैं दुःखी नहीं हूँ, मेरा शरीर नहीं, आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित मुझमें बन्धन कहाँ?' इस प्रकार के व्यावहारिक जीवन से ओत-प्रोत मन मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। 'मैं मांस नहीं हूँ', अस्थि नहीं हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर जिसके अन्तस् से अविद्या नष्ट हो गयी है, वही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ १२२-१२५॥

कल्पितेयमविद्येयमनात्मन्यात्मभावनात्। परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात्परमया धिया। भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव॥ १२६॥ मम पुत्रो मम धनमहं सोऽयमिदं मम। इतीयमिन्द्रजालेन वासनैव विवल्गति॥ १२७॥ मा भवाज्ञो भव ज्ञस्त्वं जहि संसारभावनाम्। अनात्मन्यात्मभावेन किमज्ञ इव रोदिषि॥ १२८॥ कस्तवायं जडो मूको देहो मांसमयोऽशुचिः। यदर्थं सुखदुःखाभ्यामवशः परिभूयसे॥ १२९॥ अहो नु चित्रं यत्सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम्। तिष्ठतस्तव कार्येषु मास्तु रागानुरञ्जना॥ १३०॥ अहो नु चित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तन्तुभिरद्रयः। अविद्यमाना या विद्या तया विश्वं खिलीकृतम्। इदं तद्वज्रतां यातं तृणमात्रं जगत्त्रयम्॥ १३१॥

आत्म-रहित पदार्थों में आत्मभावना होना ही अविद्या जनित कल्पना है। अभ्यास एवं वैराग्य का आश्रय प्राप्त करके बुद्धिमत्तापूर्वक यत्न से भोग की आकांक्षा को दूर से ही छोड़कर, निर्विकल्प होकर पूर्ण सुखमय जीवन व्यतीत करो। यह 'मेरा पुत्र' 'मेरा धन' 'मैं यह हूँ' 'मैं वह हूँ', 'यह मेरा है' आदि समस्त वासनायें ही प्रपञ्च फैलाकर भिन्न-भिन्न क्रीड़ा कर रही हैं। तुम अज्ञानी मत बनो, ज्ञानवान् बनो, समस्त सांसारिक भावनाओं को विनष्ट कर दो। अनात्म विषयों में आत्मभावना से युक्त होकर मूर्खों की तरह क्यों रो रहे हो? यह मांस का पिण्ड, अशुद्ध, मूक, जड़ शरीर तुम्हारा कौन है, जिसके लिए बलपूर्वक दुःख-सुख से अभिभूत हो रहे हो? अरे! कितना महान् आश्चर्य है कि जो अविनाशी ब्रह्म सत्य है, उसे मनुष्य ने विस्मृत कर दिया है। तुम अपने कर्त्तव्य-कर्मों में सदा लगे रहो। मन को अविद्यादि कर्मों में लिप्त न होने दो। अरे! कितने आश्चर्य की बात है कि कमलनाल के तन्तुओं को रस्सी मानकर उनसे पर्वत आबद्ध कर दिये गये हैं। जो अविद्या अस्तित्व रहित है, उसी के द्वारा यह विविध रूपात्मक जगत् अभिभूत हो रहा है। उस अविद्या के प्रभाव से तृणवत् तुच्छ, जाग्रत्, सुषुप्तावस्था आदि तीनों जगत् वज्र के समान दृढ़ परिलक्षित हो रहे हैं॥ १२६-१३१॥

॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथापरं प्रवक्ष्यामि शृणु तात यथायथम्। अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि॥ १॥
पदान्तराण्यसंख्यानि प्रभवन्त्यन्यथैतयोः। स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम्॥ २॥
शुद्धसन्मात्रसंवित्तेः स्वरूपान्न चलन्ति ये। रागद्वेषादयो भावास्तेषां नाज्ञत्वसंभवः॥ ३॥
यः स्वरूपपरिभ्रंशश्चैत्यार्थे चितिमज्जनम्। एतस्मादपरो मोहो न भूतो न भविष्यति॥ ४॥

अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये तु या स्थितिः। सा ध्वस्तमननाकारा स्वरूपस्थितिरुच्यते॥५॥
संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः। जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा॥६॥
अहन्तांशे क्षते शान्ते भेदनिष्पन्दचित्तता। अजडा या प्रचलति तत्स्वरूपमितीरितम्॥ ७॥

पुनः महर्षि ऋभु ने कहा-हे पुत्र! मेरे द्वारा कहे वचनों को भली प्रकार सुनो। अज्ञान और ज्ञान इन दोनों की सात-सात भूमिकायें हैं। इनके बीच में अनेक दूसरी भूमिकायें उत्पन्न होती हैं। अहंभाव ही मूल स्वरूप से पृथक् करने वाला है। स्वरूप में अवस्थित होना ही मुक्ति है। शुद्ध सत्तारूप बोध ही आत्मा का रूप है, जो उस बोध की अवस्था से हटते नहीं, ऐसे साधकों को अज्ञान से पैदा हुए राग-द्वेषादि दूषित विकार प्रभावित नहीं कर पाते। आत्मस्वरूप से हटकर वासनात्मक स्वरूप में जो चित् का डूबना है, इससे अधिक मोहग्रस्त होना दूसरा नहीं कहा जाएगा और न हो सकता है। एक विषय से दूसरे विषय में प्रवेश करते हुए जो मध्य में मन की अवस्था होती है, उसे 'ध्वस्तमनन' के स्वरूप वाली स्थिति समझा जाता है, लेकिन सभी संकल्पों के पत्थर की शिला के समान भली प्रकार शान्त हो जाने पर निश्चेष्ट अवस्था जिसमें जाग्रत् और स्वप्नावस्था भी प्रायः चेष्टारहित होती है, वही परास्वरूप स्थिति कहलाती है। अहंभाव के क्षीण हो जाने पर शान्त, चेतन तथा भेदभाव से रहित चित्त की स्थिति ही स्वरूप अवस्था कहलाती है॥ १-७॥

बीजजाग्रत्तथा जाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च। जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तिकम्॥ ८॥
इति सप्तविधो मोहः पुनरेष परस्परम्। श्लिष्टो भवत्यनेकाग्र्यं शृणु लक्षणमस्य तु॥ ९॥

मोह के सात प्रकार कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं-१. बीज जाग्रत् अवस्था, २. जाग्रत् अवस्था, ३. महाजाग्रत् अवस्था ४. जाग्रत्स्वप्नावस्था ५. स्वप्नावस्था ६. स्वप्न जाग्रत् अवस्था, ७. सुषुप्तावस्था। तत्पश्चात् यही परस्पर मिलकर असंख्य रूप धारण कर लेते हैं। अब इन सबके अलग-अलग लक्षण सुनें॥ ८-९॥

प्रथमं चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः। भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम्॥ १०॥
बीजरूपस्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत्तदुच्यते। एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था त्वं जाग्रत्संस्थितिं शृणु॥ ११॥

प्रथम 'बीज जाग्रत् अवस्था' वह है,जो नामरहित शुद्धचेतन की भविष्यत् में घटित होने वाली,चित्त-जीव आदि नाम के शब्दार्थरूप सम्बोधन से युक्त अवस्था है। वह बीजरूप में स्थित जाग्रत्-अवस्था बीज जाग्रत् नाम से प्रसिद्ध है। यह ज्ञाता की नूतन अवस्था है। अब आप जाग्रत् अवस्था की यथार्थ स्थिति सुनें॥१०-११॥

नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम। इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात्॥ १२॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः। पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुटम्॥१३॥
अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम्। यज्जाग्रतो मनोराज्यं यज्जाग्रत्स्वप्न उच्यते॥ १४॥
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णादिभेदतः। अभ्यासं प्राप्य जाग्रत्तत्स्वप्नो नानाविधो भवेत्॥ १५॥

नवजात जीव के अन्तरंग में 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' अर्थात् मैं और मेरेपन के भावों की स्थिति ही मोह की दूसरी 'जाग्रत् अवस्था' कही जाती है; क्योंकि उससे पूर्व यह भावना नहीं थी। 'महाजाग्रत्' अवस्था वह है, जिसमें 'यह वह व्यक्ति है, यह मैं हूँ, वह मेरी चीज है' आदि भावनाएँ पूर्वजन्मों के संस्कार सहित विदित होती हैं। अप्रचलित (अरूढ़) अथवा प्रचलित (रूढ़) एवं तन्मय होकर जो मन की काल्पनिक रचना जाग्रत् अवस्था में होती है, वह 'जाग्रत्-स्वप्न' कही गयी है। एक चन्द्रमा की जगह दो चन्द्रमाओं का, सीप में चाँदी का तथा मृग-मरीचिका में (बालू में) जल का आभास होना इत्यादि (जाग्रत् अवस्था में) अभ्यास को प्राप्त हुए जाग्रत्-स्वप्न के विभिन्न प्रकार हैं॥ १२-१५॥

अल्पकालं मया दृष्टमेतन्नोदेति यत्र हि। परामर्शः प्रबुद्धस्य स स्वप्न इति कथ्यते॥ १६॥
चिरं संदर्शनाभावादप्रफुल्लं बृहद्वचः। चिरकालानुवृत्तिस्तु स्वप्नो जाग्रदिवोदितः॥ १७॥
स्वप्नजाग्रदिति प्रोक्तं जाग्रत्यपि परिस्फुरत्। षडवस्थापरित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः॥१८॥
भविष्यद्दुःखबोधाढ्य सौषुप्तिः सोच्यते गतिः। जगत्तस्यामवस्थायामन्तस्तमसि लीयते॥ १९॥

'स्वप्नावस्था' वह कहलाती है, जिसमें कुछ समय पूर्व देखा गया दृश्य पुनः दृष्टिगोचर न हो और जागने पर उस दृश्य की मनुष्य को स्मृति मात्र शेष रहे। इसके पश्चात् 'स्वप्न जाग्रत्' अवस्था वह है, जिसमें पूरे विकास को न प्राप्त हुआ स्वप्न जो अनेक क्रिया-कलापों द्वारा देर तक टिके तथा जो जाग्रत् की तरह ही उत्पन्न हो अथवा जागते हुए भी स्वप्न दिखाई दे। इन छः अवस्थाओं को पारकर जब जीव की जड़ात्मक स्थिति में प्रतिष्ठापना होती है, उस बीते हुए दुःखबोध से युक्त अवस्था को ही 'सुषुप्ति' कहा गया है। उस स्थिति में यह संसार आन्तरिक अंधकार में विलीन हो जाता है॥ १६-१९॥

सप्तावस्था इमाः प्रोक्ता मया ज्ञानस्य वै द्विज। एकैका शतसंख्यात्र नानाविभवरूपिणी॥२०॥
इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ। नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जति॥ २१॥

हे ब्रह्मन्! मैंने तुम्हारे प्रति अज्ञानजनित मोह की सात भूमिकाओं को बतलाया। इसमें से प्रत्येक भूमिका विभिन्न ऐश्वर्ययुक्त, विभिन्न अवस्थाओं के रूप में विविध रूप धारण करने वाली है। हे निष्पाप पुत्र! अब मैं तुम्हें ज्ञान की जो सात भूमिकायें हैं, उन्हें सुनाता हूँ, जिन्हें जान लेने पर मनुष्य मोहपङ्क में नहीं फँसता॥ २०-२१॥

वदन्ति बहुभेदेन वादिनो योगभूमिकाः। मम त्वभिमता नूनमिमा एव शुभप्रदाः॥ २२॥
अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं साप्तभूमिकम्। मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्ता भूमिकासप्तकात्परम्॥ २३॥

ज्ञानीजनों ने योग भूमिकाओं के बहुविध भेद बतलाये हैं, परन्तु मैं तो इन सात भूमिकाओं को ही विशेष लाभप्रद मानता हूँ। इस प्रकार इन सात भूमिकाओं द्वारा उत्पन्न होने वाला अवबोध ही 'ज्ञान' कहलाता है। इन सात भूमिकाओं के अन्तर्गत होने वाली मुक्ति 'ज्ञेय' कही जाती है॥ २२-२३॥

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता। विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी॥ २४॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका। पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥ २५॥
आसामन्तःस्थिता मुक्तिर्यस्यां भूयो न शोचति। एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु॥२६॥

पहली ज्ञान भूमिका को 'शुभेच्छा' नाम दिया गया है। दूसरी 'विचारणा', तीसरी 'तनुमानसी', चौथी 'सत्त्वापत्ति', पाँचवीं 'असंसक्ति', छठवीं 'पदार्थभावना' तथा सातवीं 'तुर्यगा' है। इन भूमिकाओं में पुनः शोकाकुल न होने देने वाली मुक्ति निहित है। अब तुम इन भूमिकाओं का विस्तार सुनो॥ २४-२६॥

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः। वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥२७॥
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्। सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥ २८॥

मैं भ्रमितमति क्यों हूँ? शास्त्र तथा श्रेष्ठ जनों से मैं इस सम्बन्ध में चर्चा करूँगा-इस प्रकार से वैराग्य धारण करने से पूर्व जो अभिलाषा जागती है, उसे ज्ञानियों ने 'शुभेच्छा' नाम दिया है। इसके बाद शास्त्र तथा श्रेष्ठ जनों के सान्निध्य लाभ से अध्ययन आदि के द्वारा अभ्यास एवं वैराग्य भावना से सदाचार की प्रवृत्तियों का प्राकट्य होता है, उसे ही 'विचारणा' नाम दिया है॥ २७-२८॥

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता। यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी॥ २९॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्ते तु विरतेर्वशात्। सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥ ३०॥

शुभेच्छा और विचारणा द्वारा इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति जब क्षीण हो जाती है, ऐसी अवस्था को 'तनुमानसी' कहा गया है। इन तीन भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा वैराग्य भाव के प्राबल्य से जब चित्त निर्मल सत्त्वरूप में स्थित होता है, इसी अवस्था को 'सत्त्वापत्ति' कहते हैं॥ २९-३०॥

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या। रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका॥ ३१॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया दृढम्। आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥३२॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम्। पदार्थभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका॥ ३३॥

इन सभी भूमिकाओं का अभ्यास हो जाने पर चमकने वाली संसर्गहीन कला सत्त्वारूढ़ होती है,वही 'असंसक्ति'कहलाती है। इन पाँचों भूमिकाओं के अभ्यास के फलस्वरूप अपनी चेतना में ही रमते रहने तथा बाह्याभ्यन्तर पदार्थों की भावना के नष्ट होने पर 'पदार्थ भावना' नामक छठी भूमिका में पदार्पण होता है॥३१-३३

भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात्। यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥ ३४॥
एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेति विद्यते। विदेहमुक्तिविषयं तुर्यातीतमतः परम्॥ ३५॥

इन छः भूमियों के परिपक्व हो जाने पर भेद-बुद्धि का क्षय हो जाता है और आत्म-भाव में ही साधक की दृढ़निष्ठा हो जाती है, यही 'तुर्यगा' अवस्था कही गयी है। इस तुर्यावस्था को जीवन्मुक्त पुरुष ही उपलब्ध कर पाते हैं। इसके बाद तुर्यातीत अवस्था है, जो विदेह मुक्ति का विषय है॥ ३४-३५॥

ये निदाघ महाभागाः सप्तमीं भूमिमाश्रिताः। आत्मारामा महात्मानस्ते महत्पदमागताः॥ ३६॥
जीवन्मुक्ता न मज्जन्ति सुखदुःखरसस्थिते। प्रकृतेनाथ कार्येण किंचित्कुर्वन्ति वा न वा॥३७॥

हे निष्पाप! जो अति भाग्यवान् पुरुष सप्तमी तुर्यगावस्था को प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मा में रमणशील महात्मा महत्पद (परमपद) को ग्रहण कर चुके हैं। ऐसी जीवन्मुक्त आत्मायें सुख-दुःख के अनुभवों से सर्वथा निर्लिप्त रहती हैं। वे कर्तव्य कर्मों में संलग्न रहकर भी उनसे लिप्त नहीं होतीं॥ ३६-३७॥

पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम्। आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदुत्थिताः॥ ३८॥
भूमिकासप्तकं चैतद्धीमतामेव गोचरम्। प्राप्य ज्ञानदशामेतां पशुम्लेच्छादयोऽपि ये॥ ३९॥
सदेहा वाप्यदेहा वा ते मुक्ता नात्र संशयः। ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन्सति विमुक्तता॥ ४०॥

अपने निकटस्थ परिजनों के सचेत किये जाने पर जैसे मनुष्य सोते से जाग पड़ता है,वैसे ही वे ज्ञानीजन सत्कर्मों में संलग्न रहकर सनातन आचरण की परम्परा निभाते हैं। इन सात भूमिकाओं को यदि पशु और म्लेच्छ आदि भी जान लें,तो वे भी देह रहते या देहत्याग के पश्चात् मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं,इसमें सन्देह की गुंजायश नहीं। हृदय-ग्रन्थियों का खुल जाना ही ज्ञान है और ज्ञान प्राप्ति हो जाने पर मुक्ति सुनिश्चित है॥३८-४०

मृगतृष्णाम्बुबुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ। ये तु मोहार्णवात्तीर्णास्तैः प्राप्तं परमं पदम्॥४१॥
ते स्थिता भूमिकास्वासु स्वात्मलाभपरायणाः। मनः प्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते॥४२॥

जैसे मृग-तृष्णा में जल की भ्रान्ति होती है, इसे ही अविद्या कहा गया है, अविद्या का नाश ही मुक्ति है। परमपद के अधिकारी वही हैं, जो मोहरूपी सागर से पार हो चुके हैं। आत्मसाक्षात्कार के प्रयत्नों में संलग्न पुरुष ही इन भूमिकाओं में प्रतिष्ठित होते हैं। मन की पूर्णतया शान्ति के साधन को योग कहा गया है॥ ४१-४२॥

सप्तभूमिः स विज्ञेयः कथितास्ताश्च भूमिकाः। एतासां भूमिकानां तु गम्यं ब्रह्माभिधं पदम्॥४३॥
त्वत्ताऽहन्तात्मता यत्र परता नास्ति काचन। न क्वचिद्भावकलना न भावाभावगोचरा॥ ४४॥

सर्वं शान्तं निरालम्बं व्योमस्थं शाश्वतं शिवम्। अनामयमनाभासमनामकमकारणम्॥ ४५॥
न सन्नासन्न मध्यं तं न सर्वं सर्वमेव च। मनोवचोभिरग्राह्यं पूर्णात्पूर्णं सुखात्सुखम्॥ ४६॥
असंवेदनमाशान्तमात्मवेदनमाततम् । सत्ता सर्वपदार्थानां नान्या संवेदनादृते॥ ४७॥

योग की इन सात भूमिकाओं को ज्ञानभूमि के अन्तर्गत ऊपर बतलाया जा चुका है। इन भूमिकाओं का लक्ष्य है—ब्रह्मपद की प्राप्ति। जहाँ तेरा-मेरा और अपने-परायेपन का संकीर्ण भाव मिट जाता है, उस समय न तो भावात्मक बुद्धि अवशेष रहती है और न ही भाव-अभाव का चिन्तन हो पाता है; क्योंकि जागतिक वस्तुओं की सत्ता आत्मसंवेदन मात्र है, इससे अतिरिक्त कुछ नहीं। सर्वथा शान्त, आलम्बन रहित, आकाशस्वरूप, शाश्वत, शिव, दोषरहित, भासमान रहित, अनिर्वचनीय, कारणरहित, न सत् , न असत्, न मध्य, सम्पूर्णतारहित और सम्पूर्ण भी, मन-वाणी से अग्राह्य, पूर्ण से पूर्ण, सुख से सुखतरस्वरूप, संवेदन की पहुँच से परे, पूर्ण शान्त, आत्मानुभूतिरूप तथा व्यापकता यह ब्रह्म का स्वरूप है। सभी पदार्थों की सत्ता के अतिरिक्त यह चैतन्य भिन्न नहीं है और इसकी प्राप्ति का आधार एक मात्र सम्यक् अनुभूति है॥ ४३-४७॥

संबन्धे द्रष्टृदृश्यानां मध्ये दृष्टिर्हि यद्वपुः । द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं पदम्॥ ४८॥
देशाद्देशं गते चित्ते मध्ये यच्चेतसो वपुः। अजाड्यसंविन्मननं तन्मयो भव सर्वदा॥ ४९॥
अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य यत्ते रूपं सनातनम्। अचेतनं चाजडं च तन्मयो भव सर्वदा ॥ ५०॥
जडतां वर्जयित्वैकां शिलाया हृदयं हि तत्। अमनस्कस्वरूपं यत्तन्मयो भव सर्वदा। चित्तं दूरे परित्यज्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव॥ ५१॥ पूर्वं मनः समुदितं परमात्मतत्त्वात्तेनाततं जगदिदं सविकल्पजालम्। शून्येन शून्यमपि विप्र यथाम्बरेण नीलत्वमुल्लसति चारुताभिधानम्॥ ५२॥

द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध हो जाने पर मध्य में दृष्टि का जो स्वरूप परिलक्षित होता है, वह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से भिन्न साक्षात्काररूप स्थिति ही है। चित्त के एक देश से दूसरे में प्रवेश करने के मध्य जो अवस्था होती है, उस जड़तारहित चेतनरूप चिन्तन में निरन्तर तन्मय रहना चाहिए। जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति से परे जड़-चेतन विहीन जो सनातनरूप है, उसी में हमेशा स्थित रहो। जड़ता ही हृदय की पाषाणवत् स्थिति है, उसका परित्याग करने पर जो अमनस्क अवस्था है, उसी में सदैव लीन रहो। चित्त को दूर से ही त्यागकर जिस अवस्था में हो, उसी में स्थिर रहो। परमात्म तत्त्व से सर्वप्रथम मन की उत्पत्ति हुई, पश्चात् उसी मन से विकल्पजालरूप यह संसार उत्पन्न हुआ। हे विप्र! शून्य से भी शून्य की उत्पत्ति होती है, जैसे- आकाश शून्य है, परन्तु इसी से मनोहर दिखलाई पड़ने वाली नीलिमा प्रकट होती है॥ ४८-५२॥

संकल्पसंक्षयवशाद्गलिते तु चित्ते संसारमोहमिहिका गलिता भवन्ति।
स्वच्छं विभाति शरदीव खमागतायां चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः॥ ५३॥

संकल्प के विनष्ट हो जाने पर चित्तवृत्तियाँ गल जाती हैं और इसी के साथ संसार का मोहरूपी कुहरा भी छँट जाता है। ऐसे में शरद्ऋतु के आगमन पर स्वच्छ आसमान की तरह वह अजन्मा, आद्य, अनन्त, एक, चिन्मात्ररूप ब्रह्म ही अन्तिम रूप से सुशोभित होता है॥ ५३॥

अकर्तृकमरङ्गं च गगने चित्रमुत्थितम् । अद्रष्टृकं स्वानुभवमनिद्रस्वप्नदर्शनम् ॥ ५४॥
साक्षिभूते समे स्वच्छे निर्विकल्पे चिदात्मनि। निरिच्छं प्रतिबिम्बन्ति जगन्ति मुकुरे यथा॥५५॥

बिना कर्त्ता और रङ्ग के आकाश चित्रित सा प्रतीत होता है। बिना द्रष्टा के स्वयं अनुभूत निद्राहीन स्वप्न दिखलाई देता है। यह चिदात्मा साक्षिरूप, सम (सबके प्रति समान रहने वाला), स्वच्छ, निर्विकल्प तथा दर्पणवत् है, उसमें बिना किसी आकांक्षा के तीनों लोक प्रतिबिम्बित हो रहे हैं॥ ५४-५५॥

एकं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम्। इति भावय यत्नेन चेतश्चाञ्चल्यशान्तये॥ ५६॥
रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला। तथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकमिह दृश्यताम्॥ ५७॥

सर्वस्वरूप, चिदाकाशरूप और अखण्डित ब्रह्म एक है, चित्त की चपलता शान्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक ऐसी भावना करनी चाहिए। तीनों लोकों से युक्त ब्रह्म के दर्शन उसी प्रकार करने चाहिए, जैसे एक मोटी पत्थरशिला पर रेखायें-उपरेखाएँ खिंची होती हैं॥ ५६-५७॥

द्वितीयकारणाभावादनुत्पन्नमिदं जगत्। ज्ञातं ज्ञातव्यमधुना दृष्टं द्रष्टव्यमद्भुतम्॥ ५८॥
विश्रान्तोऽस्मि चिरं श्रान्तश्चिन्मात्रान्नास्ति किंचन। पश्य विश्रान्तसंदेहं विगताशेषकौतुकम्॥५९

ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य कारण के न होने पर इस जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई (खरगोश के सींग की तरह यह त्रिकालबाधित है)। इस प्रकार मैंने (ऋभु का आत्मकथन) जो ज्ञातव्य था, उसे जान लिया, जो विलक्षणता देखनी थी, उसे देख लिया और चिरकाल से थका मैं अब विश्रान्ति को प्राप्त हो चुका हूँ। (हे निदाघ!) इस सम्पूर्ण जागतिक माया से विमुक्त होकर तथा संशयविहीन होकर तुम चिन्मात्र के दर्शन करो। चिन्मात्र के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, ऐसा समझो॥ ५८-५९॥

निरस्तकल्पनाजालमचित्तत्वं परं पदम्। त एव भूमतां प्राप्ताः संशान्ताशेषकिल्बिषाः॥ ६०॥
महाधियः शान्तधियो ये याता विमनस्कताम्। जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः॥ ६१॥
मननं त्यजतो नित्यं किंचित्परिणतं मनः। दृश्यं संत्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः॥ ६२॥
द्रष्टारं पश्यतो नित्यमद्रष्टारमपश्यतः। विज्ञातव्ये परे तत्त्वे जागरूकस्य जीवतः॥ ६३॥
सुप्तस्य घनसंमोहमये संसारवर्त्मनि। अत्यन्तपक्ववैराग्यादरसेषु रसेष्वपि॥ ६४॥
संसारवासनाजाले खगजाल इवाधुना। त्रोटिते हृदयग्रन्थौ श्लथे वैराग्यरंहसा॥ ६५॥
कातकं फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति। तथा विज्ञानवशतः स्वभावः संप्रसीदति॥ ६६॥

जिन्होंने संकल्प-बन्धन को काट दिया है, जो चित्तत्वरहित महान् पद पा चुके हैं, ऐसे ही साधक निष्पाप होकर ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। मन को वश में करके जो विमनस्क हो गये हैं, शान्तचित्तता उनकी प्रखर मेधा की परिचायिका है। वेदान्त के विषय में चिन्तनशील मनुष्य, जिनकी चित्तवृत्तियों का क्षय हो चुका है और मानसिक संकल्पों के त्याग में अभ्यस्त होने से जिनका मन सुस्थिर हो चुका है। जो मुमुक्षु पुरुष हेय और उपादेय दोनों तरह के दृश्यों का परित्याग कर रहे हैं, जो नित्य द्रष्टा अर्थात् आत्मज्ञान के साक्षात्कार में संलग्न तथा अद्रष्टा अर्थात् प्रपञ्च को न देखने वाले हैं, जो ज्ञातव्य परमतत्त्व में विशेषरूप से जागरूक रहकर जीवन-यापन करते हैं, जो रसयुक्त तथा रसहीन इन सभी पदार्थों के प्रति अति सुस्थिर वैराग्य भाव से सघन मोहात्मक संसार पथ में सोये हुए हैं। वैराग्य की प्रबल भावना से चूहे द्वारा काटे गये पक्षी के पाश की तरह जिनकी सांसारिक वासना-तृष्णा का पाश कट चुका है और हृदय की ग्रन्थियाँ ढीली पड़ गई हैं, ऐसे साधकों का स्वभाव विशिष्ट ज्ञान से उसी प्रकार परिष्कृत-निर्मल हो जाता है, जिस प्रकार कातक (निर्मली) फल से जल निर्मल हो जाता है॥ ६०-६६॥

नीरागं निरुपासङ्गं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम्। विनिर्याति मनो मोहाद्विहङ्गः पञ्जरादिव॥ ६७॥
शान्तसंदेहदौरात्म्यं गतकौतुकविभ्रमम्। परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते॥ ६८॥

मन के रागरहित, अनासक्त, द्वन्द्व से रहित तथा निरालम्ब हो जाने पर पिंजड़े से मुक्त हुए पक्षी की तरह ही मोह-बन्धन से मन की मुक्ति हो जाती है। संशयरूप दुरात्मभावना जिनकी शान्त हो चुकी है, जो प्रपञ्च कौतुक से विमुक्त हैं, उनका चित्त पूर्णमासी के चन्द्र के समान विशेष शोभा पाता है॥ ६७-६८॥

नाहं न चान्यदस्तीह ब्रह्मैवास्मि निरामयम्। इत्थं सदसतोर्मध्याद्यः पश्यति स पश्यति॥ ६९॥
अयत्नोपनतेष्वक्षिदृग्दृश्येषु यथा मनः। नीरागमेव पतति तद्वत्कार्येषु धीरधीः॥ ७०॥
परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये। विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम्॥ ७१॥

न मैं स्वयं और न अन्य कुछ ही यहाँ है, मैं तो सभी दोषों से रहित मात्र ब्रह्म हूँ, जिसकी दृष्टि सत्-असत् के मध्य इस प्रकार की है, वही वास्तव में ब्रह्म साक्षात्कार करने वाला है। जिस प्रकार दर्शनीय दृश्यों की तरफ मन स्वाभाविक रूप से बिना आसक्ति के ही खिंच जाता है, उसी प्रकार धीरमति पुरुष कर्त्तव्य कर्मों के निर्वाह में संलग्न रहते हैं। भली प्रकार सोच-समझकर भोगा गया भोग उसी तरह संतुष्टि का निमित्त बनता है, जिस तरह जान-बूझकर सेवा में संलग्न चोर चौर्यकार्य को छोड़कर मित्रता ही निभाता है॥ ६९-७१॥

अशङ्कितापि संप्राप्ता ग्रामयात्रा यथाऽध्वगैः। प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते॥ ७२॥
मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः। तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते॥७३॥
बद्धमुक्तो महीपालो ग्रासमात्रेण तुष्यति। परैरबद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते॥ ७४॥

जिस ग्राम में जाने का मन में कभी विचार भी नहीं था,ऐसे ग्राम में अचानक आ जाने पर यात्री जिस आश्चर्य भरी दृष्टि से उसे देखता है,उसी दृष्टि से ज्ञानीपुरुष भोग-ऐश्वर्यों पर दृष्टिपात करता है। बिना श्रम से उपलब्ध हुई स्वल्पमात्र भोग सामग्री को नियन्त्रित मन वाला साधक बहुत अधिक समझते हुए कष्टदायी मानकर त्याग देता है। शत्रु के बन्धन से मुक्त होने पर जो राजा-भोजन के एक ग्रास से सन्तुष्ट हो जाता है,वही राजा शत्रु द्वारा आक्रान्त और आबद्ध न किये जाने पर राज्य के विशाल वैभव को भी तुच्छ ही मानता है॥ ७२-७४॥

हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च। अङ्गान्यङ्गैरिवाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः॥ ७५॥
मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे। महानरकसाम्राज्ये मत्तदुष्कृतवारणाः। आशाशरशला-काढ्या दुर्जया हीन्द्रियारयः॥ ७६॥

हाथ से हाथ को मलकर, दाँत से दाँत को पीसकर तथा अङ्गों से अङ्गों को दबाकर अर्थात् स्वकीय सम्पूर्ण पराक्रम और साहस द्वारा मन को जीतने का प्रयास करे। इस संसार सागर में मन पर विजय पाने से बढ़कर अन्य उपाय नहीं है। इस भयंकर नरक रूपी साम्राज्य में दुष्कृत रूपी मतवाले हाथी भ्रमण करते हैं। आशारूपी बाणों और कटारों से सुसज्जित इन्द्रियरूपी वैरियों को जीतना अत्यन्त मुश्किल है॥ ७५-७६॥

प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः। पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः॥ ७७॥
तावन्निशीव वेताला वसन्ति हृदि वासनाः। एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः॥ ७८॥
भृत्योऽभिमतकर्तृत्वान्मन्त्री सर्वार्थकारणात्। सामन्तश्चेन्द्रियाक्रान्तेर्मनो मन्ये विवेकिनः॥ ७९॥

जो इन्द्रियरूपी वैरियों को अपने वशीभूत कर चुके हैं तथा जिन्होंने चित्त के अहंभाव को विनष्ट कर दिया है, उनकी भोग लिप्साएँ उसी प्रकार समाप्त हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतु में कमल का पौधा सूख जाता है। एकत्व के दृढ़ अभ्यास द्वारा जब तक मन को नियन्त्रित नहीं कर लिया जाता, तब तक ही रात्रि में बेताल की तरह हृदय में वासना टिकी हुई रहती है। विवेकशील व्यक्ति अपने मन को अभीष्ट सिद्धि के लिए सेवक के समान सभी प्रयोजनों की पूर्ति के लिए मन्त्रीरूप तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों को स्वनियन्त्रित करने के लिए सामन्तरूप बना लेते हैं, ऐसा मेरा विचार है॥ ७७-७९॥

लालनात्स्निग्धललना पालनात्पालकः पिता। सुहृदुत्तमविन्यासान्मनो मन्ये मनीषिणः॥ ८०॥
स्वालोकतः शास्त्रदृशा स्वबुद्ध्या स्वानुभावतः। प्रयच्छति परां सिद्धिं त्यक्त्वात्मानं मनःपिता॥
सुहृष्टः सुदृढः स्वच्छः सुक्रान्तः सुप्रबोधितः। स्वगुणेनोर्जितो भाति हृदि हृद्यो मनोमणिः॥८२॥

एनं मनोमणिं ब्रह्मन्बहुपङ्ककलङ्कितम्। विवेकवारिणा सिद्ध्यै प्रक्षाल्यालोकवान्भव॥ ८३॥

मेरे विचार से मनीषी का मन लालन करने के फलस्वरूप स्नेहमयी ललना-स्वरूप और पालन करने से पितृतुल्य है। शास्त्रानुकूल आचरण से, स्वयं के एकत्रित अनुभवजन्य ज्ञान प्रकाश से तथा विवेक बुद्धि से मनरूपी पिता परमसिद्धि का मार्ग प्रशस्त करता है। अति हृष्ट-पुष्ट, सुदृढ़, निर्मल, स्ववशीभूत, भली प्रकार चैतन्य तथा आत्मिक सद्‌गुणों से प्रखर-तेजस्विता युक्त सुन्दर मनरूपी मणि हृदय में विराजमान है। हे ब्रह्मन्! बहुविध वासना-तृष्णा के कीचड़ से सने इस मनरूपी मणि को विवेक रूपी जल से निर्मल करके साधन-सिद्धि के लिए चमकदार (परिष्कृत) बनायें॥ ८०-८३॥

विवेकं परमाश्रित्य बुद्ध्या सत्यमवेक्ष्य च। इन्द्रियारीनलं छित्त्वा तीर्णो भव भवार्णवात्॥८४॥

सद्‌विवेक का अवलम्बन लेकर, बुद्धि से यथार्थ सत्य का अनुसन्धान करके इन्द्रियरूपी वैरियों को तुम छिन्न-भिन्न कर पाओगे, इसी से संसार रूपी भवसागर से तुम पार उतरने में सक्षम हो सकोगे॥ ८४॥

आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः। अनास्थामात्रमभितः सुखानामालयं विदुः॥ ८५॥
वासनातन्तुबद्धोऽयं लोको विपरिवर्तते। सा प्रसिद्धातिदुःखाय सुखायोच्छेदमागता॥ ८६॥
धीरोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि कुलजोऽपि महानपि। तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंहः शृङ्खलया यथा॥८७॥
परमं पौरुषं यत्नमास्थायादाय सूद्यमम्। यथाशास्त्रमनुद्वेगमाचरन्को न सिद्धिभाक्॥ ८८॥

संसार में मात्र आस्था (आशा) ही अनेक कष्टों की उत्पत्ति का कारण है और अनास्था (आशा-अपेक्षारहित जीवन) ही सुख का घर समझना चाहिए। वासनाओं के सूत्र से बँधा हुआ यह संसार पुनः-पुनः उत्पन्न होता है। वह प्रख्यात वासना अति कष्टदायिनी बनकर समस्त सुखों का पूरी तरह से उच्छेदन करने के लिए आती है। जंजीर से सिंह के बाँधने के समान वासना के मोहपाश में धीर, कुलीन, अति बहुश्रुत तथा महान् व्यक्ति भी बँध जाते हैं। शास्त्रानुकूल आचरण करता हुआ, परम पुरुषार्थ का अवलम्बन लेकर और श्रेष्ठ उद्यम करते हुए कौन सिद्धि को प्राप्त नहीं करता?॥ ८५-८८॥

अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माहमच्युतः। नान्यदस्तीति संवित्त्या परमा सा ह्यहंकृतिः॥ ८९॥
सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं वालाग्रादप्यहं तनुः। इति या संविदो ब्रह्मन्द्वितीयाहंकृतिः शुभा॥ ९०॥
मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते॥ ९१॥

मैं समस्त विश्वरूप हूँ, मैं अच्युत परमात्मस्वरूप हूँ, मेरे अतिरिक्त शेष कुछ भी नहीं-इस तरह के बोधात्मक अहंभाव को उत्तम माना गया है।'मैं सभी प्रपञ्च से भिन्न हूँ,' मैं बाल के अग्रभाग से कहीं अधिक सूक्ष्म हूँ-इस प्रकार का दूसरा अहं भाव मोक्ष को देने वाला है, बन्धन में फँसाने वाला नहीं। जीवन्मुक्त आत्मायें ही ऐसे अहंभाव से युक्त होती हैं॥ ८९-९१॥

पाणिपादादिमात्रोऽयमहमित्येष निश्चयः। अहंकारस्तृतीयोऽसौ लौकिकस्तुच्छ एव सः॥ ९२॥
जीव एव दुरात्मासौ कन्दः संसारदुस्तरोः। अनेनाभिहतो जन्तुरधोऽधः परिधावति॥ ९३॥
अनया दुरहंकृत्या भावात्संत्यक्तयाचिरम्। शिष्टाहंकारवाञ्जन्तुः शमवान्याति मुक्तताम्॥ ९४॥

मैं हाथ-पैर वाला मात्र स्थूल शरीरधारी हूँ- इस प्रकार की मान्यता जो तीसरे लौकिक अहंकार में होती है, उसे अत्यन्त निकृष्ट कहा गया है। अहंकार से युक्त दुरात्मा प्राणी ही कष्टमय संसार रूपी वृक्ष का मूल कारण है। इससे प्रताड़ित प्राणी निरन्तर पतन की ओर बढ़ता है। इस तृतीय दुःखमय अहंभाव का परित्याग करके लम्बे समय से शुभ अहंभाव में संलग्न प्राणी शान्तचित्त होकर मुक्ति प्राप्त करते हैं॥ ९२-९४॥

प्रथमौ द्वावहंकारावङ्गीकृत्य त्वलौकिकौ। तृतीयाहंकृतिस्त्याज्या लौकिकी दुःखदायिनी ॥९५॥ अथ ते अपि संत्यज्य सर्वाहंकृतिवर्जितः। स तिष्ठति तथात्युच्चैः परमेवाधिरोहति॥ ९६॥

प्रारम्भिक दो अलौकिक अहंकारों को स्वीकार करके तीसरे दु:खप्रद लौकिक अहंकार को त्याग दे। साधन शक्ति की वृद्धि पर इन सब प्रकार के अहंकारों को त्यागकर निरहंकारिता ग्रहण करे, उसी से उत्तमपद की प्राप्ति सम्भव है॥ ९५-९६॥

भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते। मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः। ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि शृङ्खला॥ ९७॥ नानन्दं न निरानन्दं न चलं नाचलं स्थिरम्। न सन्नासन्न चैतेषां मध्यं ज्ञानिमनो विदुः॥ ९८॥ यथा सौक्ष्म्याच्चिदाभास्य आकाशो नोपलक्ष्यते। तथा निरंशश्चिद्भावः सर्वगोऽपि न लक्ष्यते॥ ९९॥

भोगेच्छा ही बन्धन कही गयी है और उसका परित्याग ही मोक्ष कहलाता है। मन की प्रगति का कारण उसका नष्ट होना है। मन का नाश सौभाग्यवान् पुरुषों की पहचान है। ज्ञानी पुरुषों के मन का नाश हो जाता है। अज्ञानी के लिए मन बन्धन का कारण है। ज्ञानी पुरुषों के लिए मन न तो आनन्द रूप है और न ही आनन्दरहित है। उनके लिए वह चल, अचल, स्थिर, सत्, असत् भी नहीं है अथवा इसके मध्य की स्थिति वाला भी नहीं है। अखण्ड चेतनसत्ता सर्वव्यापक होते हुए भी उसी प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होती, जिस प्रकार चित्त में आलोकित होने वाला आकाश सूक्ष्मता के कारण दिखाई नहीं देता॥ ९७-९९॥

सर्वसंकल्परहिता सर्वसंज्ञाविवर्जिता। सैषा चिदविनाशात्मा स्वात्मेत्यादिकृताभिधा॥ १००॥ आकाशशतभागाच्छा ज्ञेषु निष्कलरूपिणी। सकलामलसंसारस्वरूपैकात्मदर्शिनी॥ १०१॥ नास्तमेति न चोदेति नोत्तिष्ठति न तिष्ठति। न च याति न चायाति न च नेह न चेह चित्॥ १०२

सभी संज्ञाओं से रहित और संकल्पों से रहित यह चिदात्मा अविनाशी तथा स्वात्मा आदि नामों से जाना जाता है। वह समस्त निर्मल संसार के रूप में एकमात्र स्वयं को ही दर्शाता है। ज्ञानियों की दृष्टि में वह आकाश से भी सौ गुना स्वच्छ, निर्मल तथा निष्कलरूप है। वह चेतनसत्ता न तो कभी उदय होती है और न ही अस्त होती है, वह गमन-आगमन से रहित, न उठती और न स्थिर बैठी ही रहती है। वह न तो यहाँ और न ही वहाँ ही है॥ १००-१०२॥

सैषा चिदमलाकारा निर्विकल्पा निरास्पदा॥ १०३॥ आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत्। पश्चात्सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत्॥ १०४॥ अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्। महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः॥ १०५॥

वह चिदात्मा आश्रयहीन, विकल्परहित और शुद्धस्वरूप है। प्रारम्भ में शम-दम आदि गुणों द्वारा शिष्य के अन्त: का परिष्कार करना गुरु के लिए आवश्यक है, तत्पश्चात् उसे बोधस्वरूप यह ब्रह्मज्ञान प्रदान करे-यह सभी कुछ ब्रह्मरूप है और तुम निर्मल ब्रह्मरूप हो। अपरिपक्व बुद्धिवाले और अज्ञानी के समक्ष सब कुछ ब्रह्ममय है, ऐसा कहना उसे मानो घोर नरक में धकेलने की तरह है॥ १०३-१०५॥

[ऋषि कहते हैं कि प्रारम्भ में शिष्य-साधक को अभेद का उपदेश नहीं करना चाहिए। इसे पहले वाञ्छित-अवांञ्छित का भेद बताकर शम-दम आदि द्वारा चित्त शुद्धि करानी चाहिए। जब तक चित्त शुद्ध नहीं हो जाता, तब तक अभेद समझाने के प्रयास में वह अवाञ्छित का त्याग नहीं कर पाता। आज के उपदेशक ऐसी भूल करके साधक को कुपथ्य दे बैठते हैं।]

प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः। नास्त्यविद्यामलमिति प्राज्ञस्तूपदिशेद्गुरुः॥ १०६॥
सति दीप इवालोकः सत्यर्क इव वासरः। सति पुष्प इवामोदश्चिति सत्यं जगत्तथा॥ १०७॥

जिसकी भोग कामनाएँ क्षीण हो चुकी हैं, आकांक्षाएँ समाप्तप्राय हैं तथा बुद्धि जागरूक है, उसी को वेदान्त का उपदेश प्राज्ञ गुरु प्रदान करे। अविद्यारूपी विकार का कोई अस्तित्व नहीं। जैसे सूर्योदय होने पर दिवस, दीपक से प्रकाश तथा पुष्प से सुगन्धि की स्थिति का होना निश्चित है, वैसे ही चैतन्य पर संसार विद्यमान है॥ १०६-१०७॥

प्रतिभासत एवेदं न जगत्परमार्थतः। ज्ञानदृष्टौ प्रसन्नायां प्रबोधवितितोदये॥ १०८॥
यथावज्ज्ञास्यसि स्वस्थो मद्वाग्वृष्टिबलाबलम्। अविद्ययैवोत्तमया स्वार्थनाशोद्यमार्थया॥ १०९॥
विद्या संप्राप्यते ब्रह्मन्सर्वदोषापहारिणी। शाम्यति ह्यस्त्रमस्त्रेण मलेन क्षाल्यते मलम्॥ ११०॥
शमं विषं विषेणैति रिपुणा हन्यते रिपुः। ईदृशी भूतमायेयं या स्वनाशेन हर्षदा॥ १११॥

वास्तव में यह संसार अस्तित्व रहित है, यह तो मात्र आभासित होता है। जब तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि आवरण शून्य हो जायेगी और ज्ञान के प्रकाश से ओत-प्रोत होगी, ऐसे में तुम स्वयमेव अपने स्वरूप में स्थित हो जाओगे। तभी तुम्हें मेरे उपदेश की सत्यता का भली प्रकार बोध होगा। हे ब्रह्मन्! सब दोषों को दूर करने वाली विद्या की प्राप्ति स्वार्थभावना को विनष्ट करने के लिए प्रयत्नशील अविद्या द्वारा ही सम्भव होती है। अस्त्र द्वारा अस्त्र को निस्तेज किया जाता है और मल द्वारा मल धुलता है। विष द्वारा विष का शमन तथा शत्रु द्वारा शत्रु का हनन होता है। यह भूतमाया भी इसी प्रकार की है, जो अपने क्षय पर स्वयं हर्षित होती है॥ १०८-१११॥

न लक्ष्यते स्वभावोऽस्या वीक्ष्यमाणैव नश्यति। नास्त्येषा परमार्थेनेत्येवं भावनयेद्धया॥ ११२॥
सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना सा हि मुक्तिदा। भेददृष्टिरविद्येयं सर्वथा तां विसर्जयेत्॥ ११३॥

आसानी से इसका स्वरूप देखने में नहीं आता, परन्तु दिखाई देते ही यह नाश को प्राप्त होती है। भेद दृष्टि का होना ही अविद्या है, इसका सर्वथा त्याग करना ही कल्याणप्रद है। वस्तुतः माया का अस्तित्व है ही नहीं- सब कुछ ब्रह्ममय है, ऐसी दृढ़ निश्चय से की गई आन्तरिक भावना ही मोक्षप्राप्ति का उपाय है॥ ११२-११३॥

मुने नासाद्यते तद्धि पदमक्षयमुच्यते। कुतो जातेयमिति ते द्विज मास्तु विचारणा॥ ११४॥
इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा। अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि तत्पदम्॥ ११५॥
यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम्। तदस्या रोगशालाया यत्नं कुरु चिकित्सने॥ ११६॥

हे मुनिश्रेष्ठ! माया द्वारा जो नहीं पाया जाता, वह अक्षय पद के नाम से जाना जाता है। हे द्विज! इस माया की उत्पत्ति किससे हुई, इसके बारे में तुम्हें विचार नहीं करना चाहिए; अपितु विचार यही रहे कि किस प्रकार इसे नष्ट करूँ? इसके क्षीण होकर विनष्ट हो जाने पर तुम क्षयरहित पद को पा सकोगे। इसके प्रकट होने का लक्षण इसका स्वरूप और इसके नष्ट करने के उपाय पर विचार करते हुए इस रोग के मूलकारण के निदान का प्रयास करना चाहिए॥ ११४-११६॥

यथैषा जन्मदुःखेषु न भूयस्त्वां नियोक्ष्यति। स्वात्मनि स्वपरिस्पन्दैः स्फुरत्यच्छैश्चिदर्णवः॥ ११७॥
एकात्मकमखण्डं तदित्यन्तर्भाव्यतां दृढम्। किंचित्क्षुभितरूपा सा चिच्छक्तिश्चिन्मयार्णवे॥ ११८
तन्मयैव स्फुरत्यच्छा तत्रैवोर्मिरिवार्णवे। आत्मन्येवात्मना व्योम्नि यथा सरसि मारुतः॥ ११९॥
तथैवात्मात्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम्। क्षणं स्फुरति सा दैवी सर्वशक्तितया तथा॥ १२०॥

जिससे यह तुम्हें आवागमन के जन्मचक्र में बारम्बार न डाले और चित् रूपी समुद्र निर्मल आत्म - स्पन्दन से विभासित हो सके। यह चिदात्मा अविभाजित रूप वाली है, अपने भीतर इस प्रकार का दृढ़निश्चय करना चाहिए। यह चिदात्मा चिन्मय सागर में कुछ क्षोभयुक्त हो रही है। सागर में लहरों की तरह निर्मल चिन्मय लहरें उठ रही हैं। आकाश सरोवर में जिस प्रकार वायु स्वयमेव लहराती है, उसी प्रकार अपनी आत्मा में आत्मबल से आत्मा तरंगित होती है। सर्वशक्तिमान् सत्ता द्वारा इस प्रकार की दैवी स्फुरणा क्षण मात्र के लिए होती है॥ ११७-१२०॥

देशकालक्रियाशक्तिर्न यस्याः संप्रकर्षणे। स्वस्वभावं विदित्वोच्चैरप्यनन्तपदे स्थिता॥ १२१॥

जिस चेतनशक्ति को देश, काल और क्रियाशक्ति चलायमान करने में अक्षम है, वही चेतनशक्ति अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानकर उच्च अनन्त पद पर प्रतिष्ठित है॥ १२१॥

रूपं परिमितेनासौ भावयत्यविभाविता। यदैवं भावितं रूपं तया परमकान्तया॥ १२२॥
तदैवैनामनुगता नामसंख्यादिका दृशः। विकल्पकलिताकारं देशकालक्रियास्पदम्॥ १२३॥

यह चेतन शक्ति अज्ञान स्थिति में सीमित सी होकर रूप भावना वाली होती है। उस विलक्षण परमसत्ता में जब रूप की भावना समाविष्ट होती है। उस समय उसके साथ नाम और संख्या आदि उपाधियाँ जुड़ जाती हैं॥ १२२-१२३॥

चितो रूपमिदं ब्रह्मन्क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते। वासनाः कल्पयन्सोऽपि यात्यहंकारतां पुनः॥ १२४॥
अहंकारो विनिर्णेता कलङ्की बुद्धिरुच्यते। बुद्धिः संकल्पिताकारा प्रयाति मननास्पदम्॥१२५॥

हे ब्रह्मन्! चेतनशक्ति का वह रूप जो देश, काल और क्रिया का आश्रयरूप है तथा विकल्परूप को ग्रहण करने वाला है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। पुनः वही वासनात्मक चिन्तन से अहंकाररूप कहा जाता है। जब अहंकार भी निश्चयात्मक और दोषपूर्ण हो जाता है, तो बुद्धि कहलाता है। बुद्धि भी जब संकल्परूप में परिणत हो जाती है, तो मननशील मन का रूप धारण करती है॥ १२४-१२५॥

मनो घनविकल्पं तु गच्छतीन्द्रियतां शनैः। पाणिपादमयं देहमिन्द्रियाणि विदुर्बुधाः॥ १२६॥

मन के गहरे विकल्प में डूबने पर धीरे-धीरे इन्द्रियस्वरूप की झलक मिलती है। मेधावी पुरुष हस्तपाद युक्त स्थूल शरीर को ही इन्द्रिय मानते हैं॥ १२६॥

एवं जीवो हि संकल्पवासनारज्जुवेष्टितः। दुःखजालपरीतात्मा क्रमादायाति नीचताम्॥ १२७॥
इति शक्तिमयं चेतो घनाहंकारतां गतम्। कोशकारक्रिमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम्॥ १२८॥

संकल्प और वासना की रस्सी से बँधा हुआ जीव दुःख-जाल में फँसकर निरन्तर दुर्गति की ओर बढ़ता है। रेशम बनाने वाले कीड़े की तरह शक्तिमय चित् घनीभूत अहंभाव को प्राप्त करके स्वेच्छा से बन्धन में बँधता है॥ १२७-१२८॥

स्वयं कल्पिततन्मात्राजालाभ्यन्तरवर्ति च। परां विवशतामेति शृङ्खलाबद्धसिंहवत्॥ १२९॥

चित्शक्ति अपने ही द्वारा संकल्पित तन्मात्रा रूपी पाश में जकड़कर जंजीर से बँधे हुए सिंह के समान अत्यन्त लाचार हो जाती है॥ १२९॥

क्वचिन्मनः क्वचिद्बुद्धिः क्वचिज्ज्ञानं क्वचित्क्रिया। क्वचिदेतदहंकारः क्वचिच्चित्तमिति स्मृतम्॥
क्वचित्प्रकृतिरित्युक्तं क्वचिन्मायेति कल्पितम्। क्वचिन्मलमिति प्रोक्तं क्वचित्कर्मेति संस्मृतम्॥
क्वचिद्बन्ध इति ख्यातं क्वचित्पुर्यष्टकं स्मृतम्। प्रोक्तं क्वचिदविद्येति क्वचिदिच्छेति संमतम्॥

इसी आत्मा को कहीं मन, कहीं बुद्धि, कहीं ज्ञान, कहीं क्रिया, कहीं अहंकार और कहीं चित्तरूप में जाना जाता है। यही कहीं प्रकृति और कहीं माया कहलाती है। कहीं बन्धन तो कहीं पुर्यष्टक (सूक्ष्मशरीर) कहा जाता है। इसे कहीं अविद्या और कहीं इच्छा नाम से जाना जाता है॥ १३०-१३२॥

इमं संसारमखिलमाशापाशविधायकम् । दधदन्तःफलैर्हीनं वटधाना वटं यथा॥ १३३॥

यह आशा रूपी जाल का रचयिता सम्पूर्ण विश्व को वैसे ही धारण करता है, जैसे फलरहित वट का बीज वटवृक्ष को धारण करता है॥ १३३॥

चिन्तानलशिखादग्धं कोपाजगरचर्वितम्। कामाब्धिकल्लोलरतं विस्मृतात्मपितामहम्॥ १३४॥

यह मन चिन्तारूपी अग्निज्वाला से दग्ध हुआ, क्रोधरूपी अजगर द्वारा काटा गया और कामरूपी सागर के भँवर में फँसा हुआ है, यह अपने पितामह आत्मा को विस्मृत कर चुका है॥ १३४॥

समुद्धर मनो ब्रह्मन्मातङ्गमिव कर्दमात्। एवं जीवाश्रिता भावा भवभावनयाहिताः॥ १३५॥
ब्रह्मणा कल्पिताकारा लक्षशोऽप्यथ कोटिशः। संख्यातीताः पुरा जाता जायन्तेऽद्यापि चाभितः॥
उत्पत्स्यन्तेऽपि चैवान्ये कणौघा इव निर्झरात्। केचित्प्रथमजन्मानः केचिज्जन्मशताधिकाः॥१३७
केचिच्चासंख्यजन्मानः केचिद्द्वित्रिभवान्तराः। केचित्किन्नरगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः॥ १३८॥

हे ब्रह्मन्! कीचड़ (दल-दल) में फँसे हाथी के समान ही इस मन का उद्धार करो। जीव के आश्रित भाव ब्रह्म द्वारा लाखों; करोड़ों तथा असंख्य रूपों में कल्पित होकर पहले भी पैदा हो चुके हैं और आज भी पैदा हो रहे हैं तथा निर्झर से जलबिन्दुओं की उत्पत्ति के समान और भी उत्पन्न होते रहेंगे। कुछ प्रथम बार, कुछ सौ से अधिक बार, कुछ असंख्य बार जन्म धारण कर चुके हैं और किन्हीं के तो दो-तीन ही जन्म हुए हैं। कोई किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर एवं नागरूप में उत्पन्न हैं॥ १३५-१३८॥

केचिदर्केन्दुवरुणास्त्र्यक्षाधोक्षजपद्मजाः। केचिद्ब्राह्मणभूपालवैश्यशूद्रगणाः स्थिताः॥१३९॥
केचित्तृणौषधीवृक्षफलमूलपतङ्गकाः। केचित्कदम्बजम्बीरसालतालतमालकाः॥ १४०॥
केचिन्महेन्द्रमलयसह्यमन्दरमेरवः । केचित्क्षारोदधिक्षीरघृतेक्षुजलराशयः॥ १४१॥

कोई सूर्य, चन्द्र, वरुण, हरि, शिव एवं ब्रह्मरूप धारण किये हुए हैं। कुछ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि रूप में स्थित हैं। कोई औषधि, तृण, वृक्ष, फल, मूल एवं पत्ते के रूप में हैं। तो कोई जम्बीर (नींबू), कदम्ब, आम, ताड़ तथा तमाल पेड़ के रूप में हैं। कुछ महेन्द्र, मलय, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतों के रूप में विद्यमान हैं। कोई खारे सागर, कोई दूध, घृत, गन्ने के रस तथा जलराशि के रूप में स्थित हैं॥ १३९-१४१॥

केचिद्विशालाः ककुभः केचिन्नद्यो महारयाः। विहरन्त्युच्चकैः केचिन्निपतन्त्युत्पतन्ति च॥१४२॥
कन्दुका इव हस्तेन मृत्युनाऽविरतं हताः। भुक्त्वा जन्मसहस्राणि भूयः संसारसंकटे॥ १४३॥
पतन्ति केचिदबुधाः संप्राप्यापि विवेकताम्। दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तितः॥१४४॥
लीलयैव यदादत्ते दिक्कालकलितं वपुः । तदेव जीवपर्यायवासनावेशतः परम्॥ १४५॥
मनः संपद्यते लोलं कलनाकलनोन्मुखम्। कलयन्ती मनःशक्तिरादौ भावयति क्षणात्॥ १४६॥
आकाशभावनामच्छां शब्दबीजरसोन्मुखीम्। ततस्तद्घनतां यातं घनस्पन्दक्रमान्मनः॥ १४७॥
भावयत्यनिलस्पन्दं स्पर्शबीजरसोन्मुखम्। ताभ्यामाकाशवाताभ्यां दृढाभ्यासवशात्ततः॥ १४८॥

कोई द्रुतवेग वाली नदियों के रूप में प्रवाहित हैं, तो कोई विस्तृत दिशाओं का रूप धारण किये हुए हैं।

कुछ ऊपर उठते हैं,कुछ नीचे गिरते हैं तथा कुछ पुनः ऊर्ध्वगमन करते हैं। हाथ से गेंद को बार-बार गिराने-उछालने के समान कुछ मृत्यु द्वारा ताड़ित होकर आसमान में उठते और गिरते रहते हैं। अनेक ऐसे हैं जो विवेकवान् होकर भी शुभकर्म करते और हजारों जन्म ग्रहण कर लेने पर भी उनका संसार सागर से आवागमन नहीं मिटता। दिशा और काल से अनवच्छिन्न आत्मतत्त्व जब अपनी सामर्थ्य से शरीर धारण करता है,तब यही जीव वासना के वशीभूत होकर संकल्पों की ओर जाने वाले चञ्चल मन का रूप ग्रहण कर लेता है। वह संकल्प से युक्त मन:शक्ति क्षणमात्र में ही स्वच्छ आकाश की भावना करती है, उसमें शब्दबीज अंकुरित होने लगते हैं। तत्पश्चात् वही मन अधिक सघन होकर घने स्पन्दन के क्रम से वायुस्पन्दन की भावना में लीन होता है॥ १४२-१४८ ॥

शब्दस्पर्शस्वरूपाभ्यां संघर्षाज्जन्यतेऽनलः। रूपतन्मात्रसहितं त्रिभिस्तैः सह संमितम्॥ १४९ ॥
मनस्तादृग्गुणगतं रसतन्मात्रवेदनम्। क्षणाच्चेतत्यपां शैत्यं जलसंवित्ततो भवेत्॥ १५० ॥

उसमें स्पर्शरूप बीज के अंकुर फूटते हैं। उसके बाद दृढ़ अभ्यास द्वारा शब्द-स्पर्श रूप आकाश एवं वायु के टकराने से अग्नि उत्पन्न होती है। तीनों गुणों से ओत-प्रोत मन रस तन्मात्रा की अनुभूति करता हुआ क्षण भर में जल की ठण्डक का विचार करता है, इससे उसे जल का अनुभव होता है॥ १४९-१५० ॥

[आकाश में वायु की गतिशीलता से जो घर्षण क्रिया होती है। उससे विद्युत् विभव (इलैक्ट्रिकल चार्ज) के रूप में अग्नि का उद्भव होता है। वायु के घटकों (हाइड्रोजन+आक्सीजन) को अग्नि संयुक्त करके जल रूप देता है। विज्ञान यह क्रिया स्थूल पदार्थ रूप में ही समझ पाता है, ऋषि इसे सूक्ष्म तन्मात्राओं के रूप में भी अनुभव करते हैं।]

ततस्तादृग्गुणगतं मनो भावयति क्षणात्। गन्धतन्मात्रमेतस्माद्भूमिसंवित्ततो भवेत्॥ १५१ ॥
अथेत्थंभूततन्मात्रवेष्टितं तनुतां जहत्। वपुर्वह्निकणाकारं स्फुरितं व्योम्नि पश्यति॥ १५२ ॥

फिर चार गुणों से संयुक्त होकर मन अगले ही क्षण गन्ध तन्मात्रा का भाव कर लेता है, इससे उसे पृथ्वी का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार पाँच तन्मात्राओं से युक्त होकर वह मन अपनी सूक्ष्मता त्यागकर आसमान में अग्निकणों की शक्ल में स्फुरित होते हुए शरीर का दर्शन करता है॥ १५१-१५२ ॥

[ऋषि सूक्ष्म से क्रमशः स्थूल के विकास का चित्रण कर रहे हैं। यहाँ सूक्ष्म मनोमय से अपेक्षाकृत स्थूल अग्निकणों के रूप में प्राणमय कोश के विकास का क्रम बतलाया गया है। यह प्राणमय ही परिपक्व होकर स्थूल काया का रूप लेता है। ऋषि इस क्रिया की उपमा स्वर्णकणों को गलाकर वाञ्छित आकार में ढालने की क्रिया से दे रहे हैं।]

अहंकारकलायुक्तं बुद्धिबीजसमन्वितम्। तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदम्॥ १५३ ॥
तस्मिंस्तु तीव्रसंवेगाद्भावयद्भासुरं वपुः। स्थूलतामेति पाकेन मनो बिल्वफलं यथा॥ १५४॥

वह शरीर ही अहंकार कलाओं से युक्त और बुद्धि बीज से संयुक्त 'पुर्यष्टक' नाम से जाना जाता है, जो प्राणियों के हृदय कमल में मँडराने वाले भौंरे के सदृश है। पाक (परिपूर्णावस्था) की स्थिति में बिल्वफल की तरह ही तीव्र संवेगात्मक तेजस्वी शरीर की भावना किये जाने पर, मन स्थूल हो जाता है॥१५३-१५४॥

मूषास्थद्रुतहेमाभं स्फुरितं विमलाम्बरे। संनिवेशमथादत्ते तत्तेजः स्वस्वभावतः ॥ १५५॥
ऊर्ध्वं शिरः पिण्डमयमधः पादमयं तथा। पार्श्वयोर्हस्तसंस्थानं मध्ये चोदरधर्मिणम्॥ १५६ ॥
कालेन स्फुटतामेत्य भवत्यमलविग्रहम्। बुद्धिसत्त्वबलोत्साहविज्ञानैश्वर्यसंस्थितः॥ १५७॥

निर्मल आकाश में वह तेज, मूषा (सोना गलाने के पात्र) में पिघले हुए स्वर्ण के समान स्फुरित होकर अपनी प्रकृति के अनुसार गठित होने लगता है। ऊपर से वह सिर की तरह, नीचे से पैरों की तरह, पार्श्वों में

भुजाओं की तरह तथा मध्य में उदर की तरह समय आने पर अभिव्यक्ति को प्राप्त होकर पूर्ण शरीर के आकार को प्राप्त हो जाता है। बुद्धि, वीर्य, बल, उत्साह, विज्ञान और वैभव से सम्पन्न हो जाता है ॥१५५-१५७॥

स एव भगवान्ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः। अवलोक्य वपुर्ब्रह्मा कान्तमात्मीयमुत्तमम्॥ १५८॥
चिन्तामभ्येत्य भगवांस्त्रिकालामलदर्शनः। एतस्मिन्परमाकाशे चिन्मात्रैकात्मरूपिणि॥ १५९॥
अदृष्टपारपर्यन्ते प्रथमं किं भवेदिति। इति चिन्तितवान्ब्रह्मा सद्योजातामलात्मदृक्॥ १६०॥

वही शरीर सब लोकों का पितामह भगवान् ब्रह्मा बन जाता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान के प्रत्यक्ष द्रष्टा भगवान् ब्रह्माजी ने अपनी उत्तम और मनोहर छबि को निहारकर विचार किया कि इस चिन्मात्र आत्मरूपी परमाकाश का कोई आदि-अन्त दृष्टिगोचर नहीं होता। सर्वप्रथम क्या होना चाहिए? इस प्रकार का विचार करते ही तत्काल उन्हें पवित्र आत्मदृष्टि प्राप्त हुई॥ १५८-१६०॥

अपश्यत्सर्गवृन्दानि समतीतान्यनेकशः। स्मरत्यथो स सकलान्सर्वधर्मगुणक्रमात्॥ १६१॥
लीलया कल्पयामास चित्राः संकल्पतः प्रजाः। नानाचारसमारम्भा गन्धर्वनगरं यथा॥ १६२॥
तासां स्वर्गापवर्गार्थं धर्मकामार्थसिद्धये। अनन्तानि विचित्राणि शास्त्राणि समकल्पयत्॥ १६३॥

उन्हें अतीतकाल में हुई सृष्टि के असंख्य सर्ग दिखाई दिये, इससे समस्त धर्मों एवं गुणों के क्रम उनके स्मृति पटल पर उभर आये। उन्होंने माया से ही विभिन्न प्रकार के आचारों से समन्वित अनेक रूप-रंग की प्रजा को अन्तरिक्ष में गन्धर्वलोक के समान ही संकल्प-शक्ति से प्रादुर्भूत कर दिया। उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए उन्होंने अनेक चित्र-विचित्र शास्त्रों और स्वर्ग-नरकादि की कल्पना (रचना) कर दी ॥ १६१-१६३॥

विरञ्चिरूपान्मनसः कल्पितत्वाज्जगत्स्थितेः। तावत्स्थितिरियं प्रोक्ता तन्नाशे नाशमाप्नुयात्॥१६४
न जायते न म्रियते क्वचित्किंचित्कदाचन। परमार्थेन विप्रेन्द्र मिथ्या सर्वं तु दृश्यते॥ १६५॥
कोशमाशाभुजङ्गानां संसाराडम्बरं त्यज। असदेतदिति ज्ञात्वा मातृभावं निवेशय॥ १६६॥

ब्रह्मारूपी मन की कल्पना द्वारा संसार की स्थिति होने से ब्रह्मा के जीवन के साथ इसका (मन का) जीवन है। ब्रह्माजी के आयुष्य समाप्ति के साथ इस मन की भी समाप्ति है। हे द्विजश्रेष्ठ! वास्तव में न तो कोई कहीं जन्म ही ग्रहण करता है और न अवसान को ही प्राप्त होता है। यह सब मिथ्या है, जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यह प्रपंचात्मक संसार आशारूपी सर्पिणियों की पिटारी है, इसे त्यागना ही उचित है। इसे 'असत्' मानकर मातृभाव में स्थिर होना श्रेयस्कर है॥ १६४-१६६॥

गन्धर्वनगरस्यार्थे भूषितेऽभूषिते तथा। अविद्यांशे सुतादौ वा कः क्रमः सुखदुःखयोः॥ १६७॥
धनदारेषु वृद्धेषु दुःखयुक्तं न तुष्टता। वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह॥ १६८॥
यैरेव जायते रागो मूर्खस्याधिकतां गतैः। तैरेव भागैः प्राज्ञस्य विराग उपजायते॥ १६९॥

गन्धर्व नगर चाहे सुसज्जित हो या असुसज्जित, वह कैसा भी क्यों न दिखाई दे, वह तुच्छ ही है। उसी तरह अविद्या के अंशरूप ये पुत्र आदि भी प्रपंचरूप हैं, इनके प्रति आसक्ति होना दुःख का कारण है। धन-स्त्री आदि की वृद्धि के प्रति सुख-दुःख का भाव रखना निरर्थक है। इसमें सन्तोष मानने की कहीं गुंजायश नहीं। मोह-माया की वृद्धि होने पर इस लोक में कौन सुख-शान्ति का अधिकारी बना है। जिन पदार्थों की बहुतायत से अज्ञानी जन सुख अनुभव करते हैं, उन्हीं से ज्ञानी पुरुष विरक्त रहते हैं॥ १६७-१६९॥

अतो निदाघ तत्त्वज्ञ व्यवहारेषु संसृतेः। नष्टं नष्टमुपेक्षस्व प्राप्तं प्राप्तमुपाहर॥ १७०॥

अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम्। आगतानां च संभोग इति पण्डितलक्षणम्॥ १७१॥
शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्ध्वावलम्ब्य च। सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मा गृहाण विमुञ्च मा॥ १७२॥

हे तत्त्वज्ञानी निदाघ! सांसारिक व्यवहार में जिस-जिसका अभाव होता जाए, उसकी इच्छा न करे और जो-जो सहजता से उपलब्ध हो, उसे स्वीकार करे। अप्राप्त की इच्छा न करना और प्राप्त उपभोग्य सामग्री का उपयोग करना यही पाण्डित्य है। सत् और असत् के बीच शुद्ध पद को जानकर, उसका अवलम्बन ग्रहण कर के बाह्याभ्यन्तरिक दृश्यों को न तो ग्रहण करे और न ही त्यागे॥ १७०-१७२॥

यस्य चेच्छा तथाऽनिच्छा ज्ञस्य कर्मणि तिष्ठतः। न तस्य लिप्यते प्रज्ञा पद्मपत्रमिवाम्बुभिः॥१७३
यदि ते नेन्द्रियार्थश्रीः स्पन्दते हृदि वै द्विज। तदा विज्ञातविज्ञेयः समुत्तीर्णो भवार्णवात्॥१७४॥
उच्चैःपदाय परया प्रज्ञया वासनागणात्। पुष्पाद्गन्धमपोह्यारं चेतोवृत्तिं पृथक्कुरु॥ १७५॥

इच्छा और अनिच्छा को समान मानने वाले ज्ञानी पुरुष कर्म करते हुए भी उसमें उसी प्रकार लिप्त नहीं होते, जैसे कीचड़ में कमलपत्र पड़ा रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता। हे द्विज! यदि आपके हृदय में इन्द्रियजन्य विषय हलचल पैदा नहीं करते, तो आप ज्ञातव्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर संसार रूपी समुद्र से पार हो गये। विशिष्ट ज्ञानयुक्त होकर वासनारूपी फूलों की सुगन्ध से अपनी चित्तवृत्ति को जल्दी ही दूर कर लिया जाए, तो महान् पद की प्राप्ति हो सकती है॥ १७३-१७५॥

संसाराम्बुनिधावस्मिन्वासनाम्बुपरिप्लुते। ये प्रज्ञानावमारूढास्ते तीर्णाः पण्डिताः परे॥ १७६॥
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम्। सर्वमेवानुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः॥ १७७॥
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सत्तासामान्यरूपिणः। चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तत्संकल्पाङ्कुरं विदुः॥ १७८॥
लेशतः प्राप्तसत्ताकः स एव घनतां शनैः। याति चित्तत्वमापूर्य दृढं जाड्याय मेघवत्॥ १७९॥

वासनारूपी जल से युक्त इस संसार-सागर में जो सद्ज्ञान रूपी नौका पर आरूढ़ हैं, वे ज्ञानीजन इससे पार हो गये। सांसारिक प्रपञ्च के जानकार पुरुष सांसारिक व्यवहार का न तो परित्याग करते हैं और न ही उसकी कामना करते हैं; अपितु वे उनके प्रति अनासक्ति का ही व्यवहार करते हैं, ज्ञानियों ने संकल्प का अंकुरित होना ही अनन्त आत्मतत्त्वरूप चेतन का विषयासक्त होना माना है। वही संकल्प अल्पमात्र स्थान प्राप्त करके धीरे-धीरे सघन होते हैं; तत्पश्चात् वे मेघ की तरह सुदृढ़ होकर चित्ताकाश को ढककर जड़त्व भाव का संचार करते हैं॥ १७६-१७९॥

भावयन्ति चितिश्चैत्यं व्यतिरिक्तमिवात्मनः। संकल्पतामिवायाति बीजमङ्कुरतामिव॥ १८०॥
संकल्पनं हि संकल्पः स्वयमेव प्रजायते। वर्धते स्वयमेवाशु दुःखाय न सुखाय यत्॥ १८१॥
मा संकल्पय संकल्पं मा भावं भावय स्थितौ। संकल्पनाशने यत्तो न भूयोऽननुगच्छति॥१८२॥

बीज के अंकुरावस्था को प्राप्त करने के समान ही चेतन विषयों को स्वयं से अलग-सा मानते हुए वह संकल्पावस्था को प्राप्त होता है। संकल्प से उसकी क्रिया अपने आप ही प्रकट होती है और स्वयं ही शीघ्रातिशीघ्र वृद्धि को प्राप्त होती है। लेकिन वह दुःख का ही कारण बनती है, सुख देने वाली नहीं होती। चित्त में उत्पन्न होने वाली संकल्प क्रिया को रोके। उसमें पदार्थ भावना न करे, जिसने संकल्प को विनष्ट करने का निश्चय किया है,उसे पुनः उसका अनुगमन करना उचित नहीं॥ १८०-१८२॥

भावनाऽभावमात्रेण संकल्पः क्षीयते स्वयम्। संकल्पेनैव संकल्पं मनसैव मनो मुने॥ १८३॥

छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम्। यथैवेदं नभः शून्यं जगच्छून्यं तथैव हि ॥१८४ ॥
तण्डुलस्य यथा चर्म यथा ताम्रस्य कालिमा। नश्यति क्रियया विप्र पुरुषस्य तथा मलम् ॥१८५ ॥
जीवस्य तण्डुलस्येव मलं सहजमप्यलम्। नश्यत्येव न संदेहस्तस्मादुद्योगवान्भवेत्॥ १८६ ॥
इति महोपनिषत्॥

भावना का अभाव होते ही संकल्प स्वयमेव समाप्त हो जाता है। हे मुनिश्रेष्ठ! संकल्प द्वारा संकल्प को और मन द्वारा मन को नष्ट कर डाले। आकाश की तरह ही यह जगत् भी शून्य है। हे विप्र! जिस तरह ताँबे की कालिमा और धान का छिलका प्रयत्नपूर्वक क्रिया विशेष से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पुरुष का विकार रूपी दोष प्रयत्न से दूर हो जाता है, धान के छिलके के समान जीव पर मल-विकाररूपी दोष प्रकृतिगत हैं, तो भी उनका नष्ट होना निश्चित है-इसमें रत्तीभर सन्देह नहीं। अतएव आत्मस्वरूप में स्थित होकर उद्योगी पुरुष बनने का प्रयत्न करो, इसमें असम्भव जैसी स्थिति है ही नहीं॥ १८३-१८६ ॥

[चेतन के ऊपर चढ़े विकार की तुलना धान के छिलके से की गई है। विकार हटाये बिना चावल सेवन करने योग्य नहीं होता और पुनः फलित होने के लिए छिलका-विकार आवश्यक है। छिलका-विकार हटते ही वह ज्ञानी के लिए सेव्य है तथा पुनर्जन्म के चक्र की संभावना भी समाप्त हो जाती है।]

॥ षष्ठोऽध्यायः ॥

अन्तरास्थां परित्यज्य भावश्रीं भावनामयीम्। योऽसि सोऽसि जगत्यस्मिल्लीलया विहरानघ ॥१ ॥
सर्वत्राहमकर्तेति दृढभावनयानया । परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥ २ ॥

हे निष्पाप! अन्तरंग की आस्था एवं भावनायुक्त भावों की सम्पदा का परित्याग करके आप अपने वास्तविक रूप में संसार में सुखपूर्वक विचरण करें। सभी जगह स्वयं को अकर्त्ता मानें, इस सुदृढ़ भावना से परम अमृत नाम की समता (एकरसता) ही अवशिष्ट रहती है॥ १-२ ॥

खेदोल्लासविलासेषु स्वात्मकर्तृतयैकया । स्वसंकल्पे क्षयं याते समतैवावशिष्यते ॥ ३ ॥
समता सर्वभावेषु यासौ सत्यपरा स्थितिः। तस्यामवस्थितं चित्तं न भूयो जन्मभाग्भवेत् ॥४ ॥

दु:ख और उल्लास-विलास-ये मनुष्य द्वारा स्वत: उत्पादित हैं। अपने संकल्प के क्षय होने पर समता भाव ही अवशेष रहता है। सभी पदार्थों में समता की वास्तविक स्थिति को चित्त में निष्ठापूर्वक धारण कर लेने पर आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है॥ ३-४ ॥

अथवा सर्वकर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने। सर्वं त्यक्त्वा मनः पीत्वा योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ॥५ ॥
शेषस्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज। चिन्मनःकलनाकारं प्रकाशतिमिरादिकम्॥ ६ ॥
वासनां वासितारं च प्राणस्पन्दनपूर्वकम्। समूलमखिलं त्यक्त्वा व्योमसाम्यः प्रशान्तधीः ॥७ ॥

हे मुने! सभी कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का त्यागकर,मन का पान कर आप अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर हों। बाद में समाधिस्थ होकर जिससे आप त्याग किया करते हैं,उसे भी छोड़ दें। चेतन ने ही मानसिक संकल्प का आकार धारण कर रखा है,वही प्रकाश और अंधकार का रूप धारण किये हुए है। अत: प्राणस्पन्दन के साथ-साथ वासना का सम्पूर्ण परित्याग करके आकाश की तरह निर्मल और शान्त मन वाले बनें॥ ५-७ ॥

हृदयात्संपरित्यज्य सर्ववासनपङ्क्तयः । यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥ ८ ॥
दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं भ्रान्तं भ्रान्त्या दिशो दश। युक्त्या वै चरतो ज्ञस्य संसारो गोष्पदाकृतिः ॥९ ॥

सबाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च। इत आत्मा ततोऽप्यात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत्॥१०॥

मुक्त और शान्त वही है, जो हृदय से सभी वासनाओं को छोड़ देता है, वही परमेश्वर है। वह दसों दिशाओं में घूमते हुए भ्रान्तिवश द्रष्टव्य पदार्थों को देखने में सक्षम है। प्रयत्नपूर्वक आचरणशील ज्ञानीपुरुषों के लिए यह संसार गोष्पद (गाय का खुर) की तरह सहज ही पार उतरने योग्य बन जाता है। शरीर के बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे तथा सभी दिशाओं में सर्वत्र आत्मा ही विद्यमान है, उसके निमित्त यह संसार अनात्ममय नहीं होता॥८-१०

न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न तन्मयम्। किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं सच्चिन्मयं ततम्॥ ११॥
समस्तं खल्विदं ब्रह्म सर्वमात्मेदमाततम्। अहमन्य इदं चान्यदिति भ्रान्तिं त्यजानघ॥ १२॥
तते ब्रह्मघने नित्ये संभवन्ति न कल्पिताः। न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न जरास्ति न जन्म वा॥

हे निष्पाप! 'यह और है' 'मैं अन्य हूँ', इस प्रकार की भ्रान्त-धारणा का परित्याग कर दे। ऐसा कोई स्थल नहीं, जहाँ मेरा अस्तित्व नहीं, उस वस्तु का अभाव है, जो आत्मरूप न हो। मैं ऐसी कौन सी वस्तु की कामना करूँ? सब में सत् और चिन्मय तत्त्व संव्याप्त है। यह सब कुछ ब्रह्ममय ही है, सबमें आत्मा का ही विस्तार है। सर्वव्यापी और नित्य सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में काल्पनिक भावों की सम्भावना नहीं है। यह तत्त्व शोक, मोह, जरा और जन्म से रहित है॥ ११-१३॥

यदस्तीह तदेवास्ति विज्वरो भव सर्वदा। यथाप्राप्तानुभवतः सर्वत्रानभिवाञ्छनात्॥ १४॥
त्यागादानपरित्यागी विज्वरो भव सर्वदा। यस्येदं जन्म पाश्चात्त्यं तमाश्वेव महामते॥ १५॥
विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम्। विरक्तमनसां सम्यक्स्वप्रसङ्गादुदाहृतम्॥ १६॥
द्रष्टुर्दृश्यसमायोगात्प्रत्ययानन्दनिश्चयः। यस्तं स्वमात्मतत्त्वोत्थं निष्पन्दं समुपास्महे॥ १७॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह। दर्शनप्रत्ययाभासमात्मानं समुपास्महे॥ १८॥

आत्मतत्त्व में जो विद्यमान है, वही सब कुछ है। अतएव हमेशा सभी जगह किसी पदार्थ की अभिलाषा न करते हुए सहज में जो उपलब्ध हो, उसी का आसक्तिरहित होकर उपभोग करते हुए शोकरहित होकर रहना चाहिए। किसी वस्तु का न तो परित्याग और न ग्रहण- इस प्रकार सन्तापहीन होकर रहना चाहिए। हे महामते! जिस व्यक्ति का यह जन्म आखिरी है (अर्थात् आगे जिसका जन्म नहीं होना है), उसमें शीघ्र ही श्रेष्ठ प्रजाति की मुक्ता के समान निर्मल विद्या प्रविष्ट होती है। जिनके मन में वैराग्य भाव है, ऐसे ज्ञानियों द्वारा अपने अनुभवजन्य ज्ञान से यह अभिव्यक्त किया गया है कि द्रष्टा को दृश्य के माध्यम से जो निश्चयात्मिका सुखानुभूति होती है, वह आत्मतत्त्व से प्रकट हुआ स्पन्दन है, जिसकी हम उत्तम रीति से उपासना करते हैं॥ १४-१८॥

द्वयोर्मध्यगतं नित्यमस्तिनास्तीति पक्षयोः। प्रकाशनं प्रकाशानामात्मानं समुपास्महे॥ १९॥

वासनात्मक चिन्तन के साथ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीनों का परित्याग करके प्रकाशमान आत्मा के हम उपासक हैं। अस्ति-नास्ति के बीच विद्यमान प्रकाशों के भी प्रकाशक सनातन आत्मा के हम उपासक हैं॥

संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये। ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः॥ २०॥
उत्थितानुत्थितानेतानिन्द्रियारीन्पुनः पुनः। हन्याद्विवेकदण्डेन वज्रेणेव हरिर्गिरीन्॥ २१॥

हमारे हृदय में वह आत्मतत्त्व महेश्वर के रूप में विद्यमान है। जो पुरुष इस आत्मा को त्यागकर अन्य वस्तु की प्राप्ति हेतु यत्नशील हैं, वे अपने हाथ में स्थित कौस्तुभमणि को छोड़कर अन्य रत्न की अभिलाषा करते हैं। इन्द्र द्वारा वज्र से पर्वतों को तहस-नहस करने की तरह इन्द्रियरूपी शत्रु-चाहे बलवान् हों या कमजोर, उन्हें विवेकरूपी दण्डप्रहार से बारम्बार प्रताड़ित करना चाहिए॥ २०-२१॥

संसाररात्रिदुःस्वप्ने शून्ये देहमये भ्रमे । सर्वमेवापवित्रं तद्दृष्टं संसृतिविभ्रमम् ॥ २२ ॥
अज्ञानोपहतो बाल्ये यौवने वनिताहतः । शेषे कलत्रचिन्तार्तः किं करोति नराधमः ॥ २३ ॥
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि रम्याणां मूर्ध्न्यरम्यता । सुखानां मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥२४

संसाररूपी रात्रि के दु:स्वप्नरूप और सर्वथा शून्यवत् इस शरीररूपी भ्रम में जो भी कुछ मायाजाल का प्रसार देखा है, वह सभी पवित्रता से परे है। बाल्यकाल में अज्ञानता से ग्रसित रहा , युवाकाल में वनिता (स्त्री) के द्वारा आहत किया गया और अब अन्तिम अवस्था में यह अधम मनुष्य स्त्री-पुत्रादि की चिन्ता में आर्त्त (दु:खी) होकर आखिर अपना क्या उपकार कर सकता है ? सत् के मूर्द्धा (सिर) पर असत् का बोलबाला है। रमणीकता के ऊपर कुरूपता चढ़ी हुई है। सुखों के ऊपर दु:ख प्रतिष्ठित हैं। ऐसी स्थिति में मैं किस एक का अवलम्बन प्राप्त करूँ ?॥ २२-२४॥

येषां निमेषणोन्मेषौ जगतः प्रलयोदयौ । तादृशाः पुरुषा यान्ति मादृशां गणनैव का ॥ २५ ॥
संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते । तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥ २६ ॥

जिनके निमेष एवं उन्मेष से इस संसार का विनाश एवं उत्पत्ति निश्चित है। इस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष भी जब काल-कवलित हो जाते हैं, तब मुझ जैसे सामान्य पुरुषों की तो गणना ही क्या है। इस नश्वर जगत् को ही दु:खों की अन्तिम परिधि माना गया है, उसमें शरीर के पड़े रहने पर सुखास्वादन किस प्रकार हो सकता है ?॥ २५-२६ ॥

प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दुष्टश्चोरोऽयमात्मनः । मनो नाम निहन्म्येनं मनसास्मि चिरं हृतः ॥२७ ॥
मा खेदं भज हेयेषु नोपादेयपरो भव । हेयादेयदृशौ त्यक्त्वा शेषस्थः सुस्थिरो भव ॥ २८ ॥

मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ, मैं जाग गया हूँ। मेरी आत्मा को चुराने वाला दुष्ट चोर मेरा यह दूषित मन ही है। इसने न जाने मुझे कब अति दीर्घकाल से चुराकर अपने वश में कर लिया है। अब मैं इसे जान गया हूँ। अत: इसको विनष्ट कर डालूँगा। हेय पदार्थों के लिए दु:खित मत हो और उपादेय पदार्थों के प्रति आसक्त मत हो। हेय एवं उपादेय से सम्बन्धित दृष्टि का परित्याग करके शेष में प्रतिष्ठित होकर अवस्थित हो जाओ ॥ २७-२८ ॥

निराशता निर्भयता नित्यता समता ज्ञता । निरीहता निष्क्रियता सौम्यता निर्विकल्पता ॥ २९ ॥
धृतिर्मैत्री मनस्तुष्टिर्मृदुता मृदुभाषिता । हेयोपादेयनिर्मुक्ते ज्ञे तिष्ठन्त्यपवासनम् ॥ ३० ॥
गृहीततृष्णाशबरीवासनाजालमाततम् । संसारवारिप्रसृतं चिन्तातन्तुभिराततम् ॥ ३१ ॥
अनया तीक्ष्णया तात छिन्धि बुद्धिशलाकया । वात्ययेवाम्बुदं जालं छित्त्वा तिष्ठ तते पदे ॥३२ ॥

इस नश्वर जगत् की ओर से निराशा, निर्भयता,नित्यता,अभिज्ञता, समता, निष्कामता, निष्क्रियता,सौम्यता, धृति, निर्विकल्पता, मैत्री, सन्तोष, मृदुता एवं मृदुभाषण आदि गुण वासनारहित तथा हेय (हीन) और उपादेय (उपयोगी) के प्रभाव से रहित प्रज्ञावान् पुरुष में निवास करते हैं। तृष्णारूपिणी भीलनी के द्वारा विस्तीर्ण किये हुए वासना रूपी जाल से तुम आबद्ध किये गये हो, चिन्ता रूपी रश्मियों के द्वारा संसार रूपी मृग-मरीचिकात्मक जल चतुर्दिक् फैला दिया गया है। हे पुत्र निदाघ! जिस तरह बवण्डर से मेघ रूपी जाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही इस ज्ञानरूपी तीव्र बर्छी से उसे नष्ट करके अपने व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाओ ॥ २९-३२ ॥

मनसैव मनश्छित्त्वा कुठारेणेव पादपम् । पदं पावनमासाद्य सद्य एव स्थिरो भव ॥ ३३ ॥
तिष्ठन्गच्छन्स्वपञ्जाग्रन्निवसन्नुत्पतन्पतन् । असदेवेदमित्यन्तं निश्चित्यास्थां परित्यज ॥ ३४ ॥

दृश्यमाश्रयसीदं चेत्तत्सच्चित्तोऽसि बन्धवान्। दृश्यं संत्यजसीदं चेत्तदाऽचित्तोऽसि मोक्षवान्॥

जिस प्रकार वृक्ष द्वारा प्रदत्त बेंट का सान्निध्य पाकर कुल्हाड़ी वृक्ष को ही काट डालती है, उसी प्रकार मन के द्वारा ही मन को काटकर परम पावन अविनाशी पद को अतिशीघ्र प्राप्त करके स्थिर हो जाओ। खड़े रहते, चलते, जागते, सोते, निवास करते, बैठते, उठते तथा गिरते समय भी ये सभी कुछ असत् ही है; इस प्रकार का दृढ़ निश्चय रखो। दृश्य पदार्थों से आस्था का परित्याग कर दो; क्योंकि यदि दृश्य पदार्थ का आश्रय प्राप्त करते हो, तो चित्तमय होकर बन्धन में पड़ते हो तथा यदि दृश्य पदार्थ का पूरी तरह से त्याग करते हो, तो चित्त शून्यता के कारण मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी बनते हो॥ ३३-३५॥

नाहं नेदमिति ध्यायंस्तिष्ठ त्वमचलाचलः। आत्मनो जगतश्चान्तर्द्रष्टृदृश्यदशान्तरे॥ ३६॥
दर्शनाख्यं स्वमात्मानं सर्वदा भावयन्भव। स्वाद्यस्वादकसंत्यक्तं स्वाद्यस्वादकमध्यगम्॥ ३७॥
स्वदनं केवलं ध्यायन्परमात्ममयो भव। अवलम्ब्य निरालम्बं मध्येमध्ये स्थिरो भव॥ ३८॥

न मैं स्वयं हूँ और न ही यह संसार है, ऐसा चिन्तन करते हुए तुम पर्वत की भाँति अडिग होकर निवास करो। आत्मा एवं जगत् के मध्य द्रष्टा एवं दृश्य आदि इन दोनों स्थितियों के मध्य अपने आपको सदैव दर्शन स्वरूप आत्मा को ही मानते रहो। स्वादयुक्त पदार्थ एवं उस स्वाद युक्त पदार्थ के चखने वाले 'कर्त्ता' से भिन्न और इन दोनों के बीच में केवल स्वाद का चिन्तन करते हुए परमात्मस्वरूप होकर प्रतिष्ठित हो जाओ। बीच-बीच में अवलम्बन रहित स्थिति का आश्रय प्राप्त करके एक स्थान पर स्थित हो जाओ॥ ३६-३८॥

रज्जुबद्धा विमुच्यन्ते तृष्णाबद्धा न केनचित्। तस्मान्निदाघ तृष्णां त्वं त्यज संकल्पवर्जनात्॥३९॥ एतामहंभावमयीमपुण्यां छित्त्वाऽनहंभावशलाकयैव। स्वभावजां भव्यभवान्तभूमौ भव प्रशान्ताखिलभूतभीतिः॥ ४०॥ अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम्। नाहमेभिर्विना किंचिन्न मयैते विना किल॥ ४१॥ इत्यन्तर्निश्चयं त्यक्त्वा विचार्य मनसा सह। नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते॥ ४२॥ अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वतो लीलया क्रियाम्। यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो ब्रह्मन्प्रकीर्तितः॥ ४३॥

रज्जु (रस्सी) से बँधे हुए लोग तो मुक्त हो जाते हैं, लेकिन तृष्णा से आबद्ध प्राणि-समूह किसी के द्वारा भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कराये जा सकते। इसलिए हे पुत्र निदाघ! तुम संकल्प का त्याग करते हुए तृष्णा को छोड़ने का प्रयास करो। अहंभाव से रहित इस बर्छी के द्वारा अहंभाव से युक्त, स्वभावतः प्रादुर्भूत हुई पापमयी इस तृष्णा को काटकर समस्त प्राणिवर्ग को उत्पन्न होने वाले भय से निर्भय होकर सौन्दर्ययुक्त परमार्थ लोक में भ्रमण करो। मैं इन समस्त पदार्थों का हूँ और ये सभी मेरे जीवन हैं, इनके अभाव में मैं कुछ भी नहीं हूँ और न ही ये मेरे बिना कुछ हैं; अपने अन्तर्मन के द्वारा इस संकल्प को छोड़ दो। मन से विचार करो कि मैं इन पदार्थों का नहीं हूँ और ये पदार्थ मेरे नहीं हैं, इस प्रकार की दृढ़ भावना करो। स्थिर शान्त चित्त से चिन्तन करते हुए विचारपूर्वक अपने कार्यों को सामान्य ढंग से सम्पन्न करते हुए जो वासना का त्याग किया जाता है, हे ब्रह्मन्! वही वास्तविक ध्येय कहा गया है॥ ३९-४३॥

सर्वं समतया बुद्ध्या यः कृत्वा वासनाक्षयम्। जहाति निर्ममो देहं नेयोऽसौ वासनाक्षयः॥४४॥
अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः। तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४५॥

जो पुरुष समत्व बुद्धि के द्वारा सदैव के लिए वासना का परित्याग करके ममतारहित हो जाता है, उसी से शरीर के बन्धनों का भी त्याग किया जा सकता है। इस कारण वासना का त्याग ही परम कर्त्तव्य है। जो मनुष्य

अहंकार से युक्त वासना को सहजतापूर्वक त्याग करके, ध्येय वस्तु का सम्यक् रूपेण परित्याग करके प्रतिष्ठित होता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ४४-४५ ॥

निर्मूलं कलनां त्यक्त्वा वासनां यः शमं गतः । ज्ञेयं त्यागमिमं विद्धि मुक्तं तं ब्राह्मणोत्तमम् ॥४६ ॥

जो मनुष्य संकल्परूप वासना को मूलसहित छोड़कर परमशक्ति को प्राप्त होता है, उसी का वह श्रेष्ठ त्याग समझने योग्य है। उसी को मुक्त हुआ तथा ब्रह्मवेत्ताओं में अनुपम जानो ॥ ४६ ॥

द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेतौ विगतज्वरौ। आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतौ ॥ ४७ ॥
संन्यासियोगिनौ दान्तौ विद्धि शान्तौ मुनीश्वर। ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु ॥४८ ॥
सुषुप्तवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते । हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ॥ ४९ ॥
न हृष्यति ग्लायति यः परामर्शविवर्जितः । बाह्यार्थवासनोद्भूता तृष्णा बद्धेति कथ्यते ॥ ५० ॥

ये दोनों ही ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करते हैं, ये ही दोनों-सांसारिक ताप से मुक्त हैं। हे मुने! शम-दम से युक्त संन्यासी एवं योगी किसी भी काल में आ पड़ने वाले सुखों व दुःखों से युक्त नहीं होते। जिसके अन्तःकरण में इच्छा एवं अनिच्छा दोनों ही समाप्त हो गई है और जो सुषुप्तावस्था का आचरण करता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है; जो वासनाओं से रहित है, वह हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध, काम एवं कार्पण्य की दृष्टि से न तो आनन्दित होता है और न ही दुःखी होता है। जो तृष्णा बाहर के विषयों की वासना से प्रकट होती है, वह बन्धन डालने वाली कही गयी है ॥ ४७-५० ॥

सर्वार्थवासनोन्मुक्ता तृष्णा मुक्तेति भण्यते। इदमस्तु ममेत्यन्तमिच्छां प्रार्थनयान्विताम् ॥ ५१ ॥
तां तीक्ष्णशृङ्खलां विद्धि दुःखजन्मभयप्रदाम्। तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा ॥ ५२ ॥
संत्यज्य परमोदारं पदमेति महामनाः। बन्धास्थामथ मोक्षास्थां सुखदुःखदशामपि ॥ ५३ ॥
त्यक्त्वा सदसदास्थां त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत्। जायते निश्चयः साधो पुरुषस्य चतुर्विधः ॥५४ ॥
आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः । इत्येको निश्चयो ब्रह्मन्बन्धायासविलोकनात् ॥ ५५ ॥
अतीतः सर्वभावेभ्यो वालाग्रादप्यहं तनुः । इति द्वितीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम् ॥५६ ॥
जगज्जालपदार्थात्मा सर्व एवाहमक्षयः । तृतीयो निश्चयश्चोक्तो मोक्षायैव द्विजोत्तम ॥ ५७ ॥

जो तृष्णा सभी तरह के विषयों की वासना से रहित होती है, वह मोक्ष प्रदाता होती है। प्रार्थना के द्वारा किसी भी वस्तु के प्राप्ति की कामना ही दुःख, भय एवं जन्म प्रदात्री होती है। उसे घोर बन्धनस्वरूपा जानो। महात्माजन सत्-असत्रूप समस्त पदार्थों की इच्छा-आकांक्षा का हमेशा के लिए पूर्णरूपेण परित्याग करके परमउदार पद को प्राप्त करते हैं। बन्धन की सत्ता में आस्था एवं मोक्ष की आस्था तथा सुख-दुःख स्वरूपा सत् एवं असत् की आस्था-विश्वास का सदैव के लिए त्याग करके प्रशान्त महासागर के सदृश प्रतिष्ठित हो जाओ। हे महात्मन्! पुरुष के चार तरह के निश्चय होते हैं, जिनमें से प्रथम निश्चय यह है कि 'पैर से सिर तक मेरी संरचना मेरे माता-पिता के संयोग से हुई है। हे ब्रह्मन्! अब द्वितीय निश्चय सुनें। बन्धन में दुःखों का अवलोकन कर 'मैं सभी तरह के जागतिक-प्रपञ्चों-विकारों से परे बाल के अग्रभाग से भी अतिसूक्ष्म आत्मा हूँ।' यह निश्चय ज्ञानीजनों को मोक्ष दिलाने वाला कहा गया है। हे विप्रवर! तृतीय निश्चय यह है कि 'मैं सम्पूर्ण चराचर जगत् के पदार्थों की आत्मा हूँ, सर्वरूप एवं क्षयरहित हूँ' इस प्रकार से यह तीसरा निश्चय मनुष्य की मुक्ति का विशेष कारण होता है ॥ ५१-५७ ॥

अहं जगद्वा सकलं शून्यं व्योम समं सदा। एवमेष चतुर्थोऽपि निश्चयो मोक्षसिद्धिदः॥ ५८॥
एतेषां प्रथमः प्रोक्तस्तृष्णया बन्धयोग्यया। शुद्धतृष्णास्त्रयः स्वच्छा जीवन्मुक्ता विलासिनः॥५९
सर्वं चाप्यहमेवेति निश्चयो यो महामते। तमादाय विषादाय न भूयो जायते मतिः॥६०॥

अब चौथा निश्चय सुनें, 'मैं या जगत् सभी कुछ आकाश की भाँति शून्य है।' यह चतुर्थ निश्चय पुरुष के लिए मोक्ष प्रदान करने वाला कहा गया है। इनमें से प्रथम निश्चय बन्धन में बाँधने वाला तथा तृष्णा (बन्धनभूता) से युक्त है। शेष तीनों निश्चय स्वच्छ, शुद्ध तृष्णा (बन्धनरहित) से समन्वित होते हैं तथा इन तीनों निश्चयों से युक्त मनुष्य जीवन्मुक्त एवं आत्मतत्त्व में विलास करने वाले होते हैं। हे परमश्रेष्ठ ज्ञानवान् मुने! 'मैं ही सभी कुछ हूँ।' ऐसा जो दृढ़ निश्चय (संकल्प) है, उसे धारण करके बुद्धि पुनः विषाद को प्राप्त नहीं करती॥ ५८-६०॥

शून्यं तत्प्रकृतिर्माया ब्रह्मविज्ञानमित्यपि। शिवः पुरुष ईशानो नित्यमात्मेति कथ्यते॥ ६१॥
द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जगन्निर्माणलीलया। परमात्ममयी शक्तिरद्वैतैव विजृम्भते॥ ६२॥
सर्वातीतपदालम्बी परिपूर्णैकचिन्मयः। नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नावसीदति॥ ६३॥

आत्मा के नाम से कहा जाने वाला शून्य ही प्रकृति, माया, ब्रह्मज्ञान, पुरुष, ईशान, शिव, नित्य एवं ब्रह्मज्ञान आदि के नाम से जाना जाता है। परमात्मस्वरूपा अद्वैत शक्ति ही द्वैत एवं अद्वैत से प्रादुर्भूत हुए पदार्थों से संसार के निर्माण की लीला करके विकसित हो रही है। जो सभी तरह के मायाजाल से परे आत्मरूपी पद का आश्रय प्राप्त करके एक पूर्णरूपेण चिन्मयस्थिति में रहकर न कोई उद्योग करते हैं और न ही संतुष्ट होते हैं। इस जागतिक शोक में वे कभी नहीं पड़ते॥ ६१-६३॥

प्राप्तकर्मकरो नित्यं शत्रुमित्रसमानदृक्। ईहितानीहितैर्मुक्तो न शोचति न काङ्क्षति॥ ६४॥
सर्वस्याभिमतं वक्ता चोदितः पेशलोक्तिमान्। आशयज्ञश्च भूतानां संसारे नावसीदति॥ ६५॥

हे पुत्र! जो मनुष्य नित्य प्राप्त कर्मों को करता है, शत्रु एवं मित्र को सम्यक् दृष्टि से देखता है और इच्छा-अनिच्छा से मुक्ति प्राप्त कर चुका है, न विषाद करता है, न किसी भी तरह की वस्तुएँ पाने की आकांक्षा करता है, मृदुभाषी है, प्रश्नों के पूछने पर नम्रतापूर्वक उत्तर देता है तथा समस्त प्राणियों के भावों को जानने में सक्षम है; वही मनुष्य इस विश्व में विषाद को प्राप्त नहीं होता॥ ६४-६५॥

पूर्वां दृष्टिमवष्टभ्य ध्येयत्यागविलासिनीम्। जीवन्मुक्ततया स्वस्थो लोके विहर विज्वरः॥ ६६॥
अन्तःसंत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः। बहिःसर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः॥ ६७॥

प्रथम दृष्टि (आत्मदृष्टि) को लक्ष्य करके विलास की कामना का त्याग करके सांसारिक ताप से रहित होकर तथा अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होकर इस संसार में जीवन्मुक्त की तरह से भ्रमण करो। सभी प्रकार की आशाओं को हृदय से निकाल कर, वीतराग तथा वासना-रहित होकर बाह्य-मन से सभी सांसारिक रीति-रिवाजों का सम्यक् रूप से पालन करते हुए जगत् में तापविहीन होकर निरन्तर प्रवहमान रहो॥ ६६-६७॥

बहिःकृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः।
कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर शुद्धधीः॥ ६८॥
त्यक्ताहंकृतिराश्वस्तमतिराकाशशोभनः।
अगृहीतकलङ्काङ्को लोके विहर शुद्धधीः॥ ६९॥

बाह्य वृत्ति से बनावटी क्रोध का अभिनय करते हुए एवं हृदय से क्रोधरहित, बाहर से कर्त्ता एवं अन्दर से अकर्त्ता बने रहकर शुद्धभाव से जगत् में सर्वत्र रमण करो। अहं को त्यागकर शान्त चित्त हो, कलङ्क रूपी कालिमा से सदैव के लिए मुक्त हो जाओ। आकाश के सदृश शुद्ध-परिष्कृत जीवन प्राप्त करके पवित्र सद्बुद्धि को धारण करके लोक में विचरण करो॥ ६८-६९ ॥

उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान्। अन्तःसङ्गपरित्यागी बहिःसंभारवानिव॥ ७० ॥
अन्तर्वैराग्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः। अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम्॥ ७१ ॥
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्। भावाभावविनिर्मुक्तं जरामरणवर्जितम्॥ ७२ ॥
प्रशान्तकलनारम्यं नीरागं पदमाश्रय। एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया॥७३ ॥

उदार एवं उत्तम आचरण से सम्पन्न, सभी श्रेष्ठ आचार-विचारों का अनुगमन करते हुए अन्दर से आसक्ति-रहित होते हुए भी बाहर से सतत प्रयत्न करता रहे। अन्तःकरण में पूरी तरह से वैराग्य को धारण करते हुए बाहर से आशावादी बनकर श्रेष्ठ व्यवहार करे। यह मेरा अपना (मित्र) है और वह नहीं है, ऐसे निकृष्ट विचार क्षुद्र मनुष्यों के होते हैं। उदार चरित वालों के लिए तो समस्त वसुधा ही अपना परिवार है। जो व्यक्ति भाव-अभाव से मुक्ति प्राप्त कर सका है, जन्म-मृत्यु से परे है, जहाँ पर सभी संकल्प सम्यक् रूप से शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसे रागविहीन तथा रमणीक पद का अवलम्बन ग्रहण करो। यह पवित्र, निष्काम, दोषरहित ब्राह्मी स्थिति है॥ ७०-७३ ॥

आदाय विहरन्नेवं संकटेषु न मुह्यति। वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि॥ ७४ ॥
यत्संकल्पहरार्थं तत्स्वयमेवोन्नयन्मनः । वैराग्यात्पूर्णतामेति मनो नाशवशानुगम् ॥ ७५ ॥
आशया रक्ततामेति शरदीव सरोऽमलम् । तमेव भुक्तिविरसं व्यापारौघं पुनःपुनः ॥ ७६ ॥
दिवसे-दिवसे कुर्वन्प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते। चिच्चैत्यकलितो बन्धस्तन्मुक्तौ मुक्तिरुच्यते॥७७ ॥

इसको स्वीकार करके विहार करता हुआ मनुष्य विपत्तिकाल में भी मोहग्रस्त नहीं होता। शास्त्रों के ज्ञान से या फिर वैराग्य से और महान् सद्गुणों के द्वारा जिस संकल्प को विनष्ट किया जाता है, उससे मन स्वतः ही उन्नतावस्था को प्राप्त होने लगता है। निराशा के वश में हुआ जो मन वैराग्य के द्वारा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, वही आशान्वित होने पर शरत्कालीन ऋतु में स्वच्छ सरोवर की भाँति राग युक्त हो जाता है; किन्तु भोगों से विरक्त हुए मन को बार-बार प्रत्येक दिन रागादि व्यापारों में डालते हुए ज्ञानी पुरुष लज्जित क्यों नहीं होते? चित् एवं विषय का योग ही बन्धन कहलाता है। उस योग से छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष कहलाता है॥ ७४-७७ ॥

चिदचैत्या किलात्मेति सर्वसिद्धान्तसंग्रहः। एतन्निश्चयमादाय विलोकय धियेद्धया॥ ७८ ॥
स्वयमेवात्मनात्मानमानन्दं पदमाप्स्यसि। चिदहं चिदिमे लोकाश्चिदाशाश्चिदिमाः प्रजाः ॥ ७९ ॥
दृश्यदर्शननिर्मुक्तः केवलामलरूपवान्। नित्योदितो निराभासो द्रष्टा साक्षी चिदात्मकः ॥ ८० ॥

निश्चय पूर्वक विषयरहित चित् को ही आत्मा कहा गया है, यही समस्त वेदान्त-सिद्धान्त का सार है। इस विचार को सत्य मानकर प्रदीप्त अन्तःकरण के द्वारा स्वयमेव अपने आप को देखो। इसमें असीम आनन्द पद की प्राप्ति होगी। मैं चित् स्वरूप हूँ। ये समस्त लोक चित् हैं, दिशाएँ एवं ये सभी प्राणि-समुदाय भी चित् स्वरूप हैं। दृश्य एवं दर्शन से छुटकारा प्राप्त करके, मात्र परिष्कृत स्वरूप वाला साक्ष्यरूप चिदात्मा आभासरहित एवं नित्य प्रादुर्भूत होकर द्रष्टा बन रहा है॥ ७८-८० ॥

चैत्यनिर्मुक्तचिद्रूपं पूर्णज्योतिःस्वरूपकम्। संशान्तसर्वसंवेद्यं संविन्मात्रमहं महत्॥ ८१ ॥

संशान्तसर्वसंकल्पः प्रशान्तसकलैषणः। निर्विकल्पपदं गत्वा स्वस्थो भव मुनीश्वर॥ ८२॥

मैं विषय वासनाओं से मुक्त होकर पूर्णरूपेण ज्योतिरूप होकर समस्त संवेदना से पूरी तरह से मुक्त होकर चित्स्वरूप और महान् संवित् (ज्ञानमय) हूँ। हे मुने! सभी संकल्पों को पूर्णरूपेण शान्त करके, सभी कामनाओं को त्यागकर निर्विकल्प पद में प्रविष्ट होकर आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ ८१-८२॥

य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणो नित्यमधीते। अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति। अनुपनीत उपनीतो भवति। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सूर्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वैर्देवैरनुध्यातो भवति। स सर्वक्रतुभिरिष्टवान्भवति। गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। इतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आचक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति। आसप्तमान्पुरुषयुगान्पुनाति। इत्याह भगवान्हिरण्यगर्भः। जप्येनामृतत्वं च गच्छतीत्युपनिषत्॥८३॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण इस महोपनिषद् का प्रतिदिन पाठ करता है, वह यदि अश्रोत्रिय होता है, तो श्रोत्रिय हो जाता है। यदि वह उपनीत नहीं है, तो उपनीत (सदृश) हो जाता है। वह अग्नि के समान पवित्र होता है, वायु की भाँति परिष्कृत तथा वह सोमपूत और सत्यपूत हो जाता है। वह सर्वथा पूर्णशुद्ध हो जाता है। वह समस्त देवों में सुपरिचित हो जाता है। उसे सभी तीर्थ-स्थलों के स्नान का फल प्राप्त हो जाता है। वह सभी यज्ञों का अनुष्ठान संकल्प कर लेने में समर्थ हो जाता है। सहस्रों गायत्री महामन्त्र के जप का फल उसे इस उपनिषद् के अध्ययन से मिल जाता है। सहस्रों इतिहास-पुराण एवं रुद्र पाठ का फल उसे प्राप्त हो जाता है। दस सहस्र प्रणव (ओंकार) के जप का फल उसे प्राप्त हो जाता है। जहाँ तक उसकी दृष्टि जाती है, वहाँ तक उस पंक्ति को वह पवित्र कर देता है। भगवान् हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ने कहा है कि इस (उपनिषद्) का जप करने मात्र से अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है। यही इस उपनिषद् का रहस्य है॥ ८३॥

ॐ आप्यायन्तु ....इति शान्तिः ॥

॥ इति महोपनिषत्समाप्ता॥

॥ योगकुण्डल्युपनिषद् ॥

यह योगपरक उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम वायुजय (प्राणायाम सिद्धि) के तीन उपाय- १. मिताहार २. आसन एवं ३. शक्तिचालिनी मुद्रा- बताये गये हैं। तदुपरान्त सरस्वती चालन, प्राणायाम के भेद-सूर्यभेदी,उज्जायी,शीतली,भस्त्रिका आदि, तीन बन्ध-मूलबन्ध,उड्डियान बन्ध तथा जालन्धर बन्ध,योगाभ्यास के विघ्न और उनसे बचाव,योगाभ्यास से कुण्डलिनी जागरण,तीन ग्रन्थियों(ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि तथा रुद्रग्रन्थि)का भेदन करके कुण्डलिनी का सहस्रार चक्र में प्रवेश, प्राणादि का शिवतत्त्व में विलीन होना,समाधि अवस्था में सर्वत्र चैतन्य तत्त्व की अनुभूति और समाधियोग जैसे विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय का शुभारम्भ खेचरी मुद्रा के विशद विवेचन से हुआ है। जिसमें खेचरी का स्वरूप, उसकी फलश्रुति,मन्त्र जप से खेचरी की सिद्धि,खेचरी का अभ्यास क्रम आदि का विस्तृत वर्णन है। तृतीय अध्याय में खेचरी मेलन (खेचरी सिद्धि) का मन्त्र उल्लिखित हुआ है,तदुपरान्त अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा के दृष्टान्त से साधक की दृष्टि का उल्लेख है। इसके बाद प्राणायाम के अभ्यास से विराट् के रूप की उत्पत्ति (सिद्धि),अभ्यास के बिना आत्मा का प्रकाश असम्भव, सद्गुरु के उपदेश से ब्रह्म का ज्ञान, ब्रह्म के विविध अधिष्ठान(वाक् वृत्ति,विश्वादि प्रपंच),परात्परब्रह्म का स्वरूप,ब्रह्म प्राप्ति का उपाय- ध्यान तथा अन्त में जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार योग के सभी प्रमुख विषयों को प्रस्तुत करते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः। तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः ॥ १ ॥

चित्त (की चंचलता) के दो कारण हैं, वासना अर्थात् पूर्वार्जित संस्कार एवं वायु अर्थात् प्राण; इन दोनों में से एक का भी निरोध हो जाने पर दोनों समाप्त (निरुद्ध) हो जाते हैं ॥ १ ॥

तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा। मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ॥ २ ॥

दोनों में सबसे पहले वायु अर्थात् प्राण पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। प्राणों पर विजय प्राप्त करने के तीन साधन हैं— १. मिताहार २. आसन एवं ३. शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास ॥ २ ॥

एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम् । सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ॥ ३ ॥
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते। आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा ॥ ४ ॥

हे गौतम! अब तुम्हें इनका (मिताहार का) लक्षण कहता हूँ, सादर (ध्यानपूर्वक) सुनो। सबसे पहले साधक को चाहिए कि वह स्निग्ध एवं मधुर भोजन (आधा पेट) करे, (उसका आधा भाग पानी) एवं चौथाई भाग (हवा के लिए) खाली रखे। इस तरह से शिव (कल्याण) के निमित्त भोजन करने को मिताहार कहते हैं। (प्राणजय के लिए प्रमुख) आसन दो कहे गये हैं—पहला है पद्मासन, दूसरा है वज्रासन ॥ ३-४ ॥

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा। पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५ ॥

दोनों पैरों की जंघाओं पर एक दूसरे के ऊपर तलवों को सीधा (ऊपर की ओर) करके रखने से सभी पापों का विनाश करने वाला पद्मासन होता है ॥ ५ ॥

वामाङ्घ्रिमूलकन्दाधो ह्यन्यं तदुपरि क्षिपेत्। समग्रीवशिरःकायो वज्रासनमितीरितम्॥ ६ ॥

गर्दन, सिर एवं शरीर को एक सीध में रखकर बायें पैर की एड़ी को सीवन (योनि) स्थान में तथा दायें पैर की एड़ी उसके ऊपर लगाकर बैठने को वज्रासन कहा जाता है॥ ६॥

[वैसे तो यह लक्षण सिद्धासन का है, परन्तु हठयोग प्रदीपिका जैसे ग्रन्थों में भी इसे वज्रासन कहा गया है; जबकि वर्तमान में दोनों घुटने मोड़कर दोनों एड़ियों पर बैठने की स्थिति 'वज्रासन' कही जाती है।]

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्‌बुधः। स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते॥ ७

प्रमुख शक्ति कुण्डलिनी कही गई है, बुद्धिमान् साधक उसे चालन क्रिया के द्वारा नीचे से ऊपर दोनों भृकुटियों के मध्य ले जाता है, इसी क्रिया को शक्तिचालिनी कहते हैं॥ ७॥

तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम्। प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत्॥८ ॥

मुख्य रूप से कुण्डलिनी चलाने (जगाने) के दो साधन कहे गये हैं, सरस्वती चालन एवं प्राणरोध (प्राणायाम)। प्राणों के निरोध के अभ्यास से लिपटी हुई कुण्डलिनी सीधी हो जाती है॥ ८॥

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते। अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती॥ ९ ॥

इस प्रकार पहले तुमको 'सरस्वती चालन' के बारे में बताता हूँ। प्राचीन काल के विद्वान् इस सरस्वती को अरुंधती भी कहते थे॥ ९॥

यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली। इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम्॥१० ॥

जिस समय इड़ा नाड़ी चल रही हो, उस समय दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर इसके (सरस्वती के) भली प्रकार संचालन करने से कुण्डलिनी स्वयं चलने (जाग्रत् होने) लगती है॥ १०॥

द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम्। विस्तीर्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः॥ ११ ॥

फिर उस नाड़ी को द्वादश अंगुल लम्बे और चार अंगुल चौड़े अम्बर (वस्त्र) के टुकड़े से लपेटे॥ ११॥

[यहाँ कुण्डलिनी नाड़ी (कन्दस्थान) को १२ अंगुल लम्बे और ४ अंगुल चौड़े वस्त्र से लपेटने का उल्लेख योग-साधना पद्धतियों के अनुकूल किया गया है। घेरंड संहिता तथा हठयोग प्रदीपिका (३.११३) में इसी तरह की बात कही गई है। घेरंड संहिता में इतने स्थान पर श्वेत-कोमल वस्त्र लपेटकर पूरे शरीर में भस्म मलने की बात है और हठयोग प्रदीपिका में उस स्थान को उतने परिमाण से लिपटे वस्त्र जैसा कहा गया है।]

अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्। स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनःपुनः॥ १२ ॥

तब दृढ़तापूर्वक दोनों नासा छिद्रों को अङ्गुष्ठ एवं तर्जनी से पकड़कर अपनी (इच्छा) शक्ति से पहले बायें, फिर दायें नासिका के छिद्र से बार-बार रेचक और पूरक करे॥ १२॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः। ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम्॥ १३ ॥

इस तरह निर्भय होकर दो मुहूर्त (= ४ घटी= ९६ मिनट) तक इसको चलाना चाहिए, साथ ही कुण्डलिनी में स्थित सुषुम्ना नाड़ी को किंचित् मात्र ऊपर खींचे॥ १३॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत्। जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥१४ ॥

इस तरह से (सरस्वती चालन क्रिया से) कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के मुख में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी हो जाती है। इसके साथ ही प्राण अपना स्थान छोड़कर सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है॥ १४॥

तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसंकोचने कृते। सरस्वत्याश्चालनेन वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत्॥१५ ॥

कण्ठ संकोचन के सहित पेट को ऊपर की ओर खींचकर इस सरस्वती चालन से वायु ऊर्ध्वगामी होकर वक्षस्थल से भी ऊपर चला जाता है॥ १५॥

सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने। कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत्॥ १६ ॥

सरस्वती चालन करते समय सूर्य नाड़ी (दाहिने स्वर) के द्वारा रेचक करते हुए कण्ठ संकोचन करने से (अधोगत) वायु वक्षस्थल से ऊपर की ओर गमन कर जाता है॥ १६॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम्। यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते॥ १७॥

इसलिए नियमित रूप से शब्दगर्भा (शब्दमयी) सरस्वती संचालन करना चाहिए अर्थात् उक्त 'सरस्वती चालन' क्रिया करनी चाहिए। इसका संचालन करने वाला योगी सभी प्रकार के रोगों से मुक्त हो जाता है॥ १७॥

गुल्मं जलोदरः प्लीहा ये चान्ये तुन्दमध्यगाः। सर्वे तु शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम्॥१८॥

इस शक्तिचालन क्रिया से जलोदर, गुल्म, प्लीहा एवं पेट के समस्त रोग निश्चित ही समाप्त हो जाते हैं॥

प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः। प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः॥ १९॥

अब प्राणों का निरोध अर्थात् प्राणायाम करने की विधि बतलाते हैं। शरीर में संचरण करने वाली वायु को प्राण कहा जाता है, उसे जब (प्राणायाम के द्वारा) स्थिर किया जाता है, तब उसे कुम्भक कहते हैं॥ १९॥

स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा। यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत्॥२०॥

यह कुम्भक दो प्रकार का बताया गया है- १. सहित तथा २. केवल। सहित कुम्भक का अभ्यास तब तक करते रहना चाहिए, जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाये॥ २०॥

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका। भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः॥२१॥

सूर्यभेदन,उज्जायी,शीतली और भस्त्रिका-ये चार कुम्भक के भेद 'सहित कुम्भक' कहलाते हैं॥ २१॥

पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते। धनुः प्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते॥ २२॥
पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे। बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम्॥ २३॥

जहाँ पर कंकड़-पत्थर आदि न हो, आस-पास घास, अग्नि, जल और शीत आदि न हो, पवित्र एवं एकान्त स्थान हो, वहाँ पर न अति नीचा, न अति ऊँचा, सुख देने वाला आसन बिछाकर बद्ध पद्मासन लगाकर सरस्वती चालन क्रिया करनी चाहिए॥ २२-२३॥

दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः। यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः॥ २४॥

श्वास द्वारा धीरे-धीरे दाहिनी नासिका से बाहरी वायु को खींचकर पर्याप्त मात्रा में उदर में भरे, तत्पश्चात् बायीं नासिका-इड़ा से रेचन करना चाहिए॥ २४॥

कपालशोधने वापि रेचयेत्पवनं शनैः। चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च॥ २५॥

कपालशोधन क्रिया में भी धीरे-धीरे वायु का रेचन करना चाहिए। इस प्रकार करने से चारों तरह के वातदोष तथा कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं॥ २५॥

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्। मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः॥ २६॥
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम्। पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः॥ २७॥
शीर्षोदितानलहरं गलश्लेष्महरं परम्। सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम्॥ २८॥
नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम्। गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्॥ २९॥

इस क्रिया का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए, सूर्यभेदन इसी क्रिया का नाम है। (उज्जायी प्राणायाम का का वर्णन) मुँह बंद रखते हुए दोनों नासा छिद्रों से वायु को धीरे-धीरे इस प्रकार खींचना चाहिए कि प्रवेश के साथ श्वास से ध्वनि होती रहे। इस प्रकार हृदय एवं कण्ठ तक वायु को भरे। पुनः पहले की तरह कुम्भक करके

बायें नासा छिद्र से रेचन करना चाहिए, इसके करने से सिर की गर्मी, गले का कफ दूर हो जाता है, जठराग्नि बढ़ती है, नाड़ी जलोदर तथा धातुरोग भी समाप्त हो जाते हैं। उज्जायी नामक इस कुम्भक को स्थिर रहते अथवा चलते-फिरते कभी भी करते रहना चाहिए॥ २६-२९॥

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु। शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः॥ ३०॥
गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम्। विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च॥

शीतली प्राणायाम में जिह्वा के द्वारा वायु को खींचकर पहले की तरह कुम्भक करके नासिका से वायु को धीरे-धीरे निकाले। इसके करने से प्लीहा, गुल्म,पित्त, ज्वर,तृषा आदि रोगों का शमन होता है॥ ३०-३१॥

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः। मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत्॥ ३२॥
यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः। वेगेन पूरयेत् किंचिद्धृत्पद्मावधि मारुतम्॥ ३३॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः। यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते॥ ३४॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः। यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत्॥ ३५॥
यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु। धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम्॥ ३६॥
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्। कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम्॥ ३७॥
कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम्। ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम्॥ ३८॥
गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम्। विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्॥ ३९॥

भस्त्रिका प्राणायाम के लिए पद्मासन में बैठकर शरीर को गर्दन सहित सीधा करके सर्वप्रथम मुख को बन्द करके नासिका के द्वारा वायु को बाहर निकाले। पुनः इस तरह तीव्रता के साथ वायु को खींचे कि वायु का स्पर्श कण्ठ, तालु, सिर एवं हृदय को मालूम पड़े। फिर उसका रेचन करके पुनः पूरक करे, इस तरह बार-बार वेगपूर्वक लुहार की धौंकनी की तरह वायु को खींचे एवं निकाले। इस प्रकार शरीरस्थ वायु को सावधानी के साथ चलाना चाहिए। जब थकान मालूम पड़े, तब दाहिने (सूर्य) स्वर से वायु को खींचकर तर्जनी को छोड़कर नासिका को कसकर पकड़कर वायु का कुम्भक करे, फिर बायें नासा(इड़ा)छिद्र से निकाल देना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से कण्ठ की जलन मिटती है एवं जठराग्नि की वृद्धि होती है। यह प्राणायाम सुख देने वाला, पुण्यकारी, पापनाशक तथा कुण्डलिनी को जगाने वाला है। सुषुम्ना नाड़ी के मुख पर जो (बाधक) कफ आदि रहता है, इसके अभ्यास से वह सब नष्ट हो जाता है तथा सत, रज, तम इन तीनों गुणों से उत्पन्न तीनों ग्रंथियों का भेदन करता है। इसलिए विशेष रूप से इस भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥३२-३९॥

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते। बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः॥ ४०॥

निष्पाप योगी को इन चारों प्रकार के प्राणायामों के कुम्भक के समय तीन प्रकार के बन्ध (मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध) भी लगाने चाहिए॥ ४०॥

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः। जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते॥ ४१॥

प्रथम को मूलबन्ध, द्वितीय को उड्डियान बन्ध और तीसरे को जालन्धर बन्ध कहते हैं। अब उनके लक्षण अर्थात् साधना की विधि कहते हैं॥ ४१॥

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्। आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते॥ ४२॥

शरीर के अधोभाग में विचरण करने वाले अपान वायु को, गुदा को संकुचित करके बलपूर्वक ऊपर उठाने की प्रक्रिया को मूलबन्ध कहते हैं॥ ४२॥

अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले। ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता॥ ४३॥
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्। तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा॥ ४४॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते। दण्डाहतभुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥ ४५॥

अपान वायु ऊर्ध्वगमन करके जब वह्निमण्डल से योग करता है, उस समय वायु से आहत होकर अग्नि बहुत तेज हो जाती है। तत्पश्चात् उष्ण स्वरूप वाले प्राण में अग्नि और अपान के मिल जाने पर, उसके प्रभाव से देहजन्य विकार जल जाते हैं। (इसके बाद) उस अग्नि से तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होकर प्रताड़ित की हुई सर्पिणी के समान फुंकारती हुई सीधी हो जाती है॥ ४३-४५॥

बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्। तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥४६॥

उस समय यह अग्नि (कुण्डलिनी) विवर में प्रवेश करने की तरह सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश कर जाती है, इसलिए इस मूलबन्ध का अभ्यास योगियों को सदैव करते रहना चाहिए॥ ४६॥

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः। बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः॥ ४७॥
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः। सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम्॥४८॥
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्। पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्धृदये गले॥ ४९॥
शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धिं निगच्छति। तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः॥ ५०॥

कुम्भक करके जब रेचक करते हैं, उससे पहले उड्डियान बन्ध किया जाता है, जिसके करने से यह प्राण सुषुम्ना नाड़ी के भीतर ऊर्ध्वगमन करता है, इसीलिए योगीजनों द्वारा यह 'उड्डीयाण' कहलाता है। इसके लिए वज्रासन में बैठकर पैरों पर दोनों हाथों को दृढ़ता पूर्वक रखे। जहाँ गुल्फ (टखना) रखा जाता है, उसके समीपस्थ कन्द को दबाते हुए, पेट को ऊपर की ओर खींचते हुए, गला एवं हृदय को भी तनाव देते हुए खींचना चाहिए, इस प्रकार प्राण धीरे-धीरे पेट की सन्धियों में प्रवेश कर जाता है, इससे पेट के समस्त विकार दूर हो जाते हैं। इसलिए इस क्रिया को निरन्तर करते रहना चाहिए॥ ४७-५०॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः। कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः॥ ५१॥

पूरक के अन्त में वायु को रोकने के लिए कण्ठ संकोचन क्रिया करते हैं, जिसे जालन्धर बन्ध कहते हैं॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते। मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥ ५२॥

मूलबन्ध के द्वारा अधोभाग में गुदा का संकोचन करके कण्ठ संकोचन अर्थात् जालन्धर बन्ध करे, बीच में (पेट में) उड्डियान बन्ध के द्वारा प्राण वायु को खींचना चाहिए। इस तरह प्राण को सब ओर से रोकने से वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी होता है॥ ५२॥

पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः। चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत्॥ ५३॥

पूर्व में बतायी गयी विधि से ठीक तरह से आसन पर बैठकर 'सरस्वती चालन' के द्वारा प्राणों का निरोध करना चाहिए॥ ५३॥

प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम्। प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा॥ ५४॥
विंशत्यलं तृतीयेऽह्नि पञ्चवृद्ध्या दिनेदिने। कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः॥५५॥

चारों प्रकार के कुम्भक को पहले दिन दस-दस बार किया जाता है, दूसरे दिन पन्द्रह-पन्द्रह बार कुम्भक करे। प्राणायाम के क्रम में तीसरे दिन बीस-बीस बार अभ्यास करे। इस प्रकार प्रतिदिन पाँच-पाँच संख्या में बढ़ाता चले। कुम्भक का अभ्यास तीनों बन्धों के साथ प्रतिदिन करना चाहिए॥ ५४-५५॥

दिवा सुप्तिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात्। बहुसंक्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः॥ ५६॥
विषमासनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात्। शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्यदि संयमी॥ ५७॥

दिन में सोना, रात्रि का जागरण, अतिमैथुन, मल एवं मूत्र के वेग को रोकना, ज्यादा चलना, आसनों का उचित ढंग से अभ्यास न करना, प्राणायाम की क्रिया में बहुत शक्ति लगाना तथा चिन्तित रहना-इन दोषों के कारण साधक शीघ्र रोगी हो जाता है॥ ५६-५७॥

योगाभ्यासेन मे रोग उत्पन्न इति कथ्यते। ततोऽभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्नमुच्यते॥ ५८॥
द्वितीयं संशयाख्यं च तृतीयं च प्रमत्तता। आलस्याख्यं चतुर्थं च निद्रारूपं तु पञ्चमम्॥ ५९॥
षष्ठं तु विरतिर्भ्रान्तिः सप्तमं परिकीर्तितम्। विषयं चाष्टमं चैव अनाख्यं नवमं स्मृतम्॥ ६०॥
अलब्धिर्योगतत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः। इत्येतद्विघ्नदशकं विचारेण त्यजेद्बुधः॥ ६१॥

मुझे योगाभ्यास के द्वारा रोग हो गया है, यदि कोई साधक यह कहकर अभ्यास बन्द कर दे, तो समझना चाहिए कि योगाभ्यास का यह पहला विघ्न है। दूसरा विघ्न साधना पर शंका करना अर्थात् विश्वास न होना, तीसरा विघ्न प्रमत्तता है, चौथा विघ्न आलस्य करना, पाँचवाँ विघ्न ज्यादा नींद लेना, छठवाँ विघ्न साधना से प्रेम न होना, सातवाँ विघ्न भ्रान्ति, आठवाँ विघ्न विषय-वासना में अनुरक्ति, नवाँ अनाख्य (अप्रसिद्धि या अनाम) और योग तत्त्व का प्राप्त न होना दसवाँ विघ्न है, इस प्रकार ये दस विघ्न हैं, इन पर विचार करके बुद्धिमान् साधक को इनका त्याग कर देना चाहिए॥ ५८-६१॥

प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो नित्यं सत्त्वस्थया धिया। सुषुम्ना लीयते चित्तं तथा वायुः प्रधावति॥६२॥

इसलिए नियमित रूप से सत्त्वमयी बुद्धि से विचार कर प्राणायाम करना चाहिए। इस प्रकार के चिन्तन से चित्त सुषुम्ना नाड़ी में लीन रहता है, जिसके कारण उसमें प्राणों का प्रवाह चलने लगता है॥ ६२॥

शुष्के मले तु योगी च स्याद्गतिश्चलिता ततः। अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्॥ ६३॥

मल शोधन होने के बाद जब प्राण प्रवाहित (गतिशील) होने लगे, तभी बलपूर्वक अपान को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए, उससे पहले नहीं॥ ६३॥

आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते। अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति॥ ६४॥

प्राण को ऊर्ध्वगामी बनाने की प्रक्रिया के लिए गुदा के आकुंचन की क्रिया को मूलबन्ध कहते हैं। इस क्रिया से अपान ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि के साथ संयुक्त होकर ऊपर की ओर चल देता है॥ ६४॥

प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम्। मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः॥
तेनाग्निना च संतप्ता पवनेनैव चालिता। प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्ना वदनान्तरे॥ ६६॥

प्राण के स्थान में जब वह अग्नि पहुँचती है और प्राण तथा अपान दोनों मिलकर कुण्डलिनी में मिलते हैं, उस समय उसकी गर्मी से तप्त होकर एवं वायु के बारम्बार दबाव से कुण्डलिनी सीधी होकर सुषुम्ना के मुँह में प्रवेश कर जाती है॥ ६५-६६॥

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम्। सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत्॥ ६७॥
विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता। ऊर्ध्वं गच्छति यच्चान्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम्॥६८॥

तब यह कुण्डलिनी शक्ति रजोगुण से उत्पादित ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करके विद्युत् शिखा की भाँति सुषुम्ना के मुख में ऊर्ध्वगमन करती है-प्रवेश करती है। (वहाँ से) शीघ्र ही हृदयचक्र में स्थित विष्णुग्रन्थि का भेदन कर उसके भी ऊपर रुद्रग्रन्थि (आज्ञा चक्र) में पहुँच जाती है॥६७- ६८॥

भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम्। अनाहताख्यं यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम्॥६९॥

भृकुटियों के मध्य (आज्ञाचक्र) का भेदन करके यह चन्द्र स्थान में पहुँच जाती है, जहाँ पर षोडश दल वाला अनाहतचक्र स्थित है॥ ६९॥

तत्र शीतांशुसंजातं द्रवं शोषयति स्वयम्। चलिते प्राणवेगेन रक्तं पित्तं रवेर्ग्रहात्॥ ७०॥

यह (कुण्डलिनी शक्ति) वहाँ पर चन्द्रमा के द्वारा निःसृत द्रव को सुखाकर प्राणवायु के वेग से गतिशील होकर, सूर्य से मिलकर, रक्त और पित्त को ग्रहण कर लेती है॥ ७०॥

यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धश्लेष्मद्रवात्मकम्। तत्र सिक्तं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम्॥ ७१॥

वहाँ चन्द्र स्थान में जाकर जहाँ शुद्ध श्लेष्मा द्रवस्वरूप रहता है,उस रस पदार्थ को सोखकर उसे गर्म कर देती है, इस तरह वहाँ शीतलता नहीं रह जाती ॥ ७१॥

तथैव रभसा शुक्लं चन्द्ररूपं हि तप्यते। ऊर्ध्वं प्रवहति क्षुब्धा तदैवं भ्रमतेतराम्॥ ७२॥

तब यह शुक्ल रूप चन्द्रमा को शीघ्रता से तपा देती है तथा क्षुब्ध होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है॥ ७२॥

तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्ठं विषयेषु यत्। तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थः स्वात्मरतो युवा॥७३॥

उस स्थिति में उसे अमृतरस का स्वाद मिल जाता है, इसलिए जो मन पहले बाहरी विषयों में भोगरत रहता था, वह अब अन्तर्मुखी होकर स्वयं में स्थित स्वकीय आत्मा में आनन्द की अनुभूति करने लगता है॥७३॥

प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली। क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते॥७४॥

इस तरह से यह कुण्डलिनी शक्ति अष्टधा प्रकृति (पंच तत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) से गमन करते हुए शिव से एकाकार होती है और उन्हीं में विलीन हो जाती है॥ ७४॥

इत्यधोर्ध्वरजः शुक्लं शिवे तदनु मारुतः। प्राणापानौ समौ याति सदा जातौ तथैव च॥ ७५॥

इस प्रकार अधोभाग स्थित रज व ऊर्ध्व स्थित शुक्ल(शुक्र),वायु के वेग से शिव में मिल जाते हैं तथा प्राण व अपान भी शिव में विलीन हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें समान रूप से उत्पन्न होने वाला कहा गया है॥ ७५॥

भूतेऽल्पे चाप्यनल्पे वा वाचके त्वतिवर्धते। धावयत्यखिला वाता अग्निमूषाहिरण्यवत्॥ ७६॥

जिस प्रकार अग्नि की गर्मी से स्वर्ण गलकर फैल जाता है, ठीक उसी प्रकार यह भौतिक शरीर चाहे छोटा हो या बड़ा (कुण्डलिनी की) उष्णता पाकर वह दिव्यशक्ति पूरे शरीर में फैल जाती है॥ ७६॥

आधिभौतिकदेहं तु आधिदैविकविग्रहे। देहोऽतिविमलं याति चातिवाहिकतामियात्॥ ७७॥

जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम्। तस्यातिवाहिकं मुख्यं सर्वेषां तु मदात्मकम्॥७८॥

इस दिव्यशक्ति (कुण्डलिनी) के प्रभाव से यह आधिभौतिक शरीर आधिदैविक शरीर के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा शरीर अत्यन्त पवित्र होकर सूक्ष्म शरीर की तरह हो जाता है। वह जड़ता भाव को छोड़कर विशुद्ध चिन्मय स्वरूप हो जाता है, जबकि शेष मनुष्य अज्ञानग्रस्त ही बने रहते हैं॥ ७८॥

जायाभवविनिर्मुक्तिः कालरूपस्य विभ्रमः। इति तं स्वरूपा हि मती रज्जुभुजङ्गवत्॥ ७९॥

मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते। रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंसोर्भ्रमतो यथा॥ ८०॥

उस साधक को अपने 'स्व' रूप की जानकारी हो जाती है, तब वह भव-बन्धन अर्थात् आवागमन से मुक्त हो जाता है, वह काल के पाश से मुक्त हो जाता है, रस्सी में सर्प, सीपी में चाँदी एवं स्त्री में पुरुष के भ्रम की तरह अपने स्वरूप का ज्ञान होने पर साधक को अपने शरीर की नश्वरता का बोध हो जाता है॥ ७९-८०॥

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि। स्वापाव्याकृतयोरैक्यं स्वप्रकाशचिदात्मनोः॥ ८१॥

इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड तथा सूक्ष्म शरीर एवं सूत्रात्मा के एकाकार होने पर अपनी आत्मा और परम चैतन्य स्वप्रकाशित परमात्मा की एकता का ज्ञान हो जाता है ॥ ८१ ॥

शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा। मूलकन्दं फणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत् ॥८२ ॥
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता। पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः ॥ ८३ ॥
वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन्कुम्भकाविष्टमानसः। वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ॥ ८४ ॥

कमल के नाल की तरह कुण्डलिनी शक्ति होती है तथा कमलकन्द की तरह ही मूलकन्द को फणाग्र से देखकर,मुँह में अपने पुच्छ भाग को डालकर ब्रह्मरंध्र(सुषुम्ना नाड़ी)के द्वार को ढककर वह सुप्त पड़ी रहती है। इसके जागरण के लिए पद्मासन में बैठकर गुदा को ऊपर की ओर खींचकर कुम्भक करते हुए वायु को ऊपर की ओर ले जाकर वायु के आघात से स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित अग्नि को प्रज्वलित करना चाहिए ॥८२-८४ ॥

ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट्। ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः ॥ ८५ ॥
रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट्। सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥ ८६ ॥
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारिणी ॥ ८७ ॥ इति ॥

ऐसा करने से अग्नि और वायु के प्रहार से सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रन्थियों का भेदन करके षट्चक्र का भेदन करती हुई सहस्रार कमल में पहुँच जाती है तथा यहाँ वह शक्ति के रूप में शिव में मिलकर आनन्द प्राप्त करती है। यह अवस्था परमानन्ददायी मुक्तिरूप होती है ॥ ८५-८७ ॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथाहं संप्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम्। यथा विज्ञानवानस्या लोकेऽस्मिन्नजरोऽमरः ॥१ ॥

अब खेचरी विद्या का वर्णन करते हैं, जिसे जान लेने के बाद व्यक्ति अजर-अमर हो जाता है ॥ १ ॥

मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने। बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ॥ २ ॥

जो मनुष्य जरा, मृत्यु और रोगों से ग्रसित है, वह दृढ़ निश्चय करके खेचरी विद्या का अभ्यास करे ॥ २ ॥

जरामृत्युगदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले। ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥ ३ ॥
तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत्। दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥ ४ ॥

बुढ़ापा, मृत्यु और रोगों का विनाश करने वाली इस खेचरी को इस पृथ्वी पर जो व्यक्ति ग्रन्थों के द्वारा, उनके भावों के द्वारा जानकर अभ्यास करते हों, इसका ज्ञान रखते हों, उन्हें समर्पित होकर, गुरु मानकर इसकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यह खेचरी विद्या तथा उसका अभ्यास दोनों दुर्लभ हैं ॥ ३-४ ॥

अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिध्यति। अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम् ॥ ५ ॥

इस खेचरी विद्या का अभ्यास एवं मेलन (साधना) साथ-साथ सिद्ध होता है, केवल अभ्यास करने से 'मेलन' (सिद्धि) की प्राप्ति नहीं हो पाती ॥ ५ ॥

[खेचरी सिद्धि के लिए क्रिया के अभ्यास के साथ-साथ मेलन प्रयोग करने का विधान है। मेलन के अन्तर्गत मंत्र अथवा गुरु के माध्यम से प्राण शक्ति को शिवशक्ति के साथ संयुक्त करने का विधान कहा गया है। आगे (३.१ में) मेलन मंत्र भी दिया गया है।]

अभ्यासं लभते ब्रह्मञ्जन्मजन्मान्तरे क्वचित्। मेलनं तत्तु जन्मनां शतान्तेऽपि न लभ्यते ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन्! किसी जन्म में अभ्यास तो मिल भी जाता है, पर मेलन सैकड़ों जन्मों में भी नहीं मिलता ॥ ६ ॥

अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्भावसाधितम्। मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित् ॥७ ॥

भाव के सहित बहुत जन्मों में साधना करने पर किसी जन्म में योगी को मेलन प्राप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः। तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसंततौ॥ ८॥

साधक जब गुरु के श्रीमुख से 'मेलन' मंत्र ग्रहण करता है एवं शास्त्रीय परम्परानुसार साधना करता है, तब (कहीं) सिद्धि मिलती है॥ ८॥

ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा। तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंसृतेः॥ ९॥

ग्रंथ के निर्देशानुसार अथवा उसके भावानुसार जब विधिवत् जान कर मेलन को प्राप्त कर लेता है , तब साधक संसार-सागर से मुक्त होकर शिवस्वरूप हो जाता है॥ ९॥

शास्त्रं विनापि संबोद्धुं गुरवोऽपि न शक्नुयुः। तस्मात्सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं मुने॥ १०॥

शास्त्र के बिना गुरु भी ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकते, इसलिए हे मुने! शास्त्र का प्राप्त होना जरूरी है; क्योंकि यह शास्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण है॥ १०॥

यावन्न लभ्यते शास्त्रं तावद्गां पर्यटेद्यतिः। यदा संलभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिः करे स्थिता॥११॥

यति (साधक) को चाहिए कि जब तक 'शास्त्र' की प्राप्ति न हो जाए, तब तक धरती पर घूम-घूम कर उसे ढूँढ़ना चाहिए। सच्चा शास्त्र-ज्ञान प्राप्त हो जाने पर हाथों-हाथ सिद्धि प्राप्त हो जाती है॥ ११॥

न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्त्रये। तस्मान्मेलनदातारं शास्त्रदातारमच्युतम्॥ १२॥
तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत्। लब्ध्वा शास्त्रमिदं मह्यमन्येषां न प्रकाशयेत्॥ १३॥

तीनों लोकों में बिना शास्त्र ज्ञान के सिद्धि नहीं मिल सकती। इसलिए शास्त्र का ज्ञान देने वाला और मेलन(योग)का अभ्यास कराने वाला गुरु भगवान् की प्रतिमूर्ति होता है,उसका अभ्यास कराने वाले को 'शिव' मानकर उसका आश्रय लेना चाहिए। यह ज्ञान प्राप्त करके अन्य(अनधिकारी)के समक्ष न प्रकट करे॥ १२-१३

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता। यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन्दिव्ययोगप्रदायकः॥ १४॥
तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम्। तेनोक्तः सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः॥ १५॥

इसे हर प्रकार से गोपनीय रखते हुए, जहाँ भी इस दिव्य ज्ञान 'योग' में पारंगत गुरु मिलें, उन्हीं के पास जाकर खेचरी विद्या को ग्रहण कर उनके निर्देशानुसार जागरूक होकर अभ्यास करना चाहिए॥ १४-१५॥

अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत्। खेचर्या खेचरीं युञ्जन्खेचरीबीजपूरया॥ १६॥

इस विद्या से योगी को खेचरी अर्थात् आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त होती है, इसलिए खेचरी का अभ्यास खेचरी बीज (मन्त्र) के योग के साथ करना चाहिए॥ १६॥

खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत्। खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम्॥ १७॥

इस प्रकार का साधक आकाशगामी देवताओं का अधिपति होकर आकाश में विचरण करता रहता है। खेचरी के बीज मंत्र में खेचर का रूप 'ह' कार, आवसथ अर्थात् धारणा का रूप 'ई' कार, अग्नि का रूप 'र' कार और जल का रूप 'अनुस्वार' अर्थात् बिन्दु है। (इस प्रकार इन सबका योग 'ह्रीं' होता है)॥ १७॥

आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति। सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत्॥ १८॥
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम्। तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेन परं मुने॥ १९॥
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी। इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः॥ २०॥

खेचरी योग इसी (बीजमन्त्र) से सिद्ध होता है। (इसके आगे) सोमांश चन्द्रबीज 'स' कार होता है, इसके उल्टे गिनने पर नवें अक्षर पर 'भ' है, पुनः चन्द्रबीज 'स' कार है, इसके उल्टे गिनने पर अष्टम अक्षर पर 'म' है, इससे पाँच अक्षर उल्टा गिनने पर 'प' है, पुनः चन्द्रबीज 'स' कार एवं संयुक्त वर्ण युक्त 'क्ष' सबसे अन्तिम अक्षर है। (इस तरह ह्रीं, भं, सं, मं, पं, सं, क्षं खेचरी का मंत्र होता है।) ॥ १८-२०॥

गुरूपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम्। यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया॥ २१ ॥
स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः। य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः॥ २२ ॥
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते। नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः॥ २३ ॥

गुरु के द्वारा विधिवत् उपदेश लेकर इस मंत्र का जप करने से यह सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाला है। इस मंत्र का प्रतिदिन द्वादश बार जप करने से देह में स्थित माया का स्वप्न में भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस मंत्र का जो नियमपूर्वक पाँच लाख जप करता है, उस व्यक्ति की खेचरी स्वयमेव सिद्ध हो जाती है तथा उसके जीवन के सभी विघ्न समाप्त हो जाते हैं एवं उसे देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त होती है॥ २१-२३॥

वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः। एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः॥ २४॥

शरीर में पड़ी झुर्रियों एवं पके केश जैसे लक्षण समाप्त हो जाते हैं अर्थात् वृद्ध भी युवा हो जाता है, इसमें शंका नहीं करनी चाहिए, इसलिए इस महाविद्या का भली-भाँति अभ्यास करना चाहिए॥ २४॥

अन्यथा क्लिश्यते ब्रह्मन्न सिद्धिः खेचरीपथे। यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम्॥२५ ॥
ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदा जपेत्। नान्यथा रहितो ब्रह्मन्न किंचित्सिद्धिभाग्भवेत्॥

हे ब्रह्मन्! ऐसा न करने से इस खेचरी की सिद्धि नहीं होती, उल्टे कष्ट ही उठाना पड़ता है। सम्यक् प्रकार से अभ्यास के बाद भी यदि सिद्धि न मिले, तो भी मार्गदर्शक के द्वारा निर्देशित मार्ग का त्याग न करे। निरंतर इसका जप करना चाहिए, बिना उपयुक्त मार्गदर्शक के सिद्धि सम्भव नहीं॥ २५-२६॥

यदिदं लभ्यते शास्त्रं यदा विद्यां समाश्रयेत्। ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः॥२७॥

यदि यह शास्त्र प्राप्त हो जाये, तो इस विद्या का अभ्यास करे। इस प्रकार भली प्रकार से साधना करने पर साधक को सिद्धि शीघ्र प्राप्त हो जाती है॥ २७॥

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित्। स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत्॥ २८ ॥

सबसे पहले साधक गुरु के निर्देशानुसार तालु के मूल स्थान को सात दिनों तक घिसे, जिससे उसका मैल दूर हो जाये॥ २८॥

स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्। समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ २९ ॥

इसके बाद थूहर के पत्ते की तरह तीक्ष्णधारयुक्त किसी पवित्र औजार से जिह्वा मूल (नीचे के जबड़े से जीभ को जोड़ने वाले तन्तु) को बाल के बराबर गुरु से कटाये या स्वयं काटे॥ २९॥

हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत्। पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ ३० ॥

हरड़ और सेंधा नमक का चूर्ण कटे हुए स्थान पर सात दिन तक बुरकता रहे, इसके बाद पुनः उसी प्रकार बाल मात्र (तनिक सा) काटे॥ ३०॥

एवं क्रमेण षाण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत्। षाण्मासाद्रसनामूलं सिराबन्धं प्रणश्यति॥ ३१ ॥

इस तरह लगातार छः महीने प्रयास करने से जीभ का (निचले जबड़े से) सम्बन्ध कट जाता है॥ ३१॥

अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत्। शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित्॥ ३२ ॥
पुनः षाण्मासमात्रेण नित्यं संघर्षणान्मुने। भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि॥ ३३ ॥
अधश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रमचारिता। पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया॥ ३४॥
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्शाखावधिर्मुने। अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु॥ ३५ ॥
ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः। तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधिः॥ ३६ ॥

तब जिह्वा के आगे वाले हिस्से में वस्त्र लपेटकर धीरे-धीरे बाहर की ओर को दोहन करना चाहिए। इस तरह नियमित रूप से अभ्यास करने पर जिह्वा बढ़कर बाहर भृकुटियों के बीच तक पहुँच जायेगी तथा और ज्यादा अभ्यास होने पर दोनों बगल,कान तक पहुँचने लगेगी। बाहर निकलने पर ठोड़ी तक पहुँच जायेगी। इस अभ्यास को यदि बराबर तीन वर्ष तक बनाये रखा जाये,तो जिह्वा सिर के बालों तक पहुँचने लगेगी। इस प्रकार अभ्यास करते रहा जाए, तो जीभ बगल में कन्धे तक एवं नीचे कण्ठकूप तक पहुँच जाती है। आगे और तीन वर्षों तक यदि अभ्यास किया जाये,तो वह गर्दन के पीछे और नीचे कण्ठ के अन्तिम भाग तक पहुँच जाती है। इस प्रकार जिह्वा सिर के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच कर उसे ढक लेगी, इसमें कोई संशय नहीं है॥ ३२-३६॥

[इस उपनिषद् में खेचरी मुद्रा की हठयोग सम्मत दुस्साध्य विधि का वर्णन किया गया है। युग निर्माण अभियान के अन्तर्गत भावरससिद्धि हेतु खेचरी मुद्रा की जो सर्वसुलभ विधि बताई गई है, वह इससे भिन्न है। उस सर्वसुलभ विधि से खेचरी द्वारा अमृतपान साधना करने वाले साधकों को इससे किसी भ्रम या शंका में नहीं पड़ना चाहिए।]

शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभित्। पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याऽतिदुर्लभा॥३७॥
तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया। कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादिहेतवे॥ ३८॥

इस तरह क्रमशः अभ्यास करने पर जिह्वा ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर जाती है। सभी बीजाक्षरों की विधि सहित यह विद्या बहुत कठिन है। पूर्व में कहे हुए इन छः बीजाक्षरों से करन्यास एवं षडंगन्यास करने से ही पूरी सिद्धि मिल सकती है॥ ३७-३८॥

शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि। युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत्॥ ३९॥
तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं मुनिपुङ्गव। यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं व्रजेत्॥४०॥
तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन्दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि। अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वामात्रंनिवेशयेत्॥४१॥

यह अभ्यास बड़ी सावधानी रखते हुए धीरे-धीरे क्रमशः करना चाहिए। जल्दी-जल्दी किया गया अभ्यास शरीर को हानि पहुँचा सकता है। इसलिए इसके अभ्यास में जल्दी नहीं करनी चाहिए। यदि बाह्य (स्थूल) विधि से जिह्वा ब्रह्म विवर में प्रवेश कर जाये, तब अँगुली के अग्रभाग से उठाकर उसे विवर के भीतर कर देना चाहिए॥ ३९-४१॥

[तालु के पीछे नासिका से जुड़ी वायु नली का मार्ग गले में खुलता है। उसे तालुमूल कहा गया है। इस तालुमूल से लगा हुआ लोलचक्र या तालुचक्र कहा गया है। इसका सीधा संबंध मस्तिष्कमध्य में सहस्त्रारचक्र और ब्रह्मरन्ध्र से है। तालुमूल में खुलने वाले उक्त मार्ग के प्रवेश स्थल को ब्रह्म विवर कहा गया है।]

एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति। ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्मथनमाचरेत्॥ ४२॥

तीन वर्ष तक इस तरह अभ्यास करने पर जिह्वा का प्रवेश ब्रह्म द्वार में हो जाता है। जिह्वा के वहाँ प्रवेश कर जाने पर विधिवत् उसके द्वारा मंथन करना चाहिए॥ ४२॥

मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः। खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिध्यते मथनं विना॥ ४३॥

ऐसे कई योग्य साधक होते हैं, जो मंथन के बिना ही खेचरी सिद्ध कर लेते हैं, परन्तु जिन्होंने खेचरी मंत्र सिद्ध कर लिया है, वे ही मन्थन के बिना सिद्ध कर पाते हैं (अन्य नहीं)॥ ४३॥

जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत्। स्वर्णजां रौप्यजां वापि लोहजां वा शलाकिकाम्॥४४
नियोज्य नासिकारन्ध्रं दुग्धसिक्तेन तन्तुना। प्राणान्निरुध्य हृदये सुखमासनमात्मनः॥ ४५॥
शनैः सुमथनं कुर्याद्भ्रूमध्ये न्यस्तचक्षुषी। षाण्मासं मथनावस्था भावेनैव प्रजायते॥ ४६॥

जप और मंथन दोनों करने से जल्दी लाभ मिलता है। मंथन हेतु लोहा, चाँदी या स्वर्ण की शलाका के एक सिरे पर दुग्ध लगा हुआ तन्तु लगाए, पुनः उसे नाक में डाल कर सुखासन में बैठ कर प्राण को हृदय में निरोध करके नेत्रों से भौंहों के मध्य देखते हुए उसी शलाका से मंथन करे। इस प्रकार छः मास तक मंथन करने पर इसका प्रभाव दिखलाई देने लगता है॥ ४४-४६॥

यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत्। न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत्॥ ४७॥
सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत्। एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति ध्रुवा॥ ४८॥

उस समय साधक की अवस्था सोते हुए बालक की तरह होती है। इस मन्थन को मास में एक बार करे, नित्य न करे। जिह्वा को भी ब्रह्मरन्ध्र में बार-बार प्रविष्ट करे। द्वादश वर्ष तक इसी तरह अभ्यास करने से सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है॥ ४७-४८॥

शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्मविभेदतः। ब्रह्माण्डोऽयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली॥ ४९॥

अभ्यास की इस अवस्था में योगी अपने अन्तर में पूरे विश्व का दर्शन कर लेता है; क्योंकि जिह्वा के ब्रह्म विवर में जाने वाले मार्ग में ही ब्रह्माण्ड की स्थिति है॥ ४९॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

मेलनमन्त्रः ह्रीं भं सं मं पं सं क्षम्। पद्मज उवाच। अमावास्या च प्रतिपत्पौर्णमासी च शंकर। अस्याः का वर्ण्यते संज्ञा एतदाख्याहि तत्त्वतः॥ १॥

ब्रह्माजी ने कहा! खेचरी का— मेलन मंत्र 'ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं' है। हे शंकर जी! कृपा करके आप हमें यह बतायें कि साधक के लिए अमावस्या, प्रतिपदा एवं पूर्णमासी का क्या अभिप्राय है?॥ १॥

प्रतिपद्दिनतोऽकाले अमावास्या तथैव च। पौर्णमास्यां स्थिरीकुर्यात्स च पन्था हि नान्यथा॥२॥

(आत्मदर्शन के समय साधक की दृष्टि का वर्णन—) आत्मानुसंधान की साधना के प्रथम चरण में साधक की दृष्टि एवं स्थिति प्रकाशरहित अमावस्या की, द्वितीय चरण में प्रतिपदा (अल्प प्रकाश की) तथा तृतीय चरण में पूर्णिमा (पूर्ण प्रकाश) की होती है। वही कल्याण की स्थिति है॥ २॥

कामेन विषयाकाङ्क्षी विषयात्काममोहितः। द्वावेव संत्यजेन्नित्यं निरञ्जनमुपाश्रयेत्॥ ३॥

जब मनुष्य कामनाबद्ध होकर विषयों की ओर दौड़ता है, उस समय विषयों को प्राप्त करते हुए कामनाएँ बढ़ती जाती हैं। इसलिए विषय और कामना दोनों से अलग होकर (आत्मा में ध्यान लगाते हुए) ही विशुद्ध परमात्मभाव की प्राप्ति की जा सकती है॥ ३॥

अपरं संत्यजेत्सर्वं यदीच्छेदात्मनो हितम्। शक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम्॥ ४॥

अपना हित चाहने वाले को समस्त मिथ्या विषयों को छोड़कर शक्ति (कुण्डलिनी) के मध्य में मन को स्थिर करके उसी में स्थिर रहना चाहिए॥ ४॥

[मन को चेतन सत्ता-शक्ति के मध्य स्थिर करना 'स्व' का चेतन में वास कहा जाता है। जब चेतन में वास होता है, तो शरीर को किन्हीं लौकिक संसाधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब तक शक्ति में 'वास' (पूरी तरह स्थिर होना) न सधे, तब तक यत्नपूर्वक 'उपवास' चेतना में आंशिकरूप से रहने का अभ्यास करना चाहिए। उपवास की स्थिति में शरीर के लिए न्यूनतम आहार देकर भी उसे सक्रिय और संतुष्ट रखा जा सकता है। उपवास साधना को शक्ति में वास की साधना का पूर्वाभ्यास कहा जा सकता है।]

मनसा मन आलोक्य तत्त्यजेत्परमं पदम्। मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम्॥ ५॥

मन से मन को देखते हुए उसकी गतिविधियों का निरीक्षण करके उनसे मुक्त होने को ही परम पद कहा गया है। मन ही बिन्दु (ईश्वर) है और वही (जगत्प्रपंच) की उत्पत्ति एवं स्थिति का मुख्य कारण है॥ ५॥

मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् । न च बन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम्॥ ६ ॥

जिस प्रकार दूध से घी निकलता है, उसी प्रकार मन से बिन्दु प्रकट होता है। जो भी बन्धन हैं, मन में हैं, बिन्दु में नहीं॥ ६ ॥

चन्द्रार्कमध्यमा शक्तिर्यत्रस्था तत्र बन्धनम्। ज्ञात्वा सुषुम्नां तद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्॥ ७ ॥

जो शक्ति सूर्य और चन्द्र अर्थात् इड़ा-पिंगला नाड़ियों में स्थित है, वही बन्धन कारक है, यह जानकर उन (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रन्थियों) का भेदन करके प्राणवायु को सुषुम्ना में गतिमान् करना चाहिए, जो इन दोनों के मध्य में स्थित है॥ ७॥

स्थित्वासौ बैन्दवस्थाने घ्राणरन्ध्रे निरोधयेत्। वायुं बिन्दुं समाख्यातं सत्त्वं प्रकृतिमेव च॥ ८ ॥

बिन्दु स्थान में प्राण को रोककर वायु का निरोध नासिका के द्वारा करना चाहिए। बिन्दु, सत्त्व एवं प्रकृति का विस्तार यह प्राणवायु ही है॥ ८॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डलम्। मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम्॥ ९ ॥
अनाहतं विशुद्धिं च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम्। आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैङ्गिकम्॥१० ॥
मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम्। विशुद्धिः कण्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम्॥ ११ ॥

षट्चक्रों को जानकर (उसे भेदकर) सुखमण्डल (सहस्रार चक्र) में प्रवेश करे। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ये छः चक्र कहे गये हैं। गुदास्थान के समीप मूलाधार, लिंग के समीप स्वाधिष्ठान, नाभिमण्डल में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कण्ठमूल में विशुद्धचक्र एवं मस्तक में आज्ञाचक्र स्थित होता है॥ ९-११ ॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डले। प्रविशेद्वायुमाकृष्य तथैवोर्ध्वं नियोजयेत्॥ १२ ॥

षट्चक्रों की जानकारी प्राप्त करके प्राण को आकर्षित करके सुखमण्डल अर्थात् परमानन्ददायी सहस्रार चक्र में प्रवेश करे और उसे ऊर्ध्वगामी दिशा में नियोजित करे॥ १२॥

एवं समभ्यसेद्वायुं स ब्रह्माण्डमयो भवेत्। वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत्॥ १३ ॥
समाधिमेकेन समममृतं यान्ति योगिनः। यथाग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना॥ १४ ॥
विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि। घटमध्यगतो दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते॥ १५ ॥
भिन्ने तस्मिन्घटे चैव दीपज्वाला च भासते। स्वकायं घटमित्युक्तं यथा दीपो हि तत्पदम्॥१६ ॥
गुरुवाक्यसमाभिन्ने ब्रह्मज्ञानं स्फुटीभवेत्। कर्णधारं गुरुं प्राप्य कृत्वा सूक्ष्मं तरन्ति च॥ १७ ॥

इस तरह अभ्यसित होकर प्राण ब्रह्माण्ड में स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। समुचित रूप से चित्त, प्राण-वायु, बिन्दु एवं चक्र का अभ्यास हो जाने पर योगियों को परमात्मा से एकाकार होकर समाधि अवस्था में पहुँच कर अमृत-तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। जिस तरह लकड़ी में अग्नि है, परन्तु बिना रगड़े हुए वह प्रज्वलित नहीं होती, उसी प्रकार बिना निरन्तर अभ्यास किये हुए योगविद्या का प्रकाश बाहर नहीं आ सकता । जिस प्रकार घड़े के भीतर रखा हुआ दीपक बिना उसका भेदन किये बाहर प्रकाश नहीं दे सकता, ठीक उसी तरह शरीररूपी घट के भीतर स्थित ब्रह्मरूपी प्रकाश तब तक बाहर नहीं दिखता, जब तक गुरुमुख होकर इस शरीररूपी घट का भेदन नहीं किया जाता। कर्णधार (नाविक) रूप गुरु ही इस संसार-सागर से पार होने का उपाय है॥ १३-१७॥

अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम्। परायामङ्कुरीभूय पश्यन्त्यां द्विदलीकृता॥ १८॥
मध्यमायां मुकुलिता वैखर्यां विकसीकृता। पूर्वं यथोदिता या वाग्विलोमेनास्तगा भवेत्॥१९॥

अपनी श्रेष्ठ वासना अर्थात् उच्च आदर्शवादी महत्त्वाकांक्षा एवं निरन्तर अभ्यास के द्वारा अर्जित शक्ति के माध्यम से ही भवसागर को पार किया जा सकता है। शरीर में स्थित वाणी परारूप में अङ्कुरित होती, पश्यंती रूप में द्विदल (दो पत्ते) होती, मध्यमा में मुकुलित(खिलती-अग्रगामी) होती और वैखरी रूप में आकर पूर्ण विकसित (प्रकट) हो जाती है। इस वाणी का जिस तरह से प्राकट्य होता है, उसी क्रम में वह विलीन भी हो जाती है॥ १८-१९॥

तस्या वाचः परो देवः कूटस्थो वाक्प्रबोधकः। सोऽहमस्मीति निश्चित्य यः सदा वर्तते पुमान्॥२०
शब्दैरुच्चावचैर्नीचैर्भाषितोऽपि न लिप्यते। विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयः॥ २१॥
विराड्ढिरण्यगर्भश्च ईश्वरश्चेति ते त्रयः। ब्रह्माण्डं चैव पिण्डाण्डं लोका भूरादयः क्रमात्॥२२॥
स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि। अण्डं ज्ञानाग्निना तप्तं लीयते कारणैः सह॥ २३॥

उस वाणी का ज्ञान देने वाला 'मैं ही अन्तःस्थित परम देव हूँ' इस तरह निश्चित रूप से समझ कर जो उसके अनुरूप आचरण करता है, उसे अच्छा या बुरा कोई भी शब्द कह दिया जाए, तो वह व्यक्ति उससे प्रभावित नहीं होता। विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ ये तीन तरह के पिण्ड कहे गये हैं। विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर तीन ब्रह्माण्ड एवं भूः, भुवः, स्वः क्रमशः ये तीन लोक कहे गये हैं। ये सभी अपनी उपाधियों के समाप्त होने पर पुनः अपनी पूर्व स्थिति में वापस आ जाते हैं। ज्ञानरूपी अग्नि में तप्त होकर अपने कारणों के मूलस्वरूप में विलीन हो जाते हैं॥ २०-२३॥

परमात्मनि लीनं तत्परं ब्रह्मैव जायते। ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्॥ २४॥

यह (जीव) परमात्मा से एकाकार होकर परम अगाध गम्भीर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, उस समय इसका ऐसा रूप होता है, जिसको न तो प्रकाश कहा जा सकता है, न अंधकार ही कहा जा सकता है॥ २४॥

अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते। ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत्॥ २५॥
अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम्। प्रकाशयन्तमन्तःस्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम्॥ २६॥

उस समय एकमात्र नामरहित सत् स्वरूप, अव्यक्ततत्त्व ही शेष रह जाता है। (उस) मध्यस्थ (अन्तःकरण में स्थित) 'आत्मा' का कलश में स्थित दीपक की तरह ध्यान करके (आगे भी निरन्तर) अङ्गुष्ठमात्र, धूमरहित ज्योतिस्वरूप, प्रकाशमान, कूटस्थ (शाश्वत) और अव्यय (अविनाशी) आत्मतत्त्व का अन्तःकरण में ध्यान करते रहना चाहिए॥ २५-२६॥

विज्ञानात्मा तथा देहे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितः। मायया मोहितः पश्चाद्बहुजन्मान्तरे पुनः॥ २७॥
सत्कर्मपरिपाकात्तु स्वविकारं चिकीर्षति। कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः॥ २८॥

मूलतः आत्मा विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) रूप होता है, परन्तु शरीर प्राप्त होने पर वह माया के वशीभूत होकर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है और उसी माया में मोहित हो जाता है। जब जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यकर्म उदित होते हैं, तब मानव अपने दोषों को जानने की इच्छा करता है, तब वह सोचता है कि वास्तव में मैं कौन हूँ एवं दोषरूप यह संसार कैसे प्राप्त हुआ है?॥ २७-२८॥

जाग्रत्स्वप्ने व्यवहरन्त्सुषुप्तौ क्व गतिर्मम। इति चिन्तापरो भूत्वा स्वभासा च विशेषतः॥ २९॥

जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्था में तो मैं ही कर्त्ता के रूप में व्यवहार करता हूँ, परन्तु सुषुप्ति अवस्था में मेरी क्या गति होती है? इस तरह चिन्तन करते हुए अपने रूप पर विचार करता रहता है॥ २९॥

अज्ञानात्तु चिदाभासो बहिस्तापेन तापितः। दग्धं भवत्येव तदा तूलपिण्डमिवाग्निना॥ ३०॥

जिस प्रकार रुई का ढेर आग पाते ही जल जाता है, उसी प्रकार चिदाभास के प्रभाव से सांसारिक ताप से तापित अज्ञान समाप्त हो जाता है॥ ३०॥

दहरस्थः प्रत्यगात्मा नष्टे ज्ञाने ततः परम्। विततो व्याप्य विज्ञानं दहत्येव क्षणेन तु॥ ३१॥
मनोमयज्ञानमयान्तसम्यग्दग्ध्वा क्रमेण तु। घटस्थदीपवच्छश्वदन्तरेव प्रकाशते॥ ३२॥

इस तरह सांसारिक बोध के समाप्त होने पर प्रत्यगात्मा (शुद्ध आत्मा) प्रकाशित हो जाता है तथा उससे विज्ञान (संसार का विशेष ज्ञान) भी नष्ट हो जाता है। इस तरह क्रमशः मनोमय तथा विज्ञानमय के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर घट के भीतर रखे हुए दीपक की तरह अंत:स्थ प्रकाश रूप आत्मा ही अंत:करण में प्रकाशित होता रहता है॥ ३१-३२॥

ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैवमासुप्तेरामृतेस्तु यः। जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान्॥ ३३॥

इस प्रकार से नित्य प्रति जो आत्मज्ञानी आत्मा का ध्यान करता है तथा मृत्यु के आने पर भी स्थिर चित्त होकर उस पर ध्यान लगाये रहता है,उसे जीवन (सांसारिकता) से मुक्ति मिल जाती है, वही विज्ञानी है, धन्य है और वह कृत-कृत्य हो जाता है॥ ३३॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते। विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥ ३४॥

जीवन्मुक्त साधक का अन्तिम समय (मृत्यु) आने पर वह (शरीर रहते हुए जीवन्मुक्त एवं शरीर समाप्त होने पर) उसी प्रकार विदेह मुक्त हो जाता है, जिस प्रकार वायु (उन्मुक्त) आकाश में स्पन्दनरहित होकर प्रवेश कर जाती है॥ ३४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम्॥ इत्युपनिषत्॥ ३५॥

जो आदि-अंत रहित, नित्य, अव्यय और महान् है तथा जो अटल है एवं शब्द,स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि पंचमहाभूतों से रहित है, वही विकाररहित परमपवित्र ब्रह्म ही अन्त में शेष बचता है, यही उपनिषद् है॥ ३५॥

॥ ॐ सह नाववतु ...... इति शान्तिः॥

॥ इति योगकुण्डल्युपनिषत्समाप्ता॥

॥ योगचूडामण्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। योग साधना द्वारा आत्मशक्ति जागरण की प्रक्रिया का इसमें समग्र मार्गदर्शन है।

सर्वप्रथम योग के छः अंगों (आसन,प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) का उल्लेख हुआ है। तदुपरान्त योग की सिद्धि के लिए आवश्यक देहतत्त्व का ज्ञान, मूलाधार आदि चक्रों का ज्ञान, योनिस्थान (कुण्डलिनी) में परम ज्योति के दर्शन, नाड़ीचक्र,नाड़ी स्थान,नाड़ियों में संचरित प्राणवायु और उनकी क्रियाएँ, प्राणों के साथ जीव की गतिमयता, अजपा गायत्री का अनुसन्धान, कुण्डलिनी द्वारा मोक्ष द्वार का भेदन, तीन बन्ध (मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध तथा उड्डियानबन्ध), खेचरी मुद्रा, वज्रोली आदि (विशेष योगसाधना) के लक्षण, महामुद्रा का स्वरूप, प्रणव (ॐकार) जप की विशेष प्रक्रिया, प्रणव एवं ब्रह्म की एकरूपता, प्रणव (ॐ) के अवयव (अ, उ, म्) का अर्थ, तुरीयोङ्कार द्वारा अग्रब्रह्म की साधना, प्रणव एवं हंस साधना, कैवल्यबोध-आत्मज्ञान का प्रकाशक प्रणव जप, प्रणव मन्त्रानुष्ठान के साधक के लिए प्राणजय आवश्यक, नाड़ीशुद्धि से प्राणायामसिद्धि, मात्रा नियमपूर्वक प्राणायाम, योगांगों में से प्रत्येक के अलग-अलग फल और उनकी तारतम्यता, षण्मुखी मुद्रा के अभ्यास से नादाभिव्यक्ति, प्राणायाम का अभ्यास, सर्वरोग निवारक, 'प्राण' के निरोधाभ्यास में इन्द्रियों का प्रत्याहार आवश्यक इत्यादि अनेकविध विषयों का बड़ा विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। निःसन्देह इस उपनिषद् के अनुसार साधना करने वाला व्यक्ति योग के क्षेत्र में चूड़ामणि (मुकुट) स्तर का बन सकता है। योगपरक उपनिषदों में इस चूड़ामणि उपनिषद् का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-महोपनिषद्)

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया। कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः ॥ १ ॥

योग चूड़ामणि उपनिषद् को योगियों के हित की कामना से वर्णन करता हूँ, जो योगवेत्ताओं के द्वारा सेवन किया जाने वाला परम गूढ़ तथा कैवल्य (मोक्ष) सिद्धि देने वाला है॥ १ ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥ २ ॥
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्। षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्॥ ३ ॥
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत्। चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम्॥४ ॥
नाभौ दशदलं पद्मं हृदये द्वादशारकम्। षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ॥ ५ ॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकार योग को छः अंगों वाला कहा गया है। दो प्रकार के आसनों का यहाँ वर्णन है, एक सिद्धासन दूसरा पद्मासन। अपने शरीर के भीतर जो साधक षट्चक्र, षोडश-आधार, त्रिलक्ष्य और पाँच आकाशों को नहीं देख पाता, उसे सिद्धि कहाँ मिल सकती है? शरीर में स्थित षट्चक्रों में आधारचक्र (मूलाधार चक्र) चार दल वाला है, स्वाधिष्ठान चक्र में छः दल हैं। दस दल वाला चक्र नाभि में स्थित है, द्वादशदल का पद्मचक्र हृदय में है, विशुद्धचक्र षोडश दल वाला तथा दो दल का चक्र भ्रूमध्य में (आज्ञाचक्र के रूप में) स्थित है॥ २-५॥

सहस्त्रदलसंख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि । आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्॥ ६ ॥
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते। कामाख्यं तु गुदस्थाने पङ्कजं तु चतुर्दलम्॥ ७॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता।तस्य मध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम्॥८

सहस्त्र दल-कमल ब्रह्मरन्ध्र के महापथ में स्थित है। मूलाधार प्रथम चक्र है तथा स्वाधिष्ठान दूसरा चक्र है। दोनों के बीच में योनि स्थान (कुण्डलिनी) स्थित है। जगत् की उत्पत्ति का कारण होने से उसे कामरूप कहा जाता है। गुदास्थान में चार दल वाला कमल स्थित है, जिसे 'काम' कहा गया है। उसी के बीच सिद्ध पुरुषों के द्वारा वन्दित पश्चिमाभिमुख महालिंग स्थित है॥ ६-८॥

नाभौ तु मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्। तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत्॥ ९ ॥
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम्। समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्॥ १०॥

नाभि स्थान में मणि की आकृति वाले मणिपूर चक्र को जानने वाला ही योगी है। तपाये हुए सोने के समान आभा वाला, विद्युत् की तरह प्रकाशमान त्रिकोण युक्त अग्नि मेढ्र में प्रतिष्ठित है। समाधि अवस्था में उस स्थान पर अनन्त विश्वतोमुख (सब ओर प्रकाशित) परमज्योति के दर्शन होते हैं॥ ९-१०॥

तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातो न विद्यते। स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः॥ ११॥
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते। तन्तुना मणिवत्प्रोतो योऽत्र कन्दः सुषुम्नया॥ १२॥

योगाभ्यास के समय उस अग्निमयी ज्वाला के दर्शन कर लेने पर संसार के आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। प्राण का निवास स्वाधिष्ठान चक्र में कहा गया है। प्राण को ही 'स्व' कहते हैं। स्वाधिष्ठान में स्थित होने के कारण उसे 'मेढ्र' भी कहते हैं। जिस प्रकार मणि में तागा पिरोया होता है, उसी प्रकार कन्द (नाड़ी समूह) सुषुम्ना से युक्त है॥ ११-१२॥

तन्नाभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्। द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते॥ १३॥
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति। ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दे योनिः खगाण्डवत्॥१४॥
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्त्राणां द्विसप्ततिः। तेषु नाडीसहस्त्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता॥ १५॥
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः। इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयगा॥ १६॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी। अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता॥१७॥

नाभि मण्डल में स्थित द्वादशदल युक्त मणिपूर चक्र पाप-पुण्य रहित है, जब तक इसका तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक जीव को संसार चक्र में ही भ्रमण करना पड़ता है। पक्षी के अण्डे के आकार वाली योनि अर्थात् कुण्डलिनी, मेढ्र और नाभि के मध्य स्थित है। बहत्तर हजार नाड़ियों का जाल पूरे शरीर में वहीं से फैला है, उनमें से बहत्तर नाड़ियाँ मुख्य हैं। इनमें भी प्रमुख नाड़ियाँ दस कही गई हैं। १. इड़ा, २. पिंगला, ३. सुषुम्ना, ४. गांधारी, ५. हस्तिजिह्वा, ६. पूषा, ७. यशस्विनी, ८. अलम्बुसा, ९. कुहू और १०. शंखिनी॥ १३-१७॥

एतन्नाडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा। इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता॥१८॥
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि। दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे॥ १९॥
यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुसा। कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी॥ २०॥

नाड़ियों के इस महाचक्र का ज्ञान योगियों को होना चाहिए। शरीर में इड़ा नाड़ी (नासिका के) बायीं ओर और पिंगला नाड़ी दाहिनी ओर स्थित रहती है। इड़ा-पिंगला के बीच में सुषुम्ना नाड़ी है। दायें नेत्र में हस्तिजिह्वा और बायें नेत्र में गांधारी का निवास है। पूषा तथा यशस्विनी क्रमशः दायें-बायें कान में स्थित हैं। मुँह में अलम्बुसा का निवास है। जननेन्द्रिय में कुहू एवं मूलस्थान में शंखिनी नाड़ी का निवास है॥ १८-२०॥

एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ते नाडयः क्रमात्। इडापिङ्गलासौषुम्नाः प्राणमार्गे च संस्थिताः ॥२१॥

सम्पूर्ण शरीर के भीतर एक-एक द्वार पर एक-एक नाड़ी स्थित है और प्राणमार्ग में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ स्थित हैं॥ २१॥

सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः। प्राणापानसमानाख्या व्यानोदानौ च वायवः॥ २२॥
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः। हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले॥ २३॥
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः। व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः॥ २४॥

सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि देवता प्राणों के वाहक हैं। प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान—ये पाँच प्राणवायु कहे गये हैं। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त एवं धनञ्जय—ये पाँच उपप्राणवायु कहे गये हैं। शरीर के अन्दर हृदय में (मुख्य) प्राणवायु, गुदा स्थान में अपान, नाभि स्थान में समान, गले में उदान एवं पूरे शरीर में व्यानवायु स्थित रहता है। ये प्रधान प्राणवायु शरीर के पाँच स्थानों में स्थित हैं॥ २२-२४॥

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा। कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे॥ २५॥

ऊर्ध्ववायु (डकार) में नाग नामक उपप्राण, आँखों की पलक झपकने में कूर्मवायु, कृकल छींकने में एवं देवदत्त की स्थिति जँभाई लेने में होती है॥ २५॥

न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनंजयः। एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः॥ २६॥

सम्पूर्ण शरीर में धनञ्जय वायु इस प्रकार से व्याप्त है कि मृत्यु के बाद भी शरीर को नहीं छोड़ता है। इन्हीं नाड़ियों में जीव (प्राण) भ्रमण करते रहते हैं॥ २६॥

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः। प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति॥ २७॥

खिलाड़ियों के द्वारा इधर से उधर फेंकी हुई गेंद की तरह जीव भी प्राण, अपान आदि वायुओं से स्थिर नहीं रह पाता अर्थात् सदैव गतिशील रहता है॥ २७॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति। वामदक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते॥२८॥

यह जीव प्राणादि वायुओं के वशीभूत होकर नीचे-ऊपर गमन करता हुआ बायें एवं दायें मार्ग में भी आता-जाता है। गमनचक्र तीव्रता से चलने के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता॥ २८॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः। गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति॥ २९॥

रस्सी से बँधा हुआ श्येन पक्षी ऊपर उड़ता हुआ भी जिस प्रकार खींच लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार गुणों से आबद्ध यह जीव भी प्राण और अपान वायुओं के द्वारा खींचा जाता है॥ २९॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति। अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वाधःसंस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्॥ ३०॥

प्राण अपान को खींचता है एवं अपान प्राण को खींचता है, इसलिए यह जीव प्राण और अपान की इस क्रिया के द्वारा निरंतर ऊपर-नीचे आता जाता रहता है। प्राण एवं जीव की इस अधः एवं ऊर्ध्वगमन प्रक्रिया को जानने वाला ही योगवेत्ता है॥ ३०॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः। हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥ ३१॥

श्वास 'स' कार ध्वनि (वायु) के माध्यम से भीतर और 'ह' कार के साथ बाहर आती है। इस तरह यह जीव हंस-हंस (हंसमंत्र) का जप सदैव करता रहता है॥ ३१॥

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः। एतत्संख्यान्वितं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा॥ ३२॥

दिन-रात निरन्तर जप करते रहने से यह जीव इक्कीस हजार छः सौ मंत्र नित्य जपता है॥ ३२॥

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा। अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३३॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः। अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति॥ ३४॥

योगियों के लिए मुक्ति प्रदात्री यही अजपा गायत्री है। इसके संकल्प मात्र से सभी पापों से मुक्ति मिल जाती है। इसके समान न कोई विद्या, न कोई जप, न कोई ज्ञान पहले हुआ है और न भविष्य में होगा॥३३-३४॥

कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी। प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित्॥३५

यह गायत्री प्राण को धारण करने वाली प्राणविद्या है-महाविद्या है, जो कुण्डलिनी से उद्भूत है। इस प्रकार जो जान लेता है, वही वेदवेत्ता है॥ ३५॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः। ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति॥ ३६॥

कुण्डलिनी शक्ति कन्द के ऊर्ध्वभाग में आठ कुण्डलों की आकृति में व्याप्त होकर ब्रह्म द्वार के मुँह को अपने मुख से ढककर सदैव स्थित रहती है॥ ३६॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं मनोमयम्। मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥ ३७॥

जिस मनोमय ब्रह्म द्वार (सुषुम्ना) में प्रवेश किया जाता है, उसी द्वार (मुख) को अपने मुख से ढककर यह परमेश्वरी शक्ति (कुण्डलिनी) सोई रहती है॥ ३७॥

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह। सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया॥ ३८॥

वह्नियोग (अग्नियोग) के द्वारा जाग्रत् होकर यह प्रकाश के रूप में मन और प्राणवायु के साथ सुषुम्ना नाड़ी के भीतर होकर सुई की तरह ऊपर की ओर चलती है॥ ३८॥

उद्घाटयेत्कवाटं तु यथा कुञ्चिकया गृहम्। कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्॥ ३९॥

कुंजी के द्वारा जिस तरह से घर का किवाड़ (ताला) खोलते हैं, उसी प्रकार कुण्डलिनी के द्वारा योगी लोग मुक्ति का द्वार खोल लेते हैं॥ ३९॥

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं गाढं वक्षसि संनिधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेष्टितम्।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः॥ ४०॥

दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर हाथों को ऊपर-नीचे गोदी में रखकर सम्पुटित करे, पुनः सिर नीचा करके ठोड़ी को छाती से लगाये, इसके बाद ब्रह्म में ध्यान को एकाग्र करके, बार-बार श्वास को भीतर खींचे और बाहर निकाले। प्राणवायु अन्दर ले जाए और अपान वायु ऊपर ले जाए। इस तरह प्राणायाम करने से मनुष्य को अतुल शक्ति की अनुभूति होती है॥ ४०॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा। कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत्॥ ४१॥

इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यास के श्रम से जो पसीना निकलता है, उसे शरीर में ही मसल लेना चाहिए तथा नमकीन, खट्टे, कड़ुवे पदार्थों का परित्याग करना चाहिए और दूध एवं दूध से बने भोजन का विशेष रूप से प्रयोग करना चाहिए॥ ४१॥

ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः। अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा॥ ४२॥

ब्रह्मचारी और मिताहार वाला योगी यदि योग के अभ्यास में लग जाए, तो एक वर्ष में ही योग की सिद्धि प्राप्त कर लेगा, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए॥ ४२॥

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः । भुञ्जते शिवसंप्रीत्या मिताहारी स उच्यते॥ ४३ ॥

योग के साधक को मधुर और स्निग्ध भोजन ही लेना चाहिए,(आधा पेट भोजन,चौथाई पानी तथा) चौथाई भाग खाली रखे। इस प्रकार भगवान् को समर्पित करके जो भोजन करता है,उसे मिताहारी कहते हैं॥४३

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः। बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा॥४४॥

आठ कुण्डलों वाली कन्द के ऊर्ध्वभाग में जो कुण्डलिनी शक्ति है, वह योगियों के लिए मोक्ष देने वाली तथा अज्ञानियों के लिए बन्धनकारक कही गई है॥ ४४॥

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम्। मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्॥४५ ॥

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध को जो जानता है, वह योगी मुक्ति को प्राप्त करता है॥ ४५॥

पार्ष्णिघातेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम्। अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते॥ ४६ ॥

एड़ी से दबाव डालकर योनि (सीवन) स्थान को पीड़ित करते हुए दृढ़तापूर्वक संकुचित करे, अपान वायु को ऊपर की ओर खींचने की इस प्रक्रिया को मूलबन्ध कहा जाता है॥ ४६॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः। युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥ ४७॥

इस प्रकार प्राण और अपान को एक में मिलाया जाता है, इससे मल-मूत्र कम हो जाता है। इस प्रकार मूलबन्ध का अभ्यास करने से वृद्ध भी युवा हो जाता है॥ ४७॥

ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः। ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी॥ ४८ ॥

महापक्षी (गिद्ध आदि) जिस प्रकार विश्राम के लिए (आकाश में अत्यधिक ऊँचे) उड़ते हैं, उसी तरह उड्डियान बन्ध का अभ्यास मृत्यु रूपी हाथी को पछाड़ने के लिए सिंह के समान है। (बड़े पक्षियों को एक विशेष प्रकार से उड़ने में विश्राम प्राप्त होता है, जिससे उन्हें शक्ति प्राप्त हो जाती है।)॥ ४८॥

उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते । ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥ ४९ ॥

पेट को नाभि के नीचे तानना अर्थात् खींचना पश्चिमोत्तान कहलाता है। वहीं पेट में यह उड्डियान बंध भी किया जाता है॥ ४९॥

बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम्। ततो जालन्धरो बन्धः कष्टदुःखौघनाशनः॥ ५०॥

जो शरीर में नीचे की ओर प्रवहमान आकाश-जल (खेचरी मुद्रा द्वारा क्षरित होने वाला) को शिरोभाग में रोककर रखता है, उसे जालंधर बंध कहते हैं, यह दुःखों और कष्टों का नाश कर देता है॥ ५०॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे । न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति॥ ५१ ॥

जालन्धर बंध में सामने की ओर सिर झुकाकर गले से नीचे ठोढ़ी को हृदय से स्पर्श करना होता है। इस से अमृत न तो अग्नि की ओर गिरता है और न वायु की ओर गमन करता है, स्थिर हो जाता है॥ ५१॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा । भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ ५२ ॥

दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य स्थित करे एवं जीभ को गले की ओर पीछे लौटाकर कपाल कुहर (गले के मध्य तालु) में प्रवेश कराये, इस प्रकार की क्रिया को खेचरी मुद्रा कहते हैं॥ ५२॥

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा। न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥ ५३ ॥

जो खेचरी मुद्रा को जानता और साधना करता है उसे रोग, मरण, भूख-प्यास और मूर्छा आदि से छुटकारा प्राप्त हो जाता है॥ ५३॥

पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः। बाध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥५४॥

खेचरी मुद्रा जानने वाला न तो रोग से कष्ट पाता है और न कर्मों में ही उसकी आसक्ति होती है तथा उसके पास तक कोई विघ्न भी नहीं पहुँच पाते॥५४॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे यतः। तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता॥ ५५॥

जिसकी साधना करने से चित्त और जिह्वा आकाश में विचरण करते हैं, उस खेचरी मुद्रा को सभी सिद्ध लोग प्रणाम करते हैं॥५५॥

बिन्दुमूलशरीराणि शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः। भावयन्ती शरीराणि आपादतलमस्तकम्॥ ५६॥

सिर से लेकर पैर तक शरीर के सभी अंगों का जिनके द्वारा पोषण होता है, उन सभी शिराओं का मूल बिन्दु खेचरी मुद्रा ही है॥५६॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः। न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च॥५७॥

खेचरी मुद्रा के द्वारा जिस साधक ने जीभ के ऊपर कपाल कुहर को ढक लिया है, उस साधक का रमणी के आलिंगन से भी बिन्दुपात नहीं हो सकता॥५७॥

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः। यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति॥ ५८॥

जब तक साधक ने खेचरी मुद्रा को बाँध रखा है, तब तक बिन्दु नहीं जाता है और जब तक शरीर में बिन्दु स्थित है, तब तक मृत्यु का क्या भय है?॥५८॥

ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम्। व्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया॥५९॥

यदि जाज्वल्यमान अग्नितत्त्व में बिन्दुपात भी हो जाये, तो उसको योनिमुद्रा के द्वारा बलपूर्वक रोका और ऊर्ध्वगामी बनाया जा सकता है॥५९॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा। पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः॥६०॥

सफेद और लाल दो वर्ण (रंग) का बिन्दु होता है। श्वेत को शुक्ल (शुक्र) नाम दिया गया तथा लाल को महारज कहा गया है॥६०॥

सिन्दूरव्रातसंकाशं रविस्थानस्थितं रजः। शशिस्थानस्थितं शुक्लं तयोरैक्यं सुदुर्लभम्॥ ६१॥

सिन्दूर के समान ज्योतित रविस्थान में रज का निवास स्थान है तथा चन्द्रस्थान में शुक्ल का निवास स्थान है। शुक्ल और रज का संयोग बड़ा कठिन होता है॥६१॥

बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः। उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम्॥ ६२॥

बिन्दु ब्रह्मारूप है तथा रज शक्तिस्वरूप है, बिन्दु चन्द्ररूप और रज सूर्यरूप है। इन दोनों का योग (मिलन) होने से ही परमपद की प्राप्ति होती है॥६२॥

वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः। याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेद्दिव्यवपुस्तदा॥ ६३॥

जब वायु (प्राणायाम) से शक्तिचालिनी मुद्रा के द्वारा गमनशील रज बिन्दु से एकाकार हो जाता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है॥६३॥

शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संगतम्। तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित्॥६४॥

रज का संयोग सूर्य में और शुक्ल (शुक्र) का संयोग चन्द्र में जिस प्रकार होता है, उस विषय को और दोनों के एकाकार होने को जानने वाला साधक योगवेत्ता कहा जाता है॥६४॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः। रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते॥ ६५॥

जिस साधना के द्वारा नाड़ी-समूह का शोधन किया जाता है तथा सूर्य-चन्द्र को चलाया जाता है एवं रस का शोषण किया जाता है,उसे 'महामुद्रा' कहते हैं॥ ६५॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्‌घ्रिणा हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्। आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचयेत्सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते॥ ६६॥

बायें पैर से योनि स्थान पर दबाव डालते हुए, ठोढ़ी को छाती से लगाये और दायाँ पैर सीधा फैलाकर दोनों हाथों से पैर की अँगुलियों सहित पैर पकड़कर दोनों कुक्षियों अर्थात् पेट में पूरा श्वास भरकर धीरे-धीरे बाहर निकाले। यह महामुद्रा की क्रिया समस्त प्रकार की व्याधियों को नष्ट करती है॥ ६६॥

चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥६७॥

अभ्यास क्रम में सर्वप्रथम बायीं नासिका 'चन्द्रअंश' से श्वास खींचकर रेचन करते हुए अभ्यास करे, फिर दायीं नासिका 'सूर्यअंश' से श्वास खींचकर रेचन का अभ्यास करना चाहिए। जब दोनों स्वर (चन्द्र-सूर्य) समान हो जाएँ, तब अभ्यास बन्द करना चाहिए॥ ६७॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः। अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते॥ ६८॥

इस 'महामुद्रा' के करने से पथ्य-अपथ्य अथवा सभी तरह का नीरस भोजन सरस हो जाता है। भोजन अधिक कर लेने पर तथा विष भी खा लेने पर वह अमृत के समान पच जाता है॥ ६८॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः। तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥ ६९॥

इस महामुद्रा के अभ्यास करने वाले साधक को इसके प्रभाव से क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त (भगन्दर), गुल्म (तिल्ली बढ़ना), अजीर्ण आदि एवं भविष्य में होने वाले सभी रोगों से छुटकारा मिल जाता है॥ ६९॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्। गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥ ७०॥

यह महामुद्रा साधकों को महासिद्धि देने वाली है, इसको हर किसी को (अनधिकारी को) नहीं बताना चाहिए, प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए॥ ७०॥

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः। नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोंकारमव्ययम्॥ ७१॥

एकान्त स्थान में पद्मासन लगाकर कमर से सिर तक शरीर को सीधा करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को जमाकर अव्यय प्रणव (ॐ) का जप करना चाहिए॥ ७१॥

ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीयं यद्भूतं भवद्भविष्यत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनवच्छिन्नं परं ब्रह्म तस्माज्जाता परा शक्तिः स्वयंज्योतिरात्मिका। आत्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। एतेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्रविष्णुब्रह्माणश्चेति। तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलयकर्तारः। राजसो ब्रह्मा सात्त्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति एते त्रयो गुणयुक्ताः। ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव। धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवुः। एतेषां ब्रह्मणो लोका देवतिर्यङ्नरस्थावराश्च जायन्ते। तेषां मनुष्यादीनां पञ्चभूतसमवायः शरीरम्। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिचित्ताहंकारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च

सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवेत्युच्यते। गुणत्रययुक्तं कारणम्। सर्वेषामेवं त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाश्चेत्यवस्थाश्चतस्त्रः तासामवस्थानामधिपतयश्चत्वारः पुरुषा विश्वतैजस-प्राज्ञात्मानश्चेति। विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्। आनन्दभुक्तथा प्राज्ञः सर्वसा-क्षीत्यतः परः॥ ७२॥

ॐ निरंजन, निर्विकल्प, नामरहित, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, अनादिनिधन (शाश्वत), एक, तुरीय, भूत, भविष्यत्, वर्तमान में एक रस रहने वाले परब्रह्म से स्वयं प्रकाशरूपी पराशक्ति प्रकट हुई। आत्मा (परमात्मा) से आकाश प्रकट हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी प्रकट हुई। सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा ये पाँच देवता इन पाँच महाभूतों के पाँच स्वामी हैं। इसमें ब्रह्माजी उत्पत्ति करने वाले, विष्णु पालन करने वाले तथा रुद्र संहार करने वाले हैं। सतोगुणरूप विष्णु, रजोगुणरूप ब्रह्मा, तमोगुणरूप रुद्र हैं। देवताओं में पहले ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। सृष्टि की उत्पत्ति के लिए ब्रह्मा, सृष्टि के पालन अर्थात् विकास करने के लिए विष्णु, सृष्टि के विनाश के लिए रुद्र, भोगों के लिए इन्द्र की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई। लोक, देव, तिर्यक्, नर और स्थावर इन सबकी उत्पत्ति ब्रह्माजी के द्वारा हुई। उनमें मनुष्य आदि का शरीर पंचभूतों के संयोग से बनता है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञान के विषय, प्राण आदि पंच वायु, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार (अपेक्षाकृत) स्थूल रचना होने से (इनके मूल कारण को) स्थूल प्रकृति कहा जाता है। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, ज्ञान के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), पंचवायु, मन और बुद्धि को सूक्ष्म (लिंग) शरीर कहा जाता है। कारण शरीर तीन गुणों से युक्त है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर सबके होते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चार अवस्थाएँ होती हैं, तैजस, प्राज्ञ, विश्व और आत्मा ये चार पुरुष इन सब (अवस्थाओं) के अधिपति हैं। विश्व स्थूल का नित्य भोग करने वाला है, तैजस एकान्त का भोग करने वाला है, प्राज्ञ आनन्द का भोगने वाला है और सबका साक्षी (आत्मा) इससे परे कहा जाता है॥ ७२॥

प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः। अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः॥ ७३॥

सर्वव्यापी प्रणव (परमात्मा) जीवों की सभी आनन्दमय अवस्थाओं के भोग के समय अधोमुख अर्थात् उदासीन होकर रहता है॥ ७३॥

अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयो गुणास्त्रीण्यक्षराणि त्रयः स्वरा एवं प्रणवः प्रकाशते। अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु। उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुप्तितः॥ ७४॥

(प्रणव ॐ कार में निहित) तीन अक्षर 'अ' कार, 'उ' कार एवं 'म' कार तीन वेद, तीन लोक, तीन गुण, तीन अक्षर और तीन स्वर के रूप में प्रणव (ओंकार ही) प्रकाशमान है। 'अ' कार समस्त जीवधारियों के जाग्रत् अवस्था में नेत्रों में निवास करता है, सोते समय 'उ' कार कण्ठ में निवास करता है और 'म' कार सुषुप्ति अवस्था में हृदय प्रदेश में निवास करता है॥ ७४॥

विराड्विश्वः स्थूलश्चाकारः। हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः। कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः। अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते। उकारः सात्त्विकः शुक्लो विष्णुरित्यभिधीयते॥७५॥
मकारस्तामसः कृष्णो रुद्रश्चेति तथोच्यते। प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः॥ ७६॥
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत्। अकारे लीयते ब्रह्मा ह्युकारे लीयते हरिः॥ ७७॥
मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते। ज्ञानिनामूर्ध्वगो भूयादज्ञाने स्यादधोमुखः॥ ७८॥
एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित्। अनाहतस्वरूपेण ज्ञानिनामूर्ध्वगो भवेत्॥ ७९॥

यह स्थूल विराट् विश्व 'अ' कार ही है, सूक्ष्म तेजस्वी हिरण्यगर्भ के रूप में 'उ' कार कहा जाता है और 'म' कार अव्याकृत (अप्रकट) कारण प्राज्ञ कहा जाता है। 'अ' कार की प्रकृति राजसी, वर्ण लाल है, उसे सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा कहा गया है। 'उ' कार की प्रकृति सात्त्विक, वर्ण श्वेत है, उसे पालनकर्त्ता विष्णु कहा गया है। 'म' कार की प्रकृति तामस, वर्ण कृष्ण है, उसे संहारकर्त्ता रुद्र कहा गया है, इस तरह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की उत्पत्ति का कारण प्रणव (ॐ) ही कहा गया है। प्रणव ही सबका अनादि कारण परतत्त्व है। 'अ' कार में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा समाहित हैं, उकार में विष्णु समाहित हैं तथा मकार में रुद्र समाहित हैं। एकमात्र प्रणव ही (सर्वत्र) प्रकाशमान रहता है। यह प्रणव ज्ञानी मनुष्यों में ऊर्ध्वमुख एवं अज्ञानी मनुष्यों में अधोमुख वाला कहा गया है। इस प्रकार सर्वत्र समरूप से प्रणव (ॐ कार) ही प्रतिष्ठित है, इसको इस प्रकार से जो जानता है, वही वेदविद् है। ज्ञानी साधकों में यह प्रणव अनाहत रूप से ऊर्ध्वगति वाला होता है॥ ७५-७९ ॥

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् । प्रणवस्य ध्वनिस्तद्वत्तदग्रं ब्रह्म चोच्यते॥ ८० ॥

तैलधारवत् अविच्छिन्न, घण्टा के गम्भीर स्वर की तरह प्रणव (ओंकार) की ध्वनि वाला अनाहत नाद होता है, जिसका मूल 'ब्रह्म' कहा जाता है ॥ ८० ॥

ज्योतिर्मयं तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूक्ष्मतः। ददृशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित्॥ ८१ ॥

महापुरुषों के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य प्रणव का वह अग्रभाग (मूल) प्रकाशमय और वाणी से परे है, इस प्रकार से जानने वाला महात्मा ही वेदविद् है ॥ ८१ ॥

जाग्रन्नेत्रद्वयोर्मध्ये हंस एव प्रकाशते। सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम्॥ ८२ ॥
हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम्। सकारो ध्यायते जन्तुर्हकारो हि भवेद्ध्रुवम्॥८३ ॥

दोनों नेत्रों के बीच जाग्रत् अवस्था में हंस ज्योतित रहता है। 'स' कार खेचरी के रूप में कहा गया है, जो निश्चित रूप से 'त्वं' का स्वरूप है। 'ह' कार पद परमात्मा का द्योतक है, जो निश्चित रूप से 'तत्' पद के रूप में है। जो भी प्राणी 'स' कार का ध्यान करता है, वह निश्चित रूप से 'ह' कार रूप हो जाता है। यही सोऽहम् और तत्त्वमसि की साधना है॥ ८२-८३ ॥

[ऋषि यहाँ 'सोऽहम्' और 'तत् त्वम्' बोध वाक्यों की समानता-एकरूपता प्रदर्शित कर रहे हैं। साधक जब तात्त्विक दृष्टि से 'स्व' की ओर देखता है, तो 'सोऽहमस्मि' का बोध करता है तथा जब बाहर की ओर उसी दृष्टि से देखता है, तो तत्त्वमसि का अनुभव करता है।]

इन्द्रियैर्बध्यते जीव आत्मा चैव न बध्यते। ममत्वेन भवेज्जीवो निर्ममत्वेन केवलः॥ ८४॥

जीव को इन्द्रियाँ बन्धन में बाँधती हैं, आत्मा को इन्द्रियाँ नहीं बाँध सकती हैं। जब तक ममता होती है, वह जीव रहता है, ममता के बन्धन समाप्त हो जाने पर कैवल्य रूप हो जाता है॥ ८४॥

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः। यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति॥ ८५ ॥

सूर्य, चन्द्र औैंर अग्नि देवता एवं भूः, भुवः, स्वः लोक जिसकी मात्राओं में स्थित रहते हैं, वह परम प्रकाशरूप ओंकार है ॥ ८५ ॥

क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी। त्रिधा मात्रास्थितिर्यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥८६ ॥

परम प्रकाशमान ओंकार की तीन मात्राओं में क्रिया, इच्छा और ज्ञान तथा ब्राह्मी, रौद्री एवं वैष्णवी शक्तियाँ विराजमान हैं॥ ८६ ॥

वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत्। मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति॥ ८७॥

सदैव वाणी से उसका जप करे तथा शरीर से उसी के प्रति आचरण करना चाहिए। मन से उसी का जप करते हुए उसी परमप्रकाशरूप ओंकार में स्थिर हो जाए॥ ८७॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा। न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ ८८॥

पवित्र या अपवित्र किसी भी अवस्था में ओंकार का जप करने वाला पाप-पंक में नहीं फँसता, संसार में वह जल से अलिप्त पद्मपत्र की तरह निर्लिप्त बना रहता है॥ ८८॥

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्। योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्॥८९

जब तक वायु चलती रहेगी, तब तक बिन्दु भी चलायमान होगा, वायु के स्थिर हो जाने पर योगी स्थिरता (निश्चलता) को प्राप्त हो जाता है। इसलिए वायु की स्थिरता (प्राणायाम) का अभ्यास करना चाहिए॥ ८९॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुञ्चति। मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरुन्धयेत्॥९०॥

शरीर में जब तक वायु विद्यमान है, तब तक शरीर में जीव स्थिर रहेगा। शरीर से वायु निकल जाना ही मृत्यु है, इस कारण वायु का निरोध (प्राणायाम) करना चाहिए॥ ९०॥

यावद्बद्धो मरुत् देहे तावज्जीवो न मुञ्चति। यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः॥९१॥

जीव शरीर से तब तक नहीं निकल सकता, जब तक शरीर में वायु आबद्ध (स्थित) है, जो व्यक्ति दोनों भृकुटियों के बीच में दृष्टि को स्थिर रखता है, वह काल को जीत लेता है, उसे काल का भय कैसा?॥ ९१॥

अल्पकालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरो भवेत्। योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणान्निरोधयेत्॥ ९२॥

ब्रह्मा भी अल्प काल के भय से (अल्पायु से) मुक्ति पाने के लिए प्राणायाम करते हैं। इसलिए प्राण का निरोध करने के लिए योगियों और मुनियों को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥ ९२॥

षड्विंशदङ्गुलिर्हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः। वामदक्षिणमार्गेण प्राणायामो विधीयते॥ ९३॥

यह प्राण हंस रूप है, जो श्वास के माध्यम से छब्बीस अंगुल बाहर आता है। प्राणायाम नासिका के दोनों छिद्रों अर्थात् बायें-दायें मार्ग से करना चाहिए॥ ९३॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्। तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणक्षमः॥ ९४॥

सभी प्रकार के मलों से नाड़ी चक्र के शुद्ध हो जाने पर योगी प्राणों का निरोध करने (प्राणायाम-सिद्ध होने) में समर्थ हो जाता है॥ ९४॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्। धारयेद्वा यथाशक्त्या भूयः सूर्येण रेचयेत्॥ ९५॥

योग का अभ्यास करने के लिए बद्ध पद्मासन लगाकर चन्द्र नाड़ी (बायें स्वर) के द्वारा वायु को भीतर खींचे-पूरक करे, पुनः कुछ समय भीतर रोके-कुम्भक करे, फिर सूर्य नाड़ी (दायें स्वर) के द्वारा रेचन करे अर्थात् बाहर निकाले॥ ९५॥

अमृतोदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम्। ध्यात्वा चन्द्रमसं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत्॥ ९६॥

प्राणायाम के समय अमृत समुद्र से निकले हुए गो-दुग्ध के समान श्वेत वर्ण के चन्द्रबिम्ब का ध्यान करने से साधक सुखी होता है॥ ९६॥

स्फुरत्प्रज्वलसंज्वालापूज्यमादित्यमण्डलम्। ध्यात्वा हृदि स्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत्॥

पुनः हृदयकमल में स्थित प्रज्वलित ज्वालासदृश भगवान् सूर्य के ध्यान के साथ प्राणायाम करना योगी के लिए सुखदायी होता है॥ ९७॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया। सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिन्दुद्वयं ध्यायतः शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मासद्वयादूर्ध्वतः॥ ९८॥

प्राणायाम में सर्वप्रथम इड़ा नाड़ी अर्थात् बायें स्वर से श्वास खींचे (पूरक करे)। पुनः पिंगला नाड़ी अर्थात् दायें स्वर से श्वास का रेचन करे (पुनः इसके विपरीत करे)। इस प्रकार प्राणायाम करते समय चन्द्र और सूर्य दोनों का पूर्व वर्णित तरीके से ध्यान का अभ्यास करने पर मात्र दो महीने में नाड़ीशोधन हो जाता है ॥ ९८ ॥

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्। नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्॥ ९९ ॥

'नाड़ीशोधन प्राणायाम' करने से नाड़ी शुद्ध होने पर वायु को यथेष्ट धारण करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है तथा आरोग्य के लाभ के साथ जठराग्नि प्रबल हो जाती है और दिव्यनाद सुनाई पड़ने लगता है ॥ ९९ ॥

प्राणो देहस्थितो यावदपानं तु निरुन्धयेत्। एकश्वासमयी मात्रा ऊर्ध्वाधो गगने गतिः ॥ १०० ॥

प्राणायाम में कुंभक की स्थिति में जब तक वायु भीतर रुकी रहे, तब तक अपान वायु को भी रोके रखे। इस प्रकार हृदयाकाश में एक श्वास की मात्रा ऊपर और नीचे गमनशील होती है ॥ १०० ॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः । प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः ॥ १०१ ॥

प्राणायाम की पूरक, कुम्भक और रेचक ये तीनों क्रियाएँ साक्षात् प्रणव का ही रूप हैं (इस चिन्तन के साथ) द्वादश मात्रायुक्त प्राणायाम करना चाहिए॥ १०१ ॥

मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ। दोषजालमबध्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा॥ १०२ ॥

सूर्य और चन्द्र का यह द्वादश मात्रा वाला प्राणायाम साधक के सभी दोषों को समाप्त कर देता है ॥ १०२ ॥

पूरकं द्वादशं कुर्यात्कुम्भकं षोडशं भवेत्। रेचकं दश चोंकारः प्राणायामः स उच्यते ॥ १०३ ॥

पूरक में द्वादश मात्रा, कुम्भक में षोडश मात्रा और रेचक में दस मात्रा के प्राणायाम को ओंकार प्राणायाम कहा जाता है॥ १०३ ॥

अधमे द्वादश मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता। उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥ १०४ ॥

यह प्राणायाम द्वादश मात्रा का सामान्य कोटि का, इससे दुगुनी मात्रा का मध्यम स्तर का और उसकी तिगुनी अर्थात् छत्तीस मात्रा का प्राणायाम उत्तम कोटि का होता है ॥ १०४ ॥

अधमे स्वेदजननं कम्पो भवति मध्यमे। उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्॥ १०५ ॥

अधम अर्थात् सामान्य प्राणायाम पसीना लाने वाला होता है, मध्यम प्राणायाम में शरीर काँपने लगता है तथा उत्तम कोटि के प्राणायाम में शरीर आसन से ऊपर उठने लगता है, इसलिए इसी तरह का प्राणायाम करना चाहिए॥ १०५ ॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम्। नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत्॥ १०६ ॥

योग का अभ्यास करने के लिए एकान्त में बद्धपद्मासन लगाकर बैठे और शिवस्वरूप गुरु को नमस्कार करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥ १०६ ॥

द्वाराणां नव संनिरुध्य मरुतं बध्वा दृढां धारणां नीत्वा कालमपानवह्निसहितं शक्त्या समं चालितम्। आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि स्थिरं यावत्तिष्ठति तावदेव महतां सङ्गो न संस्तूयते॥ १०७॥

जिन नव द्वारों से वायु का गमनागमन होता है, उनका निरोध करके वायु को रोके और अपान को अग्नि से मिलाकर ऊर्ध्वगामी बनाकर शक्तिचालिनी मुद्रा द्वारा कुण्डलिनी मार्ग से दृढ़तापूर्वक ऊपर मस्तिष्क में आत्मा के ध्यान के साथ स्थापित करे। जब तक यह स्थिर रहे, तब तक वह (अन्य) महापुरुष की संगति नहीं चाहता अर्थात् वह स्वयं सर्वश्रेष्ठ हो जाता है ॥ १०७॥

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः। भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा॥ १०८॥

संसार-सागर से मुक्ति के लिए यह प्राणायाम महासेतु के सदृश है और पाप रूपी ईंधन को जलाने वाले अग्नि की तरह है, ऐसा योगियों द्वारा प्रायः कहा जाता है॥ १०८॥

आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम्। विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति॥ १०९॥

योग के आसनों से (शारीरिक) रोग समाप्त होते हैं, प्राणायाम करने से पापों का विनाश होता है तथा प्रत्याहार करने से मानसरोग (विकार) समाप्त होते हैं॥ १०९॥

धारणाभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम्। समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्॥११०॥

योग की धारणाशक्ति द्वारा योगी का मन धैर्यवान् बनता है, समाधि से जीव के शुभाशुभ कर्म समाप्त हो जाते हैं तथा मुक्ति मिल जाती है॥ ११०॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः। प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा॥ १११॥
धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः। ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥ ११२॥

बारह बार प्राणायाम करने से प्रत्याहार की स्थिति बनती है तथा बारह बार इसी तरह प्रत्याहार करने से शुभफलदात्री धारणा की सिद्धि होती है। इसी प्रकार धारणा की द्वादश आवृत्ति पर ध्यान बनता है तथा द्वादश बार ध्यान होने पर समाधि अवस्था प्राप्त होती है, ऐसा योग के विशारदों का मत है॥१११-११२॥

यत्समाधौ परंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्। तस्मिन्दृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते॥ ११३॥

समाधि की स्थिति में साधक परमप्रकाशरूप अनन्त विश्वतोमुख अर्थात् सर्वत्र समभाव प्राप्त कर लेता है, इस स्थिति को प्राप्त होने पर न तो कुछ करना शेष रहता है, न किये हुए कर्म मनुष्य को बन्धन में डालते हैं, इससे आवागमन से छुटकारा मिल जाता है॥ ११३॥

संबद्धासनमेढ्रमङ्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुटद्वाराद्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम्।
बध्वा वक्षसि बह्वपानसहितं मूर्ध्नि स्थिरं धारयेदेवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरास्तन्मनाः॥

दोनों पैर की एड़ियों को मेढ्र अर्थात् सीवन स्थान में लगाकर आसन में दृढ़तापूर्वक बैठे, तत्पश्चात् आँख, कान एवं नाक को अँगुलियों से बन्द करे और मुँह से वायु खींचे। पुनः नीचे से अपान वायु को ऊर्ध्वगामी बनाए, फिर दोनों वायुओं को हृदय प्रदेश में रोके। पुनः ऊर्ध्वगामी बनाकर मस्तिष्क में स्थिर करके मन को उसी में लगाए, इस क्रिया से योगियों को विशेष समत्वभाव प्राप्त होता है॥ ११४॥

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्। घण्टादीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता॥ ११५॥

ऊपर और नीचे दोनों ओर से गतिशील वायु जब आकाशमण्डल (हृदय प्रदेश) में स्थिर होती है, तब साधक को महान् ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है, घण्टा आदि वाद्यों की तरह ध्वनि सुनाई पड़ती है तथा नादयोग की सिद्धि होती है॥ ११५॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्। प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः॥ ११६॥

विधिवत् प्राणायाम के अभ्यास से सभी प्रकार के रोगों से मुक्ति मिलती है। प्राणायाम के न करने से यह शरीर रोगों का उत्पत्तिस्थान बना रहता है॥ ११६॥

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः। भवन्ति विविधा रोगाः पवनव्यत्ययक्रमात्॥

वायु के विकृत होने के कारण ही खाँसी, श्वास, हिचकी, सिर, कान, आँख की पीड़ा होती है और नाना प्रकार के रोग पैदा होते हैं॥ ११७॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः। तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्॥११८॥

हाथी, सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु जिस प्रकार से धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा वश में होते हैं, उसी तरह प्राणवायु को शनैः-शनैः अभ्यास के द्वारा वश में करे। यदि साधक ऐसा नहीं कर पाता है, तो उसका विनाश हो जाता है॥ ११८॥

युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं प्रपूरयेत्। युक्तंयुक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात्॥ ११९॥

समुचित तरीके से प्राणवायु को खींचे, समुचित तरीके से प्राणवायु को बाहर निकाले तथा समुचित तरीके से ही प्राणवायु को रोकने से सिद्धि प्राप्त होती है॥ ११९॥

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्। तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते॥ १२०॥

आँख आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर भागती हैं, उनको वहाँ से रोकना (और इष्ट साधना में लगाना) प्रत्याहार कहा जाता है॥ १२०॥

यथा तृतीयकाले तु रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम्। तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं हरेत्॥ इत्युपनिषत्॥ १२१॥

जैसे-जैसे तृतीय प्रहर (सायंकाल) होता जाता है, वैसे ही सूर्य अपने प्रकाश को समेटता जाता है और सायंकाल को पूरी तरह समेट लेता है, ठीक उसी प्रकार योगी अपनी साधना का स्तर बढ़ाते हुए (तीन अवस्था, तीन गुण, तीन शरीर से आगे बढ़ते हुए) जब अपने तृतीयांग (उच्च योग के तृतीयांग-समाधि) में स्थित हो जाता है, तो वह अपने मन के समस्त विकारों का शमन कर लेता है। यही उपनिषद् (रहस्य विद्या) है॥ १२१॥

ॐ आप्यायन्तु .... इति शान्तिः॥

॥ इति योगचूडामण्युपनिषत्समाप्ता॥

॥ योगराजोपनिषद् ॥

यह योगपरक उपनिषद् है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह योगपरक उपनिषदों में श्रेष्ठ है, तभी इसे 'योगराज' संज्ञा प्रदान की गई है। इसमें कुल २१ मन्त्र हैं, जिसमें योग विषयक सिद्धान्तों को बड़े सरल शब्दों में व्याख्यायित किया गया है। सर्वप्रथम चार योगों-मन्त्रयोग,लययोग, हठयोग एवं राजयोग का उल्लेख है। इसके बाद योग के प्रमुख चार अंगों-आसन, प्राणसंरोध (प्राणायाम), ध्यान तथा समाधि का विवेचन है। पुनः ९ चक्रों (ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, नाभिचक्र, हृदयचक्र,कण्ठचक्र, तालुकाचक्र, भ्रूचक्र, ब्रह्मरन्ध्रचक्र, व्योमचक्र) का वर्णन तथा उनमें ध्यान करने की प्रक्रिया का उल्लेख है। अन्त में चक्रों के ध्यान की फलश्रुति बताते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

योगराजं प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये। मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा॥ १ ॥

अब योगियों के योग-सिद्धि के लिए मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग इन चार प्रकार वाले योग से युक्त योगराज उपनिषद् का वर्णन करते हैं॥ १॥

योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिकः॥२॥

योग के तत्त्वदर्शियों ने योग को आसन, प्राणसंरोध, ध्यान तथा समाधिरूप चार प्रकार का कहा है॥

एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम्। ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मन्त्रं जाप्यं विशारदैः॥ ३ ॥

ये चारों सर्वयोग-सम्मत कहे गये हैं। विद्वज्जन ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के मन्त्रों का जप करें॥ ३॥

साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा। कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञितः॥ ४ ॥

मन्त्रयोग को सिद्ध करने वाले वत्सराज आदि हैं एवं लययोग को व्यासादि ने सिद्ध किया॥ ४॥

नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः। प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तं भगाकृति॥ ५ ॥

नौ प्रकार के चक्रों में लय करके महात्मा लोग योग की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। तीन बार आवृत्त (घिरा हुआ) 'भग' (त्रिकोण)की आकृति का प्रथम चक्र है, जिसको ब्रह्मचक्र कहा गया है॥ ५॥

अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः। तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा॥६ ॥

अपान के स्थान में कामरूपी मूलकन्द स्थित है, उसको ही अग्नि कुण्ड एवं तत्त्व कुण्डलिनी कहा है॥६

तां जीवरूपिणीं ध्यायेज्ज्योतिष्ठं मुक्तिहेतवे। स्वाधिष्ठानं द्वितीयं स्याच्चक्रं तन्मध्यगं विदुः॥७॥

उस ज्योतिस्वरूप जीवरूपिणी का मुक्ति की कामना से ध्यान करना चाहिए। उसी के मध्य में स्वाधिष्ठान नाम का दूसरा चक्र विद्वानों ने कहा है॥ ७॥

पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसन्निभम्। तत्रोड्डीयाणपीठेषु तं ध्यात्वाकर्षयेज्जगत्॥ ८ ॥

प्रवालाङ्कुर(रक्त वर्ण के अंकुर)के समान प्रकाशमान पश्चिमाभिमुख एक लिङ्ग स्थित है। वहाँ उड्डीयाणपीठ (स्वाधिष्ठान चक्र) के अन्तर्गत उस (प्रकाशमान अंकुर) का ध्यान करते हुए संसार का आकर्षण करे॥ ८॥

तृतीयं नाभिचक्रं स्यात्तन्मध्ये तु जगत् स्थितम्। पञ्चावर्तां मध्यशक्तिं चिन्तयेद्विद्युदाकृति॥९ ॥

तृतीय चक्र नाभि चक्र है, उसके अन्दर संसार की स्थिति कही गयी है। उसके मध्य में पाँच आवृत्ति वाली विद्युत् के समान शक्ति का चिन्तन (ध्यान) करना चाहिए॥ ९॥

तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां भाजनं जायते बुधः। चतुर्थं हृदये चक्रं विज्ञेयं तदधोमुखम्॥ १० ॥

उसका ध्यान करके विद्वान् पुरुष समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। चतुर्थ चक्र नीचे की ओर मुँह किये हृदय में स्थित है, ऐसा जानना चाहिए॥ १०॥

ज्योतीरूपं च तन्मध्ये हंसं ध्यायेत् प्रयत्नतः। तं ध्यायतो जगत् सर्वं वश्यं स्यान्नात्र संशयः॥११ ॥

उसके मध्य में प्रकाश के रूप में हंस का ध्यान प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। उसका ध्यान करने से सारा संसार वशीभूत हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए॥ ११ ॥

पञ्चमं कण्ठचक्रं स्यात् तत्र वामे इडा भवेत्। दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया सुषुम्ना मध्यतः स्थिता ॥१२ ॥

पञ्चम चक्र कण्ठचक्र कहा गया है, उसके वाम भाग में इड़ा, दक्षिण भाग में पिङ्गला एवं मध्य में सुषुम्ना की स्थिति कही गई है॥ १२॥

तत्र ध्यात्वा शुचि ज्योतिः सिद्धीनां भाजनं भवेत्। षष्ठं च तालुकाचक्रं घण्टिकास्थान मुच्यते ॥

वहाँ पर (कण्ठचक्र में) पवित्र प्रकाश का ध्यान करने से समस्त सिद्धियाँ मिल जाती हैं। छठा 'तालुका' चक्र कहा गया है, जिसे घण्टिका स्थान भी कहते हैं॥ १३॥

दशमद्वारमार्गं तद्राजदन्तं च तज्जगुः। तत्र शून्ये लयं कृत्वा मुक्तो भवति निश्चितम्॥ १४॥

उसे दसवें द्वार का मार्ग एवं राजदन्त भी कहा जाता है। वहाँ पर शून्य में (मन को) लय करने से मनुष्य निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

भ्रूचक्रं सप्तमं विद्याद्बिन्दुस्थानं च तद्विदुः। भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते॥ १५

सप्तम 'भ्रू' चक्र है, उसे विद्या एवं बिन्दुस्थान भी कहते हैं। योगीजन भृकुटि-मध्य में गोलाकार ज्योति का ध्यान करके मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं॥ १५॥

अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकम्। तं ध्यात्वा सूतिकाग्रामं धूमाकारं विमुच्यते॥ १६ ॥

परम निर्वाण का सूचक आठवाँ चक्र 'ब्रह्मरन्ध्र' कहा जाता है। धूम्रवर्ण वाले उस सूतिका ग्राम अर्थात् उद्गमस्थान का ध्यान करके योगी मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ १६॥

तच्च जालन्धरं ज्ञेयं मोक्षदं नीलचेतसम्। नवमं व्योमचक्रं स्यादश्रैः षोडशभिर्युतम्॥ १७॥

उस नीलवर्ण वाले मोक्षदाता को जालन्धर (जालन्धरपीठ) समझना चाहिए। नौवाँ चक्र सोलह दल वाला व्योमचक्र कहा गया है॥ १७॥

संविद्ब्रूयाच्च तन्मध्ये शक्तिरुद्धा स्थिता परा। तत्र पूर्णां गिरौ पीठे शक्तिं ध्यात्वा विमुच्यते ॥१८

उस षोडशदलचक्र के मध्य में जो पराशक्ति अवरुद्ध (स्थित) है, उसे संविद् कहना चाहिए। वहाँ (उस चक्र के मध्य में) पूर्णागिरिपीठ में पूर्णशक्ति का ध्यान करके साधक मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १८॥

एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः। सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्थाः स्युर्दिने दिने॥ १९ ॥

जो साधक ऊपर वर्णित इन नौ चक्रों में से क्रमशः एक-एक का ध्यान करता है, उसे मुक्ति के सहित समस्त सिद्धियाँ प्रतिदिन प्राप्त होती जाती हैं॥ १९॥

एको दण्डद्वयं मध्ये पश्यति ज्ञानचक्षुषा। कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते॥ २०॥

अपने ज्ञाननेत्र से जो साधक कदम्ब के गुच्छक के समान गोलाकार चक्र के मध्य में दो दण्डों का दर्शन करते हैं, वे ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेते हैं॥ २०॥

ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन अधःशक्तेर्निकुञ्चनात्। मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखं
जायते परमं सुखम्। इति॥ २१ ॥

ऊर्ध्वशक्ति के निपात से एवं अधःशक्ति को संकुचित करने से तथा मध्य की शक्ति को जाग्रत् कर देने से परमसुख प्राप्त हो जाता है। यह निश्चित है॥ २१॥

॥ इति योगराजोपनिषत् समाप्ता ॥

॥ नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्॥

यह एक लघुकाय उपनिषद् है। यह उपनिषद् देवताओं और प्रजापति के मध्य हुए प्रश्नोत्तर से प्रकट हुई है। एक बार देवों ने प्रजापति से 'नारसिंह चक्र' के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, जिसका समाधान प्रजापति ने प्रदान किया। प्रजापति ने नारसिंह चक्र की संख्या 'छह' बताई। इसी आधार पर इस उपनिषद् की 'नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्' संज्ञा हुई। छहों चक्रों का नाम बताते हुए प्रजापति ने कहा-प्रथम आचक्र, द्वितीय सुचक्र, तृतीय महाचक्र, चतुर्थ सकललोक रक्षणचक्र, पंचम द्यूत चक्र और षष्ठ असुरान्तक चक्र है। तत्पश्चात् देवों ने तीन वलय और उनके भेदों-प्रभेदों की बात पूछी है, जिसे प्रजापति ने बड़ी स्पष्टता से उत्तर दिया है। पुनः देवों ने इन चक्रों को धारण करने के स्थान के विषय में प्रश्न पूछा, तब प्रजापति ने इनके धारण करने के स्थान तथा धारण करने के लाभ भी बताए हैं। अन्त में इस उपनिषद् के अध्ययन की फलश्रुति बताते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

ॐ देवा ह वै सत्यं लोकमायंस्तं प्रजापतिमपृच्छन्नारसिंहचक्रन्नो ब्रूहीति। तान्प्रजापति-र्नारसिंहचक्रमवोचत्। षड्वै नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति। यत्प्रथमं तच्चतुररं यद्द्वितीयं तच्चतुररं यत्तृतीयं तदष्टारं यच्चतुर्थं तत्पञ्चारं यत्पञ्चमं तत्पञ्चारं यत्षष्ठं तदष्टारं तदेतानि षडेव नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति॥ १॥

एक बार देवताओं ने सत्यलोक में पहुँचकर प्रजापति (ब्रह्माजी) से कहा-आप हमें नारसिंह चक्र का उपदेश प्रदान करने की कृपा करें। तदुपरान्त प्रजापति ने उन समस्त देवों को नारसिंह चक्र का उपदेश प्रदान किया, जो इस प्रकार है-नारसिंह चक्र की संख्या छः होती है। प्रथम चक्र चार 'अर' वाला, द्वितीय भी चार 'अर' वाला, तृतीय आठ 'अर' वाला, चतुर्थ पाँच 'अर' वाला, पंचम भी पाँच 'अर' वाला तथा छठवाँ आठ 'अर' वाला है। इस तरह से ये छः नारसिंह चक्र कहलाते हैं॥ १॥

अथ कानि नामानि भवन्ति। यत्प्रथमं तदाचक्रं यद्द्वितीयं तत्सुचक्रं यत्तृतीयं तन्महाचक्रं यच्चतुर्थं तत्सकललोकरक्षणचक्रं यत्पञ्चमं तद्द्यूतचक्रं यद्वै षष्ठं तदसुरान्तकचक्रं तदेतानि षडेव नारसिंहचक्रनामानि भवन्ति॥ २॥

देवों के द्वारा यह पूछने पर कि उनके क्या-क्या नाम हैं? यह सुनकर प्रजापति ने कहा कि प्रथम आचक्र, दूसरा सुचक्र, तीसरा महाचक्र, चौथा सकललोक रक्षणचक्र, पाँचवाँ द्यूतचक्र एवं छठवाँ असुरान्तक चक्र के नाम से प्रख्यात है। ये ही छः नारसिंह चक्रों के नाम हैं॥ २॥

अथ कानि त्रीणि वलयानि भवन्ति। यत्प्रथमं तदान्तरवलयं भवति। यद्द्वितीयं तन्मध्यमं वलयं भवति। यत्तृतीयं तद्बाह्यं वलयं भवति। तदेतानि त्रीण्येव वलयानि भवन्ति। यदा तद्वैतद्बीजं यन्मध्यमं तां नारसिंहगायत्रीं यद्बाह्यं तन्मन्त्रः॥ ३॥

तदनन्तर देवों द्वारा यह पूछे जाने पर कि उसके तीन वलय कौन-कौन से होते हैं? प्रजापति ने बताया कि प्रथम आन्तर, द्वितीय मध्यम और तृतीय बाह्य है। ये ही तीन वलय कहलाते हैं। इनमें से जो मध्यम बीज है, वह नारसिंह गायत्री और जो बाह्य है, वही मन्त्र है॥ ३॥

अथ किमान्तरं वलयम्। षड्वान्तराणि वलयानि भवन्ति। यन्नारसिंहं तत्प्रथमस्य यन्माहालक्ष्म्यं तद्द्वितीयस्य यत्सारस्वतं तत्तृतीयस्य यस्य यत्कामं देवं तच्चतुर्थस्य यत्प्रणवं

तत्पञ्चमस्य यत्क्रोधदैवतं तत्षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षडान्तराणि वलयानि भवन्ति॥ ४॥

आन्तर वलय कितने हैं ? देवों द्वारा यह पूछे जाने पर प्रजापति ब्रह्मा जी ने कहा कि आन्तर वलयों की संख्या छः है। नारसिंहम् पहले का है, महालक्ष्म्यं दूसरे का सारस्वत तीसरे का है, जिन लोगों का जो इष्टदेव हो, वह चौथे का है, ओंकार पाँचवें का और क्रोध दैवत छठे का नाम है। अतः ये छः नारसिंह चक्रों के छः आन्तर वलय हैं॥ ४॥

अथ किं मध्यमं वलयम्। षड्वै मध्यमानि वलयानि भवन्ति। यन्नारसिंहाय तत्प्रथमस्य यद्विद्महे तद्द्वितीयस्य यद्वज्रनखाय तत्तृतीयस्य यद्धीमहि तच्चतुर्थस्य यत्तन्नस्तत्पञ्चमस्य यत्सिंहः प्रचोदयादिति तत्षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षण्मध्यमानि वलयानि भवन्ति॥ ५॥

देवों ने जब यह पूछा कि मध्यम वलयों की संख्या कितनी है ? तो प्रजापति जी ने उत्तर दिया कि मध्यम वलयों की संख्या भी छः ही है। 'नारसिंहाय' प्रथम का है, 'विद्महे' दूसरे का, 'वज्रनखाय' तीसरे का है, 'धीमहि' चौथे का, 'तन्नः' पाँचवें का, 'सिंहः प्रचोदयात्' छठे का नाम है। अतः ये छः नारसिंह चक्रों के छः मध्यम वलय होते हैं॥ ५॥

अथ किं बाह्यं वलयम्। षड्वै बाह्यानि वलयानि भवन्ति। यदाचक्रं यदात्मा तत्प्रथमस्य यत्सुचक्रं यत्प्रियात्मा तद्द्वितीयस्य यन्महाचक्रं यज्ज्योतिरात्मा तत्तृयीयस्य यत्सकललो-करक्षणचक्रं यन्मायात्मा तच्चतुर्थस्य यदाचक्रं यद्योगात्मा तत्पञ्चमस्य यदसुरान्तकचक्रं यत्सत्यात्मा तत्षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षट् बाह्यानि वलयानि भवन्ति॥६॥

देवों ने पुनः पूछा कि बाह्य वलय कितने और कौन हैं ? इसका उत्तर देते हुए प्रजापति ने कहा कि बाह्य वलय भी छः होते हैं। जो आचक्र एवं आत्मा है, वह पहले का है; जो सुचक्र तथा प्रियात्मा है, वह दूसरे का है; जो महाचक्र एवं ज्योतिरात्मा है, वह तीसरे का है; जो सम्पूर्ण लोकों का रक्षण चक्र एवं मायात्मा है, वह चौथे का है; जो आचक्र एवं योगात्मा है, वह पाँचवें का है; जो असुरान्तक चक्र एवं सत्यात्मा है, वह छठे का नाम है। अतः ये ही छः नारसिंह चक्रों के छः बाह्य वलय हैं॥ ६॥

[यहाँ प्रथम बाह्य वलय में 'आचक्र' का उल्लेख है; किन्तु पाँचवें वलय के रूप में पुनः इसी 'आचक्र' को उद्धृत किया गया है, जबकि इसके पूर्व पाँचवें वलय के रूप में 'द्यूतचक्र' को स्वीकारा गया है, यह परिवर्तन विचारणीय है।]

क्वैतानि न्यस्यानि। यत्प्रथमं तद्धृदये यद्द्वितीयं तच्छिरसि यत्तृतीयं तच्छिखायां यच्चतुर्थं तत्सर्वेष्वङ्गेषु यत्पञ्चमं तत्सर्वेषु (?) यत्षष्ठं तत्सर्वेषु देशेषु। य एतानि नारसिंहानि चक्राण्येतेष्वङ्गेषु बिभृयात् तस्यानुष्टुप् सिध्यति। तं भगवान् नृसिंहः प्रसीदति। तस्य कैवल्यं सिद्ध्यति। तस्य सर्वे लोकाः सिध्यन्ति। तस्य सर्वे जनाः सिद्ध्यन्ति। तस्मादेतानि षण्णां नारसिंहचक्राण्यङ्गेषु न्यस्यानि भवन्ति। पवित्रं च एतत्तस्य न्यसनम्। न्यसनान्नृसिंहानन्दी भवति। कर्मण्यो भवति। ब्रह्मण्यो भवति। अन्यसनान्न नृसिंहानन्दी भवति। न कर्मण्यो भवति। तस्मादेतत्पवित्रं तस्य न्यसनम्॥ ७॥

इनका न्यास कहाँ करना चाहिए? अर्थात् कहाँ धारण करना चाहिए? देवताओं के द्वारा यह पूछे जाने पर प्रजापति ने कहा कि जो प्रथम है उसे हृदय में, जो द्वितीय है उसे सिर में, जो तृतीय है उसे शिखा में, जो चतुर्थ है उसे समस्त अंगों में, जो पञ्चम है उसे सभी में तथा जो षष्ठ है उसे सम्पूर्ण देशों (पूरे शरीर) में धारण करना चाहिए। जो मनुष्य इन नारसिंह चक्रों को अपने समस्त अङ्गों में धारण करता है, उसे अनुष्टुप् की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उस पर भगवान् नृसिंह प्रसन्न होते हैं। उसे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। उसके समस्त लोक सिद्ध हो जाते हैं। वह समस्त लोकों को प्राप्त कर लेता है। उसे सभी लोग (समस्त परिजन) सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् उसके अनुयायी वशानुवर्ती हो जाते हैं। ये ही छः नारसिंह चक्रों के अङ्गों में न्यास के स्थान हैं। इनका न्यास अत्यधिक शुद्ध है। इनके न्यास द्वारा मनुष्य नृसिंह को आनन्द प्रदान करने वाला हो जाता है। वह कर्मण्य (श्रेष्ठ कर्म) का ज्ञाता हो जाता है, वह ब्रह्मज्ञाता हो जाता है। इस न्यास के बिना नृसिंह प्रसन्न नहीं होते और न ही मनुष्य कर्मण्य हो सकता है। अत: यही अत्यन्त पवित्र है, इसका न्यास ही अत्यन्त शुद्ध-पवित्र है॥ ७॥

[यहाँ न्यास के प्रकरण में चतुर्थ न्यास में सभी अंगों तथा छठे न्यास में सभी स्थानों का उल्लेख है; किन्तु पाँचवें न्यास में सभी शब्द के साथ किसी स्थान का उल्लेख क्यों नहीं हुआ, यह विचारणीय है।]

यो वा एतं नारसिंहं चक्रमधीते स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति। स सर्वेषु यज्ञेषु याजको भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वेषु मन्त्रेषु सिद्धो भवति। स सर्वत्र शुद्धो भवति। स सर्वरक्षो भवति। भूतपिशाचशाकिनीप्रेतवंताकनाशको भवति। स निर्भयो भवति। तदेतन्नाश्रद्दधानाय प्रब्रूयात्तदेतन्नाश्रद्दधानाय प्रब्रूयादिति॥ ८॥

जो मनुष्य इस नारसिंह चक्र उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह सम्पूर्ण वेदों का भी अध्ययन करने वाला हो जाता है। वह समस्त यज्ञों का कर्ता समझा जाता है अर्थात् वह सभी यज्ञ कर लेने वाला माना जाता है। उसने समस्त तीर्थों में स्नान भी कर लिया है, ऐसा जानना चाहिए। उसे सभी मन्त्रों की सिद्धियाँ भी मिल जाती हैं। वह पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। वह सबकी रक्षा करने में समर्थ होता है। वह भूत, पिशाच, शाकिनी, प्रेत एवं वंताक आदि भय प्रदान करने वाली योनियों का नाश करने वाला भी होता है अर्थात् उसके पास ये सभी अनिष्टकारक तत्त्व फटक नहीं सकते। वह निर्भय हो जाता है। इस नारसिंह चक्र का उपदेश श्रद्धाहीन के समक्ष किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए॥ ८॥

॥ इति नृसिंहषट्चक्रोपनिषत् समाप्ता॥

॥ पाशुपतब्रह्मोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें वालखिल्य ऋषि एवं स्वयंभू ब्रह्माजी के बीच हुए 'हंस सूत्र' विषयक प्रश्नोत्तर का वर्णन है। यह उपनिषद् दो काण्डों (पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड) में प्रविभक्त है।

पूर्वकाण्ड में सर्वप्रथम जगत्-नियन्ता के विषय में सात प्रश्न किए गये हैं, जिनका क्रमशः उत्तर दिया गया है। तत्पश्चात् सृष्टियज्ञ में कर्त्ता का निरूपण, नादानुसन्धान यज्ञ, परमात्मा का 'हंस' रूप, यज्ञसूत्र एवं ब्रह्मसूत्र में साम्य, प्रणव हंस का यज्ञत्व, ब्रह्मसन्ध्या का क्रियारूप मानसिक यज्ञ, हंस और प्रणव का अभेदानुसंधान, ९६ हंस सूत्र हंसात्मविद्या से मुक्ति, बाह्य यज्ञ की अपेक्षा आन्तरिक यज्ञ की श्रेष्ठता, ज्ञान यज्ञरूप अश्वमेध तथा तारकहंस ज्योति का वर्णन है।

उत्तरकाण्ड में सर्वप्रथम ब्रह्मसम्पत्ति का तत्पश्चात् परमात्मा में जगत् का आविर्भाव मायाजन्य, हंसार्कप्रणव ध्यान की विधि, शिव द्वारा मन तथा इन्द्रियों की प्रेरकता, आत्मा में अन्य की अनुभूति माया जन्य, आत्मज्ञानी की ब्रह्मात्मता, सत्यादि श्रेष्ठविद्या का साधनत्व, आत्मज्ञानी की आवागमन से मुक्ति, ब्रह्मज्ञानी के लिए भक्ष्याभक्ष्य विवेक की अनुपयोगिता और अन्त में ज्ञानी द्वारा अपने में सभी के दर्शन करने की स्थिति का वर्णन है। इस प्रकार ब्रह्मविषयक गूढ़ सिद्धान्तों का बहुत विशद वर्णन इस उपनिषद् में किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

॥ पूर्वकाण्डः ॥

अथ ह वै स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजाः सृजानीति कामकामो जायते कामेश्वरो वैश्रवणः ॥ १ ॥

एक बार स्वयंभू भगवान् ब्रह्माजी के मन में यह आकांक्षा प्रादुर्भूत हुई कि "मैं प्रजा का सृजन करूँ"। उसी सृष्टि क्रम में कामेश्वर (रुद्र) एवं वैश्रवण की उत्पत्ति हुई ॥ १ ॥

वैश्रवणो ब्रह्मपुत्रो वालखिल्यः स्वयंभुवं परिपृच्छति जगतां का विद्या का देवता जाग्रत्तुरीययोरस्य को देवो यानि कस्य वशानि कालाः कियत्प्रमाणाः कस्याज्ञया रविचन्द्रग्रहादयो भासन्ते कस्य महिमा गगनस्वरूप एतदहं श्रोतुमिच्छामि नान्यो जानाति त्वं ब्रूहि ब्रह्मन् ॥ २ ॥

तदुपरान्त ब्रह्मपुत्र वैश्रवण वालखिल्य ऋषि ने स्वयंभू ब्रह्माजी से प्रश्न किया- हे भगवन्! यह जगत् विद्या क्या है? जाग्रत् और तुरीयावस्था के देवता कौन हैं? यह जगत् किसके वश में है? काल का क्या प्रमाण है? सूर्य एवं चन्द्रादि ग्रह किसकी आज्ञा से प्रतिभासित (प्रकाशित) होते हैं? किसकी महिमा गगन के सदृश विशाल है? हम इन सभी प्रश्नों के उत्तर आपसे सुनना चाहते हैं। आपके अतिरिक्त अन्य और कोई इन प्रश्नों का ज्ञाता नहीं है, अतः हे ब्रह्मन्! आप कृपा करके इन प्रश्नों को बताने का अनुग्रह करें ॥ ३ ॥

स्वयंभूरुवाच कृत्स्नजगतां मातृका विद्या ॥ ३ ॥

स्वयंभू (ब्रह्माजी) ने कहा-सम्पूर्ण जगत् (उत्पन्न) करने वाली मातृका विद्या (अक्षर विद्या) है ॥ ३ ॥

द्वित्रिवर्णसहिता द्विवर्णमाता त्रिवर्णसहिता। चतुर्मात्रात्मकोङ्कारो मम प्राणात्मिका देवता ॥४ ॥

वह दो वर्ण (हंस) से युक्त तथा तीन वर्ण (प्रणव) वाली है। दो वर्ण वाली भी तीन वर्ण के सहित (प्रणव) ही है। चार मात्राओं से युक्त ओंकार मेरा प्राण रूप देवता है॥ ४॥

अहमेव जगत्त्रयस्यैकः पतिः ॥ ५ ॥

मैं ही एकमात्र तीनों लोकों का पति (भरण-पोषण करने वाला) हूँ॥।५॥

मम वशानि सर्वाणि युगान्यपि॥ ६ ॥

समस्त युग मेरे ही वश (नियंत्रण) में रहते हैं॥ ६॥

अहोरात्रादयो मत्संवर्धिताः कालाः ॥ ७॥

मेरे द्वारा ही अहोरात्र अर्थात् दिन-रात्रि आदि काल संवर्द्धित (प्रादुर्भूत) हुए हैं॥ ७॥

मम रूपा रवेस्तेजश्चन्द्रनक्षत्रग्रहतेजांसि च॥ ८ ॥

रवि, चन्द्रमा , समस्त नक्षत्रों एवं ग्रह आदि में जो तेज विद्यमान है, वह मेरा ही स्वरूप है ॥८॥

गगनो मम त्रिशक्तिमायास्वरूपो नान्यो मदस्ति॥ ९ ॥

यह आकाश त्रिशक्ति युक्त (सत, रज, तम) मायारूप में मेरा ही स्वरूप है। मेरे सिवाय अन्य और कुछ भी नहीं है॥ ९॥

तमोमायात्मको रुद्रः सात्त्विकमायात्मको विष्णू राजसमायात्मको ब्रह्मा। इन्द्रादयस्ताम-सराजसात्मिका न सात्त्विकः कोऽपि। अघोरः सर्वसाधारणस्वरूपः ॥ १० ॥

तमोगुणी मायारूप- रुद्र हैं, विष्णु सतोगुणी मायारूप हैं और ब्रह्मा रजोगुणी माया रूप हैं। इन्द्रादि देवता रजोगुण एवं तमोगुण से ओत-प्रोत हैं। इनमें से कोई भी देव सात्त्विक नहीं हैं। एक मात्र केवल अघोर (शिव) ही सर्वसाधारण सामान्य रूप वाले हैं॥ १०॥

समस्तयागानां रुद्रः पशुपतिः कर्ता। रुद्रो यागदेवो विष्णुरध्वर्युर्होतेन्द्रो देवता यज्ञभुग् मानसं ब्रह्म महेश्वरं ब्रह्म॥ ११ ॥

समस्त यज्ञों के कर्त्ता-पशुपति रुद्र भगवान् हैं, भगवान् विष्णु यज्ञ के अध्वर्यु हैं तथा इन्द्रदेव होता (मंत्र बोलने वाले) हैं। महेश्वर-ब्रह्म के मानस रूप ब्रह्म ही इस यज्ञ के भोक्ता हैं॥ ११॥

मानसो हंसः सोऽहं हंस इति। तन्मययज्ञो नादानुसंधानम्। तन्मयविकारो जीवः ॥ १२ ॥

उस मानस ब्रह्म का रूप ही ''हंसः-सोऽहं'' है। इस तन्मयता की प्राप्ति हेतु जो यज्ञ सम्पन्न किया जाता है, वही नाद-अनुसंधान है। तन्मय (उस चैतन्यमयता) का विकार ही जीव है॥ १२॥

[हंस साधना और सोऽहं साधना एक ही कही गई है। एक ओर से हंसः यही नाद दूसरी ओर से सोऽहं भाषित होता है। भाव रूप में मैं वह ही हूँ (हं-सः) तथा वह मैं ही हूँ (सोऽहं) यह दोनों भाव तत्त्वतः जीव और ब्रह्म के एकत्व के ही बोधक हैं।]

परमात्मस्वरूपो हंसः। अन्तर्बहिश्चरति हंसः। अन्तर्गतोऽनवकाशान्तर्गतसुपर्णस्वरूपो हंसः ॥१३ ॥

(वह) 'हंस' परमात्मा का स्वरूप है। (वह) हंस बाह्य एवं अन्तः में विचरण करता रहता है। अन्तः के अनवकाश वाले स्थल में यह हंस सुपर्णमय (ईश्वर-परब्रह्म) रूप में विद्यमान रहता है॥ १३॥

षण्णवतितत्त्वतन्तुवद्व्यक्तं चित्सूत्रत्रयचिन्मयलक्षणं नवतत्त्वत्रिरावृतं ब्रह्मविष्णुमहेश्व-रात्मकमग्नित्रयकलोपेतं चिद्ग्रन्थिबन्धनम् अद्वैतग्रन्थिः ॥ १४॥

यज्ञसाधारणाङ्गं बहिरन्तर्ज्वलनं यज्ञाङ्गलक्षणब्रह्मस्वरूपो हंसः ॥ १५ ॥

छियानवे तत्त्व तन्तुओं के रूप में व्यक्त होने वाला, चित् के तीन सूत्रों (सत्, चित्, आनन्द) से चिन्मय लक्षणों वाला त्रिगुणित होने से नौ तत्त्वों वाला, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप तीन अग्नियों से संयुक्त, चिद् ग्रन्थियों से बँधा हुआ, अद्वैत ग्रन्थि (ब्रह्मग्रन्थि) से युक्त यज्ञ के सामान्य अंग-रूप में बाह्य एवं अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाला यज्ञोपवीत, ब्रह्म के लक्षणों से युक्त हंस रूप है॥ १४-१५ ॥

[यहाँ यज्ञोपवीत की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के रूप में की गई है। स्थूल यज्ञोपवीत का निर्माण जिन चेतन तत्त्वों के आधार पर किया जाता है, यहाँ उनका उल्लेख ऋषि कर रहे हैं। यज्ञोपवीत बनाने में चार अंगुलों अथवा उस माप को किसी वस्तु पर कच्चे सूत्र के तीन तारों को ९६ बार लपेटा जाता है। उसे बटकर तिहरन करके पुनः बटते हैं। इस प्रकार एक लड़ में ९ तार हो जाते हैं। इसे तीन लड़ों वाले यज्ञोपवीत रूप में ग्रथित किया जाता है। प्रारंभिक ग्रंथियों के बाद अंत में ब्रह्मग्रन्थि लगाई जाती है। इन्हीं का विश्लेषण-ऋषि ने किया है। अन्य बातें तो मन्त्रार्थ में स्पष्ट हैं, केवल ९६ तत्त्वों का उल्लेख नहीं है। इसका स्पष्टीकरण सामवेदीय छान्दोग्य परिशिष्ट में इस प्रकार दिया गया है-'तिथिवारञ्च नक्षत्रं तत्त्ववेदगुणान्वितम्। कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम्' अर्थात् तत्त्व २५, गुण ३, तिथि १५, वार ७, नक्षत्र २७, वेद ४, काल ३ तथा मास १२ इस प्रकार कुल ९६ तत्त्व वाला ब्रह्मसूत्र है।]

उपवीतलक्षणसूत्रब्रह्मगा यज्ञाः। ब्रह्माङ्गलक्षणयुक्तो यज्ञसूत्रम्। तद्ब्रह्मसूत्रम्। यज्ञसूत्र-संबन्धी ब्रह्मयज्ञः तत्स्वरूपः ॥ १६ ॥

इस प्रकार यह उपवीत के लक्षणों से युक्त सूत्र (ब्रह्मसूत्र) यज्ञ-रूप है अर्थात् यह ब्रह्म का प्रतीक रूप है। ब्रह्म के लक्षणों से युक्त यह यज्ञसूत्र (यज्ञोपवीत) है, वही ब्रह्मसूत्र है। अतः यज्ञोपवीत एवं ब्रह्मयज्ञ दोनों एक दूसरे के स्वरूप ही हैं ॥ १६ ॥

अङ्गानि मात्राणि। मनोयज्ञस्य हंसो यज्ञसूत्रम्। प्रणवं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्मयज्ञमयम्। प्रणवान्तर्वर्ती हंसो ब्रह्मसूत्रम्। तदेव ब्रह्मयज्ञमयं मोक्षक्रमम्॥ १७ ॥

इसके अंग मात्राएँ हैं। यह ब्रह्मसूत्र ही इस मनोयज्ञ का हंस है। ब्रह्मयज्ञ से युक्त यह प्रणव भी ब्रह्मसूत्र ही है। प्रणव का अन्तःवर्ती हंस भी ब्रह्मसूत्र है। यह ब्रह्मयज्ञ मोक्ष का साधन रूप ही है॥ १७॥

[बाहर ब्रह्मसूत्र धारण करने का वास्तविक उद्देश्य अन्तःवर्ती ब्रह्मसूत्र को जाग्रत्-जीवन्त बनाना होता है। जब अन्तःवर्ती ब्रह्मसूत्र परिपक्व अवस्था में पहुँच जाता है, तो बाह्यसूत्र को त्यागकर 'संन्यास' में प्रवेश किया जाता है।]

ब्रह्मसंध्याक्रिया मनोयागः। संध्याक्रिया मनोयागस्य लक्षणम्॥ १८ ॥

ब्रह्मसंध्या मानसिक यज्ञ की क्रिया है, संध्या-क्रिया मानसिक यज्ञ का लक्षण है॥ १८॥

[जो लोग ब्रह्मसंध्या को स्थूल कर्मकाण्ड के रूप में ही दुहरा कर अपना दायित्व पूरा मान लेते हैं, मानसिक यज्ञ के रूप में उसे जाग्रत्-विकसित नहीं करते, उन्हें सन्ध्यावन्दन का शास्त्रोक्त लाभ प्राप्त नहीं होता।]

यज्ञसूत्रप्रणवब्रह्मयज्ञक्रियायुक्तो ब्राह्मणः। ब्रह्मचर्येण चरन्ति देवाः। हंससूत्रचर्या यज्ञाः। हंसप्रणवयोरभेदः ॥ १९ ॥

जो मनुष्य यज्ञोपवीत, प्रणव एवं ब्रह्मयज्ञ की क्रिया से सम्पन्न हैं, वही ब्राह्मण हैं। ब्रह्मचर्य में ही देवता विचरण करते हैं। सूत्ररूप हंस एवं प्रणव दोनों एक ही हैं। इन दोनों में कोई भेद नहीं है॥ १९ ॥

हंसस्य प्रार्थनास्त्रिकालाः। त्रिकालास्त्रिवर्णाः। त्रेताग्न्यनुसंधानो यागः। त्रेताग्न्यात्मा-कृतिवर्णोङ्कारहंसानुसंधानोऽन्तर्यागः ॥ २० ॥

हंस की प्रार्थना त्रिकाल अर्थात् तीन समय में सम्पन्न की जाती है। तीन काल, तीन वर्ण (अकार, उकार,

मकार) होते हैं। यह यज्ञ तीन अग्नियों के अनुसंधान द्वारा सम्पन्न करने का है। तीन अग्नि रूप आत्मा की आकृति एवं वर्ण वाले ॐकार रूप हंस का अनुसंधान ही अन्तः का यज्ञ है॥ २०॥

चित्स्वरूपवत्तन्मयं तुरीयस्वरूपम्। अन्तरादित्ये ज्योतिःस्वरूपो हंसः॥ २१॥

चित् स्वरूप में तन्मय (तल्लीन) होना ही तुरीयावस्था का स्वरूप है। अन्तः के आदित्य में हंस ही ज्योति रूप में अवस्थित है॥ २१॥

यज्ञाङ्गं ब्रह्मसंपत्तिः। ब्रह्मप्रवृत्तौ तत्प्रणवहंससूत्रेणैव ध्यानमाचरन्ति॥ २२॥

यज्ञाङ्ग ही ब्रह्म-सम्पत्ति है। अतः ब्रह्म-प्राप्ति के निमित्त प्रणवरूप हंस की साधना में ही ध्यान द्वारा विचरण करना चाहिए॥ २२॥

प्रोवाच पुनः स्वयंभुवं प्रतिजानीते ब्रह्मपुत्रो ऋषिर्वालखिल्यः। हंससूत्राणि कतिसंख्यानि कियद्वा प्रमाणम्॥ २३॥

ब्रह्मपुत्र वालखिल्य ने पुनः स्वयंभू ब्रह्माजी से पूछा-हे भगवन्! 'हंससूत्रों की संख्या कितनी है तथा उनके प्रमाण कितने हैं? आप तो सभी कुछ जानने में समर्थ हैं, कृपा करके बताने का अनुग्रह करे'॥ २३॥

हृद्यादित्यमरीचीनां पदं षण्णवतिः। चित्सूत्रघ्राणयोः स्वर्निर्गता प्रणवाधारा षडङ्गुलदशाशीतिः॥ २४॥

तदनन्तर स्वयंभू ब्रह्माजी ने उत्तर दिया- 'हृदय- आदित्य की छियानवे रश्मियाँ हैं। चित्-सूत्र घ्राण से स्वरसहित निकलने वाली धारा भी छियानवे अंगुल होती है'॥ २४॥

वामबाहुदक्षिणकट्योरन्तश्चरति हंसः परमात्मा ब्रह्मगुह्यप्रकारो नान्यत्र विदितः॥ २५॥

बायीं भुजा (कंधा) और दक्षिण कट्यन्त (दाहिनी ओर कटि के छोर पर) के मध्य (हृदय क्षेत्र) में परमात्मा हंस का निवास है; किन्तु इस गुह्य विषय की जानकारी किसी को नहीं हो पाती है॥ २५॥

जानन्ति तेऽमृतफलकाः। सर्वकालं हंसं प्रकाशकम्। प्रणवहंसान्तर्ध्यानप्रकृतिं विना न मुक्तिः॥

जिन्हें अमृतत्व की प्राप्ति हो गई है, वे ही उस सर्वकाल प्रकाशमान हंस को जानते हैं। प्रणवरूपी हंस का अन्तर्ध्यान किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो पाती॥ २६॥

नवसूत्रान्परिचर्चितान्। तेऽपि यद्ब्रह्म चरन्ति। अन्तरादित्यं न ज्ञातं मनुष्याणाम्॥ २७॥

जो मनुष्य रँगे हुए इस नौ सूत्र वाले यज्ञोपवीत को धारण करते हैं। वे भी इसकी उपासना ब्रह्ममय मान कर ही करते हैं; किन्तु इन मनुष्यों को अन्तः में स्थित आदित्यरूप ब्रह्म का ज्ञान(आत्मबोध)नहीं होता॥२७॥

जगदादित्यो रोचत इति ज्ञात्वा ते मर्त्या विबुधास्तपनप्रार्थनायुक्ता आचरन्ति॥ २८॥

आदित्य जगत् को प्रकाशित करता है, यह जानकर वे बुद्धिमान् मनुष्य पवित्रता एवं ज्ञान के लिए उसकी प्रार्थना करते हैं॥ २८॥

वाजपेयः पशुहर्ता अध्वर्युरिन्द्रो देवता अहिंसा धर्मयागः परमहंसोऽध्वर्युः परमात्मा देवता पशुपतिः॥ २९॥

वाजपेय यज्ञ (विशिष्ट ज्ञानयज्ञ) पशुहर्ता (पशुत्वभाव-अज्ञान भाव का हरण करने वाला) है। इस यज्ञ के अध्वर्यु एवं देवता इन्द्र (परमेश्वर) हैं। यह अहिंसात्मक धर्मयज्ञ (मोक्षयज्ञ) है, इसके अध्वर्यु परमहंस तथा देवता पशुपति परमात्मा हैं॥ २९॥

ब्रह्मोपनिषदो ब्रह्म। स्वाध्याययुक्ता ब्राह्मणाश्चरन्ति॥ ३०॥

वेद एवं उपनिषद् में जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, उसी (परमात्मतत्त्व) की ये स्वाध्याययुक्त ब्रह्मज्ञानी उपासना करते हैं॥ ३०॥

अश्वमेधो महायज्ञकथा। तद्राज्ञा ब्रह्मचर्यमाचरन्ति। सर्वेषां पूर्वोक्तब्रह्मयज्ञक्रमं मुक्तिक्रममिति॥ ३१॥

इस महायज्ञ का ज्ञान ही अश्वमेध यज्ञ है। इसके आश्रय से ही वे (ज्ञानीजन) ब्रह्मज्ञान का आचरण करते हैं। पूर्व में वर्णित समस्त ब्रह्मयज्ञ-कर्म ही मुक्ति प्रदान करने में समर्थ हैं॥ ३१॥

ब्रह्मपुत्रः प्रोवाच। उदितो हंस ऋषिः। स्वयंभूस्तिरोदधे। रुद्रो ब्रह्मोपनिषदो हंसज्योतिः पशुपतिः प्रणवस्तारकः स एवं वेद॥ ३२॥

ब्रह्मपुत्र ने पुनः कहा-'हंस से सम्बन्धित ज्ञान का प्राकट्य हो गया है।' ऐसा श्रवण कर स्वयंभू तिरोहित हो गये। इस उपनिषद् में जिस हंस ज्योति का वर्णन किया गया है, वही रुद्र है और संसार से उद्धार करने वाला प्रणव (ओंकार) ही पशुपति (ब्रह्म) है, उसे ऐसा जानो॥ ३२॥

॥ उत्तरकाण्डः ॥

हंसात्ममालिकावर्णब्रह्मकालप्रचोदिता। परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसंपत्तिकारिणी॥ १॥

'हंस' का जप ही वर्ण ब्रह्म है, इसी से ब्रह्म-प्राप्ति की प्रेरणा प्राप्त होती है। यह ब्रह्म ही परमात्मा एवं पुरुष है। यह ब्रह्म सम्पत्ति से युक्त होता है॥ १॥

अध्यात्मब्रह्मकल्पस्याकृतिः कीदृशी कथा। ब्रह्मज्ञानप्रभासन्ध्या कालो गच्छति धीमताम्। हंसाख्यो देवमात्माख्यमात्मतत्त्वप्रजः कथम्॥ २॥

जो मनुष्य अपने आत्मिक ज्ञान से ब्रह्म के समान हो गया हो, फिर उसके संदर्भ में कहने के लिए क्या शेष रह जाता है? ज्ञानी मनुष्य अपना सम्पूर्ण समय ब्रह्मचर्चा एवं उपासना में ही व्यतीत करते हैं। जब हंस एवं आत्मा में एकात्मता स्थापित हो जाती है, तो फिर प्रजा कहाँ हो सकती है?॥ २॥

अन्तः प्रणवनादाख्यो हंसः प्रत्ययबोधकः। अन्तर्गतप्रमागूढं ज्ञाननालं विराजितम्॥ ३॥

अन्त:करण से नि:सृत होने वाले प्रणव रूपी नाद से जो हंस ज्ञात होता है, वही सम्पूर्ण ज्ञान का बोध कराने वाला है। अन्तः में अनुभवगम्य गूढ़ ज्ञान के द्वारा बाह्य जगत् के ज्ञान की प्राप्ति होती है॥ ३॥

शिवशक्त्यात्मकं रूपं चिन्मयानन्दवेदितम्। नादबिन्दुकला त्रीणि नेत्रविश्वविचेष्टितम्॥ ४॥

शिव-शक्तिमयात्मकरूप चिन्मय आनन्द से ज्ञात होने वाला है। नाद, बिन्दु एवं कला इन तीनों नेत्रों (जागृति) से ही यह जगत् चेष्टायुक्त है॥ ४॥

त्रियंगानि शिखा त्रीणि द्वित्रीणि संख्यमाकृतिः। अन्तर्गूढप्रमा हंसः प्रमाणान्निर्गतं बहिः॥ ५॥

तीन अंग, तीन शिखा एवं दो या तीन मात्राओं में उसकी संख्या (आकृति) ज्ञात होती है। जब इस प्रकार से वह अन्तर्धान हो जाता है, तब इस गूढ़ आत्मा का ज्ञान बाह्य जगत् में भी प्रमाण के रूप में प्रकट होता है॥५॥

ब्रह्मसूत्रपदं ज्ञेयं ब्राह्म्यं विध्युक्तलक्षणम्। हंसार्कप्रणवध्यानमित्युक्तो ज्ञानसागरे॥ ६॥

जगत् के सूत्ररूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके स्वयमेव ब्रह्म के लक्षणों से युक्त होना चाहिए तथा निरन्तर हंस रूपी सूर्य का प्रणव सहित ध्यान करते रहना चाहिए, यही ज्ञानीजनों का उपदेश है॥ ६॥

एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागरपारगः। स्वतः शिवः पशुपतिः साक्षी सर्वस्य सर्वदा॥ ७॥

इस प्रकार से विशेष ज्ञान-प्राप्ति होने के पश्चात् ही ज्ञान-सागर के पार पहुँचा जा सकता है। स्वयं भगवान् शिवरूप पशुपति-ब्रह्म ही सर्वदा (इसके) साक्ष्य रूप हैं॥ ७॥

[अध्यात्म क्षेत्र में जड़-चेतन दोनों प्रकार के ज्ञान के अतिवाद को उचित नहीं माना गया है, जैसा कि ईशोपनिषद् (९) में 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' .... इत्यादि मन्त्र में 'केवल विद्या की उपासना करने वालों' को भी अन्धकार में फँस जाने की बात कही गई है। यहाँ 'ज्ञान' को डुबाने वाला सागर तथा उससे पार जाने की बात उक्त तथ्य को ध्यान में रखकर ही कही गयी प्रतीत होती है।]

सर्वेषां तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु। विषये गच्छति प्राणश्चेष्टते वाग्वदत्यपि॥ ८॥

यही भगवान् शिव सभी लोगों के मन को प्रेरित एवं संतुलित-नियमित करने वाले हैं, जिसके प्रभाव से मन विषयों में गतिशील होता है। प्राण चेष्टा-रत रहते हैं तथा वाणी उच्चारण का कार्य करती है॥ ८॥

चक्षुः पश्यति रूपाणि श्रोत्रं सर्वं शृणोत्यपि। अन्यानि खानि सर्वाणि तेनैव प्रेरितानि तु॥ ९॥
स्वं स्वं विषयमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते निरन्तरम्। प्रवर्तकत्वं चाप्यस्य मायया न स्वभावतः॥ १०॥

उन्हीं भगवान् की प्रेरणा से चक्षु रूपों-दृश्यों को देखते हैं, कान श्रवण करते हैं तथा अन्य समस्त इन्द्रियाँ भी उन्हीं से प्रेरित हो रही हैं। वे निरन्तर अपने-अपने विषयों के उद्देश्य में प्रवृत्त होती रहती हैं। यह विषयों में प्रवृत्त होना ही मायारूप है, यह स्वभाववश नहीं होता, माया द्वारा ही होता है॥ ९-१०॥

श्रोत्रमात्मनि चाध्यस्तं स्वयं पशुपतिः पुमान्। अनुप्रविश्य श्रोत्रस्य ददाति श्रोत्रतां शिवः॥११॥

श्रोत्र आत्मा के आश्रित हैं तथा स्वयं पशुपति ब्रह्म श्रोत्र में प्रविष्ट होकर उन शिव को श्रवण शक्ति देते हैं॥ ११॥

मनः स्वात्मनि चाध्यस्तं प्रविश्य परमेश्वरः। मनस्त्वं तस्य सत्त्वस्थो ददाति नियमेन तु॥ १२॥

मन भी अपनी अन्तरात्मा में अभ्यस्त है एवं परब्रह्म परमेश्वर उसमें प्रविष्ट होकर, उस सत्त्व में स्थित होते हुए उसे नियम में रखते हैं और मनस्विता प्रदान करते हैं॥ १२॥

स एव विदितादन्यस्तथैवाविदितादपि। अन्येषामिन्द्रियाणां तु कल्पितानामपीश्वरः॥ १३॥
तत्तद्रूपमनुप्राप्य ददाति नियमेन तु। ततश्चक्षुश्च वाक्चैव मनश्चान्यानि खानि च॥ १४॥
न गच्छन्ति स्वयंज्योतिः स्वभावे परमात्मनि। अकर्तृविषयप्रत्यक्प्रकाशं स्वात्मनैव तु॥ १५॥
विना तर्कप्रमाणाभ्यां ब्रह्म यो वेद वेद सः। प्रत्यगात्मा परंज्योतिर्माया सा तु महत्तमः॥ १६॥

ऐसे ही वे परम ईश्वर समस्त इन्द्रियों को सचेष्ट करते हैं, परन्तु लोग उन ब्रह्म को जैसा बताते हैं अथवा कल्पना करते हैं, उससे वे महेश्वर सर्वथा भिन्न हैं। परब्रह्म परमेश्वर ही इन समस्त इन्द्रियों को अपने अनुकूल रूप प्रदान करते हैं एवं उनका नियमन भी करते हैं। इस कारण ये चक्षु, मन,वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ परमपिता परमात्मा के स्वयं प्रकाशतत्त्व (रूप) को प्राप्त नहीं हो सकतीं अर्थात् उनके ज्ञानरूपी प्रकाश को जानने में समर्थ नहीं हो सकतीं। जो मनुष्य ऐसा जानता है कि परमात्मा अन्तः के विषयों से भिन्न(अलग)है,वह तर्क एवं प्रमाण के बिना ही उसे अपनी अन्तरात्मा द्वारा जानने का निरन्तर प्रयास करे, उसे यथार्थ रूप में परमात्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यह आत्मा ही परम प्रकाश स्वरूप है,जबकि वह माया महा अन्धकाररूप है॥१३-१६॥

तथा सति कथं मायासंभवः प्रत्यगात्मनि। तस्मात्तर्कप्रमाणाभ्यां स्वानुभूत्या च चिद्घने॥१७॥
स्वप्रकाशैकसंसिद्धे नास्ति माया परात्मनि। व्यावहारिकदृष्ट्येयं विद्याविद्या न चान्यथा॥ १८॥

इसलिए प्रत्यगात्मा एवं माया की एकता किसी भी तरह से सम्भव नहीं है। उसके तर्कों, प्रमाणों एवं

अनुभव से ज्ञात होता है कि चैतन्यमय स्वयं प्रकाशस्वरूप परमात्मा में माया नहीं है। विद्या एवं अविद्या के विषय व्यावहारिक हैं, परमात्मा से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है॥ १७-१८॥

तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम्। व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः॥ १९॥
प्रकाश एव सततं तस्मादद्वैत एव हि। अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः॥ २०॥

तात्त्विक दृष्टि से यह सभी कुछ मिथ्या ही है। केवल एक तत्त्व ही वास्तविक सत्य है। व्यावहारिक-दृष्टि से जो भी कुछ जान पड़ता है, वह भी वैसे ही आभासित होता है। प्रकाश ही निरन्तर विद्यमान है। इस प्रकार यह अद्वैत ही है, अद्वैत ही इस प्रकार के प्रकाश के अभेद से कहा जाता है॥ १९-२०॥

प्रकाश एव सततं तस्मान्मौनं हि युज्यते। अयमर्थो महान्यस्य स्वयमेव प्रकाशितः॥२१॥
न स जीवो न च ब्रह्म न चान्यदपि किंचन। न तस्य वर्णा विद्यन्ते नाश्रमाश्च तथैव च॥ २२॥
न तस्य धर्मोऽधर्मश्च न निषेधो विधिर्न च। यदा ब्रह्मात्मकं सर्वं विभाति तत एव तु॥ २३॥
तदा दुःखादिभेदोऽयमाभासोऽपि न भासते। जगज्जीवादिरूपेण पश्यन्नपि परात्मवित्॥ २४॥
न तत्पश्यति चिद्रूपं ब्रह्मवस्त्वेव पश्यति। धर्मधर्मित्ववार्ता च भेदे सति हि भिद्यते॥ २५॥

इस प्रकार से सर्वत्र सतत एक प्रकाश स्थित है। इसके सन्दर्भ में और अधिक कुछ कहने की अपेक्षा मौन ही उत्तम है। जिस मनुष्य को यह महान् ज्ञान स्वयमेव ज्ञात हो गया है, वह न जीव रूप है, न ब्रह्म है और न ही कुछ और है। उसका न कोई 'वर्ण' है तथा वह आश्रम भी नहीं है। वह धर्म भी नहीं है और अधर्म भी नहीं है, निषेध एवं विधि भी वह नहीं है। जब उसको सब कुछ ब्रह्ममय ही दृष्टिगोचर होता है, तब उसे इस दु:खादि भेद का आभास बिल्कुल नहीं जान पड़ता। परब्रह्म परमात्मा का इस प्रकार से ज्ञान रखने वाला इस जीवादि स्वरूप वाले विश्व को देखते हुए भी नहीं देखता। वह एकमात्र चिद्रूप ब्रह्म का ही निरन्तर दर्शन करता है। धर्म एवं धर्मों के विषय-भेद के रहते हुए भिन्न ही प्रतीत होते हैं॥ २१-२५॥

भेदाभेदस्तथा भेदाभेदः साक्षात्परात्मनः। नास्ति स्वात्मातिरेकेण स्वयमेवास्ति सर्वदा॥ २६॥

एक मात्र वह परमात्म चेतना ही है, जो हमेशा से अपने वर्तमान स्वरूप में है और दूसरे अन्य सभी भेद आदि एवं समस्त भेद-अभेद उस (परमात्मा) में ही संव्याप्त हैं॥ २६॥

ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च। तथैव ब्रह्मविज्ज्ञानी किं गृह्णाति जहाति किम्॥२७

वस्तु अथवा अवस्तु जो कुछ भी विद्यमान है, वह सभी कुछ साक्षात् परब्रह्ममय ही है। ऐसी दशा में ब्रह्मज्ञान रखने वाला किसी को स्वीकार अथवा परित्याग कैसे कर सकता है?॥ २७॥

अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम्। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम्॥ २८॥
अचक्षुःश्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिपदं तथा। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम्॥ २९॥
ब्रह्मैवेदममृतं तत्पुरस्ताद्ब्रह्मानन्दं परमं चैव पश्चात्। ब्रह्मानन्दं परमं दक्षिणे च ब्रह्मानन्दं परमं चोत्तरे च॥ ३०॥

जो परब्रह्म उपमा-विहीन, वाणी एवं मन से अगोचर, दृष्टि से परिलक्षित न होने वाला, ग्रहण न कर सकने योग्य, गोत्र-रहित, रूप-विहीन है; जो (ब्रह्म) आँख, कान, हाथ-पैर आदि से रहित, नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अव्यय एवं मृत्यु से रहित है, सबका अधिष्ठाता अथवा आधार रूप है; वह (ब्रह्म उस साधक के) आगे-पीछे,उत्तर एवं दक्षिण सर्वत्र सर्वश्रेष्ठ वेदामृत (वेदज्ञानामृत) स्वरूप ब्रह्मानन्द रूप में विद्यमान है और वह परब्रह्म आनन्दमय रूप में दायें-बायें भी प्रतिष्ठित है॥ २८-३०॥

स्वात्मन्येव स्वयं सर्वं सदा पश्यति निर्भयः। तदा मुक्तो न मुक्तश्च बद्धस्यैव विमुक्तता॥३१॥

इस प्रकार वह श्रेष्ठ साधक सभी को निरन्तर अपनी अन्तरात्मा में निर्भय होकर देखता रहता है। ऐसा भाव रखने वाला साधक ज्ञानी ही नहीं, वरन् अज्ञानी होने पर भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ ३१॥

एवंरूपा परा विद्या सत्येन तपसापि च। ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्लभ्या वेदान्तवर्त्मना॥ ३२॥

इस प्रकार परा विद्या,सत्य,तप और ब्रह्मचर्यादि धर्म की प्राप्ति भी वेदान्त मार्ग के द्वारा ही होती है॥३२॥

स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं पारमार्थिकम्। क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययाऽऽवृताः॥३३॥

जिनका अन्तःकरण पूर्णरूपेण पवित्र है, समस्त दोषादि विकार क्षीण हो गये हैं, वे ही श्रेष्ठ योगी साधक स्वयं प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का दर्शन कर सकते हैं, माया द्वारा आवृत लोग उन परमप्रभु का दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते॥ ३३॥

एवं स्वरूपविज्ञानं यस्य कस्यास्ति योगिनः। कुत्रचिद्गमनं नास्ति तस्य संपूर्णरूपिणः॥ ३४॥

जो योगी साधक अपने स्वरूप को इस तरह से समझ लेता है, वह उस पूर्णता को प्राप्त करके पुनः आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ता ॥ ३४॥

आकाशमेकं संपूर्णं कुत्रचिन्न हि गच्छति। तद्वद्ब्रह्मात्मविच्छ्रेष्ठः कुत्रचिन्नैव गच्छति॥ ३५॥

जिस प्रकार एकमात्र आकाश सर्वत्र उपस्थित रहता है। वह इधर-उधर कहीं गमनागमन नहीं करता, उसी प्रकार जिस योगी साधक ने अपने को ब्रह्ममय जान लिया है, वह कहीं आ-जा नहीं सकता ॥ ३५॥

अभक्ष्यस्य निवृत्त्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत्। आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः॥३६॥

आहार के अन्तर्गत अभक्ष्य-भक्षण का परित्याग कर देने पर चित्त पूर्णतया पवित्र हो जाता है। जब आहार की शुद्धि हो जाती है, तब चित्त की शुद्धि स्वयं ही हो जाती है॥ ३६॥

चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं त्रुट्यन्ति ग्रन्थयः स्फुटम्। अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानविहीनस्यैव देहिनः॥३७॥

जब चित्त पूरी तरह से शुद्ध हो जाता है, तब क्रमशः ज्ञान प्रवर्द्धित होता चला जाता है तथा अज्ञान की समस्त ग्रन्थियाँ विनष्ट हो जाती हैं, लेकिन भक्ष्याभक्ष्य का विचार मात्र उसके लिए आवश्यक है, जिसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति अभी नहीं हुई है॥ ३७॥

न सम्यग्ज्ञानिनस्तद्वत्स्वरूपं सकलं खलु। अहमन्नं सदान्नाद इति हि ब्रह्मवेदनम्॥ ३८॥

इसका कारण यह है कि सम्यक् रूप से ज्ञानी का स्वरूप अज्ञानी के सदृश भेद-ज्ञानयुक्त नहीं होता। ज्ञानी यह समझता है कि भक्षण करने वाला मैं 'ब्रह्म' हूँ तथा अन्न भी मैं ही हूँ॥ ३८॥

ब्रह्मविद्ग्रसति ज्ञानात्सर्वं ब्रह्मात्मनैव तु। ब्रह्मक्षत्रादिकं सर्वं यस्य स्यादोदनं सदा॥ ३९॥

जो साधक योगी-ब्रह्मज्ञानी होता है, वह प्राणि-मात्र को ब्रह्म के रूप में देखता है। इस कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की भावना भी उसके लिए भोज्य (ग्राह्य-पाच्य) है॥ ३९॥

यस्योपसेचनं मृत्युस्तं ज्ञानी तादृशः खलु। ब्रह्मस्वरूपविज्ञानाज्जगद्भोज्यं भवेत्खलु॥ ४०॥

मृत्यु ही जिस ब्रह्म का अन्न (भोज्य पदार्थ) है, ऐसे ब्रह्म को जानने वाला साधक भी तदनुरूप ही हो जाता है तथा यह सम्पूर्ण जगत् ही उसके लिए भोज्य (ग्राह्य) हो जाता है॥ ४०॥

जगदात्मतया भाति यदा भोज्यं भवेत्तदा। ब्रह्मस्वात्मतया नित्यं भक्षितं सकलं तदा॥ ४१॥

जब इस विश्व की, आत्मा के रूप में अनुभूति की जाती है, तो वह भोज्य रूप हो जाता है तथा आत्मा रूप से अविनाशी ब्रह्म सतत उसका भक्षण करता रहता है॥ ४१॥

यदाभानेन रूपेण जगद्भोज्यं भवेत्तु तत्। मानतः स्वात्मना भातं भक्षितं भवति ध्रुवम्॥४२॥

जिसका आभास हो जाने से यह विश्व भोज्य पदार्थरूप हो जाता है तथा वह जब आत्मस्वरूप ज्ञात हो जाता है, तो निश्चय ही वह ब्रह्म के द्वारा भक्षित होता है॥ ४२॥

स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः। अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम्॥ ४३॥

इस तरह से ब्रह्म स्वयं ही अपने स्वरूप का भक्षण करता है, इसका कारण यह है कि उससे (ब्रह्म से) भोज्य पदार्थ अलग ही नहीं है। जो अस्तिता का रूप है, वही ब्रह्म के अस्तित्व का लक्षण-रूप है॥ ४३॥

अस्तितालक्षणा सत्ता सत्ता ब्रह्म न चापरा। नास्ति सत्तातिरेकेण नास्ति माया च वस्तुतः॥४४

सत्ता का लक्षण ही अस्तित्व माना जाता है तथा ब्रह्म से सत्ता पृथक् नहीं होती। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता है ही नहीं और न माया कोई वास्तविक वस्तु ही होती है॥ ४४॥

योगिनामात्मनिष्ठानां माया स्वात्मनि कल्पिता। साक्षिरूपतया भाति ब्रह्मज्ञानेन बाधिता॥४५॥

योगी साधकगण माया की कल्पना अपनी अन्तरात्मा से ही करते हैं। वह ब्रह्मज्ञान से बाधित होती हुई उन (साधक गणों) को साक्षीरूप में प्रतिभासित होती है॥ ४५॥

ब्रह्मविज्ञानसंपन्नः प्रतीतमखिलं जगत्। पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक्॥ ४६॥ इत्युपनिषत्॥

इस प्रकार से जिस ज्ञानी साधक को ब्रह्म के ज्ञान-विज्ञान की सम्पन्नता की अनुभूति हो गई है, वह चाहे इस सम्पूर्ण विश्व का अपने समक्ष दर्शन करता रहे; किन्तु वह उसे अपने से अलग कभी नहीं मानता। ऐसी ही यह उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है॥ ४६॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः॥

॥ इति पाशुपतब्रह्मोपनिषत्समाप्ता॥

॥ प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् का मूल प्रयोजन 'चित्त शुद्धि' है, जिसके द्वारा 'ब्रह्मज्ञान' सहज प्राप्य है। इस उपनिषद् में सर्वप्रथम 'शारीर यज्ञ' के विषय में स्पष्टीकरण देने की घोषणा तथा उसका प्रतिफल (सांख्य आदि दर्शनों के ज्ञान के बिना निवृत्ति-मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है) वर्णित है। तत्पश्चात् बाह्य प्राणाग्निहोत्र का प्रयोग स्पष्ट किया गया है। तदुपरान्त शारीराग्नि दर्शन नामक अपर-ब्रह्मविद्या का स्वरूप विवेचित हुआ है। शारीराग्नि विद्या द्वारा 'शारीर यज्ञ' का निरूपण अगले क्रम में है। अन्त में इस 'प्राणाग्निहोत्र' विद्या के पठन-पाठन की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि इस उपनिषद् का अध्येता एक ही जन्म में चित्त शुद्धि तथा (परिणाम स्वरूप) मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। इसी के साथ उपनिषद् पूर्ण हो गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अक्ष्युपनिषद्)

अथातः सर्वोपनिषत्सारं संसारज्ञानातीतमन्नसूक्तं शारीरयज्ञं व्याख्यास्यामः। यस्मिन्नेव पुरुषः शरीरे विनाप्यग्निहोत्रेण विनापि सांख्ययोगेन संसारविमुक्तिर्भवति॥ १ ॥

अब समस्त उपनिषदों का सारभूत सांसारिक ज्ञान से परे (प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् के अन्तर्गत) अन्नसूक्त एवं शारीर यज्ञ की व्याख्या प्रारम्भ की जाती है। जिस पुरुष-शरीर की जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात् अग्निहोत्र के बिना और सांख्य आदि दर्शनों के ज्ञान के बिना ही संसार से निवृत्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है॥ १ ॥

स्वेन विधिनान्नं भूमौ निक्षिप्य या ओषधीः सोमराज्ञीरिति तिसृभिरन्नपत इति द्वाभ्यामनुमन्त्रयते॥

अपनी विधि के अनुसार पृथ्वी पर (निर्मित की गई वेदिका पर) अन्न को रखकर तत्पश्चात् नीचे लिखे (या ओषधयः ....। या फलिनीर्याः ....। जीवला नघारिषां ....।) इन तीन मंत्रों तथा ('अन्नपतेऽन्नस्य ....। यदन्नमग्निर्बहुधा ....।') इन दो ऋचाओं से अभिमंत्रित करना चाहिए॥ २ ॥

अब उपर्युक्त वर्णित तीन व दो ऋचाओं का क्रमानुसार अर्थ लिखते हैं-

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ३॥

जो ओषधियों के अधिष्ठाता देव सोम हैं। वे प्रधान शतवीर्य, बहुशाखा वाले सैकड़ों रोगों को विभिन्न तरह से विनष्ट करने में सक्षम हैं। ये विशिष्ट गुणों से युक्त ओषधियाँ बृहस्पति (देवों के आचार्य) द्वारा तैयार (उत्पन्न) की गई हैं। ये ओषधियाँ हमें पापों-रोगों से मुक्ति प्रदान करें॥ ३॥

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ४॥

जो फलों से युक्त, फलों से रहित, पुष्प युक्त एवं पुष्प रहित ऐसी ये समस्त ओषधियाँ बृहस्पति-प्रसूत (विशेषज्ञ वैद्य द्वारा प्रादुर्भूत) हैं, ये ओषधियाँ हमें रोगों-पापों से मुक्ति प्रदान करें॥ ४॥

जीवला नघारिषां मा ते बध्नाम्योषधिम्। यातयायुरुपाहरादप रक्षांसि चातयात्॥ ५॥

सतत हरी-भरी बनी रहने वाली ओषधि मेरे द्वारा बाँधी जा रही है अर्थात् ग्रहण की जा रही है। आयु क्षीण करने वाले तत्त्वों से वह हमें संरक्षण प्रदान करे॥ ५ ॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः। प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥ ६

हे अन्न के प्रति अग्निदेव! आप हम सभी के लिए आरोग्य-प्रद एवं पोषण युक्त अन्न की व्यवस्था करें। दानी मनुष्यों को भली-भाँति पोषित करें। हमारे पुत्र-पौत्रादि एवं पशुओं के लिए भी अन्न प्रदान करें॥ ६ ॥

यदन्नमग्निर्बहुधा विराद्धि रुद्रैः प्रजग्धं यदि वा पिशाचैः। सर्वं तदीशानो अभयं कृणोतु शिवमीशानाय स्वाहा॥ ७॥

जो अन्न अग्नि के द्वारा प्रजा के निमित्त रुद्रों अथवा पिशाचों से प्राय: बचाकर रखा जाता है, उस कल्याणकारी अन्न को ईशानदेव दोषमुक्त बनाएँ, उन ईशानदेव भगवान् शिव को यह आहुति समर्पित है॥ ७॥

मंत्र सं० २ से ७ तक के मन्त्रों द्वारा अन्न का स्पर्श करके उसे अभिमन्त्रित करें। तदनन्तर हाथ में जल लेकर मंत्र क्र० ८ व ९ क्रमशः 'अन्तश्चरसि .... एवं 'आपः पुनन्तु' ..... इन दो मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर अन्न का प्रोक्षण करें -

अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः। त्वं यज्ञस्त्वं ब्रह्मा त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरों नमः॥ ८॥

प्राणियों के हृदय में सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित रहते हुए निरन्तर भ्रमण करने वाले तुम ही यज्ञ, ब्रह्मा, विष्णु, वषट्कार, आप:, ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भू:, भुव: एवं स्व: स्वरूप हो, तुम्हें नमन है॥ ८॥

आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम्। यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम। सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहं स्वाहा॥ ९॥

हे आप: (जल) ! आप पृथ्वी को पवित्र करें तथा शुद्ध हुई जो पृथ्वी है, वह मुझे पवित्रता प्रदान करे। ब्रह्मपूत पृथ्वी मुझे पवित्रता प्रदान करे। जो उच्छिष्ट, अभक्ष्य अथवा दुश्चरित्रता मेरे में सन्निहित हो, उन सबको हटाकर जल देवता हमें पवित्र बना दें, इस निमित्त यह आहुति समर्पित है॥ ९॥

अमृतमस्यमृतोपस्तरणमस्यमृतं प्राणे जुहोम्यमाशिष्यान्तोऽसि। ॐ प्राणाय स्वाहा। ॐ अपानाय स्वाहा। ॐ व्यानाय स्वाहा। ॐ उदानाय स्वाहा। ॐ समानाय स्वाहा। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा। ॐ ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वायेति ॥ १०॥

(इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों से प्रोक्षण करके दो बार जलाभिषेक करने के बाद बायें हाथ से वेदिका का स्पर्श करते हुए दाहिने हाथ में ग्रहण कर) 'अमृतमस्यमृतोपस्तरणमसि'(हे जल! तुम अमृत स्वरूप हो,तुम अमृत स्वरूप आच्छादन हो) यह कहते हुए उसे पीकर 'अमृतं प्राणे जुहोम्यमाशिष्यान्तोऽसि'(अमृतोपम होम करने के योग्य पदार्थ का आस्वादन प्राप्त कर लिया गया है।) यह कहकर अपनी आत्मा का अनुसंधान करते हुए प्राण में आहुतियाँ समर्पित करे। प्राण के लिए आहुति समर्पित है। अपान,व्यान,उदान,समान के लिए आहुति समर्पित है। ब्रह्मा के लिए आहुति समर्पित है। ब्रह्म में मेरी आत्मा अमृतत्व का रसास्वादन प्राप्त करे॥ १०॥

कनिष्ठिकाङ्गुल्याङ्गुष्ठेन च प्राणे जुहोति अनामिकयापाने मध्यमया व्याने सर्वाभिरुदाने प्रदेशिन्या समाने॥ ११॥

कनिष्ठिका अँगुली और अँगूठे के द्वारा प्राण में, अनामिका से अपान में, मध्यमा से व्यान में तथा सभी अँगुलियों के द्वारा समान में आहुति डालनी चाहिए॥ ११॥

[काया में सक्रिय पाँचों प्राणों का हाथ की विभिन्न अँगुलियों से सम्बन्ध होने का संकेत है। विभिन्न अँगुलियों के माध्यम से पाँचों प्राणों का संवर्धन कैसे संभव है, यह शोध का विषय है।]

तूष्णीमेकामेकऋचा जुहोति द्वे आहवनीये एकां दक्षिणाग्नौ एकां गार्हपत्ये एकां सर्वप्रायश्चित्तीये॥ १२॥

मौन रहते हुए एक आहुति (प्राणाय स्वाहा से) करे। (अपानाय स्वाहा से) दो आहुतियाँ आहवनीय में,एक (आहुति) दक्षिणाग्नि में, एक गार्हपत्य में एवं एक सर्वप्रायश्चित्तीय अग्नि में समर्पित करे॥ १२॥

अथापिधानमस्यमृतत्वायोपस्पृश्य पुनरादाय पुनरुपस्पृशेत्॥ १३॥

(इस प्रकार पाँच आहुतियाँ समर्पित करके यथा-नियम ग्रहण कर अर्थात् अन्न सेवन कर 'अथ पुरस्तात् चोपरिष्टाच्च अद्भिः परिदधाति', इस श्रुति के अनुरोध से) अपिधान (अनावृत) स्वरूप को अमृतत्व के लिए स्पर्श करके फिर ग्रहण कर पुनः स्पर्श करे॥ १३॥

सव्ये प्राणावाऽऽपो गृहीत्वा हृदयमन्वालभ्य जपेत्। प्राणोऽग्निः परमात्मा पञ्चवायुभिरावृतः। अभयं सर्वभूतेभ्यो न मे भीतिः कदाचन॥ १४॥

बायें हाथ में जल लेकर हृदयालम्भन कर अर्थात् हृदय के समीप में हाथ रखकर जप करे। मुख्य प्राण पाँच प्रकार के वायु (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) से घिरा हुआ परमात्मा स्वरूप है। वह मुझे समस्त प्राणियों से भय-रहित करे, मैं उनसे कभी भयभीत न होऊँ॥ १४॥

विश्वोऽसि वैश्वानरो विश्वरूपं त्वया धार्यते जायमानम्। विश्वं त्वाहुतयः सर्वा यत्र ब्रह्माऽमृतोऽसि॥

हे मुक्तप्राण! आप विश्वस्वरूप हैं। आप ही विश्व में वैश्वानर रूप में विराट् होकर समस्त विश्व को अपने स्वरूप में धारण करते हैं। वह वैश्वानर सम्पूर्ण भूत-प्राणियों की देह में स्थित है। आप ब्रह्मामृत स्वरूप हैं, आपसे प्रादुर्भूत होने वाला यह विश्व तुरीयाग्नि में सभी आहुतियों के रूप में विलीन हो जाता है॥ १५॥

महानवोऽयं पुरुषो योऽङ्गुष्ठाग्रे प्रतिष्ठितः। तमद्भिः परिषिञ्चामि सोऽस्यान्ते अमृताय च॥ १६॥

जो प्राणरूप से पैर के दोनों अँगूठों के अग्रभाग में प्रतिष्ठित है, वहाँ पर तुम प्रतिक्षण अभिनव पुरुष के रूप में स्थित रहते हो। इस भोजन के अन्त में अमृतत्व की प्राप्ति हेतु तुम्हें सब ओर से सिंचित(तुष्ट)करता हूँ॥

अनावित्येष बाह्यात्मा ध्यायेताग्निहोत्रं जुहोमीति। सर्वेषामेव सूनुर्भवति। अस्य यज्ञपरिवृता आहुतीर्होमयति॥ १७॥

वे (प्राणरूप पुरुष) विशिष्ट चेष्टासम्पन्न हैं, अतः बाह्यात्मा इनका चिन्तन करे। यह पुरुष (प्रत्येक दिन प्राण-रूपी) अग्निहोत्र करता है। [क्योंकि तुम्हारा परमात्मा (अग्नि रूप का) पुत्रवत् पोषण करते हैं।] अतः तुम सभी के पुत्र भी होते हो, इस यज्ञीय भाव से परिवृत होकर तुम आहुतियों का होम करते हो॥ १७॥

स्वशरीरे यज्ञं परिवर्तयामीति। चत्वारोऽग्नयस्ते किं नारमर्धयाः॥ १८॥

अपने शरीर में यज्ञ को परिवर्तित करता हूँ। इस शरीर में अग्नियों की संख्या चार मानी गई है, जो अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। ये सभी अर्धमात्रिक मात्र हैं॥ १८॥

तत्र सूर्योऽग्निर्नाम सूर्यमण्डलाकृतिः सहस्त्ररश्मिपरिवृत एकऋषिर्भूत्वा मूर्धनि तिष्ठति। यस्मादुक्तो दर्शनाग्निर्नाम चतुराकृतिराहवनीयो भूत्वा मुखे तिष्ठति। शारीरोऽग्निर्नाम जराप्रणुदा हविरवस्कन्दति। अर्धचन्द्राकृतिर्दक्षिणाग्निर्भूत्वा हृदये तिष्ठति। तत्र कोष्ठाग्निरिति-कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलीढस्वादितं सम्यग् व्यष्ट्यं विषयित्वा गार्हपत्यो भूत्वा नाभ्यां तिष्ठति॥ १९॥

इन चार अग्नियों में से 'सूर्याग्नि' नामक अग्नि, सूर्य मण्डलाकृति के अनुरूप है। यह अत्यधिक तेजोमयी सहस्त्र (असंख्य) रश्मियों से सम्पन्न व्यापकरूप में होकर मूर्धा भाग में प्रतिष्ठित रहती है। (जैसा कि प्रसिद्ध है- 'तुरीयं' मूर्ध्नि संस्थितम्)। चूँकि यह जीवात्मा सर्वत्र ईश्वररूप में दृष्टिगोचर होता है, इसी कारण यह दर्शनाग्नि कहा गया है। यह विराड् आदि चार आकृतियों से युक्त आहवनीय बनकर मुख में स्थित रहता है। स्थूल शरीर को जलाने वाली शारीर अग्नि (हिरण्यगर्भ) स्थूल शरीर के आश्रित जरादि अवस्था के द्वारा कमजोर किया जाता है, स्थूल प्रपंच रूप हवि को ग्रसित करता है, जो कि अर्द्धचन्द्र के स्वरूप वाला दक्षिणाग्नि होकर समस्त भूत-प्राणियों के हृदय में विद्यमान रहता है। (चौथी) 'कोष्ठाग्नि' नामक अग्नि है। जो खायी, पी-हुई, चाटी हुई एवं आस्वादित वस्तु को अच्छी तरह से पकाकर गार्हपत्याग्नि के रूप में नाभिस्थल में प्रतिष्ठित रहती है॥ १९॥

प्रायश्चित्तयस्त्वधस्तात्तिर्यक् तिस्रो हिमांशुप्रभाभिः प्रजननकर्मा॥ २०॥

इस प्रकार प्रायश्चित्त वृत्तियाँ (चित्त की वृत्तियाँ) अधः (नीचे) प्रतिष्ठित हैं, तिर्यक् (वक्र वृत्तियाँ) तथा तीन (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति) अवस्थाओं के प्रकाशक हिमांशु (अर्थात् चिद्रूप चन्द्र) सभी तरह से समर्थ प्रभु हैं। सभी कुछ प्रकाशमय कर देने वाले हैं॥ २०॥

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्य को यजमानः का पत्नी के ऋत्विजः के सदस्याः कानि यज्ञपात्राणि कानि हवींषि का वेदिः काऽन्तर्वेदिः को द्रोणकलशः को रथः कः पशुः कोऽध्वर्युः को होता को ब्राह्मणाच्छंसी कः प्रतिप्रस्थाता कः प्रस्तोता को मैत्रावरुणः क उद्गाता का धारा कः पोता के दर्भाः कः स्रुवः काज्यस्थाली कावाघारौ कावाज्यभागौ केऽत्र याजाः के अनुयाजाः केडा कः सूक्तवाकः कः शंयोर्वाकः काऽहिंसा के पत्नीसंयाजाः को यूपः का रशना का इष्टयः का दक्षिणा किमवभृथमिति ॥२१॥

इस शारीर यज्ञ का, जो कि यूप (खम्भे) एवं रसना (रस्सी) से अशोभित (यूप और रसना से रहित) है, उसका यजमान कौन है ? पत्नी, ऋत्विज् एवं सदस्य कौन हैं ? यज्ञ-पात्र, हवि, वेदि, अन्तर्वेदिका, द्रोणकलश, रथ,पशु(बलिपशु),अध्वर्यु, होता, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, मैत्रावरुण, उद्‌गाता, धारा (हवा करने वाला), पोता, दर्भ(कुश),स्रुवा, आज्यस्थाली (घृतपात्र), आघार, आज्यभाग, याज, अनुयाज, इड़ा , सूक्तवाक्, शंयोर्वाक्, अहिंसा, पत्नी संयाज, यूप (खम्भा), रशना, इष्ट, दक्षिणा एवं यज्ञ के समापन पर किया जाने वाला अवभृथ (एक स्नान विशेष) कौन-कौन हैं ? (अर्थात् जैसे यज्ञ में उपर्युक्त सभी वस्तुएँ-पदार्थ अपेक्षित हैं, वैसे ही इस शारीर यज्ञ के लिए भी ये सभी वस्तुएँ आवश्यक हैं, किन्तु ये सब कहाँ और कौन हैं ?) ॥ २१ ॥

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्यात्मा यजमानः बुद्धिः पत्नी वेदा महर्त्विजः अहंकारोऽध्वर्युः चित्तं होता प्राणो ब्राह्मणाच्छंसी अपानः प्रतिप्रस्थाता व्यानः प्रस्तोता उदान उद्गाता समानो मैत्रावरुणः शरीरं वेदिः नासिकाऽन्तर्वेदिः मूर्धा द्रोणकलशः पादो रथः दक्षिणहस्तः स्रुवः सव्यहस्त आज्यस्थाली श्रोत्रे आघारौ चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवा धारा पोता तन्मात्राणि सदस्याः महाभूतानि प्रयाजाः भूतानि गुणा अनुयाजाः जिह्वेडा दन्तोष्ठौ सूक्तवाकः तालुः शंयोर्वाकः स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा पत्नीसंयाजाः ओंकारो यूपः आशा रशना मनो रथः कामः पशुः केशा दर्भाः बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि कर्मेन्द्रयाणि हवींषि अहिंसा इष्टयः त्यागो दक्षिणा अवभृथं मरणात् सर्वा ह्यस्मिन्देवताः शरीरेऽधिसमाहिताः ॥ २२ ॥

इस शारीर यज्ञ का जो कि यूप(खम्भे)एवं रसना से अशोभित(रहित)है, इस शारीर यज्ञ की आत्मा यजमान है, बुद्धि पत्नी है, वेद ही महा ऋत्विज् हैं, अहंकार ही अध्वर्यु है, चित्त होता है, प्राण ब्राह्मणाच्छंसी है, अपान प्रतिप्रस्थाता है,व्यान प्रस्तोता है,उदान उद्‌गाता,समान मैत्रावरुण, शरीर वेदिका,नासिका अन्तःवेदि,मूर्धा (सिर)द्रोणकलश,पैर ही रथ है,दाहिना हाथ स्रुवा है,बायाँ हाथ घृतपात्र है,कान ही आघार हैं,नेत्र ही आज्य भाग हैं, ग्रीवा(गर्दन)ही धारा—पोता हैं, तन्मात्राएँ सदस्य हैं, पञ्च महाभूत प्रयाज,अन्यभूत(प्राणी)गुण और अनुयाज हैं,जिह्वा इड़ा है,दाँत-ओष्ठ सूक्तवाक् हैं, तालु शंयोर्वाक्, स्मृति, दया, शान्ति ही अहिंसा और पत्नीसंयाज हैं, ॐ कार खम्भा है,आशा रशना है,मन रथ है,काम ही पशु है,केश ही कुशाएँ हैं,ज्ञानेन्द्रियाँ यज्ञपात्र हैं, कर्मेन्द्रियाँ हवि हैं,अहिंसा इष्टकायें,त्याग ही दक्षिणा है, मृत्यु ही अवभृथ स्नान है। ऐसा समझकर जब यज्ञ किया जाता है, तभी यह यज्ञ पूर्ण फलदायक होता है और तभी समस्त देवगण इस शरीर में समाहित होते हैं॥ २२॥

वाराणस्यां मृतो वापि इदं वा ब्राह्मणः पठेत्। एकेन जन्मना जन्तुर्मोक्षं च प्राप्नुयादिति मोक्षं च प्राप्नुयादित्युपनिषत्॥ २३॥

यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु काशी में हो अथवा फिर कोई ब्राह्मण इसे ('उपनिषद् को) पढ़े, तो एक ही जन्म में चित्त शुद्धि करने वाला ज्ञान एवं मोक्ष को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेता है, यही उपनिषद् है॥ २३॥

॥ इति प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् समाप्ता ॥

॥ बह्वृचोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसमें जगत् की कारण स्वरूपा 'आदिशक्ति' का स्वरूप विवेचित करती है। इसमें सर्वप्रथम 'चित्शक्ति' का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। उसी 'चित् शक्ति' से 'ब्रह्मा' से लेकर स्थावर (जड़) तक सभी प्रकट हुए हैं। चित् शक्ति से ही शब्द, अर्थ और रूप आदि का प्राकट्य हुआ। 'चित् शक्ति' अद्वितीय है। अन्तः और बाह्य में विद्यमान चैतन्य शक्ति एक ही है। वही शक्ति 'अम्बा' आदि के रूप में विद्यमान है। वही परब्रह्मस्वरूपा है। जो इस ब्रह्मस्वरूपा 'चित् शक्ति' को भली प्रकार जान लेते हैं, वे उस परमाकाश में सदा-सर्वदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इन्हीं सब तथ्यों के साथ यह उपनिषद् पूर्ण होती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्षमालिकोपनिषद्)

देवी ह्येकाग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत्। कामकलेति विज्ञायते। शृङ्गारकलेति विज्ञायते॥१

सृष्टि रचना के पहले एक मात्र देवी ही विद्यमान थीं। उन्हीं के द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि-संरचना सम्पन्न हुई। वे देवी कामकला और शृंगारकला के नाम से प्रख्यात हैं॥ १ ॥

तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरसः किंनरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वं शाक्तमजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किंचैतत्प्राणिस्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत्॥२

उन देवी के द्वारा ही ब्रह्मा, भगवान् विष्णु एवं रुद्र प्रकट हुए। उन्हीं से सभी मरुद्गण तथा गायन करने वाले गन्धर्व, नर्तन करने वाली अप्सराएँ एवं वाद्ययन्त्रों को झंकृत करने वाले किन्नर प्रकट हुए। उन्हीं से उपभोग की सामग्री भी उत्पन्न हुई, सभी कुछ उन्हीं के द्वारा प्रादुर्भूत हुआ है। अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज एवं जरायुज आदि जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, उनकी एवं मनुष्य की सृष्टि भी उन्हीं जगन्मयी देवी से हुई है॥ २ ॥

सैषाऽपरा शक्तिः। सैषा शांभवी विद्या कादिविद्येति वा हादिविद्येति वा सादिविद्येति वा रहस्यम्। ओमों वाचि प्रतिष्ठा॥ ३ ॥

वे (देवी) ही अपरा शक्ति कहलाती हैं। वे ही शाम्भवीविद्या, कादिविद्या, हादिविद्या एवं सादिविद्या कहलाती हैं। वे (देवी) रहस्यमयी हैं। वे ही प्रणववाची अक्षर तत्त्वरूपा हैं। ॐ अर्थात् सत्-चित् आनन्दमयी वे देवी समस्त प्राणियों की वागिन्द्रिय में अवस्थित हैं॥ ३ ॥

[शाक्त तन्त्र के विविध प्रयोगों द्वारा भी आत्म-परमात्मतत्त्व की एकरूपता का बोध होता है, उसे ही यहाँ विद्या की संज्ञा प्रदान की गई है, जैसे- शाम्भवी विद्या-जिसके द्वारा परम कल्याणकारी (ईश्वर) का साक्षात्कार हो। कादिविद्या- 'क' आदि (क,ए, ई,ल, ह्रीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या। हादिविद्या- 'ह' आदि (ह,स, क, ह, ल, ह्रीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या तथा सादिविद्या-'स' आदि (स,क,ल, ह्रीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या।]

सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देशकालवस्त्वन्तरसङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः॥ ४॥

वे (देवी) ही इन तीनों (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति) पुरों और इन तीनों प्रकार के (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) शरीरों को विस्तीर्ण करके बाह्य एवं अन्तः में आलोक फैला रही हैं। वे महात्रिपुर सुन्दरी प्रत्यक् चेतना के रूप में देश, काल एवं पात्र के अन्दर संगरहित होकर निवास करती हैं॥ ४॥

सैवात्मा ततोऽन्यदसत्यमनात्मा। अत एषा ब्रह्मसंवित्तिर्भावाभावकलाविनिर्मुक्ता चिद्विद्याद्वितीयब्रह्मसंवित्तिः सच्चिदानन्दलहरी महात्रिपुरसुन्दरी बहिरन्तरनुप्रविश्य स्वयमेकैव

विभाति। यदस्ति सन्मात्रम्। यद्विभाति चिन्मात्रम्। यत्प्रियमानन्दं तदेतत्सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी। त्वं चाहं च सर्वं विश्वं सर्वदेवता। इतरत्सर्वं महात्रिपुरसुन्दरी। सत्यमेकं ललिताख्यं वस्तु तदद्वितीयमखण्डार्थं परं ब्रह्म॥ ५॥

वे (देवी) ही आत्मस्वरूपा हैं, उनके अतिरिक्त और सभी कुछ सत्यरहित, आत्मविहीन है। ये ब्रह्मविद्या रूपा हैं, भाव एवं अभाव आदि कला से विनिर्मुक्त चिन्मयीरूपा विद्या शक्ति हैं तथा वे ही अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली हैं। वे सच्चिदानन्दरूपी लहरों (तरंग) वाली श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बाह्य एवं अन्तः में प्रविष्ट होकर स्वयमेव अकेली ही सुशोभित हो रही हैं। (उन देवी के अस्ति, भाति एवं प्रिय इन तीनों रूपों में) जो अस्ति है-वह सन्मात्र का बोध कराने वाला है, जो भाति है-वह चिन्मात्र का बोध कराने वाला है तथा जो प्रिय (आत्मीय) है- वही आनन्दमय है। इस तरह से समस्त आकारों में श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही विद्यमान हैं। तुम और मैं, यह सारा जगत् एवं समस्त देवगण और अन्य सभी कुछ श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही हैं। 'ललिता' नामक एक मात्र वस्तु (शक्ति) ही शाश्वत सत्य है। वही अद्वितीय, अखण्ड, अविनाशी परमात्म तत्त्व है॥ ५॥

पञ्चरूपपरित्यागादस्वरूपप्रहाणतः। अधिष्ठानं परं तत्त्वमेकं सच्छिष्यते महत् इति॥६॥

(उन देवी के) पाँचों रूप अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, नाम तथा रूप के परित्याग कर देने से एवं अपने स्वरूप के त्याग न करने से अधिष्ठान स्वरूप जो एक सत्ता शेष रह जाती है, वही परम अविनाशी तत्त्व है॥ ६॥

प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा भाष्यते। तत्त्वमसीत्येव संभाष्यते। अयमात्मा ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा ब्रह्मैवाहमस्मीति वा॥ ७॥

उसी परमात्म तत्त्व को 'प्रज्ञान ब्रह्म' है या 'मैं ब्रह्म हूँ', 'वह तू है','यह आत्मा ब्रह्म है' या 'मैं ही ब्रह्म हूँ' या 'ब्रह्म ही मैं हूँ' आदि वाक्यों से अभिव्यक्त किया जाता है॥ ७॥

योऽहमस्मीति वा सोऽहमस्मीति वा योऽसौ सोऽहमस्मीति वा या भाष्यते सैषा षोडशी श्रीविद्या पञ्चदशाक्षरी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बालाम्बिकेति बगलेति वा मातङ्गीति स्वयंवरकल्याणीति भुवनेश्वरीति चामुण्डेति चण्डेति वाराहीति तिरस्करिणीति राजमातङ्गीति वा शुकश्यामलेति वा लघुश्यामलेति वा अश्वारूढेति वा प्रत्यङ्गिरा धूमावती सावित्री सरस्वती गायत्री ब्रह्मानन्दकलेति॥ ८॥

'जो मैं हूँ,' 'वह मैं हूँ,' 'जो वह है,' 'सो भी मैं हूँ' इत्यादि श्रुति वचनों के द्वारा जिनका निरूपण होता है, वे ही यही षोडशी श्रीविद्या हैं। वही पञ्चदशाक्षर मंत्र से युक्त श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी,बाला,अम्बिका, बगला,मातङ्गी, स्वयंवर-कल्याणी,भुवनेश्वरी,चामुण्डा,चण्डा,वाराही,तिरस्करिणी,राजमातङ्गी,शुकश्यामला, लघुश्यामला, अश्वारूढा, प्रत्यङ्गिरा, धूमावती, सावित्री, सरस्वती,गायत्री, ब्रह्मानन्दकला आदि नामों के द्वारा जानी जाती हैं॥ ८॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्। यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ इत्युपनिषत्॥ ९॥

ऋचाएँ,अक्षर-अविनाशी परमाकाश में स्थित रहती हैं,उसी में समस्त देवगण सम्यक् रूप से निवास करते हैं। उस(श्रेष्ठ-शाश्वत ज्ञान)को जानने का प्रयास जिसने नहीं किया, ऐसा वह(मनुष्य) ऋचाओं के पठन-मात्र से क्या प्राप्त कर सकता है? जो पुरुष उस परम आकाश को पूर्ण दृढ़निश्चयी होकर जान लेते हैं, वे ही पुरुष उस परमाकाश में हमेशा के लिए प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ ९॥

॥ इति बह्वृचोपनिषत्समाप्ता॥

॥ भावनोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें पराम्बा त्रिपुरसुन्दरी के श्रीचक्र पर आसीन होकर सर्वशक्तिमयी रूप को प्रकट करने का वर्णन है। सर्वप्रथम 'शिव' के ईश्वरत्व का विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'शक्ति' के सहयोग से ही वह 'शिव' कहे जाते हैं। तत्पश्चात् तीनों शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) में श्रीचक्र की भावना का विशद वर्णन है। इसके बाद देवशक्तियों के आवाहन, आसन, पाद्य आदि उपचार की भावना वर्णित है। अन्त में भावना का फल बताते हुए कहा गया है कि जो भी साधक इस प्रकार तीन मुहूर्त तक भावना-परायण रहता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। वह एकमात्र ब्रह्म का ही रूप हो जाता है। वही साधक 'शिवयोगी' कहलाता है। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हो जाती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

श्रीगुरुः सर्वकारणभूता शक्तिः ॥ १ ॥

परम पूज्य 'श्री सद्गुरु' ही सर्वप्रधान परम कारणभूत शक्ति हैं॥ १ ॥

[गुरु का शाब्दिक अर्थ है-गु=अज्ञानान्धकार, रु=नष्ट करने वाला। यह विशेषता परम शिव में ही है, वे ही सर्ग-स्थिति-संहार करने में समर्थ हैं, इसीलिए उन्हें परमकारण शक्ति कहा है।]

केन नवरन्ध्ररूपो देहः। नवशक्तिरूपं श्रीचक्रम्। वाराही पितृरूपा। कुरुकुल्ला बलिदेवता माता। पुरुषार्थाः सागराः। देहो नवरत्नद्वीपः। आधारनवकमुद्राः शक्तयः। त्वगादिसप्तधातुभिरनेकैः संयुक्ताः संकल्पाः कल्पतरवः। तेजः कल्पकोद्यानम्। रसनया भाव्यमाना मधुराम्लतिक्तकटुकषायलवणभेदाः षड्रसाः षड्तवः। क्रियाशक्तिः पीठम्। कुण्डलिनी ज्ञानशक्तिर्गृहम्। इच्छाशक्तिर्महात्रिपुरसुन्दरी। ज्ञाता होता ज्ञानमग्निः ज्ञेयं हविः। ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्रपूजनम्। नियतिसहिताः शृङ्गारादयो नव रसा अणिमादयः। कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यपुण्यपापमया ब्राह्म्याद्यष्टशक्तयः। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनोविकाराः षोडश शक्तयः। वचनादानगमनविसर्गानन्दहानोपेक्षाबुद्धयोऽनङ्गकुसुमादिशक्तयोऽष्टौ। अलम्बुसा कुहूर्विश्वोदरी वरुणा हस्तिजिह्वा यशस्वत्यश्विनी गान्धारी पूषा शङ्खिनी सरस्वतीडा पिङ्गला सुषुम्ना चेति चतुर्दश नाड्यः। सर्वसंक्षोभिण्यादिचतुर्दशारगा देवताः। प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजया इति दश वायवः। सर्वसिद्धिप्रदा देव्यो बहिर्दशारगा देवताः। एतद्वायुदशकसंसर्गोपाधिभेदेन रेचकपूरकशोषकदाहकप्लावका अमृतमिति प्राणमुख्यत्वेन पञ्चविधोऽस्ति। क्षारको दारकः क्षोभको मोहको जृम्भक इत्यपालनमुख्यत्वेन पञ्चविधोऽस्ति। तेन मनुष्याणां मोहको दाहको भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपेयात्मकं चतुर्विधमन्नं पाचयति। एता दश वह्निकलाः सर्वात्वाद्यन्तर्दशारगा देवताः। शीतोष्णसुखदुःखेच्छासत्त्वरजस्तमोगुणा वशिन्यादिशक्तयोऽष्टौ। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः पञ्च पुष्पबाणा मन इक्षुधनुः। वश्यो बाणो रागः पाशः। द्वेषोऽङ्कुशः। अव्यक्तमहत्तत्त्वमहदहंकार इति कामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिन्योऽन्तस्त्रिकोणाग्रगा देवताः। पञ्चदशतिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनस्थितिः पञ्चदश नित्या श्रद्धानुरूपाधिदेवता। तयोः कामेश्वरी सदानन्दघना परिपूर्णस्वात्मैक्यरूपा देवता॥ २ ॥

किस हेतु से शरीर में श्रीचक्रत्व सिद्ध होता है ? नौ छिद्रों से युक्त यह देह है तथा (विमल से लेकर ईशान तक) नौ शक्तियों से सम्पन्न यह श्रीचक्र है। इस देह की माता कुरुकुल्ला बलि देवी एवं पिता के रूप में वाराही हैं। देह के आश्रय रूप में धर्मादि चारों पुरुषार्थ ही इसके चार समुद्र के रूप में हैं। यह शरीर ही नवरत्न द्वीप है। इस द्वीप की आधारभूता शक्तियाँ (योनिमुद्रा आदि सर्वसंक्षोभिणी पर्यन्त) महात्रिपुरसुन्दरी आदि नौ हैं। त्वचा आदि सप्त धातुओं एवं अनेक अन्तः-बाह्य विकारों से युक्त नानाविध संकल्प-विकल्प ही कल्पवृक्ष है। (उस परमात्मा से भिन्न रमणीय नानाविध) तेजस् स्वरूप-सा जीव ही उद्यान है। जिह्वा द्वारा आस्वादित किये जाने वाला मधुर,अम्ल,तिक्त (तीखा),कड़ुवा, कषैला एवं नमकीन रस आदि छः ऋतुएँ हैं। क्रिया नामक जो शक्ति है,वही पीठ है। कुण्डलिनीरूपी ज्ञानशक्ति ही गृह है। इच्छाशक्ति ही महात्रिपुरसुन्दरी नामक आराध्या भगवती है। ज्ञाता ही होता (हवन करने वाला),ज्ञान ही अर्घ्य एवं ज्ञेय(ज्ञातव्य तत्त्व)ही हविरूप है। ज्ञाता,ज्ञान एवं ज्ञेय को भेदरहित मानना ही श्रीचक्र का पूजन है। अणिमादि सिद्धियों (अणिमा,लघिमा,महिमा,ईशित्व, वशित्व,प्राकाम्य,भुक्ति,इच्छा,प्राप्ति और सर्वकाम मुक्ति) का सम्बन्ध नियति(प्रकृति निर्धारण) सहित शृंगार,वीर,करुण आदि नौ-रसों से है। काम,क्रोध,लोभ,मोह,मद,मात्सर्य,पुण्य एवं पाप से युक्त ब्राह्मी आदि आठ शक्तियाँ हैं। पृथ्वी,जल,तेज,वायु,आकाश,कर्ण,त्वचा,नेत्र,जिह्वा,नासिका,वाणी,हाथ,पैर,मल-मूत्रेन्द्रियाँ तथा मन आदि विकार ही (मूल प्रकृति से उत्पन्न) षोडश शक्तियाँ हैं। वचन (बोलना),आदान(ग्रहण करना),गमन(गतिशील होना), विसर्ग(त्याग करना),आनन्द, हान(त्याज्य),उपेक्षा-बुद्धि एवं अनङ्ग-कुसुम आदि आठ शक्तियाँ हैं। अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरी, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अश्विनी, गान्धारी, पूषा, शंखिनी,सरस्वती, इड़ा,पिङ्गला,सुषुम्ना आदि चौदह नाड़ियाँ सर्वसंक्षोभिणी आदि चतुर्दशार देवता हैं। प्राण,अपान,उदान,समान,व्यान,नाग,कूर्म,कृकर,देवदत्त,धनञ्जय-ये दस प्राण सर्वसिद्धिप्रदा आदि देवियाँ बाह्य दशार देवता हैं। इन दस वायुओं के सम्पर्क एवं उपाधि भेद से रेचक, पूरक,शोषक,दाहक,प्लावक-ये अमृतस्वरूप प्राण मुख्यतः पाँच प्रकार के हैं। मानवों के मोहक एवं दाहक होते हुए चबाये जाने वाले,चाटे जाने वाले,चूसे जाने वाले तथा पिये जाने वाले इन चारों प्रकार के अन्नों को पचाते हैं। ये दस अग्नि की कलास्वरूप वायु ही सर्वज्ञत्व आदि अन्तः दशार देवता हैं। जाड़ा,गर्मी,सुख, दुःख, इच्छा,सत्त्व,रज,तम ही 'वशिनी' आदि आठ शक्तियाँ हैं। शब्द,स्पर्श,रूप,रस एवं गन्ध आदि पञ्च तन्मात्राएँ ही पाँच पुष्पबाण हैं तथा मन ही ईख का बना हुआ धनुष है अर्थात् मन के द्वारा ये रूपादि पञ्चबाण बाहर फेंके जाते हैं। वश में होना ही बाण है,राग (प्रेम) ही पाश (बन्धन) है और द्वेष ही अंकुश है। अव्यक्त,महत्तत्त्व, अहंकार, कामेश्वरी, वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी आदि आन्तरिक त्रिकोण के अग्रभाग में स्थित देवता हैं। पन्द्रह तिथियों के रूप से काल के परिणाम का अवलोकन करने वाले पन्द्रह नित्य श्रद्धानुरूप अधिदेवता हैं। उन (वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी) में आद्याप्रधान कामेश्वरी जो कि सत्,चित्,आनन्दघन स्वरूपा हैं एवं परिपूर्ण (ब्रह्म) और आत्मा की ऐक्य रूपा देवता हैं॥२॥

[यहाँ श्री यन्त्र लेखन की प्रक्रिया का उल्लेख है। बिन्दु, त्रिकोण, अष्टार, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल पद्म, षोडशदलपद्म और चतुरस्र आदि इसके पारिभाषिक शब्द हैं, जिनके द्वारा 'श्रीयन्त्र' लिखा जाता है।]

सलिलमिति सौहित्यकारणं सत्त्वं। कर्तव्यमकर्तव्यमिति भावनायुक्त उपचारः। अस्ति नास्तीति कर्तव्यता उपचारः। बाह्याभ्यन्तःकरणानां रूपग्रहणयोग्यताऽस्त्वित्यावाहनम्। तस्य बाह्याभ्यन्तःकरणानामेकरूपविषयग्रहणमासनम्। रक्तशुक्लपदैकीकरणं पाद्यम्। उज्ज्वलदा-मोदानन्दासनदानमर्घ्यम्। स्वच्छं स्वतःसिद्धमित्याचमनीयम्। चिच्चन्द्रमयीति सर्वाङ्गस्त्रवणं स्नानम्। चिदग्निस्वरूपपरमानन्दशक्तिस्फुरणं वस्त्रम्। प्रत्येकं सप्तविंशतिधा भिन्नत्वेनेच्छाज्ञान-क्रियात्मकब्रह्मग्रन्थिमद्रसतन्तुब्रह्मनाडी ब्रह्मसूत्रम्। स्वव्यतिरिक्तवस्तुसङ्गरहितस्मरणं विभूषणम्। स्वच्छस्वपरिपूर्णतास्मरणं गन्धः। समस्तविषयाणां मनसः स्थैर्येणानुसंधानं कुसुमम्। तेषामेव

सर्वदा स्वीकरणं धूपः। पवनावच्छिन्नोर्ध्वज्वलनसच्चिदुल्काकाशदेहो दीपः। समस्तयातायातवर्ज्यं नैवेद्यम्। अवस्थात्रयाणामेकीकरणं ताम्बूलम्। मूलाधारादाब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रादामूलाधारपर्यन्तं गतागतरूपेण प्रादक्षिण्यम्। तुर्यावस्था नमस्कारः। देहशून्यप्रमातृतानिमज्जनं बलिहरणम्। सत्यमस्ति कर्तव्यमकर्तव्यमौदासीन्यनित्यात्मविलापनं होमः। स्वयं तत्पादुकानिमज्जनं परिपूर्णध्यानम्॥ ३॥

सलिल अर्थात् गुरु-मन्त्रात्मक देवों का एकीकरण रूप सत् तत्त्व ही कर्त्तव्य है और एकीकरण रूप न करना ही अकर्त्तव्य है। भावना योग ही इसका उपचार(पूजा)है। अस्ति (ब्रह्म है)-नास्ति(ब्रह्म नहीं है)की कर्त्तव्यता(निरन्तर अनुसन्धान करना)उपचार है। बाह्य एवं आभ्यन्तर कारणों के रूप ग्रहण की योग्यता ही आवाहन है। उसका बाह्य एवं आभ्यन्तर करणों(इन्द्रियों)का एक रूप होकर विषयों का ग्रहण करना ही आसन है। रक्त एवं शुक्ल पद(सत एवं तम गुणों)का एकीकरण पाद्य है। उज्ज्वल(निर्मल)दामोदानन्द(आनन्दमयब्रह्म) में सदैव अवस्थित रहने तथा इसी का दान(योग्य शिष्य को यह ज्ञान प्रदान करना)-अर्घ्य है। स्वयं स्वच्छ एवं स्वतः सिद्ध होना ही आचमन है। चिद्रूप चन्द्रमयी शक्ति से सम्पूर्ण अंगों का स्रवण (स्वेदयुक्त होना) ही स्नान है। चिद् अग्निस्वरूप परमात्मा की शक्ति का स्फुरण(प्रकाशित होना)ही वस्त्र है।(इच्छा-ज्ञान-क्रिया आदि तीन शक्तियों के त्रिगुणात्मक होने से)हर एक के जो सत्ताईस भेद एवं इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्ति स्वरूप ब्रह्म, (विष्णु एवं रुद्र)ग्रन्थि के मध्य स्थित सुषुम्ना नाड़ी ही ब्रह्मसूत्र है,(क्योंकि यही नाड़ी ब्रह्म की द्योतिका है।) अपने से पृथक् वस्तु का स्मरण न करना ही आभूषण है। शुभ्र स्वरूप, जो ब्रह्म है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं, यही स्मरण करना 'गन्ध' है। समस्त विषयों का मन की स्थिरता द्वारा अनुसन्धान करना ही पुष्प(फूल)है तथा उसे स्वीकार करना ही धूप है। पवनयुक्त योग के समय प्राण, अपान की एकता से सुषुम्ना में सत्-चित्, उल्कारूप जो(प्रकाशरूप) आकाश देह है, वही 'दीप' है। अपने से अलग समस्त विषयों में मन की गति का गमनागमन स्थिर हो जाना ही नैवेद्य है। तीनों अवस्थाओं(जाग्रत्,स्वप्न,सुषुप्ति)का एकीकरण ही ताम्बूल (पान)है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त एवं ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधार तक बार-बार आना-जाना ही प्रदक्षिणा है। चतुर्थ अवस्था अर्थात् तुरीयावस्था में रहना ही 'नमस्कार' है। देह की जड़ता में डूबना अर्थात् आत्मा को चैतन्य युक्त मानकर एवं शरीर को जड़ मानकर स्थिर रहना ही 'बलि' है। अपना आत्मतत्त्व ही स्वयं सत्य रूप है, ऐसा निश्चय करके कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, उदासीनता, नित्यात्मक आत्मा में विलास करना अर्थात् निरन्तर आत्मचिन्तन करना ही यज्ञ(हवन)है तथा स्वयमेव उस परब्रह्म-विराट् पुरुष(परमात्मा)की पादुकाओं में अनासक्त भाव से डूबे रहना ही परिपूर्ण ध्यान है।(सारांश यह हुआ कि जिस प्रकार पूजन के लिए धूप, दीप, नैवेद्य, प्रदक्षिणा एवं नमन-वन्दन आदि अपेक्षित होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हेतु उपर्युक्त कहे गये पदार्थों का साधन कर लेना ही तद्-तद् धूप-दीप एवं नैवेद्य आदि हैं। इन्हीं मांगलिक पदार्थों को भावनापूर्वक समर्पित करने से ही उस ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है) ॥३॥

एवं मुहूर्तत्रयं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति। तस्य देवतात्मैक्यसिद्धिः। चिन्तितकार्याण्ययत्नेन सिद्ध्यन्ति। स एव शिवयोगीति कथ्यते ॥ ४॥

इस तरह से जो भी मनुष्य (योगी-साधक) तीन मुहूर्त तक भावनापरायण रहता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। वह एक मात्र ब्रह्म का ही रूप हो जाता है तथा उसके द्वारा चाहे हुए कार्य बिना यत्न के ही पूर्ण हो जाते हैं और वही (साधक) शिवयोगी कहलाता है॥ ४॥

॥ इति भावनोपनिषत्समाप्ता॥

॥ महोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। महत् स्वरूप वाली यह महोपनिषद् श्री शुकदेव जी एवं महाराज जनक तथा ऋभु एवं निदाघ के प्रश्नोत्तर रूप में प्रकट हुई है। इसमें कुल छः अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम नारायण की अद्वितीयता एवं ईशत्व का विवेचन है। तदुपरान्त यज्ञीय स्तोम की उत्पत्ति, चौदह पुरुष एवं एक कन्या की उत्पत्ति, पच्चीस तत्त्वात्मक पुरुष की उत्पत्ति, रुद्र की उत्पत्ति, चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति, व्याहृति, छन्द, वेद और देवताओं की उत्पत्ति, नारायण की विराट् रूपता तथा नारायण की उपलब्धि का स्थान हृदय बताया गया है। द्वितीय अध्याय में शुकदेव के स्वयं उद्भूत पारमार्थिक ज्ञान-तत्त्वज्ञान के होते हुए भी शुकदेव की अविश्रान्ति, व्यास जी के उपदेश के प्रति शुकदेव का अनादर, शुकदेव का जनक के पास जाना, जनक द्वारा शुक की परीक्षा, शुक-जनक संवाद, बन्धन-मोक्ष का विवेक, जीवन्मुक्त स्थिति, विदेहमुक्त स्थिति, शुकदेव के भ्रम का निवारण तथा शुकदेव को विश्रान्ति की प्राप्ति आदि विषयों का विवेचन है। तृतीय अध्याय का शुभारम्भ 'निदाघ' के विचार के साथ हुआ है। तदुपरान्त प्रपञ्च (जगत्) का अनित्यत्व, अहंकार, तृष्णा आदि की अनर्थकता, देह तथा उसकी अवस्था की निन्दा, संसार की दु:खमयता, स्त्री निन्दा, दिशाओं आदि की क्षणभंगुरता तथा वैराग्य से तत्त्व जिज्ञासा आदि विषय व्याख्यायित हैं। चतुर्थ अध्याय में मोक्ष के चार उपाय, शास्त्रादि द्वारा आत्मावलोकन विधि, समाधि का स्वरूप, जीवन्मुक्त स्थिति, शम, सन्तोष, आत्मविश्रान्ति से कृतकृत्यता, दृश्य जगत् का मिथ्यात्व, आसक्ति तथा अनासक्ति से बन्धन और मोक्ष की स्थिति, संसार की मनोमयता, चैतन्य की अनुभूति ही समाधि, जगत् का मिथ्यात्व,शान्त मन:स्थिति से ब्रह्म प्राप्ति, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान की महिमा, वासना के परिहार से मोक्ष की प्राप्ति, बन्ध-मोक्ष का मूल संकल्प तथा अनात्माभिमान के त्याग की विधि इत्यादि विषयों का विशद विवेचन किया गया है। पाँचवें अध्याय में अज्ञान एवं ज्ञान की भूमिका, 'स्वरूप' में स्थिति मोक्ष और 'स्वरूप' से नष्ट होना बन्धन, ज्ञान एवं अज्ञान की सात भूमिकाएँ, जीवन्मुक्त का आचरण, ज्ञान भूमिका का अधिकारी, ब्रह्म की अनुभूति ही ब्रह्म प्राप्ति का उपाय, मनोलय होने पर चैतन्य की अनुभूति, जगत् के भ्रामक ज्ञान को शान्त करने का उपाय, विषयों से उपरामता, तृष्णा को नष्ट करने का उपाय अहंभाव का त्याग, मन के अभ्युदय एवं नाश से बन्धन-मुक्ति, चित् (चैतन्य) विद्या का अधिकारी, माया से बचकर ही ब्रह्म प्राप्ति सम्भव, ब्रह्म की सृष्टि माया के अधीन तथा संकल्प (आकांक्षा) के नष्ट होने से संसार का मूलोच्छेदन सम्भव जैसे विषयों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। छठे अध्याय में समाधि के अभ्यास से परमेश्वरत्व की प्राप्ति, ज्ञानियों की उपासना पद्धति, अज्ञानियों की दु:खद स्थिति, मनोनाश का उपाय, वासना त्याग का उपाय, जीवन्मुक्त की महिमा, तृष्णा की त्याग विधि, चार प्रकार के निश्चय, अद्वैतनिष्ठ व्यक्ति के लिए संसार का अभाव, मुमुक्षु की ब्रह्मनिष्ठता और अन्त में इस उपनिषद् शास्त्र के पठन-पाठन का प्रतिफल वर्णित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह महोपनिषद् अपने नाम के अनुसार अनेकानेक महत्त्वपूर्ण विषयों का बड़ी कुशलता के साथ विशद विवेचन प्रस्तुत करके अध्यात्मपथ के पथिकों का समुचित मार्गदर्शन करती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे परमेश्वर! मेरे समस्त अंग-अवयव वृद्धि को प्राप्त करें। वाणी, चक्षु, कर्णेन्द्रिय आदि समस्त कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ, समस्त प्राण, शारीरिक एवं मानसिक शक्ति ओजस्-तेजस् से परिपुष्ट एवं विकसित हों। मैं उपनिषद् में प्रतिपादित अविनाशी ब्रह्म के स्वरूप को कभी भी अस्वीकार न करूँ तथा वह ब्रह्म भी हमारा कभी परित्याग न करे। (वह) मुझे सदैव अपने सामीप्य का बोध कराता रहे। (उस ब्रह्म के साथ मेरा तथा मेरे साथ उस ब्रह्म का) प्रगाढ़ सम्बन्ध सतत बना रहे। उपनिषदों में वर्णित जो समस्त धर्म हैं, वे सभी उस परमात्म तत्त्व में निरत मुझमें सदैव प्रकाशित होते हुए स्थिर रहें। हे परमात्मन्! त्रिविध ताप शान्त हों।

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

अथातो महोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ तदाहुरेको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नापो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः ॥२ ॥ स एकाकी न रमते ॥३ ॥

अब (ईश प्रार्थना के बाद) महोपनिषद् के व्याख्यान का शुभारम्भ किया जा रहा है। सृष्टि के आदि में एकमात्र भगवान् नारायण ही थे। इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, रुद्र, आपः (जल), अग्नि एवं सोम आदि देवगण नहीं थे। ये द्युलोक तथा पृथ्वीलोक भी नहीं थे और न ही नक्षत्र, चन्द्रमा एवं सूर्य आदि ही थे। ऐसी स्थिति में उन (विराट् पुरुष) को एकाकी रहना बिल्कुल अच्छा नहीं लगा॥ १-३ ॥

तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते ॥ ४ ॥ तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दश जायन्ते एका कन्या दशेन्द्रियाणि मन एकादशं तेजो द्वादशोऽहंकारस्त्रयोदशकः प्राणश्चतुर्दश आत्मा पञ्चदशी बुद्धिः भूतानि पञ्च तन्मात्राणि पञ्च महाभूतानि स एकः पञ्चविंशतिः पुरुषः ॥ ५ ॥ तत्पुरुषं पुरुषो निवेश्य नास्य प्रधानसंवत्सरा जायन्ते। संवत्सरादधिजायन्ते ॥ ६ ॥

उन (विराट् पुरुष) का अन्तःकरण में स्थित ध्यान 'यज्ञस्तोम' अर्थात् श्रेष्ठ यज्ञ कहलाया। उनके द्वारा एक कन्या एवं चौदह पुरुष प्रादुर्भूत हुए। जिनमें से चौदह पुरुष ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय सहित दस इन्द्रियाँ, एकादश-तेजस्वी मन, द्वादश अहंकार, तेरह और चौदह क्रमशः प्राण और आत्मा हैं तथा पन्द्रहवीं बुद्धि कन्या के नाम से कही गयी है। इनके अलावा पाँच सूक्ष्मभूत रूपी तन्मात्राएँ एवं पाँच महाभूत आदि इन पच्चीस तत्त्वों के संयोग से एक विराट् पुरुष के शरीर का निर्माण हुआ। उस (विराट् शरीर) में ही परमात्मरूप आदिपुरुष ने प्रवेश किया। (इन पच्चीस तत्त्वों से संयुक्त पुरुष से) प्रधान संवत्सर आदि प्रकट नहीं होते। (अपितु) आदि पुरुष के कालरूप संवत्सर से ही (संवत्सर) प्रादुर्भूत हुए हैं॥ ४-६ ॥

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषो जायते। बिभ्रच्छ्रियं यशः सत्यं ब्रह्मचर्यं तपो वैराग्यं मन ऐश्वर्यं सप्रणवा व्याहृतय ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसः सर्वाणि छन्दांसि तान्यङ्गे समाश्रितानि। तस्मादीशानो महादेवो महादेवः ॥ ७ ॥

तदनन्तर उन (विराट् पुरुष) भगवान् नारायण ने एक अन्य कामना से संकल्प युक्त हो अन्तःस्थ मन से ध्यान किया। अन्तःस्थ होकर ध्यान करने से उनके ललाट से त्रिनेत्रयुक्त, हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए पुरुष की उत्पत्ति हुई। उस ऐश्वर्यशाली पुरुष के शरीर में यश, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, वैराग्य, नियन्त्रित मन, श्री-सम्पन्नता एवं ओंकार सहित व्याहृतियाँ, ऋग्, यजुः, साम, अथर्व आदि चारों वेद तथा समस्त छन्द प्रतिष्ठित थे। इसी कारण वह ईशान एवं महादेव के नाम से प्रख्यात हुए॥ ७ ॥

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्स्वेदोऽपतत्। ता इमाः प्रतता आपः। ततस्तेजो हिरणमयमण्डम्। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत॥ ८॥

इसके पश्चात् पुनः उन भगवान् नारायण ने अन्य कामना से अन्तः में स्थित होकर ध्यान किया। उस अन्तःस्थ ध्यान में लीन नारायण के ललाट से पसीने की बूँदें निःसृत होने लगीं। वह पसीना ही चारों ओर फैलकर आपः (प्रकृति का मूल क्रियाशील द्रव्य) रूप में परिणत हो गया। उस आपः से ही तेजोमय हिरण्यगर्भरूप अण्ड की उत्पत्ति हुई और उसी तेज से चतुर्मुख ब्रह्माजी प्रकट हुए॥ ८॥

सोऽध्यायत्। पूर्वाभिमुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्द ऋग्वेदोऽग्निर्देवता। पश्चिमाभिमुखो भूत्वा भुवरिति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दो यजुर्वेदो वायुर्देवता। उत्तराभिमुखो भूत्वा स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सामवेदः सूर्यो देवता। दक्षिणाभिमुखो भूत्वा मह इति व्याहृतिरानुष्टुभं छन्दोऽथर्ववेदः सोमो देवता॥ ९॥

उन पितामह भगवान् ब्रह्माजी ने (चारों दिशाओं में भिन्न-भिन्न देवों का) ध्यान किया। पूर्व दिशा की तरफ मुख करके उन्होंने भूः व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद तथा अग्निदेव का ध्यान किया। पश्चिमाभिमुख होकर भुवःव्याहृति, त्रिष्टुप् छन्द, यजुर्वेद सहित वायुदेव का ध्यान किया। उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर स्वः व्याहृति, जगती छन्द तथा सामवेद सहित सूर्य (सविता) देव का ध्यान किया और दक्षिण की तरफ अभिमुख होकर महः व्याहृति, अनुष्टुप् छन्द तथा अथर्ववेद सहित सोम देवता का ध्यान किया॥ ९॥

[यहाँ पितामह के द्वारा जिन-जिनके ध्यान करने का उल्लेख है, वे सभी उसी ध्यान प्रक्रिया से प्रादुर्भूत होते चले गये।]

सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं विश्वशंभुवम्। विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम्॥१०॥

जिन (विराट् पुरुष) के सहस्रों सिर, सहस्रों नेत्र हैं, जो सभी तरह से कल्याणकारी हैं, सर्वत्र संव्याप्त हैं, परात्पर हैं, नित्य हैं, सभी रूपों में प्रतिष्ठित हैं, ऐसे उन भगवान् नारायण का ब्रह्माजी ने ध्यान किया॥१०॥

विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति। पतिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे विश्वरूपिणम्॥ ११॥

ये भगवान् नारायण ही सम्पूर्ण विश्व के स्वरूप हैं, इन्हीं विराट् पुरुष पर समस्त जगत् का जीवन आश्रित है। ब्रह्माजी ने सम्पूर्ण जगत् के पालक, विश्वरूप, विश्वेश्वर को तथा क्षीर सागर में योगनिद्रा का आश्रय लेने वाले भगवान् श्रीनारायण का ध्यानावस्था में दर्शन प्राप्त किया॥ ११॥

**पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसंनिभम्। हृदयं चाप्यधोमुखं संतत्यै सीत्कराभिश्च॥ १२॥
तस्य मध्ये महानर्चिर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखम्। तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता॥१३
तस्याः शिखाया मध्ये पुरुषः परमात्मा व्यवस्थितः। स ब्रह्मा स ईशानः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥ इति महोपनिषत्॥ १४॥**

जो पद्मकोश के सदृश, आकोश (सम्यक् रूप से विकसित कोश) के आकार में लम्बायमान एवं अधोमुख हृदय है, जिससे सतत सीत्कार शब्द निःसृत होता रहता है। उस हृदय के मध्य में एक महान् ज्वाला प्रदीप्त हो रही है। वही ज्वाला दीपशिखा की भाँति दसों दिशाओं में अविनाशी प्रकाश तत्त्व को वितरित करती हुई सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित कर रही है। उसी ज्वाला के बीच में थोड़ी दूर ऊर्ध्व की ओर उठी हुई एक पतली सी वह्निशिखा स्थित है। उसी शिखा के मध्य में उस विराट् पुरुष परमात्मतत्त्व का वास-स्थल है। वे ही ब्रह्मा हैं, वही विष्णु एवं ईशान हैं और वही देवराज इन्द्र हैं। वे ही अविनाशी अक्षर एवं परम स्वराट् भी हैं। यही महोपनिषद् है॥ १२-१४॥

[शरीर विज्ञान के अनुसार हृदय के मध्य में एक स्थल होता है— 'पेसमेकर', जहाँ से हृदय को गति देने वाले लयबद्ध स्पंदन उभरते रहते हैं। हृदय की धड़कन पैदा करने वाले मूल कारण को वैज्ञानिक अभी तक स्पष्ट नहीं कर सके हैं। ऋषि ने संभवतः उसी स्थल को चैतन्य ज्वाला के रूप में अनुभव किया है।]

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

शुको नाम महातेजाः स्वरूपानन्दतत्परः। जातमात्रेण मुनिराड् यत्सत्यं तदवाप्तवान्॥ १ ॥
तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः। प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्तवान्॥ २ ॥

शुक नामक महातेजस् सम्पन्न एक मुनीश्वर सतत आत्मा के आस्वादन में संलग्न रहते थे। जन्म के तुरन्त बाद ही उन्हें सत्य एवं तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो गई थी। इस कारण से उन्होंने अपने विवेक से स्वयं ही चिरकाल तक चिन्तन-मनन करने के पश्चात् आत्मा के स्वरूप को जानने की निश्चित धारणा बनाई॥ १-२ ॥

अनाख्यत्वादगम्यत्वान्मनः षष्ठेन्द्रियस्थितेः। चिन्मात्रमेवमात्माणुराकाशादपि सूक्ष्मकः॥ ३ ॥
चिदणोः परमस्यान्तःकोटिब्रह्माण्डरेणवः। उत्पत्तिस्थितिमभ्येत्य लीयन्ते शक्तिपर्ययात्॥ ४ ॥
आकाशं बाह्यशून्यत्वादनाकाशं तु चित्त्वतः। न किंचिद्यदनिर्देश्यं वस्तु सत्तेति किंचन॥ ५ ॥
चेतनोऽसौ प्रकाशत्वाद्वेद्याभावाच्छिलोपमः। स्वात्मनि व्योमनि स्वस्थे जगदुन्मेषचित्रकृत्॥६ ॥

वचनों से परे होने के कारण, अगम्य होने के कारण तथा मन रूपी छठी इन्द्रिय में प्रतिष्ठित होने के कारण यह आत्मा अणु के आकार वाला, चिन्मात्र एवं आकाश से भी अतिसूक्ष्म है। इस परम चिद्रूप अणु के अन्दर कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड रूपी रेणुकाएँ शक्ति क्रमानुसार प्रकट एवं प्रतिष्ठित होकर विलीन होती रहती हैं। आत्मा बाह्य शून्यता के कारण आकाशरूप है और चिद्रूपता के कारण अनाकाशरूप है। इसके रूप का वर्णन न हो सकने के कारण यह वस्तुरूप नहीं है; किन्तु सत्ता होने से वस्तुरूप है। प्रकाशरूप होने के कारण वह चेतन है तथा वेदना का विषय न होने से वह शिला के सदृश (जड़) है। अपने अन्तः में स्थित आत्माकाश में वह चित्र-विचित्र विभिन्न प्रकार के जगत् का उन्मेष (सृजन) करता है॥ ३-६ ॥

तद्भामात्रमिदं विश्वमिति न स्यात्ततः पृथक्। जगद्भेदोऽपि तद्भानमिति भेदोऽपि तन्मयः॥७ ॥
सर्वगः सर्वसंबन्धो गत्यभावान्न गच्छति। नास्त्यसावाश्रयाभावात्सद्रूपत्वादथास्ति च ॥ ८ ॥
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्। सर्वसंकल्पसंन्यासश्चेतसा यत्परिग्रहः ॥ ९ ॥
जाग्रतः प्रत्ययाभावं यस्याहुः प्रत्ययं बुधाः। यत्संकोचविकासाभ्यां जगत्प्रलयसृष्टयः॥ १० ॥
निष्ठा वेदान्तवाक्यानामथ वाचामगोचरः। अहं सच्चित्परानन्दब्रह्मैवास्मि न चेतरः॥ ११ ॥

यह विश्व उसी आत्मा का प्रकाशमात्र होने के कारण उस आत्मतत्त्व से पृथक् नहीं है। जो विश्वभेद आत्मा में दृष्टिगोचर होता है, वह भी उस आत्मा से अलग नहीं है। सभी से सम्बद्ध होने से उस आत्मा की गति यत्र-तत्र-सर्वत्र है; किन्तु उसमें गति न होने के कारण वह चलायमान नहीं है। वह आत्मा आश्रयरहित होने से नास्ति रूप है; किन्तु सत्स्वरूप होने के कारण वह अस्तिरूप है। वही धन-प्रदाता (दानी) की परमगति है। जो ब्रह्मानन्दमय और विज्ञानमय है तथा चित्त द्वारा सारे संकल्पों का परित्याग ही जिसका ग्रहण है। जाग्रत् अवस्था की प्रतीति के अभाव को ही ज्ञानीजन जिसकी प्रतीति बताते हैं, जिसके संकोच एवं विकास से जगत् का विनाश एवं सृजन होता है। जो वेदान्त-वाक्यों की निष्ठास्वरूप तथा वाणी के लिए अकथनीय है, मैं वही सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परमात्मा ब्रह्म हूँ और अन्य दूसरा कुछ भी नहीं हूँ॥ ७-११ ॥

स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवाञ्छुकः। स्वयं प्राप्ते परे वस्तुन्यविश्रान्तमनाः स्थितः॥१२ ॥

इदं वस्त्विति विश्वासं नासावात्मन्युपाययौ। केवलं विररामास्य चेतो विषयचापलम्। भोगेभ्यो भूरिभङ्गेभ्यो धाराभ्य इव चातकः॥ १३॥

इस प्रकार अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा श्री शुकदेव मुनि ने सभी कुछ जान लिया तथा स्वयं प्राप्त हुए परमात्मतत्त्व में वे अविश्रान्त सतत लगे रहने वाले मन से प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार का विश्वास उनकी आत्मा में प्राप्त हो गया कि 'यही वस्तु है', इससे भिन्न और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार जलद के धारा प्रपात से सन्तुष्ट हुए चातक की चंचलता दूर हो जाती है, उसी प्रकार शुकदेव जी का चित्त विभिन्न तरह के भोगों से प्रादुर्भूत विषय-चापल्य से विरत होकर कैवल्यावस्था को प्राप्त हो गया॥ १२-१३॥

एकदा सोऽमलप्रज्ञो मेरावेकान्तसंस्थितः। पप्रच्छ पितरं भक्त्या कृष्णद्वैपायनं मुनिम्॥ १४॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं मुने। कथं च प्रशमं याति किं यत्कस्य कदा वद॥ १५॥

एक बार उन प्रज्ञावान् मनीषी श्री शुकदेव जी ने मेरु-पर्वत पर एकान्त में प्रतिष्ठित अपने पिता श्रीकृष्ण द्वैपायन मुनि के आश्रम में जाकर भक्तिपूर्वक अर्चना करके पूछा-हे श्रेष्ठ मुने! इस जगत् रूप प्रपञ्च का प्राकट्य किस प्रकार हुआ और इसका विनाश कैसे होता है? यह क्या है? किसका है और इसकी उत्पत्ति कब हुई? यह सभी कुछ कृपापूर्वक हमें बताने का अनुग्रह करें॥ १४-१५॥

एवं पृष्टेन मुनिना व्यासेनाखिलमात्मजे। यथावदखिलं प्रोक्तं वक्तव्यं विदितात्मना॥ १६॥
अज्ञासिषं पूर्वमेवमहमित्यथ तत्पितुः। स शुकः स्वकया बुद्ध्या न वाक्यं बहु मन्यते॥ १७॥
व्यासोऽपि भगवान्बुद्ध्वा पुत्राभिप्रायमीदृशम्। प्रत्युवाच पुनः पुत्रं नाहं जानामि तत्त्वतः॥ १८॥
जनको नाम भूपालो विद्यते मिथिलापुरे। यथावद्वेत्त्यसौ वेद्यं तस्मात्सर्वमवाप्स्यसि॥ १९॥
पित्रेत्युक्तः शुकः प्रायात्सुमेरोर्वसुधातलम्। विदेहनगरीं प्राप जनकेनाभिपालिताम्॥ २०॥

शुकदेव जी के इस प्रकार पूछे जाने पर आत्मज्ञानी व्यासजी ने उन्हें सभी बातें यथावत् बतला दीं, लेकिन ये सभी बातें तो दीर्घकाल से ही मालूम हैं, ऐसा जानकर शुकदेव जी ने अपने पिता श्रीव्यास जी की बातों को अपनी बुद्धि से वैसा विशेष सम्मान नहीं दिया। शुकदेव जी के इस भाव को व्यास जी समझकर बोले-हे पुत्र! मैं तुम्हारी इन सभी बातों को तत्त्वतः नहीं जानता हूँ। अतः यदि इस विषय की विशेष जानकारी चाहते हो, तो मिथिलापुरी में 'जनक' नाम के एक राजा राज्य करते हैं, वे तुम्हारी इन सभी बातों को अच्छी तरह से जानते हैं। 'हे पुत्र! तुम उनसे सभी कुछ प्राप्त कर सकते हो।' पिता के द्वारा ऐसा कहे जाने पर शुकदेव जी सुमेरु-पर्वत से उतर कर समतल भूखण्ड पर आये और महाराज जनक के द्वारा संरक्षित मिथिलापुरी में प्रविष्ट हुए॥१६-२०

आवेदितोऽसौ याष्टीकैर्जनकाय महात्मने। द्वारि व्याससुतो राजञ्छुकोऽत्र स्थितवानिति॥ २१॥
जिज्ञासार्थं शुकस्यासावास्तामेवेत्यवज्ञया। उक्त्वा बभूव जनकस्तूष्णीं सप्त दिनान्यथ॥ २२॥
ततः प्रवेशयामास जनकः शुकमङ्गणे। तत्राहानि स सप्तैव तथैवावसदुन्मनाः॥ २३॥
ततः प्रवेशयामास जनकोऽन्तःपुराजिरे। राजा न दृश्यते तावदिति सप्त दिनानि तम्॥ २४॥
तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिर्भोजनैर्भोगसंचयैः। जनको लालयामास शुकं शशिनिभाननम्॥ २५॥
ते भोगास्तानि भोज्यानि व्यासपुत्रस्य तन्मनः। नाजह्रुर्मन्दपवनो बद्धपीठमिवाचलम्॥ २६॥
केवलं सुसमः स्वच्छो मौनी मुदितमानसः। संपूर्ण इव शीतांशुरतिष्ठदमलः शुकः॥ २७॥

तदनन्तर शुकदेव मुनि को आया हुआ देखकर द्वारपालों ने राजा जनक को यह संदेश दिया कि हे राजन्! राजद्वार पर व्यास जी के पुत्र श्रीशुकदेव जी आपसे मिलने के लिए आये हैं, उन (शुकदेव) मुनि की परीक्षा के

लिए महाराज जनक ने अवज्ञापूर्वक मात्र इतना ही कहा कि उनसे कहो कि 'वे वहीं पर रुकें', इतना कहने के उपरान्त राजा सात दिनों तक पूरी तरह से शान्त रहे। इसके पश्चात् उन्होंने शुकदेव मुनि को अपने राज-प्राङ्गण में आमन्त्रित किया और वहाँ भी वे सात दिनों तक उसी तरह शान्त रहे। इसके अनन्तर राजा ने उन्हें अपने अन्तःपुर के आँगन में ससम्मान बुलवाया तथा वहाँ पर भी सात दिनों तक वे उनके समक्ष नहीं आये। विदेहराज जनक ने अन्तःपुर में युवती स्त्रियों, विभिन्न तरह के सुस्वादु पकवान एवं भोज्य पदार्थों सहित उन श्रेष्ठ मुनि शुकदेव जी का स्वागत-सत्कार किया। वे समस्त भोग एवं भोज्य सामग्री उन व्यासपुत्र शुकदेव जी के मन को ठीक वैसे ही नहीं डिगा सके, जैसे कि मन्द-मन्द प्रवाहित पवन दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हुए पर्वत को गतिशील नहीं कर सकता। वहाँ उस अन्तःपुर में ज्ञानी शुकदेव जी असङ्ग, समभाव वाले, निर्मल एवं पूर्णचन्द्र के सदृश प्रतिष्ठित बने रहे॥ २१-२७॥

परिज्ञातस्वभावं तं शुकं स जनको नृपः। आनीय मुदितात्मानमवलोक्य ननाम ह॥ २८॥
निःशेषितजगत्कार्यः प्राप्ताखिलमनोरथः। किमीप्सितं तवेत्याह कृतस्वागतमाह तम्॥ २९॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो। कथं प्रशममायाति यथावत्कथयाशु मे॥ ३०॥
यथावदखिलं प्रोक्तं जनकेन महात्मना। तदेव यत्पुरा प्रोक्तं तस्य पित्रा महाधिया॥ ३१॥
स्वयमेव मया पूर्वमभिज्ञातं विशेषतः। एतदेव हि पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम्॥ ३२॥
भवताप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदां वर। एष एव हि वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते॥ ३३॥
मनोविकल्पसंजातं तद्विकल्पपरिक्षयात्। क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चितः॥ ३४॥
तत्किमेतन्महाभाग सत्यं ब्रूहि ममाचलम्। त्वत्तो विश्रममाप्नोति चेतसा भ्रमता जगत्॥ ३५॥

इस प्रकार जब राजा जनक ने श्रीशुकदेवजी के चरित्र की भली-भाँति परीक्षा ले ली, तब उन्हें अपने समीप बुलाया। उन्हें प्रसन्नचित्त देखकर राजा ने प्रणाम किया और उनका सत्कार करते हुए बोले- हे शुकदेव जी! आपने अपने सांसारिक कृत्यों को समाप्त कर दिया है तथा आपको सभी मनोरथ प्राप्त हैं, कृपया बताने का अनुग्रह करें कि अब आपकी क्या अभिलाषा है? श्रीशुकदेव जी ने जिज्ञासा भाव से कहा-हे गुरुवर! कृपया मुझे यह बताने की कृपा करें कि यह सांसारिक प्रपञ्च कैसे प्रादुर्भूत हुआ है तथा किस तरह से विलय को प्राप्त होता है? तब महान् ज्ञानी राजा जनक ने श्रीशुकदेव जी को सभी बातें तत्त्वतः बतला दी, इन्हीं बातों को उनके परम ज्ञानवान् पिता श्रीव्यास जी पहले ही बता चुके थे। इस पर श्रीशुकदेव जी ने कहा-हे गुरुश्रेष्ठ! हमने स्वयं ही इसकी विशेष रूप से जानकारी प्राप्त की थी, पूछने पर हमारे पिता श्रीव्यास जी ने भी यही बातें बतलायी थी। आपने भी यही बातें हमें बतायी हैं तथा ठीक ऐसा ही शास्त्रों का भी मत है। मन के विकल्प से ही प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है और उस विकल्प के विनष्ट हो जाने पर इस (प्रपञ्च) का भी विनाश हो जाता है। यह जगत् निन्दनीय एवं सार-रहित है, ऐसा निश्चित है, तब हे महान् ज्ञानी राजन्! यह सब (जीवन आदि) क्या है? कृपा करके मुझे यथार्थ रूप से समझाने की कृपा करें। मेरा यह चित्त जगत् के विषय में दिग्भ्रान्त हो रहा है, अतः आपके सदुपदेश से ही शान्ति मिल सकती है॥ २८-३५॥

शृणु तावदिदानीं त्वं कथ्यमानमिदं मया। श्रीशुक ज्ञानविस्तारं बुद्धिसारान्तरान्तरम्॥ ३६॥ यद्विज्ञानात्पुमान्सद्यो जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात्॥ ३७॥ दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्। संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः॥ ३८॥ अशेषेण परित्यागो वासनाया य उत्तमः। मोक्ष इत्युच्यते सद्भिः स एव विमलक्रमः॥ ३९॥ ये शुद्धवासना भूयो न जन्मानर्थभागिनः।

ज्ञातज्ञेयास्त उच्यन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः॥ ४०॥ पदार्थभावनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते। वासनातानवं ब्रह्मन्मोक्ष इत्यभिधीयते॥ ४१॥

इसके पश्चात् राजा जनक ने कहा-हे शुकदेव जी! अब मैं आपके प्रति सम्पूर्ण ज्ञान को विस्तारपूर्वक कहता हूँ- सुनो, यह ज्ञान समस्त ज्ञानों का सार एवं सभी रहस्यों का रहस्य है, अतः इसके जान लेने से वह पुरुष अतिशीघ्र मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। विदेहराज ने कहा कि यह दृश्य जगत् है ही नहीं, ऐसा पूर्ण बोध जब हो जाता है, तब दृश्य विषय से मन की शुद्धि हो जाती है। तब यह ज्ञान पूर्ण हो जाता है और तभी उसे निर्वाण रूपी परम शान्ति मिल जाती है। जो वासनाओं का निःशेष परित्याग कर देता है, वही वास्तविक श्रेष्ठ त्याग है, उसी विशुद्धावस्था को ज्ञानीजनों ने मोक्ष कहा है। पुनः जो शुद्ध वासनाओं से युक्त हैं, जो अनर्थ शून्य जीवन वाले हैं और जो ज्ञेय तत्त्व के ज्ञाता हैं, हे महान् ज्ञानी शुकदेव जी! वे ही मनुष्य पूर्ण जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। पदार्थों की भावनात्मक दृढ़ता को ही बन्धन और वासनाओं की क्षीणता को ही मोक्ष कहा गया है॥३६-४१

तपःप्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः। भोगा इह न रोचन्ते स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४२॥ आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतः। न हृष्यति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४३॥ हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः। न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४४॥ अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः। तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४५॥

जिसे तप आदि साधनों के अभाव में स्वभाववश ही सांसारिक भोग अच्छे नहीं लगते,वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो प्रतिपल प्राप्त होने वाले सुखों या दुःखों में आसक्त नहीं होता तथा जो न हर्षित होता है और न ही दुःखी होता है,वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो हर्ष,अमर्ष,भय,काम,क्रोध एवं शोक आदि विकारों से मुक्त रहता है,वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहंकार युक्त वासना को अति सहजता से त्याग देता है तथा चित्त के अवलम्बन में जो सम्यक् रूप से त्याग भाव रखता है,वही वास्तव में जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ४२-४५

ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु। सुषुप्तिवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४६॥ अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः। प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्न किंचिदिह वाञ्छति। यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४७॥ संवेद्येन हृदाकाशे मनागपि न लिप्यते। यस्यासावजडा संवित्स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४८॥ रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले। यः करोत्यनपेक्ष्यैव स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४९॥ मौनवान्निरहंभावो निर्मानो मुक्तमत्सरः। यः करोति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५०॥

जो सदैव अन्तर्मुखी दृष्टिवाला, पदार्थ की आकांक्षा से रहित और किसी भी वस्तु की अपेक्षा अथवा कामना से रहित सुषुप्ति के समान अवस्था में विचरण करता रहता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सदैव आत्मा में लीन रहता है, जिसका मन पूर्ण एवं पवित्र है, अत्यन्त श्रेष्ठ एवं शान्त स्वभाव को प्राप्त कर जो इस नश्वर संसार में किसी वस्तु की इच्छा नहीं रखता, जो किसी के प्रति आसक्ति न रखता हुआ उदासीन भाव से भ्रमण करता रहता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका हृदय किसी भी पदार्थ में लिप्त नहीं होता तथा जो चेतन संवित्(सद्ज्ञानयुक्त)स्वरूप वाला है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो पुरुष राग-द्वेष, सुख-दुःख, मान-अपमान, धर्म-अधर्म एवं फलाफल की इच्छा-आकांक्षा न रखता हुआ सदैव अपने कार्यों में व्यस्त रहता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहंभाव को त्याग करके, मान एवं मत्सर से रहित, उद्वेगरहित तथा संकल्पविहीन रहकर कर्म करता रहता है,उसी पुरुष को ज्ञानीजन जीवन्मुक्त कहते हैं॥४६-५०

सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः। निरिच्छो वर्तते कार्ये स जीवन्मुक्त उच्यते॥५१॥
येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम्। सर्वमन्तः परित्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते॥५२॥
यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते। सा येन सुष्ठु संत्यक्ता स जीवन्मुक्त उच्यते॥५३॥
कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमेव च। सममेव च यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते॥५४॥
जरामरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च। रम्यमित्येव यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते॥५५॥
धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी। धिया येन सुसंत्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते॥५६॥

जो सर्वत्र मोहरहित होकर साक्षी भाव से जीवनयापन करता है तथा बिना किसी फल की कामना किये ही अपने कर्त्तव्य कर्म में रत रहता है, वही जीवन्मुक्त है। जिसने धर्म-अधर्म का, सांसारिक विषय के चिन्तन का तथा सभी तरह की कामनाओं का परित्याग कर दिया है, उसे ही जीवन्मुक्त कहा गया है। यह समस्त दृश्य प्रपञ्च जो दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका जिसने पूरी तरह से परित्याग कर दिया है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो ज्ञानी पुरुष खट्टे, चरपरे, कड़वे, नमकीन, स्वादयुक्त एवं अस्वाद को एक जैसा मानकर भोजन ग्रहण करता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जरा, मृत्यु, विपत्ति, राज्य एवं दारिद्र्य आदि में से जो समान भाव रखते हुए हर स्थिति में सन्तुष्ट रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने धर्म-अधर्म, सुख-दुःख एवं जन्म-मृत्यु आदि का अपने हृदय से पूर्णरूपेण परित्याग कर दिया है, वही वास्तव में जीवन्मुक्त कहलाता है॥५१-५६॥

उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया। न शोचते न चोदेति स जीवन्मुक्त उच्यते॥५७॥
सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः। धिया येन परित्यक्ताः स जीवन्मुक्त उच्यते॥५८॥
जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च। सममेव मनो यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते॥५९॥
न किंचन द्वेष्टि तथा न किंचिदपि काङ्क्षति। भुङ्क्ते यः प्रकृतान्भोगान्स जीवन्मुक्त उच्यते॥६०
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः। यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥६१॥
यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि निःस्पृहः। परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते॥६२॥

जो मनुष्य उद्वेग एवं आनन्द से रहित है तथा शोक और हर्षोल्लास में समान भाव एवं परिष्कृत बुद्धि से सम्पन्न है। सभी तरह की इच्छाओं एवं आकांक्षाओं, कामनाओं तथा सारे निश्चयों को जिसने मन से पूर्णतः त्याग दिया है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय की अवस्था में तथा प्रगति और अवनति में जिस पुरुष का मन समान रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो किसी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष आदि के भाव नहीं रखता है, जो न किसी की इच्छा-आकांक्षा करता है। जो केवल प्रारब्धवश प्राप्त भोगों का उपभोग करने वाला है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने सांसारिक विषयों की प्राप्ति की कामना को त्याग दिया है, जो चित्त में रहते हुए भी चित्तरहित हो गया है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो पुरुष जगत् के सम्पूर्ण अर्थ जाल के बीच में प्रतिष्ठित होकर भी उससे पराये धन से अलग रहने वाले धर्मात्मा के सदृश अनासक्त रहता है, निश्चय ही वह आत्मा में ही परमात्मतत्त्व की अनुभूति करने वाला महान् पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है॥५७-६२॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते। विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥६३॥
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति। न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः॥६४॥

वह पुरुष अपने शरीर के काल-कवलित हो जाने के पश्चात् जीवन्मुक्त स्थिति का परित्याग करके गतिहीन पवन के सदृश विदेहमुक्त स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में जीव की न तो उन्नति होती है और न ही अवनति तथा उसका विनाश भी नहीं होता। उसकी वह अवस्था सत्-असत् से परे होती है और वह किसी के दूरस्थ-समीपस्थ भी नहीं होता॥६३-६४॥

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्। अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते॥ ६५॥
न शून्यं नापि चाकारि न दृश्यं नापि दर्शनम्। न च भूतपदार्थौघसदनन्ततया स्थितम्॥ ६६॥
किमप्यव्यपदेशात्मा पूर्णात्पूर्णतराकृतिः। न सन्नासन्न सदसन्न भावो भावनं न च॥ ६७॥
चिन्मात्रं चैत्यरहितमनन्तमजरं शिवम्। अनादिमध्यपर्यन्तं यदनादि निरामयम्॥ ६८॥

विदेहमुक्ति गम्भीर एवं स्तब्ध अवस्था को कहते हैं। उस अवस्था में न सर्वत्र प्रकाश व्याप्त होता है और न ही अन्धकार। उसमें नामविहीन एवं अभिव्यक्त न होने वाला एक तरह का सत् तत्त्व अवशिष्ट रहता है। वह शून्य एवं साकार भी नहीं होता है। दृश्य एवं दर्शन रूप भी नहीं होता है। उसमें ये भूत एवं पदार्थ- समूह भी नहीं होते हैं। केवल वह सत् अन्तरहित स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। वह ऐसा आश्चर्ययुक्त तत्त्व होता है कि जिसके रूप का निर्देशन नहीं किया जा सकता है। उसकी आकृति एवं प्रकृति पूर्ण से भी पूर्णतर होती है। वह न सत् होता है और न असत् तथा सत्-असत् दोनों भी नहीं होता। वह भाव एवं भावना से परे होता है। वह मात्र चैतन्य ही होता है; किन्तु चित्तविहीन एवं अनन्त भी होता है। वह जरारहित, शिवस्वरूप एवं आत्मकल्याण -प्रद होता है। उसका आदि, मध्य एवं अन्त भी नहीं होता। वह अनादि एवं दोषरहित होता है॥ ६५-६८॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां मध्ये यद्दर्शनं स्मृतम्। नातः परतरं किंचिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने॥ ६९॥
स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम्। स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पाद्विमुच्यते॥ ७०॥
तेन स्वयं त्वया ज्ञातं ज्ञेयं यस्य महात्मनः। भोगेभ्यो ह्यरतिर्जाता दृश्याद्वा सकलादिह॥ ७१॥
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा। स्वरूपे तपसि ब्रह्मन्मुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज॥ ७२॥
अतिबाह्यं तथा बाह्यमन्तराभ्यन्तरं धियः। शुक पश्यन्न पश्येस्त्वं साक्षी संपूर्णकेवलः॥ ७३॥

द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन की त्रिपुटी के मध्य में मात्र वह दर्शन स्वरूप ही कहा गया है। हे श्रीशुकदेव जी! इस सन्दर्भ में इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा निश्चय नहीं किया जा सकता। आपने इस तत्त्वज्ञान को स्वयमेव समझ लिया है और अपने पिता श्रीव्यास जी से भी श्रवण कर लिया है कि जीव अपनी संकल्प शक्ति से ही बन्धन में पड़ता है और संकल्प से ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अत: आपने स्वयं ही उस तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लिया है, जिसे जानने के पश्चात् इस नश्वर जगत् में साधुजनों को सभी दृश्यों से अथवा भोगों से विरक्ति पैदा हो जाती है। आपने पूर्ण चैतन्यावस्था में पहुँच कर सभी प्राप्त होने वाले पदार्थों को भी प्राप्त कर लिया है। आप तप:स्वरूप में स्थित हैं। हे ब्रह्मन्! आप मुक्तावस्था को प्राप्त हो चुके हैं, अतः भ्रान्ति का परित्याग कर दें। हे शुकदेव जी! बाह्य एवं अति बाह्य, अन्त: में एवं उसके भी अन्तरंग को देखते हुए भी आप नहीं देखते हैं। आप सर्वदा पूर्ण कैवल्यावस्था में साक्षी भाव से विद्यमान हैं॥ ६९-७३॥

विशश्राम शुकस्तूष्णीं स्वस्थे परमवस्तुनि। वीतशोकभयायासो निरीहश्छिन्नसंशयः॥ ७४॥
जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमखण्डितम्॥ ७५॥ तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना।
देशे स्थित्वा शशामासावात्मन्यस्नेहदीपवत्॥ ७६॥ व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः स्वयममलात्मनि
पावने पदेऽसौ। सलिलकण इवाम्बुधौ महात्मा विगलितवासनमेकतां जगाम॥ ७७॥

विदेहराज जनक के इस तत्त्वदर्शन को सुनने के पश्चात् श्रीशुकदेव शोक, भय एवं श्रमविहीन होकर, संशयरहित और कामनारहित होकर परमतत्त्वरूप आत्मा में स्थित होकर शान्त भाव से विश्राम को प्राप्त हुए। अखण्ड समाधि हेतु वे सुमेरु पर्वत की चोटी की ओर वापस चले गये। वहाँ सहस्रों वर्षों तक स्नेहरहित दीपक के सदृश उन शुकदेव मुनि ने अन्तर्मुखी होकर निर्विकल्प समाधि द्वारा परमशान्ति लाभ प्राप्त किया। संकल्प रूपी दोषों से मुक्त, शुद्ध स्वरूप, पवित्र, निर्मल एवं वासना रहित होकर वे महान् ज्ञानी शुकदेव जी अपने आत्मपद में वैसे ही एकाकार हुए, जैसे कि जलकण महासागर में विलीन होकर समुद्र रूप हो जाते हैं॥७४-७७॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

निदाघो नाम मुनिराट् प्राप्तविद्यश्च बालकः। विहृतस्तीर्थयात्रार्थं पित्रानुज्ञातवान्स्वयम्॥ १ ॥
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा गृहमुपागतः। स्वोदन्तं कथयामास ऋभुं नत्वा महायशाः॥ २ ॥
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नानपुण्यप्रभावतः। प्रादुर्भूतो मनसि मे विचारः सोऽयमीदृशः॥ ३ ॥

अपने पिता (ऋभु) से अनुमति लेकर निदाघ नामक श्रेष्ठ मुनिपुत्र एकाकी ही तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े। साढ़े तीन करोड़ तीर्थ-स्थलों में स्नान आदि सम्पन्न कर लेने के पश्चात् वे श्रेष्ठ मुनि अपने घर वापस लौट आए। उन महान् यशस्वी मुनि ने घर आकर अपने पिता ऋभुमुनि से अपनी समस्त यात्रा का वृत्तान्त कह सुनाया। उन्होंने कहा- हे पिताजी! साढ़े तीन करोड़ तीर्थस्थलों में स्नान करने के पश्चात् जो पुण्य-फल प्राप्त हुआ है, उसके प्रतिफल स्वरूप हमारे अन्तःकरण में इस तरह के श्रेष्ठ विचार प्रादुर्भूत हो रहे हैं॥ १-३ ॥

जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च। अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः॥ ४ ॥ सर्वापदां पदं पापा भावा विभवभूमयः। अयःशलाकासदृशाः परस्परमसङ्गिनः। श्लिष्यन्ते केवला भावा मनःकल्पनयानया॥ ५ ॥ भावेष्वरतिरायाता पथिकस्य मरुष्विव। शाम्यतीदं कथं दुःख-मिति तप्तोऽस्मि चेतसा॥ ६ ॥ चिन्तानिचयचक्राणि नानन्दाय धनानि मे। संप्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव॥ ७ ॥ इयमस्मिन् स्थितोदारा संसारे परिपेलवा। श्रीर्मुने परिमोहाय सापि नूनं न शर्मदा॥ ८ ॥ आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गुरम्। उन्मत्त इव संत्यज्य याम्यकाण्डे शरीरकम्॥ ९ ॥ विषयाशीविषासङ्गपरिजर्जरचेतसाम्। अप्रौढात्मविवेकानामायुरायास-कारणम्॥ १० ॥

यह जगत् उत्पन्न होता है मरने (विनष्ट होने) के लिए , पुनः मरता है जन्मने के लिए। समस्त चराचर प्राणियों की चेष्टा के साथ यह सारा प्रपञ्च (जगत्) अस्थिर एवं क्षणिक है। ऐश्वर्य की भूमि में प्रकट होने वाले ये समस्त पदार्थ आपत्तियों के मूलभूत कारण हैं। ये सभी पदार्थ लौह शलाका के सदृश परस्पर पृथक् रहते हुए मानसिक कल्पना रूपी चुम्बक द्वारा एकत्रित होते रहते हैं। जिस तरह मार्ग में गमन करने वाला व्यक्ति मरुस्थल में चलते-चलते (कष्ट के कारण) विरक्त हो जाता है, उसी तरह मैं भी इन सांसारिक पदार्थों से विरक्त हो रहा हूँ; क्योंकि ये सांसारिक भोग-पदार्थ मुझे दुःखदायी प्रतीत होने लगे हैं। अब इन समस्त दुःखों का शमन किस प्रकार होगा, ऐसा सोचकर मेरा हृदय अत्यधिक संतप्त हो रहा है। ये ऐश्वर्य रूपी धन-जिनके पीछे चिन्ताओं के समूह चक्र की भाँति घूमते रहते हैं, मुझे आनन्दप्रद नहीं लग रहे हैं। स्त्री-पुत्रादि समस्त स्वजन सम्बन्धी मानो उग्र आपदाओं के घर हैं। हे मुनीश्वर! इस जगत् में उदारता की प्रतिमूर्ति, अत्यन्त कोमलांगी ये श्रीलक्ष्मी जी भी परम मोह को उत्पन्न करने वाली हैं। निश्चय ही इनके द्वारा जीव को आनन्द नहीं मिल सकता। जिस प्रकार पल्लव के अग्रभाग में जल कणिका बूँदरूप में लटकती हैं, वह क्षणिक है। उसी प्रकार मनुष्य की आयु भी जल की बूँद के सदृश क्षणभंगुर है। इस नाशवान् शरीर को असमय ही छोड़कर उन्मत्त की भाँति मुझे प्रस्थान करना ही पड़ेगा। जिनका चित्त विषय-वासना रूपी सर्प के सङ्ग से जर्जर हो गया है तथा जिन्हें प्रौढ़ आत्मिक ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है, उनका जीवन कष्ट का ही हेतु बना है॥ ४-१० ॥

युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम्। ग्रन्थनं च तरङ्गाणामास्था नायुषियुज्यते॥११ ॥
प्राप्यं संप्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते। पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते॥ १२ ॥

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति॥ १३॥
जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः। ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः॥ १४॥
भारो विवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः। अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः॥१५

वायु का लपेटना, आकाश को खण्ड-खण्ड करना एवं जल की लहरों का गुन्थन भले ही सम्भव हो जाए, किन्तु जीवन में आस्था एवं विश्वास रखना सम्भव नहीं हो पाता। जिसके द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तु को (सम्यक् रूप से) प्राप्त कर लिया जाता है, जिसके कारण शोक न करना पड़े और जिसमें परम शान्ति की उपलब्धि हो जाए, वही तो वास्तविक जीवन कहलाता है। यों तो वृक्ष, मृग एवं पक्षी भी जीवन धारण किये रहते हैं; किन्तु यथार्थ में वही जीवित है, जिसका मन निरन्तर आत्मचिन्तन में लीन रहता है। इस नश्वर जगत् में उत्पन्न हुए उन्हीं प्राणियों का जीवन उत्कृष्ट है, जिन्हें पुनः आवागमन के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता है। इससे भिन्न तो जरावस्था को प्राप्त गधे के सदृश हैं, जो कि अशक्त होते हुए भी भार ढोने के लिए विवश हैं। ज्ञानवान् मनुष्य के लिए शास्त्र, भार ढोने के सदृश है। राग-द्वेष में लिप्त मनुष्य के लिए ज्ञान भारस्वरूप है, अशान्त मनुष्य का मन तो स्वयं में ही भारस्वरूप होता है तथा जो आत्मज्ञानी नहीं हैं, उनके लिए यह शरीर भी बोझा ढोने के सदृश ही है॥ ११-१५॥

अहंकारवशादापदहंकाराद्दुराधयः। अहंकारवशादीहा नाहंकारात्परो रिपुः॥ १६॥
अहंकारवशाद्यद्यन्मया भुक्तं चराचरम्। तत्तत्सर्वमवस्त्वेव वस्त्वहंकाररिक्तता॥ १७॥
इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाभिधावति। मनो दूरतरं याति ग्रामे कौलेयको यथा॥ १८॥
क्रूरेण जडतां याता तृष्णाभार्यानुगामिना। वशः कौलेयकेनैव ब्रह्मन्मुक्तोऽस्मि चेतसा॥ १९॥
अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि। अपि वह्न्यशनाद्ब्रह्मन्विषमश्चित्तनिग्रहः॥ २०॥
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन्सति जगत्त्रयम्। तस्मिन्क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः॥२१॥

अहंकार ही समस्त विपत्तियों के आगमन का हेतु है। इसी से मनोविकार उत्पन्न होते हैं और तरह-तरह की इच्छा-आकांक्षाओं का प्रादुर्भाव होता है। इस कारण मनुष्य का अहंकार से बढ़कर और कोई भी शत्रु नहीं है। अहंकार के वशीभूत होकर मैंने चराचर रूप जिन-जिन भोगों का उपभोग किया है, वे सभी मिथ्या, भ्रमरूप थे। अहंकार का शून्य होना ही जीवन की यथार्थता है। वस्तु तो मात्र अहंकार शून्यता ही है। यह मन व्यर्थ ही परेशान होकर यत्र-तत्र दौड़ता रहता है। व्यर्थ ही दूर-दूर तक भ्रमण करता रहता है। इसका स्वभाव गाँव में इधर-उधर घूमने वाले कुत्ते की तरह है। मैं भी तृष्णारूपी कुतिया के पीछे-पीछे कुत्ते की भाँति भटकता हुआ इस प्रकार क्रूर मन के वशीभूत होकर जड़वत् हो गया था। हे ब्रह्मन्! अब मैं उसके प्रभाव से पूर्णरूपेण मुक्त हो गया हूँ। हे ब्रह्मन्! चित्त को नियंत्रित करना, समुद्र को पूरी तरह पीने से भी कठिन है, सुमेरु पर्वत को उखाड़ फेंकने से भी कठिन है और अग्नि के भक्षण से भी कठिन है। यह चित्त बाह्य एवं अन्तःकरण में विषय भोगों को ग्रहण करने वाला है, उसके आधार पर ही जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति रूप तीनों अवस्थाओं से युक्त संसार की स्थिति निर्भर है। चित्त के नष्ट होने पर यह जगत् नष्ट हो जाता है। अतः प्रयासपूर्वक चित्त की ही चिकित्सा करनी चाहिए॥ १६-२१॥

यां यामहं मुनिश्रेष्ठ संश्रयामि गुणश्रियम्। तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कुमूषिका॥२२॥
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्ता विफलमीहते। चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी॥ २३॥
क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभःस्थलम्। क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी॥२४॥

सर्वसंसारदु:खानां तृष्णैका दीर्घदु:खदा। अन्त:पुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे॥ २५॥
तृष्णाविषूचिकामन्त्रश्चिन्तात्यागो हि स द्विज। स्तोकेनानन्दमायाति स्तोकेनायाति खेदताम्॥२६

हे श्रेष्ठ मुने! मैं जिन श्रेष्ठ सद्‌गुणों का आश्रय प्राप्त करता हूँ, मेरी तृष्णा उन श्रेष्ठ गुणों को ठीक वैसे ही काट देती है, जैसे कि दुष्ट मूषिका (चुहिया) वीणा के तारों को काट देती है। यह तृष्णा चञ्चल बँदरिया के समान है, जो न लाँघने योग्य स्थान पर भी अपना पैर टिकाना चाहती है। वह तृप्त होने पर भी भिन्न-भिन्न फलों की इच्छा करती रहती है। एक जगह पर लम्बे समय तक नहीं रुकती। क्षणमात्र में ही वह आकाश एवं पाताल की सैर कर डालती है, क्षण मात्र में ही दिशारूपी कुञ्जों में भ्रमण करने लगती है। यह तृष्णा हृदय कमल में विचरण करने वाली भ्रमरी के समान है। यह तृष्णा ही इस नश्वर जगत् के समस्त दु:खों में दीर्घ काल तक दु:ख देने वाली है, जो अन्त:पुर में निवास करने वालों को भी महान् संकट में डाल देती है। यह तृष्णा एक महामारी-हैजा है। इसे वही श्रेष्ठ ब्राह्मण नष्ट कर सकता है, जिसने चिन्ता का पूरी तरह से परित्याग कर दिया है। यदि चिन्ता का थोड़ा भी परित्याग कर दिया जाए, तो अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि थोड़ी-सी भी चिन्ता मन में शेष रही, तो उससे असीम दु:ख की प्राप्ति होती है॥ २२-२६॥

नास्ति देहसम: शोच्यो नीचो गुणविवर्जित:॥ २७॥ कलेवरमहंकारगृहस्थस्य महागृहम्।
लुठत्वभ्येतु वा स्थैर्यं किमनेन गुरो मम॥ २८॥ पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं वल्गत्तृष्णागृहाङ्गणम्।
चित्तभृत्यजनाकीर्णं नेष्टं देहगृहं मम॥ २९॥ जिह्वामर्कटिकाक्रान्तवदनद्वारभीषणम्।
दृष्टदन्तास्थिशकलं नेष्टं देहगृहं मम॥ ३०॥

देह के सदृश तुच्छ, गुणरहित तथा शोक करने योग्य अन्य दूसरा कोई नहीं। इस शरीर रूपी विशाल गृह में अहंकाररूपी गृहस्थ निवास करता है। यह शरीर चाहे दीर्घकाल तक रहे अथवा शीघ्र ही नष्ट हो जाए, उसकी मुझे किञ्चित् मात्र भी चिन्ता नहीं है। जिस शरीर रूपी घर में इन्द्रियरूपी पशु पंक्तिवत् खड़े हैं तथा जिसके प्रांगण में तृष्णा रूपी बँदरी विचरण करती रहती है, जिसमें चित्त-वृत्तिरूप भृत्यों का समावेश है। ऐसा शरीर रूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। जिह्वा रूपी बँदरी से पीड़ित हुआ यह मुख रूपी द्वार इतना भयभीत हो गया है कि आरम्भ में ही दन्तरूपी हड्डियाँ दिखाई पड़ रही हैं। ऐसा यह शरीररूपी घर मुझे प्रिय नहीं लगता है॥२७-३०

रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने। नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता॥ ३१॥
तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च। स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वसितु विग्रहे॥ ३२॥
शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृत: पितृतस्तथा। जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम्॥ ३३॥
स्वचित्तबिलसंस्थेन नानाविभ्रमकारिणा। बलात्कामपिशाचेन विवश: परिभूयते॥ ३४॥
दासा: पुत्रा: स्त्रियश्चैव बान्धवा: सुहृदस्तथा। हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्धककम्पितम्॥ ३५॥
दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्धते वार्धके स्पृहा। सर्वापदामेकसखी हृदि दाहप्रदायिनी॥ ३६॥

हे मुनीश्वर! यह शरीर बाहर एवं अन्दर रक्त एवं मांसादि से संव्याप्त है, तो इस नश्वर शरीर में रमणीयता कहाँ से आई? यदि किसी ने शरत्कालीन बादलों की विद्युत् में एवं गन्धर्व की नगरी में स्थिरता निश्चित की है, तो वह इस नश्वर देह की स्थिरता में विश्वास कर सकता है। बाल्यकाल में गुरु से, माता-पिता से, लोगों से, आयु में बड़े लड़कों से एवं अन्य दूसरे लोगों से भी भय लगता है, अत: यह बाल्यावस्था भय का ही घर है। युवावस्था के आने पर अपने ही चित्त रूपी गुफा में निवास करने वाले, भिन्न-भिन्न तरह के भ्रमों में फँसाने वाले इस काम रूपी पिशाच से बलपूर्वक विवश होकर व्यक्ति पराजय को प्राप्त हो जाता है। वृद्धावस्था के प्राप्त होने

पर उन्मत्त की भाँति काँपते हुए व्यक्ति को देखकर दास, पुत्र-पुत्रियाँ, स्त्रियाँ एवं बन्धु-बान्धव भी हँसी करते हैं। वृद्धावस्था में शरीर असमर्थ हो जाने पर इच्छा-आकांक्षाएँ अत्यधिक बढ़ जाती हैं। यह वृद्धावस्था हृदय में दाह प्रदान करने वाली सारी आपत्तियों की प्रिय सहेली है॥ ३१-३६॥

क्वचिद्वा विद्यते यैषा संसारे सुखभावना। आयुः स्तम्बमिवासाद्य कालस्तामपि कृन्तति॥३७॥ तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुवर्णं मेरुसर्षपम्। आत्मंभरितया सर्वमात्मसात्कर्तुमुद्यतः। कालोऽयं सर्वसंहारी तेनाक्रान्तं जगत्त्रयम्॥ ३८॥

इस नश्वर जगत् में रहने वाले सांसारिक प्राणी जिस सुख की भावना करते हैं, आखिर वह कहाँ है? काल आयु को तृण के सदृश काटता ही जा रहा है। वह काल छोटे से तृण एवं रज:कण को महेन्द्र एवं स्वर्णमय सुमेरु जैसे विशाल पर्वतों को भी सरसों के समान बना देने में समर्थ है। यह सभी का संहार करने में सक्षम तथा अपनी उदरपूर्ति के लिए सभी को आत्मसात् करने को उद्यत है। इस काल के द्वारा तीनों लोक आक्रान्त हैं॥

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे। स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियः किमिव शोभनम्॥ त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने। समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि॥ ४०॥ मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाचलरयोपमा। दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता॥ ४१॥ श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः। श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः॥ ४२॥ केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः। दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम्॥ ४३॥

यंत्रवत् चञ्चल अङ्गरूपी पिंजड़े में मांस की पुतली की भाँति, स्नायु एवं हड्डियों की ग्रन्थि से बनी हुई इस स्त्रीदेह में ऐसी कौन सी-वस्तु है, जो शोभनीय कही जा सकती है? आँखों में स्थित त्वचा, मांस, रक्त एवं अश्रु आदि इन सबको अलग-अलग करके अवलोकन करो; इनमें कौन सी वस्तु आकर्षक प्रतीत होती है? यदि कोई भी वस्तु आकर्षक नहीं, तो फिर व्यर्थ में मोह करने से क्या लाभ है? हे मुने! जो नारी सुमेरु पर्वत की चोटियों से उल्लसित होने वाली भगवती माँ गंगा की चञ्चल गति की भाँति है; जो मुक्ताहार से पूर्णरूपेण सुशोभित देखी गई है; कालचक्र के समीप आने पर उसी नारी के मांस पिण्डरूप स्तन को श्मशान में कुत्ते भक्षण करते हैं। जो नारियाँ केश एवं काजल धारण करने वाली तथा देखने में प्रिय लगने वाली होने पर भी न जिनका स्पर्श दु:ख देने वाला होता है, वे ही विधाता की दुष्कृति रूप अग्नि की ज्वाला के समान दग्ध कर देने वाली नारियाँ पुरुष को तिनके की भाँति जला डालती हैं॥ ३९-४३॥

ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः। स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम्॥ ४४॥ कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः। नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः॥ ४५॥ जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम्। पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका॥ ४६॥ सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयानया। दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया॥ ४७॥ यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः। स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥ ४८॥

ये दूरस्थ प्रज्वलित नरकाग्नियों की तरह अशोभनीय एवं दु:खदायी ईंधनस्वरूपा हैं। ये रसयुक्त प्रतीत होने पर भी वस्तुतः रसहीन हैं। काम नामक किरात ने पुरुष रूपी मृगों को आबद्ध कर लेने के लिए स्त्री रूपी पाश को विस्तृत कर रखा है। ये पुरुष जीवनरूपी तलैया के मत्स्य हैं, जो चित्तरूपी कीचड़ में सतत विचरते

रहते हैं। इन मत्स्यरूपी पुरुषों को अपने बाहुपाश में फँसाने के लिए नारी दुर्वासना रूपी रस्सी में बँधी पिण्डिका अर्थात् चारे की भाँति है। यह नारी समस्त दोषरूपी रत्नों को प्रकट करने वाले सागर की भाँति है। यह दु:खों की जंजीर सदैव हमसे दूर रहे। जिस पुरुष के पास नारी है, उसे भोग की इच्छा प्रादुर्भूत होती है और जिसके पास नारी नहीं है, उसके लिए भोग का कोई कारण ही नहीं है। जिसने स्त्री का परित्याग कर दिया, उसका संसार छूट गया और वास्तव में इस नश्वर जगत् का परित्याग करके ही मनुष्य सुख को प्राप्त कर सकता है, वही सचमुच सुखी हो सकता है॥ ४४-४८॥

दिशोऽपि न हि दृश्यन्ते देशोऽप्यन्योपदेशकृत्। शैला अपि विशीर्यन्ते शीर्यन्ते तारका अपि ॥४९॥
शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च ध्रुवोप्यध्रुवजीवनः। सिद्धा अपि विनश्यन्ति जीर्यन्तो दानवादयः॥ ५०॥
परमेष्ठ्यपि निष्ठावान्हीयते हरिरप्यजः। भावोऽप्यभावमायाति जीर्यन्ते वै दिगीश्वराः॥ ५१॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः। नाशमेवानुधावन्ति सलिलानीव वाडवम्॥ ५२॥
आपदः क्षणमायान्ति क्षणमायान्ति संपदः। क्षणं जन्माथ मरणं सर्वं नश्वरमेव तत्॥ ५३॥
अशूरेण हताः शूरा एकेनापि शतं हतम्। विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते॥ ५४॥
जन्मान्तरघ्ना विषया एकजन्महरं विषम्। इति मे दोषदावाग्निदग्धे संप्रति चेतसि॥ ५५॥

(यह जगत् नश्वर है, जब यह अव्यक्त स्थिति में चला जाता है, तब) दिशाएँ भी अदृश्य हो जाती हैं, देश भी दूसरों के लिए उपदेश-प्रद बन जाते हैं अर्थात् काल के गाल में विलीन हो जाते हैं, पर्वत भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं तथा तारागण भी टूक-टूक होकर गिर जाते हैं, ध्रुव-नक्षत्रादि का जीवन भी अस्थिर हो जाता है। सिद्धयोगी जन भी विनष्ट हो जाते हैं, दानवादि भी जराग्रस्त शक्तिरहित होकर नष्ट हो जाते हैं। दीर्घकाल तक स्थायीरूप से निवास करने वाले पितामह ब्रह्मा जी एवं जन्मरहित भगवान् विष्णु भी अन्तर्धान हो जाते हैं, समस्त भाव अभाव में परिणत हो जाते हैं, दिशाओं के अधिपति भी जरा-जीर्ण हो जाते हैं। बड़े-बड़े देवगण एवं समस्त प्राणिसमूह वैसे ही विनाश की ओर दौड़ते चले जाते हैं, जिस प्रकार सागरों का जल बड़वानल की ओर दौड़ता चला जा रहा है। आपत्तियाँ क्षणभर में विपत्तिग्रस्त बना देती हैं, तो क्षणभर में समस्त वैभव-सम्पदाएँ समीप में एकत्रित हो जाती हैं। क्षणभर में मृत्यु एवं क्षणभर में जन्म हो जाता है। ये सभी प्रपञ्च नश्वर हैं। इस जगत् में कायर पुरुषों के द्वारा शूरवीरों का संहार होता है, कभी-कभी एक के द्वारा सैकड़ों-हजारों का विनाश हो जाता है। विषय-भोगों के द्वारा चित्त में जो विषमता आ जाती है, वही विषरूप है। प्रत्यक्ष विष इतना भीषण विष नहीं कहा जाता; क्योंकि वह विष तो मात्र एक ही जन्म को नष्ट करता है और विषय-भोग तो जन्म-जन्मान्तर को ही विनष्ट कर देते हैं। अत: इस समय दोषरूपी दावानल से जला मेरा चित्त ऐसा ही प्रतीत हो रहा है॥४९-५५॥

स्फुरन्ति हि न भोगाशा मृगतृष्णासरःस्वपि। अतो मां बोधयाशु त्वं तत्त्वज्ञानेन वै गुरो॥ ५६॥
नो चेन्मौनं समास्थाय निर्मानो गतमत्सरः। भावयन्मनसा विष्णुं लिपिकर्मार्पितोपमः॥ ५७॥
इति महोपनिषद्॥

मृगमरीचिका (तृष्णा) के सरोवर में खड़े होने के बाद भी मुझमें भोग-लिप्सा की स्फुरणा नहीं हो रही है। अत: हे पिता, हे गुरु! आप मुझे तत्त्वज्ञानात्मक बोध शीघ्रातिशीघ्र प्रदान करने की कृपा करें। अन्यथा मैं मान एवं मत्सर का परित्याग कर अपने चित्त में भगवान् विष्णु का ध्यान करते हुए चित्रलिखित की तरह से मौनव्रत स्वीकार कर लूँगा॥ ५६-५७॥ यही महोपनिषद् है।

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

निदाघ तव नास्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर। प्रज्ञया त्वं विजानासि ईश्वरानुगृहीतया। चित्तमालिन्यसंजातं मार्जयामि भ्रमं मुने ॥ १ ॥ मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः। शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥ २ ॥ एकं वा सर्वयत्नेन सर्वमुत्सृज्य संश्रयेत्। एकस्मिन्वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं गताः ॥ ३ ॥

अपने पुत्र निदाघ मुनि की सभी बातें सुनकर ऋषिवर ऋभु ने कहा-हे प्रभु! तुम ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हो। अब तुम्हारे लिए कुछ भी जानकारी के योग्य शेष नहीं रह गया है। तुम ईश्वर की महती कृपा से अपनी ही प्रज्ञा-बुद्धि के द्वारा सभी कुछ समझ गये हो। फिर भी हे मुने! तुम्हारे चित्त में मलिनता के द्वारा जो भी भ्रम प्रादुर्भूत हुआ है, उसका मैं निवारण करूँगा। शम (मनोनिग्रह), विचार, संतोष एवं सत्संग ही मोक्षद्वार के चार द्वारपाल के रूप में कहे गये हैं। यदि इनमें से किसी एक का भी आश्रय प्राप्त कर लिया जाये, तो शेष तीनों द्वारपाल सहजतापूर्वक स्वयमेव ही अपने वश में हो जाते हैं॥ १-३ ॥

शास्त्रैः सज्जनसंपर्कपूर्वकैश्च तपोदमैः। आदौ संसारमुक्त्यर्थं प्रज्ञामेवाभिवर्धयेत्॥ ४॥ स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता। यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते॥ ५॥

सर्वप्रथम इस नश्वर जगत् से मोक्ष प्राप्त करने के लिए तप, दम (इन्द्रिय निग्रह), शास्त्र एवं सत्संग के द्वारा अपने सद्ज्ञान को बढ़ाया जाना चाहिए। अपनी आत्मा के अनुभव, शास्त्रों एवं गुरु के वचनों के उपदेश से सतत अभ्यास द्वारा आत्मचिन्तन करना चाहिए॥ ४-५ ॥

संकल्पाशानुसंधानवर्जनं चेत्प्रतिक्षणम्। करोषि तदचित्तत्वं प्राप्त एवासि पावनम्॥ ६॥ चेतसो यदकर्तृत्वं तत्समाधानमीरितम्। तदेव केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा॥ ७॥ चेतसा संपरित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम्। यथा तिष्ठसि तिष्ठ त्वं मूकान्धबधिरोपमः॥ ८॥ सर्वं प्रशान्तमजमेकमनादिमध्यमाभास्वरं स्वदनमात्रमचैत्यचिह्नम्। सर्वं प्रशान्तमिति शब्दमयी च दृष्टिर्बाधार्थमेव हि मुधैव तदोमितीदम्॥ ९ ॥ सर्वं किंचिदिदं दृश्यं दृश्यते चिज्जगद्गतम्। चिन्निष्पन्दांशमात्रं तन्नान्यदस्तीति भावय॥ १० ॥ नित्यप्रबुद्धचित्तस्त्वं कुर्वन्वापि जगत्क्रियाम्। आत्मैकत्वं विदित्वा त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत्॥ ११ ॥

यदि तुमने सदैव के लिए संकल्प एवं आशा के अनुसन्धान का परित्याग कर दिया है, तो तुम्हें वह कैवल्य की प्राप्ति हो ही गयी होगी। जो चित्त का अकर्तृत्व है, वही चित्त-वृत्तियों का निरोध अर्थात् समाधि कही गयी है। यही कैवल्यावस्था एवं परम कल्याणस्वरूपा परम शान्ति कहलाती है। इस जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में आत्म भावना का सम्यक् रूप से त्याग करके संसार में गूँगे, अंधे एवं बधिरों के समान तुम्हारे रहने से ही यह संभव है। सभी कुछ प्रशान्त है, एक है, जन्मरहित है, केवल अनुभवगम्य है, चित्तरहित है आदि जो शब्दरूप दृष्टि है, वह व्यर्थ ही है। आत्मबोध में बाधास्वरूप है। जो कुछ भी प्रपञ्च में दृष्टिगोचर होता है- तत्त्वतः वही प्रणवरूप है। यहाँ पर जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है- वही दृश्य चिद्-जगत् में भी दृष्टिगोचर होते हैं, वह चित् के निष्पन्द का एक अंशरूप ही है। अतः चित् से (चैतन्य से) अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, तुम ऐसी ही भावना करो। सांसारिक कार्यों को सतत करते हुए भी नित्य प्रबुद्धचित्त होकर आत्मा के एकत्व को जानकर प्रशान्त रहने वाले महासागर के सदृश निश्चल एवं स्थिरचित्त बने रहो। ऐसे ही कार्य करने में कल्याण की सम्भावनायें हैं॥ ६-११ ॥

तत्त्वावबोध एवासौ वासनातृणपावकः। प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः ॥ १२ ॥
निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोकः प्रवर्तते। सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः ॥ १३ ॥
अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने। निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता संनिधिमात्रतः ॥ १४ ॥
ते द्वे ब्रह्मणि विन्देत कर्तृताकर्तृते मुने। यत्रैवैष चमत्कारस्तमाश्रित्य स्थिरो भव ॥ १५ ॥
तस्मान्नित्यमकर्ताहमिति भावनयेद्धया । परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥ १६ ॥

यह आत्मज्ञान वासनारूपी तृण को दग्ध कर देने वाले अग्नि के सदृश है। इसे ही समाधि कहते हैं। केवल मौन रहकर बैठे रहना ही समाधि नहीं है। जैसे रत्न के इच्छारहित होकर पड़े रहने पर भी मनुष्य उसकी तरफ आकृष्ट होते ही हैं, वैसे ही मात्र सत्तारूप में विद्यमान परमात्म तत्त्व की ओर भी सम्पूर्ण विश्व आकृष्ट होता है। अत: हे पुत्र! इस आत्मा में ही कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व दोनों ही स्थित हैं। कामनाविहीन रहने पर ही आत्मा अकर्ता है और सन्निधि मात्र से वह कर्त्ता बन जाता है। हे मुने! कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनों का ही निवास अविनाशी परमात्मा में है। तुम्हें यह चमत्कार जिसमें भी परिलक्षित हो, उसी में प्रतिष्ठित हो जाओ। 'मैं नित्य ही अकर्ता हूँ',ऐसी भावना करने पर केवल परमअमृत नामक सत्ता ही शेष रह जाती है॥ १२-१६ ॥

निदाघ शृणु सत्त्वस्था जाता भुवि महागुणाः। ते नित्यमेवाभ्युदिता मुदिताः ख इवेन्दवः ॥१७ ॥
नापदि ग्लानिमायान्ति निशि हेमाम्बुजं यथा। नेहन्ते प्रकृतादन्यद्रमन्ते शिष्टवर्त्मनि ॥ १८ ॥
आकृत्यैव विराजन्ते मैत्र्यादिगुणवृत्तिभिः। समाः समरसाः सौम्य सततं साधुवृत्तयः ॥ १९ ॥
अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः। नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥ २० ॥

अत: हे निदाघ! जो प्राणी सत्त्व में स्थित होकर इस लोक में प्रकट हुए हैं, वे ही महान् गुणवान् हैं। वे ही सदा उन्नतिशील होते हुए आकाश में स्थित चन्द्रमा के समान हर्षित होते रहते हैं। सत्त्वगुण में स्थित मनुष्य स्वर्णिम कमल की भाँति रात्रिकालरूप आपत्तियों में कुम्हलाते नहीं हैं। वे प्राप्त भोगों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की इच्छा नहीं करते, वरन् शास्त्रोक्त मार्ग में ही भ्रमण करते रहते हैं। वे स्वत: अपने मन के अनुकूल रहकर ही मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा आदि गुणों से विभूषित होते रहते हैं। हे सौम्य! वे समान भाव में रहते हुए सतत साधु वृत्ति में एकरस बने रहते हैं। मर्यादा से परे होकर भी वे समुद्र के समान विशाल हृदय वाले हो जाते हैं। वे भगवान् भास्कर की भाँति अपने नियत-पथ पर हमेशा गमन करते रहते हैं॥ १७-२० ॥

कोऽहं कथमिदं चेति संसारमलमाततम् । प्रविचार्यं प्रयत्नेन प्राज्ञेन सह साधुना ॥ २१ ॥
नाकर्मसु नियोक्तव्यं नानार्येण सहावसेत्। द्रष्टव्यः सर्वसंहर्ता न मृत्युरवहेलया ॥ २२ ॥
शरीरमस्थि मांसं च त्यक्त्वा रक्ताद्यशोभनम्। भूतमुक्तावलीतन्तुं चिन्मात्रमवलोकयेत् ॥ २३ ॥
उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविसर्जनम्। यदेतन्मनसो रूपं तद्बाह्यं विद्धि नेतरत् ॥ २४ ॥
गुरुशास्त्रोक्तमार्गेण स्वानुभूत्या च चिद्घने। ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा वीतशोको भवेन्मुनिः ॥२५ ॥

प्राज्ञों, संतजनों के साथ प्रयत्नपूर्वक यह चिन्तन करना चाहिए कि 'मैं कौन हूँ?' यह विराट् विश्व-प्रपञ्च किस प्रकार प्रादुर्भूत हुआ? कभी निरर्थक कार्यों में न लगा रहे तथा अनार्य पुरुष के संग से सदैव अपने को बचाता रहे। सभी की संघारक, मृत्यु के प्रति उपेक्षा भाव से न देखे। यदि उपेक्षा करनी ही है, तो शरीर, अस्थि, मांस एवं रक्त आदि को घृणास्पद जानकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। जिस प्रकार मोती की लड़ियों में सूत्र पिरोया जाता है, उसी प्रकार प्राणियों में पिरोये हुए परमपिता परमात्मा पर ही दृष्टि रखे। उपयोगी वस्तु की ओर भागना एवं अनुपयोगी वस्तु का सदैव के लिए त्याग कर देना ही मन का स्वभाव है। वह बाह्य है, आन्तरिक

नहीं, इसे जानना चाहिए। परमात्मतत्त्व के विषय में गुरु एवं शास्त्र के अनुसार बताये हुए मार्ग से तथा स्वानुभूति से 'मैं ही ब्रह्म हूँ', ऐसा जानकर शोक-रहित हो जाए॥ २१-२५॥

यत्र निशितासिशतपातनमुत्पलताडनवत्सोढव्यमग्निदाहो हिमसेचनमिवाङ्गारावर्तनं चन्दनचर्चेव निरवधिनाराचविकिरपातो निदाघविनोदनधारागृहशीकरवर्षणमिव स्वशिरश्छेदः सुखनिद्रेव मूकीकरणमाननमुद्रेव बाधिर्यं महानुपचय इवेदं नावहेलनया भवितव्यमेवं दृढवैराग्याद्बोधो भवति। गुरुवाक्यसमुद्भूतस्वानुभूत्यादिशुद्धया। यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते॥२६

ऐसी अवस्था में खड्ग जैसा कठोर आघात, कमल के कोमल आघात के सदृश तथा अग्नि द्वारा दग्ध किये जाने का प्रभाव,शीतल जल में स्नान करने की भाँति सहन करने योग्य हो जाता है। आग के दहकते अंगारों पर लेटना,चन्दन के लेप के समान शीतल प्रतीत होता है। शरीर पर सतत बाणों के समूह का आघात, गर्मी को शान्त करने वाले फव्वारे के जलकणों की वर्षा के सदृश बन जाता है। सिर का काटा जाना, सुखप्रदायिनी निद्रा के समान; (जिह्वा आदि काटकर)गूँगा हो जाना, मौनावलम्बन के समान;बधिर हो जाना, उन्नति के समान सुख प्रदायी होता है; लेकिन यह अवस्था उपेक्षा करने से नहीं मिलती। इसकी प्राप्ति दृढ़निश्चयी होकर वैराग्यजनित आत्मज्ञान से ही सम्भव है। गुरु एवं शास्त्र वचनों के अनुसार तथा अन्त: अनुभूति के माध्यम आदि से जो अन्त: की शुद्धि होती है, उसी के सतत अभ्यास से आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है॥ २६॥

विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक्। तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्नास्तीति भावय॥ २७॥ न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः। न कायक्लेशवैधुर्यं न तीर्थायतनाश्रयः। केवलं तन्मनोमात्रमयेनासाद्यते पदम्॥ २८॥

जैसे दिशा-भ्रम नष्ट हो जाने से पूर्व की भाँति ही दिशाबोध होने लगता है, वैसे ही विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान)के द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाने पर जगत् की स्थिति नहीं रहती,ऐसी भावना करनी चाहिए। मनुष्य का उपकार न धन से,न मित्रों से, न बान्धवों से; न शारीरिक क्लेश के नष्ट होने से और न ही तीर्थ-स्थल में निवास करने से ही मनुष्य लाभान्वित होता है; वह तो चिन्मात्र में विलीन होकर ही परमपद प्राप्त कर सकता है॥ २७-२८॥

यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधयः। शान्तचेतःसु तत्सर्वं तमोऽर्केष्विव नश्यति॥२९॥ मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च। विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि॥ ३०॥ न रसायनपानेन न लक्ष्म्यालिङ्गितेन च। न तथा सुखमाप्नोति शमेनान्तर्यथा जनः॥ ३१॥ श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा ज्ञात्वा शुभाशुभम्। न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते॥ ३२॥ तुषारकरबिम्बाच्छं मनो यस्य निराकुलम्। मरणोत्सवयुद्धेषु स शान्त इति कथ्यते॥ ३३॥ तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च। वनवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते॥३४॥

स्थिर शान्तचित्त वाले व्यक्तियों के जितने भी दुःख, तृष्णायें एवं दुःसह दुश्चिन्तायें हैं, वे और समस्त विकार ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाते हैं, जैसे कि सूर्य की किरणों से अन्धकार विनष्ट हो जाता है। इस नश्वर जगत् में शम (मनोनिग्रह) से युक्त मनुष्य का कठोर एवं मृदु स्वभाव के समस्त प्राणी-जन वैसे ही विश्वास करते हैं, जैसा माता पर उसके पुत्र विश्वास करते हैं। अमृत-पान एवं लक्ष्मी के आलिङ्गन से वैसा सुख नहीं प्राप्त होता, जैसा सुख व्यक्ति अपने मन की शान्ति से प्राप्त करता है। शुभ एवं अशुभ के श्रवण से, भोजन से, स्पर्श से, दर्शन से एवं जानने से, जिस मनुष्य को न तो प्रसन्नता होती है और न ही दुःख होता है, वही मनुष्य शान्त कहलाता है। चन्द्रमा के मण्डल की भाँति जिसका मन सदा स्वच्छ रहता है एवं मरण-काल, मांगलिक उत्सव तथा युद्ध

में जिसका मन व्यग्र नहीं होता, वही मनुष्य शान्त कहलाता है। वह (शम प्रधान) पुरुष तपस्वी जनों में, बहुश्रुतों में,याज्ञिकों में,राजाओं में, वन में वास करने वालों में एवं गुणज्ञों में भी शोभायमान होता है॥ २९-३४॥

संतोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः। आत्मारामा महात्मानस्ते महापदमागताः ॥ ३५॥
अप्राप्तं हि परित्यज्य संप्राप्ते समतां गतः। अदृष्टखेदाखेदो यः संतुष्ट इति कथ्यते॥ ३६॥
नाभिनन्दत्यसंप्राप्तं प्राप्तं भुङ्क्ते यथेप्सितम्। यः स सौम्यसमाचारः संतुष्ट इति कथ्यते॥ ३७॥
रमते धीर्यथाप्राप्ते साध्वीवाऽन्तःपुराजिरे। सा जीवन्मुक्ततोदेति स्वरूपानन्ददायिनी॥ ३८॥

जो सन्तोषरूपी अमृत को पीकर शान्त एवं सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे ही ज्ञानीजन आत्मा में रमण करते हुए 'महापद (परमात्मपद)' को प्राप्त करते हैं। जो प्राप्त न होने वाली वस्तु के प्रति चिन्तित नहीं होता और प्राप्त होने वाली वस्तु के प्रति समान (हर्ष रहित) रहता है, जिसने सुख एवं दुःख का अवलोकन नहीं किया, वास्तव में वही सन्तुष्ट कहा जाता है। जो अप्राप्त वस्तु की कभी आकांक्षा नहीं करता तथा उपलब्ध वस्तु का आवश्यकतानुसार ही उपभोग करता है, वही सौम्य एवं समभाव से श्रेष्ठ आचरण करने वाला व्यक्ति सन्तुष्ट कहा जाता है। अन्तःपुर के प्राङ्गण में जिस तरह साध्वी पत्नी प्रसन्न रहती है, वैसे ही सहज क्रम में प्राप्त वस्तु में जब बुद्धि रमण करने लगती है, तभी वह स्वरूपानंद प्रदायी जीवन्मुक्त स्थिति कहलाती है॥ ३५-३८॥

यथाक्षणं यथाशास्त्रं यथादेशं यथासुखम्। यथासंभवसत्सङ्गमिमं मोक्षपथक्रमम्। तावद्विचारयेत्प्राज्ञो यावद्विश्रान्तिमात्मनि॥ ३९॥ तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य निवृत्तस्य भवार्णवात्। जीवतोऽजीवतश्चैव गृहस्थस्याथवा यतेः॥ ४०॥ नाकृतेन कृतेनार्थो न श्रुतिस्मृतिविभ्रमैः। निर्मन्दर इवाम्भोधिः स तिष्ठति यथास्थितः॥ ४१॥

समय एवं देश के अनुसार शास्त्रानुकूल आनन्दपूर्वक यथाशक्ति सत्संग में ही विचरण करते हुए इस मोक्षपथ के क्रम का तब तक ज्ञानीजन चिन्तन करते रहें, जब तक कि उन्हें आत्मिक विश्रान्ति न मिल जाये। सद्गृहस्थ हो अथवा संन्यासी, जो भी व्यक्ति तुरीयावस्था की विश्रान्ति से सम्पन्न है एवं इस संसार सागर से निवृत्त हो गया है, वह चाहे सांसारिक जीवन में व्यस्त रहे अथवा न रहे, उसे कोई भी कार्य करने या न करने से कोई मतलब नहीं है। उसे श्रुति-स्मृति के भ्रमजाल में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह तो मन्दराचल से विहीन (शान्त) सागर की भाँति आत्म-स्थित रहते हुए सभी कुछ प्राप्त कर लेता है॥ ३९-४१॥

सर्वात्मवेदनं शुद्धं यदोदेति तदात्मकम्। भाति प्रसृतिदिक्कालबाह्यं चिद्रूपदेहकम्॥ ४२॥
एवमात्मा यथा यत्र समुल्लासमुपागतः। तिष्ठत्याशु तथा तत्र तद्रूपश्च विराजते॥ ४३॥

जब सभी के प्रति शुद्ध आत्मतत्त्व की अनुभूति की तदात्मक (एकत्व) वृत्ति का उदय हो जाता है,तब दिशा एवं काल में विस्तीर्ण हुआ सम्पूर्ण बाह्य जगत्, चिद्रूपात्मक ही प्रतीत होता है। इस तरह आत्मा जहाँ जिस रूप में उल्लास को प्राप्त होता है, वहाँ शीघ्र ही उसी रूप में वह अवस्थित हो जाता है एवं तदनुरूप ही विराजमान हो जाता है॥ ४२-४३॥

यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्। तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति॥४४॥
ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः। कल्पिता व्यवहारार्थं यस्य संज्ञा महात्मनः॥ ४५॥
यथा कटकशब्दार्थः पृथग्भावो न काञ्चनात्। न हेम कटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परा॥ ४६॥

जो भी कुछ स्थावर एवं जंगम दृश्यरूप यह सम्पूर्ण जगत् परिलक्षित होता है, वह प्रलय के समय में ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाता है, जैसे सुषुप्तावस्था में स्वप्न अदृश्य हो जाता है। यह आत्मा ऋत (आदिकारण)

रूप है, परब्रह्म परमेश्वर है। वह सत्यरूप है। ये समस्त संज्ञायें विद्वज्जन एवं महान् आत्माओं ने व्यवहार के लिए कल्पित की हैं। जैसे कङ्कण (हाथ का आभूषण) शब्द एवं उसका अर्थ स्वर्ण से अलग अस्तित्व नहीं रखता और कङ्कण से प्रतिष्ठित स्वर्ण कङ्कण से अलग अपना अस्तित्व नहीं रखता, ठीक वैसे ही 'जगत्' शब्द का तात्पर्य भी परब्रह्म ही होता है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं॥ ४४-४६॥

तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते। द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्तान्तर्बन्ध इत्यभिधीयते॥ ४७॥
द्रष्टा दृश्यवशाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते। जगत्त्वमहमित्यादिसर्गात्मा दृश्यमुच्यते॥ ४८॥
मनसैवेन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते। यावदेतत्संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते॥ ४९॥

उस अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर ने जगत् के रूप में यह इन्द्रजाल विस्तीर्ण किया है। द्रष्टा का दृश्य श्री सत्ता से अन्तः सम्बद्ध होना 'बन्ध' कहा जाता है। दृश्य के वशीभूत होकर ही द्रष्टा बन्धन में पड़ता है और दृश्य के अभाव में ही वह मोक्ष प्राप्त करता है। यह जगत्, 'मेरा-तेरा' रूप भाव वाली सृष्टि, दृश्य कहलाती है। इस संसार में प्रपञ्चरूपी इन्द्रजाल मन के द्वारा ही प्रबुद्ध होता है। जब तक मन की यह कल्पना समाप्त नहीं होती, तब तक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता नहीं दिखलाई पड़ता॥ ४७-४९॥

ब्रह्मणा तन्यते विश्वं मनसैव स्वयंभुवा। मनोमयमतो विश्वं यन्नाम परिदृश्यते॥ ५०॥
न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः। यदर्थं प्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते॥ ५१॥
संकल्पनं मनो विद्धि संकल्पस्तत्र विद्यते। यत्र संकल्पनं तत्र मनोऽस्तीत्यवगम्यताम्॥ ५२॥
संकल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केनचित्। संकल्पजाते गलिते स्वरूपमवशिष्यते॥ ५३॥

यह संसार स्वयंभू ब्रह्मा जी की मानसिक सृष्टि है, अतः दृष्टिगोचर होने वाले इस विश्व को मनोमय ही समझना चाहिए। बाह्य अथवा अन्तःकरण में कहीं पर भी यह मन सद्रूप में अवस्थित नहीं है। विषय वस्तुओं का बोध ही मन कहलाता है। संकल्प-विकल्प होना ही मन का स्वभाव है; क्योंकि वह संकल्प में ही रमण कर रहा है। अतः जो संकल्प है, वही मन है, ऐसा जानना चाहिए। आज तक कोई भी संकल्प और मन को पृथक् नहीं कर सका। समस्त संकल्पों के विनष्ट हो जाने पर आत्मस्वरूप ही शेष रहता है॥ ५०-५३॥

अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे। स्यात्तादृशी केवलता दृश्ये सत्तामुपागते॥ ५४॥
महाप्रलयसंपत्तौ ह्यसत्तां समुपागते। अशेषदृश्ये सर्गादौ शान्तमेवावशिष्यते॥ ५५॥
अस्त्यनस्तमितो भास्वानजो देवो निरामयः। सर्वदा सर्वकृत्सर्वः परमात्मेत्युदाहृतः॥ ५६॥
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते। यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावतः॥५७

'मेरा-तेरा' एवं इस जगत् आदि दृश्य प्रपञ्च (इन्द्रजाल) के शान्त हो जाने पर दृश्य जब सत्ता को अर्थात् परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, तब तदनुरूप ही वह कैवल्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। महाप्रलय की स्थिति आने पर जब सम्पूर्ण दृश्य जगत् अस्तित्व रहित हो जाता है, तब उस समय सृष्टि के पूर्वकाल में केवल प्रशान्त आत्मा मात्र ही शेष रहता है। जो आत्मारूपी सूर्य (सविता) कभी अस्ताचल की ओर गमन नहीं करता, जो अजन्मा एवं सर्वदोषरहित देव है, सदैव सर्वकर्त्ता तथा सर्वरूप है; जहाँ वाक्शक्ति जाकर वापस आ जाती है; जिसे मुक्त पुरुष ही जानते हैं और जिसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ कल्पना मात्र हैं, स्वाभाविक नहीं हैं; (वे ही अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर कहे जाते हैं)॥ ५४-५७॥

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्। द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं महामुने॥५८॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत्। निमेषेण चिदाकाशं तद्विद्धि मुनिपुङ्गव॥ ५९॥

तस्मिन्निरस्तनिःशेषसंकल्पस्थितिमेषि चेत्। सर्वात्मकं पदं शान्तं तदा प्राप्नोष्यसंशयः ॥ ६० ॥
उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसगर्भिणी। आनन्दस्यन्दिनी यैषा समाधिरभिधीयते ॥ ६१ ॥
दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे। रतिर्बलोदिता यासौ समाधिरभिधीयते ॥ ६२ ॥
दृश्यासंभवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं चिदात्मकम्। तदेव केवलीभावं ततोऽन्यत्सकलं मृषा ॥ ६३ ॥

'चित्ताकाश, चिदाकाश एवं (भौतिक) आकाश—ये ही तीन आकाश कहे गये हैं। हे मुने! इन तीनों में से चिदाकाश अति सूक्ष्म बतलाया गया है। हे मुनिश्रेष्ठ! एक देश (विषय) से दूसरे देश (विषय) में गमन करते समय निमेष भर का (वृत्तिशून्य) मध्यकाल आता है, वही चिदाकाश है— ऐसा जानना चाहिए। यदि तुम उस अतिश्रेष्ठ चिदाकाश में सभी संकल्पों को छोड़कर प्रतिष्ठित होते हो, तो निश्चय ही सर्वात्मक शान्त पद को प्राप्त करोगे। चिदाकाश की स्थिति तक पहुँच जाने के बाद जिस सुन्दर, उदार एवं वैराग्यरस से ओत-प्रोत आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे ही सहज समाधि कहा जाता है। जब यह बोध हो जाता है कि दृश्य पदार्थों की सत्ता है ही नहीं और राग-द्वेष आदि समस्त दोषों की समाप्ति हो जाती है; तब उस समय अभ्यास बल के द्वारा जो एकाग्र-रति (आनन्द) प्रादुर्भूत होती है, उसे ही समाधि कहा जाता है। दृश्य जगत् की सत्ता का अभाव जब अन्त:करण में बोधरूप में आता है, तभी वह संशयरहित ज्ञान का स्वरूप कहलाता है। वह ही चिदात्मक ज्ञेयतत्त्व है, वही आत्म कैवल्य रूप है, इसके सिवाय अन्य सभी कुछ असत्य है ॥ ५८-६३ ॥

मत्त ऐरावतो बद्धः सर्षपीकोणकोटरे । मशकेन कृतं युद्धं सिंहौघैरेणुकोटरे ॥ ६४ ॥
पद्माक्षे स्थापितो मेरुर्निगीर्णो भृङ्गसूनुना। निदाघ विद्धि तादृक्त्वं जगदेतद्भ्रमात्मकम् ॥ ६५ ॥

जिस प्रकार मदोन्मत्त ऐरावत हाथी का सरसों के एक किनारे के छिद्र में बाँधा जाना असंभव है, एक धूलिकण के बिल में मच्छरों का सिंहों के साथ युद्ध करना शक्य नहीं है और कमल की पंखुड़ी में प्रतिष्ठित सुमेरुपर्वत को भ्रमर के बच्चे द्वारा निगले जाने की कथा मिथ्या है। उसी प्रकार यह विश्व भी अस्तित्व में नहीं आ सकता। अत: हे निदाघ! तुम्हें इसकी सत्ता को भ्रमात्मक ही जानना चाहिए ॥६४-६५ ॥

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम्। तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥ ६६ ॥
मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः। देहवासनया मुक्तो देहधर्मैर्न लिप्यते ॥ ६७ ॥
कल्पं क्षणीकरोत्यन्तः क्षणं नयति कल्पताम्। मनोविलाससंसार इति मे निश्चिता मतिः ॥ ६८
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ ६९ ॥

राग-द्वेष आदि के विकारों से दूषित चित्त ही जगत् है। वही चित्त समस्त दोषों से मुक्त हो जाता है, तभी इसे जगत् का अन्त यानी मोक्ष की प्राप्ति होना कहा जाता है। मन के द्वारा शरीर की भावना किये जाने पर ही आत्मा देहात्मक बनती है। जब वह शारीरिक वासनाओं से मुक्त होती है, तभी वह (मन) शरीर के धर्मों में लिप्त नहीं होती। यह मन ही कल्प को क्षण बना देता है और क्षण में कल्पत्व भर देता है। अत: मेरी समझ में यह जगत् केवल मनोविलास अर्थात् मन का खेल मात्र ही है। जो मनुष्य दुश्चरित्रता से विलग नहीं हुआ है, एकाग्रचित्त नहीं है और जिसका चित्त अभी शान्त नहीं हुआ है, ऐसे पुरुष को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता ॥

तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम्। विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कदाचन ॥७० ॥ परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम्। कविं पुराणं पुरुषं सनातनं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम् ॥ ७१ ॥ अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्। द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च। ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ॥ ७२ ॥

उस आनन्द स्वरूप, द्वन्द्वों से परे, गुणरहित (गुणों से परे), सत् स्वरूप, चिद्घन परब्रह्म को अपना-निज स्वरूप जान लेने के पश्चात् मनुष्य को किञ्चित् भी भय नहीं होता। जो महान् से महानतम एवं श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम, तेज:स्वरूप, शाश्वत, कल्याण-प्रद, सर्वज्ञ, पुराणपुरुष, सनातन, सर्वेश्वर तथा सभी देवगणों के द्वारा सम्पूजित एवं उपास्य है, वह अविनाशी ब्रह्म मैं हूँ- ऐसा निश्चय महात्माओं के लिए मुक्ति का माध्यम होता है। बन्धन एवं मोक्ष के दो ही कारण बनते हैं, जिनमें प्रथम है— ममता एवं द्वितीय ममतारहित होना। ममता के द्वारा जीव बन्धन में पड़ता है और ममता से रहित हो जाने के पश्चात् वह (जीव) मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥ ७०-७२॥

जीवेश्वरादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम्। ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता। जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः॥ ७३॥ त्रिणाचिकादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः। लोकायतादिसांख्यान्ता जीवविभ्रान्तिमाश्रिताः॥ ७४॥ तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः। कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम्॥ ७५॥

जीव रूप एवं ईश्वररूप से ईक्षण अर्थात् ब्रह्म के संकल्प से प्रारम्भ होकर तथा ब्रह्म में प्रवेश के अन्त वाले इस सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक सृष्टि की कल्पना ईश्वर के द्वारा ही की गई है। जाग्रत् अवस्था से लेकर मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् जीव के द्वारा ही कल्पित है। कठोपनिषद् के अन्तर्गत त्रिणाचिकेताग्नि से लेकर श्वेताश्वतर का योगपर्यन्त ज्ञान ईश्वरीय भ्रान्ति के आश्रित है। चार्वाक मत से लेकर कपिल के सांख्यसिद्धान्त तक का दार्शनिक ज्ञान (सांख्य आदि दर्शनों में प्रतिपादित ज्ञान) जीव भ्रान्ति का आधार है। अत: जो पुरुष मुक्ति की आकांक्षा करता है, वह जीव तथा ईश्वर के वाद-विवाद में बुद्धि को भ्रमित न करे, वरन् उसे दृढ़तापूर्वक ब्रह्मतत्त्व का ही निरन्तर चिन्तन करना चाहिए॥ ७३-७५॥

अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात्। स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः॥७६॥ दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्। दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥ ७७॥ उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः। योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते॥ ७८॥ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः। विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः॥ ७९॥ सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते। अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत्॥ ८०॥ प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म सत्यं प्रज्ञानलक्षणम्। एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत्॥ ८१॥ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ ८२॥

ज्ञानवान् पुरुष वही है, जो सम्पूर्ण दृश्य-जगत् को निर्विशेष चित् रूप मानता हो। वही (कल्याणकारी) शिव है, वही ब्रह्मा एवं विष्णु भी वही है। विषय वासनाओं का त्याग अत्यन्त दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना भी अत्यन्त कठिन है और सद्गुरु की अनुकम्पा के बिना सहजावस्था को प्राप्त करना भी अत्यधिक दु:साध्य है। जिसने अपनी बोधात्मिका शक्ति को जाग्रत् कर लिया है और अपने समस्त कर्मों का परित्याग कर दिया है, ऐसा योगी स्वयमेव सहजावस्था को प्राप्त कर लेता है; जब तक व्यक्ति को इसमें थोड़ा भी अन्तर मालूम पड़ता है, तब तक उसके लिए भय है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। सर्वरूप-परब्रह्म परमेश्वर को ज्ञान के नेत्रों से देखा जा सकता है, जिसके पास ज्ञान के नेत्रों का अभाव है, वह अविनाशी ब्रह्म को ठीक वैसे ही नहीं देख सकता, जिस प्रकार अंधे व्यक्ति को प्रकाशमान सूर्य (सवितादेवता) के दर्शन नहीं होते। वह ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप है। सत्य ही प्रज्ञान का लक्षण है। अत: ब्रह्म के परिज्ञान से ही मर्त्य जीव अमरत्व को प्राप्त करता है। उस कार्य-कारण स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही मनुष्य के हृदय की गाँठें खुल जाती हैं, सभी संशय समाप्त हो जाते हैं और समस्त कर्म (प्रारब्धादि) क्षीणता को प्राप्त हो जाते हैं॥ ७६-८२॥

अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ। एकनिष्ठतयान्तःस्थः संविन्मात्रपरो भव॥ ८३॥
मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत्। जगत्त्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः॥ ८४॥
लक्ष्यालक्ष्यमतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना। शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः॥ ८५॥
अधिष्ठानमनौपम्यामवाङ्मनसगोचरम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम्॥ ८६॥
सर्वशक्तेर्महेशस्य विलासो हि मनो जगत्। संयमासंयमाभ्यां च संसारः शान्तिमन्वगात्॥८७॥

हे पुत्र निदाघ! अनात्म भाव को त्यागकर, सांसारिक स्थिति में विकाररहित होकर अनन्य निष्ठापूर्वक अन्तः में प्रतिष्ठित होकर आत्म-चैतन्य में ही रमण करते रहो। जिस प्रकार मरुभूमि में भ्रम से दिखाई देने वाला जल मरुस्थल मात्र ही रहता है, उसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तावस्था से युक्त यह सम्पूर्ण जगत् आत्मविचार से ही चिन्मय जानना चाहिए। जो लक्ष्य एवं अलक्ष्य बुद्धि का परित्याग करके केवल आत्मनिष्ठ हो जाता है, वही श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी एवं स्वयं साक्षात् शिवरूप है। इस जगत् का अधिष्ठान अद्वितीय है, वाणी एवं मन की पहुँच से परे है। नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अव्यय स्वरूप से युक्त है। यह विश्व सर्वशक्तिमान् भगवान् महाशिव का मनोविलास मात्र ही है। संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) एवं असंयम (सहज ज्ञान) के द्वारा ये सभी सांसारिक प्रपञ्च शान्ति को प्राप्त होते हैं॥ ८३-८७॥

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते। यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते॥ ८८॥
स्वायत्तमेकान्तहितं स्वेप्सितत्यागवेदनम्। यस्य दुष्करतां यातं धिक्तं पुरुषकीटकम्॥ ८९॥
स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा। मनः प्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः॥ ९०॥
असंकल्पनशस्त्रेण छिन्नं चित्तमिदं यदा। सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ ९१॥
भव भावनया मुक्तो मुक्तः परमया धिया। धारयात्मानमव्यग्रो ग्रस्तचित्तं चितः पदम्॥ ९२॥

हे निदाघ मुने! मैं तुम्हारे मन में प्रादुर्भूत होते हुए विकारों की चिकित्सा के लिए उपाय बतलाता हूँ। जिन-जिन इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए मन चंचल हो, उन पदार्थों का त्याग ही मानव के मोक्ष-प्राप्ति का साधन है। जिसके लिए अभिलषित सांसारिक पदार्थों के त्याग की भावना, एकान्त प्रिय होना एवं आत्मा की अधीनता दुष्कर हो जाती है, ऐसे उस मनुष्य रूपी कीट (कीड़े) को धिक्कार है। अपनी इच्छित वस्तुओं एवं पदार्थों का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना ही वास्तविक मन की शान्ति का श्रेष्ठ मार्ग है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य दूसरी गति नहीं है। सङ्कल्पशून्यता रूपी शस्त्रास्त्रों से जब इस चित्त का कर्तन कर दिया जाता है, तब सर्वस्वरूप सर्वान्तर्यामी, शान्तरूप ब्रह्म की उपलब्धि होती है। इसलिए प्रपञ्च की भावना से रहित होकर प्रज्ञासम्पन्न होकर तथा चित्त को नियन्त्रित करके चिन्मात्र में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ ८८-९२॥

परं पौरुषमाश्रित्य नीत्वा चित्तमचित्तताम्। ध्यानतो हृदयाकाशे चिति चिच्चक्रधारया। मनो मारय निःशङ्कं त्वां प्रबध्नन्ति नारयः॥ ९३॥ अयं सोऽहमिदं तन्म एतावन्मात्रकं मनः। तदभावनमात्रेण दात्रेणेव विलीयते॥ ९४॥ छिन्नाभ्रमण्डलं व्योम्नि यथा शरदि धूयते। वातेन कल्पकेनैव तथान्तर्धूयते मनः॥ ९५॥ कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः। तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः॥। ९६॥ असंकल्पनमात्रैकसाध्ये सकलसिद्धिदे। असंकल्पातिसाम्राज्ये तिष्ठावष्टब्धतत्पदः॥ ९७॥

श्रेष्ठ पौरुष रूप अभ्यास एवं वैराग्य का आश्रय प्राप्त करके तथा चित्त को अचित्तावस्था में ले जाकर आकाश रूपी हृदय में चिन्तन करते हुए बराबर चैतन्य तत्त्व में लगे हुए चित्त रूपी चक्र की तीक्ष्ण धार से मन

का दमन कर देना चाहिए; ऐसा करते ही तुम्हारी सभी शंकायें निर्मूल हो जायेंगी तथा कामादि रूप शत्रु, बन्धन में न बाँध सकेंगे। यह वह है, मैं यह हूँ, वे समस्त पदार्थ मेरे हैं, यह भावना ही मन है। इन्हीं भावनाओं के त्याग से मन को (काटने के उपकरण द्वारा काटने की तरह) विनष्ट किया जा सकता है। जैसे शरत्-काल के आकाश में छिन्न-भिन्न हुए बादलों के समूह वायु की ठोकरों से विलीन हो जाते हैं, वैसे ही सद्‌विचारों के द्वारा ही मन अन्तर्हित हो जाता है। चाहे प्रलयंकारी उनचासों पवन एक साथ प्रवाहित हों अथवा सभी सागर एक साथ सम्मिलित होकर एकार्णवरूप हो जायें। चाहे द्वादश आदित्य भी एक साथ मिलकर क्यों न तपने लगें; किन्तु फिर भी मन से विहीन मनुष्य को किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती। केवल संकल्पहीनता रूपी एक साध्य ही सम्पूर्ण सिद्धियों की प्राप्ति का साधन है। अतः तत्पद का आश्रय ग्रहण करके संकल्पहीनता के विस्तृत साम्राज्य में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ ९३-९७॥

न हि चञ्चलताहीनं मनः क्वचन दृश्यते। चञ्चलत्वं मनोधर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता॥ ९८॥
एषा हि चञ्चला स्पन्दशक्तिश्चित्तत्वसंस्थिता। तां विद्धि मानसीं शक्तिं जगदाडम्बरात्मिकाम्॥
यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनोऽमृतमुच्यते। तदेव च तपः शास्त्रसिद्धान्ते मोक्ष उच्यते॥ १००॥
तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या वासनात्मिका। वासनाऽपरनाम्नीं तां विचारेण विनाशय॥ १०१॥

अचञ्चल मन कहीं पर नहीं दीखता, चञ्चलता मन का सहज धर्म है, जैसे अग्नि का सहज धर्म गर्मी प्रदान करना है। यही चञ्चल स्वभाव वाली स्पन्दन शक्ति चित्त का स्वाभाविक धर्म है। इसी मानसिक शक्ति को सांसारिक प्रपञ्च का सहजस्वरूप जानना चाहिए। जो मन अचञ्चल हो जाता है, वही अमृतस्वरूप कहा जाता है, वही तप है। उसे ही शास्त्रीय-सिद्धान्त की दृष्टि से मोक्ष कहते हैं। मन की चञ्चलता ही अविद्या है और वासना उसका स्वरूप है। शत्रुरूपी वासना को सद्‌विचारों के द्वारा काट देना चाहिए॥ ९८-१०१॥

पौरुषेण प्रयत्नेन यस्मिन्नेव पदे मनः। योज्यते तत्पदं प्राप्य निर्विकल्पो भवानघ॥ १०२॥
अतः पौरुषमाश्रित्य चित्तमाक्रम्य चेतसा। विशोकं पदमालम्ब्य निरातङ्कः स्थिरो भव॥ १०३॥
मन एव समर्थं हि मनसो दृढनिग्रहे। अराज्ञा कः समर्थः स्याद्राज्ञो निग्रहकर्मणि॥ १०४॥
तृष्णाग्राहगृहीतानां संसारार्णवपातिनाम्। आवर्तैरूह्यमानानां दूरं स्वमन एव नौः १०५॥
मनसैव मनश्छित्त्वा पाशं परमबन्धनम्। भवादुत्तारयात्मानं नासावन्येन तार्यते॥ १०६॥

हे निष्पाप मुने! मन को पुरुषार्थ के द्वारा जिस उद्देश्य में स्थिर करो, उसे प्राप्त करके निर्विकल्प समाधि को अर्जित करो। अतएव प्रयासपूर्वक चित्त को चित्त से वशीभूत करके शोकरहित अवस्था के आश्रय से, आतंक से दूर रहकर शान्ति प्राप्त करो। विषय विकारों से रहित मन ही मन का पूर्णरूपेण निरोध करने में समर्थ हो सकता है। किसी राजा को पराजित करने में कोई राजा ही समर्थ होता है। जो तृष्णारूपी ग्राह के द्वारा ग्रसित किये जा चुके हैं, जो संसार-सागर में गिरकर भँवरों के जाल में फँसकर अपने लक्ष्य से दूर भटक गये हैं, उन्हें बचाने के लिए विषय-विकारों से रहित मन ही समर्थ है, वही नौका का रूप धारण करके पार लगा सकता है। हे मुने! इस प्रकार के विकार-रहित मन के द्वारा इस विशाल बन्धनरूपी जाल को विनष्ट कर दो। स्वयमेव संसार-सागर से पार हो जाओ। अन्य और किसी के द्वारा यह संसार रूप सागर नहीं पार किया जा सकता॥

या योदेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा। तां तां परिहरेत्प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत्॥ १०७॥
भोगैकवासनां त्यक्त्वा त्यज त्वं भेदवासनाम्।भावाभावौ ततस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव॥ १०८॥ एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च। यत्तत्संवेद्यते किंचित्तत्रास्थापरिवर्जनम्।

अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः ॥ १०९ ॥ अविद्या विद्यमानैव नष्टप्रज्ञेषु दृश्यते। नाम्नैवाङ्गीकृताकारा सम्यक्प्रज्ञस्य सा कुतः ॥ ११० ॥

जब-जब अन्तःकरण को आच्छादित करने वाली मनरूपी वासना का प्राकट्य हो, तब-तब उसका परित्याग करना ज्ञानी मनुष्य का परम कर्तव्य हो जाता है, क्योंकि ऐसा करने से अविद्या का विनाश हो जाता है। सर्वप्रथम भोगरूपी वासना का त्याग करो, फिर भेदरूपी वासना का त्याग करो, उसके पश्चात् भाव-अभाव दोनों का ही त्याग करके निर्विकल्प होकर पूर्ण सुखी हो जाओ। मन का विनाश ही अविद्या का विनाश कहा गया है। मन द्वारा जो कुछ भी अनुभूति में आता हो, उस-उसमें आस्था कदापि न होने दो। आस्था का परित्याग करना ही निर्वाण है और आस्था के आश्रित रहना ही दुःख है। जो प्रज्ञा से रहित है, उन्हीं में अविद्या प्रतिष्ठित रहती है। सम्यक् प्रज्ञासम्पन्न मनुष्य नाम मात्र के लिए भी कहीं अविद्या को स्वीकार नहीं करते ॥ १०७-११० ॥

तावत्संसारभृगुषु स्वात्मना सह देहिनम्। आन्दोलयति नीरन्ध्रं दुःखकण्टकशालिषु ॥ १११ ॥
अविद्या यावदस्यास्तु नोत्पन्ना क्षयकारिणी। स्वयमात्मावलोकेच्छा मोहसंक्षयकारिणी ॥ ११२ ॥
अस्याः परं प्रपश्यन्त्याः स्वात्मनाशः प्रजायते। दृष्टे सर्वगते बोधे स्वयं ह्येषा विलीयते ॥ ११३ ॥
इच्छा मात्रमविद्येयं तन्नाशो मोक्ष उच्यते। स चासंकल्पमात्रेण सिद्धो भवति वै मुने ॥ ११४ ॥
मनागपि मनोव्योम्नि वासनारजनीक्षये। कलिका तनुतामेति चिदादित्यप्रकाशनात् ॥ ११५ ॥

इस दुःखरूपी कंटक से ओत-प्रोत संसार रूपी भ्रमजाल में तभी तक अविद्या अपने साथ देहधारी को निरन्तर भ्रमाती है, जब तक इसको विनष्ट करने वाली मोहनाशिनी आत्मसाक्षात्कार की आकांक्षा स्वयं ही उत्पन्न नहीं होती। यह अविद्या जब परमात्मतत्त्व की ओर देखती है, तब इसका स्वयं ही नाश हो जाता है। सर्वात्मबोध के दर्शन होते ही अविद्या स्वयं ही लुप्त हो जाती है। केवल इच्छा मात्र ही अविद्या का स्वरूप है और इच्छा का पूरी तरह से नष्ट होना ही मोक्ष कहा गया है। हे मुने! किन्तु इच्छा तभी समाप्त होती है, जब संकल्प का पूर्णरूपेण विनाश हो जाये, अन्यथा इच्छा का नाश असम्भव है। चित् रूपी सूर्य के प्रकाश से कलिरूपी अन्धकार क्षीण हो जाता है ॥ १११-११५ ॥

चैत्यानुपातरहितं सामान्येन च सर्वगम्। यच्चित्तत्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः ॥ ११६ ॥
सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यचिद्घनमक्षतम्। कल्पनान्या मनोनाम्नी विद्यते नहि काचन ॥ ११७ ॥
न जायते न म्रियते किंचिदत्र जगत्त्रये। न च भावविकाराणां सत्ता क्वचन विद्यते ॥ ११८ ॥
केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम्। चैत्यानुपातरहितं चिन्मात्रमिह विद्यते ॥ ११९ ॥
तस्मिन्नित्ये तते शुद्धे चिन्मात्रे निरुपद्रवे। शान्ते शमसमाभोगे निर्विकारे चिदात्मनि ॥ १२० ॥
यैषा स्वभावाभिमतं स्वयं संकल्प्य धावति। चिच्चैत्यं स्वयमम्लानं मननान्मन उच्यते ॥ १२१ ॥

जब चित्त विषय वासनाओं का त्याग कर देता है तथा सर्वत्र गमन करने वाला बन जाता है, तब उसकी ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था ही आत्मा एवं परमात्मा के नाम से अभिहित होती है। अवश्य ही यह सभी कुछ ब्रह्म है। वह नित्य एवं चिद्घनस्वरूप है। वही अव्यय है। इसके अतिरिक्त जो अन्य मन नाम की कल्पना की जाती है, उसका कहीं पर भी अस्तित्व नहीं है। वह तो मात्र भ्रम ही है। इन तीनों लोकों में न तो किसी का जन्म होता है और न ही मृत्यु। ये जो भी भाव-विकार दृष्टिगोचर होते हैं, ये सभी अस्तित्वहीन हैं। एकमात्र केवलाभासरूप, सर्वव्यापी, अव्यय तथा चित्त के विषयों का अनुगमन न करने वाले केवल चिन्मात्र की ही सत्ता यहाँ विद्यमान है। उस नित्य, सर्वत्रव्यापी, शुद्ध, चिन्मात्र, उपद्रव-रहित, शान्तस्वरूप एवं शमरूप में स्थित विकाररहित चिदात्मा में स्वयंचित्त ही स्वभावानुसार संकल्पपूर्वक गमन करता है, चित्त की वही संकल्परूप अवस्था स्वयं निर्दोष होते हुए भी मनन करने के कारण मन कही जाती है ॥ ११६-१२१ ॥

अतः संकल्पसिद्धेयं संकल्पेनैव नश्यति। नाहं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढाद्बध्यते मनः। सर्वं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढान्मुच्यते मनः॥ १२२॥ कृशोऽहं दुःखबद्धोऽहं हस्तपादादिमानहम्। इति भावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते॥ १२३॥ नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्यात्मनि स्थितः। इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते॥ १२४॥ नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्यः परोऽस्म्यहम्। इति निश्चितवानन्तः क्षीणाविद्यो विमुच्यते॥ १२५॥

इस कारण संकल्प के द्वारा सिद्ध मन संकल्प द्वारा ही विनष्ट हो जाता है 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' ऐसा सुदृढ़ संकल्प हो जाने से मन बन्धन-ग्रस्त नहीं होता और 'यह सभी कुछ ब्रह्म ही है', ऐसा दृढ़ निश्चयी संकल्प हो जाने पर मन मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। 'मैं क्षीणकाय हूँ, दुःखों से ग्रस्त हूँ, मैं हाथ पैर से युक्त हूँ, इस प्रकार के भावानुकूल व्यवहार से प्राणी बन्धनग्रस्त हो जाता है। मैं दुःखी नहीं हूँ, मेरा शरीर नहीं, आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित मुझमें बन्धन कहाँ?' इस प्रकार के व्यावहारिक जीवन से ओत-प्रोत मन मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। 'मैं मांस नहीं हूँ', अस्थि नहीं हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर जिसके अन्तस् से अविद्या नष्ट हो गयी है, वही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ १२२-१२५॥

कल्पितेयमविद्येयमनात्मन्यात्मभावनात्। परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात्परमया धिया। भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव॥ १२६॥ मम पुत्रो मम धनमहं सोऽयमिदं मम। इतीयमिन्द्रजालेन वासनैव विवल्गति॥ १२७॥ मा भवाज्ञो भव ज्ञस्त्वं जहि संसारभावनाम्। अनात्मन्यात्मभावेन किमज्ञ इव रोदिषि॥ १२८॥ कस्तवायं जडो मूको देहो मांसमयोऽशुचिः। यदर्थं सुखदुःखाभ्यामवशः परिभूयसे॥ १२९॥ अहो नु चित्रं यत्सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम्। तिष्ठतस्तव कार्येषु मास्तु रागानुरञ्जना॥ १३०॥ अहो नु चित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तन्तुभिरद्रयः। अविद्यमाना या विद्या तया विश्वं खिलीकृतम्। इदं तद्वज्रतां यातं तृणमात्रं जगत्त्रयम्॥ १३१॥

आत्म-रहित पदार्थों में आत्मभावना होना ही अविद्या जनित कल्पना है। अभ्यास एवं वैराग्य का आश्रय प्राप्त करके बुद्धिमत्तापूर्वक यत्न से भोग की आकांक्षा को दूर से ही छोड़कर, निर्विकल्प होकर पूर्ण सुखमय जीवन व्यतीत करो। यह 'मेरा पुत्र' 'मेरा धन' 'मैं यह हूँ' 'मैं वह हूँ', 'यह मेरा है' आदि समस्त वासनायें ही प्रपञ्च फैलाकर भिन्न-भिन्न क्रीड़ा कर रही हैं। तुम अज्ञानी मत बनो, ज्ञानवान् बनो, समस्त सांसारिक भावनाओं को विनष्ट कर दो। अनात्म विषयों में आत्मभावना से युक्त होकर मूर्खों की तरह क्यों रो रहे हो? यह मांस का पिण्ड, अशुद्ध, मूक, जड़ शरीर तुम्हारा कौन है, जिसके लिए बलपूर्वक दुःख-सुख से अभिभूत हो रहे हो? अरे! कितना महान् आश्चर्य है कि जो अविनाशी ब्रह्म सत्य है, उसे मनुष्य ने विस्मृत कर दिया है। तुम अपने कर्त्तव्य-कर्मों में सदा लगे रहो। मन को अविद्यादि कर्मों में लिप्त न होने दो। अरे! कितने आश्चर्य की बात है कि कमलनाल के तन्तुओं को रस्सी मानकर उनसे पर्वत आबद्ध कर दिये गये हैं। जो अविद्या अस्तित्व रहित है, उसी के द्वारा यह विविध रूपात्मक जगत् अभिभूत हो रहा है। उस अविद्या के प्रभाव से तृणवत् तुच्छ, जाग्रत्, सुषुप्तावस्था आदि तीनों जगत् वज्र के समान दृढ़ परिलक्षित हो रहे हैं॥ १२६-१३१॥

॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथापरं प्रवक्ष्यामि शृणु तात यथायथम्। अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि॥ १॥ पदान्तराण्यसंख्यानि प्रभवन्त्यन्यथैतयोः। स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम्॥ २॥ शुद्धसन्मात्रसंवित्तेः स्वरूपान्न चलन्ति ये। रागद्वेषादयो भावास्तेषां नाज्ञत्वसंभवः॥ ३॥ यः स्वरूपपरिभ्रंशश्चैत्यार्थे चितिमज्जनम्। एतस्मादपरो मोहो न भूतो न भविष्यति॥ ४॥

अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये तु या स्थितिः । सा ध्वस्तमननाकारा स्वरूपस्थितिरुच्यते ॥५ ॥
संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः । जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥६ ॥
अहन्तांशे क्षते शान्ते भेदनिष्पन्दचित्तता। अजडा या प्रचलति तत्स्वरूपमितीरितम्॥ ७॥

पुनः महर्षि ऋभु ने कहा-हे पुत्र! मेरे द्वारा कहे वचनों को भली प्रकार सुनो। अज्ञान और ज्ञान इन दोनों की सात-सात भूमिकायें हैं। इनके बीच में अनेक दूसरी भूमिकायें उत्पन्न होती हैं। अहंभाव ही मूल स्वरूप से पृथक् करने वाला है। स्वरूप में अवस्थित होना ही मुक्ति है। शुद्ध सत्तारूप बोध ही आत्मा का रूप है, जो उस बोध की अवस्था से हटते नहीं, ऐसे साधकों को अज्ञान से पैदा हुए राग-द्वेषादि दूषित विकार प्रभावित नहीं कर पाते। आत्मस्वरूप से हटकर वासनात्मक स्वरूप में जो चित् का डूबना है, इससे अधिक मोहग्रस्त होना दूसरा नहीं कहा जाएगा और न हो सकता है। एक विषय से दूसरे विषय में प्रवेश करते हुए जो मध्य में मन की अवस्था होती है, उसे 'ध्वस्तमनन' के स्वरूप वाली स्थिति समझा जाता है, लेकिन सभी संकल्पों के पत्थर की शिला के समान भली प्रकार शान्त हो जाने पर निश्चेष्ट अवस्था जिसमें जाग्रत् और स्वप्नावस्था भी प्रायः चेष्टारहित होती है, वही परास्वरूप स्थिति कहलाती है। अहंभाव के क्षीण हो जाने पर शान्त, चेतन तथा भेदभाव से रहित चित्त की स्थिति ही स्वरूप अवस्था कहलाती है॥ १-७॥

बीजजाग्रत्तथा जाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च। जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तिकम्॥ ८॥
इति सप्तविधो मोहः पुनरेष परस्परम् । श्लिष्टो भवत्यनेकाग्र्यं शृणु लक्षणमस्य तु॥ ९॥

मोह के सात प्रकार कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं-१. बीज जाग्रत् अवस्था, २. जाग्रत् अवस्था, ३. महाजाग्रत् अवस्था ४. जाग्रत्स्वप्नावस्था ५. स्वप्नावस्था ६. स्वप्न जाग्रत् अवस्था, ७. सुषुप्तावस्था। तत्पश्चात् यही परस्पर मिलकर असंख्य रूप धारण कर लेते हैं। अब इन सबके अलग-अलग लक्षण सुनें॥ ८-९॥

प्रथमं चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः। भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम्॥ १०॥
बीजरूपस्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत्तदुच्यते। एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था त्वं जाग्रत्संस्थितिं शृणु॥ ११॥

प्रथम 'बीज जाग्रत् अवस्था' वह है,जो नामरहित शुद्धचेतन की भविष्यत् में घटित होने वाली,चित्त-जीव आदि नाम के शब्दार्थरूप सम्बोधन से युक्त अवस्था है। वह बीजरूप में स्थित जाग्रत्-अवस्था बीज जाग्रत् नाम से प्रसिद्ध है। यह ज्ञाता की नूतन अवस्था है। अब आप जाग्रत् अवस्था की यथार्थ स्थिति सुनें॥१०-११॥

नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम ।इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात्॥ १२॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः। पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुटम्॥१३ ॥
अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम्। यज्जाग्रतो मनोराज्यं यज्जाग्रत्स्वप्न उच्यते॥ १४॥
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णादिभेदतः। अभ्यासं प्राप्य जाग्रत्तत्स्वप्नो नानाविधो भवेत्॥ १५॥

नवजात जीव के अन्तरंग में 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' अर्थात् मैं और मेरेपन के भावों की स्थिति ही मोह की दूसरी 'जाग्रत् अवस्था' कही जाती है; क्योंकि उससे पूर्व यह भावना नहीं थी। 'महाजाग्रत्' अवस्था वह है, जिसमें 'यह वह व्यक्ति है, यह मैं हूँ, वह मेरी चीज है' आदि भावनाएँ पूर्वजन्मों के संस्कार सहित विदित होती हैं। अप्रचलित (अरूढ़) अथवा प्रचलित (रूढ़) एवं तन्मय होकर जो मन की काल्पनिक रचना जाग्रत् अवस्था में होती है, वह 'जाग्रत्-स्वप्न' कही गयी है। एक चन्द्रमा की जगह दो चन्द्रमाओं का, सीप में चाँदी का तथा मृग-मरीचिका में (बालू में) जल का आभास होना इत्यादि (जाग्रत् अवस्था में) अभ्यास को प्राप्त हुए जाग्रत्-स्वप्न के विभिन्न प्रकार हैं॥ १२-१५॥

अल्पकालं मया दृष्टमेतन्नोदेति यत्र हि। परामर्शः प्रबुद्धस्य स स्वप्न इति कथ्यते॥ १६॥
चिरं संदर्शनाभावादप्रफुल्लं बृहद्वचः। चिरकालानुवृत्तिस्तु स्वप्नो जाग्रदिवोदितः॥ १७॥
स्वप्नजाग्रदिति प्रोक्तं जाग्रत्यपि परिस्फुरत्। षडवस्थापरित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः॥१८॥
भविष्यद्दुःखबोधाढ्य सौषुप्तिः सोच्यते गतिः। जगत्तस्यामवस्थायामन्तस्तमसि लीयते॥ १९॥

'स्वप्नावस्था' वह कहलाती है, जिसमें कुछ समय पूर्व देखा गया दृश्य पुनः दृष्टिगोचर न हो और जागने पर उस दृश्य की मनुष्य को स्मृति मात्र शेष रहे। इसके पश्चात् 'स्वप्न जाग्रत्' अवस्था वह है, जिसमें पूरे विकास को न प्राप्त हुआ स्वप्न जो अनेक क्रिया-कलापों द्वारा देर तक टिके तथा जो जाग्रत् की तरह ही उत्पन्न हो अथवा जागते हुए भी स्वप्न दिखाई दे। इन छः अवस्थाओं को पारकर जब जीव की जड़ात्मक स्थिति में प्रतिष्ठापना होती है, उस बीते हुए दुःखबोध से युक्त अवस्था को ही 'सुषुप्ति' कहा गया है। उस स्थिति में यह संसार आन्तरिक अंधकार में विलीन हो जाता है॥ १६-१९॥

सप्तावस्था इमाः प्रोक्ता मया ज्ञानस्य वै द्विज। एकैका शतसंख्यात्र नानाविभवरूपिणी॥२०॥
इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ। नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जति॥ २१॥

हे ब्रह्मन्! मैंने तुम्हारे प्रति अज्ञानजनित मोह की सात भूमिकाओं को बतलाया। इसमें से प्रत्येक भूमिका विभिन्न ऐश्वर्ययुक्त, विभिन्न अवस्थाओं के रूप में विविध रूप धारण करने वाली है। हे निष्पाप पुत्र! अब मैं तुम्हें ज्ञान की जो सात भूमिकायें हैं, उन्हें सुनाता हूँ, जिन्हें जान लेने पर मनुष्य मोहपङ्क में नहीं फँसता॥ २०-२१॥

वदन्ति बहुभेदेन वादिनो योगभूमिकाः। मम त्वभिमता नूनमिमा एव शुभप्रदाः॥ २२॥
अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं साप्तभूमिकम्। मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्ता भूमिकासप्तकात्परम्॥ २३॥

ज्ञानीजनों ने योग भूमिकाओं के बहुविध भेद बतलाये हैं, परन्तु मैं तो इन सात भूमिकाओं को ही विशेष लाभप्रद मानता हूँ। इस प्रकार इन सात भूमिकाओं द्वारा उत्पन्न होने वाला अवबोध ही 'ज्ञान' कहलाता है। इन सात भूमिकाओं के अन्तर्गत होने वाली मुक्ति 'ज्ञेय' कही जाती है॥ २२-२३॥

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता। विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी॥ २४॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका। पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥ २५॥
आसामन्तःस्थिता मुक्तिर्यस्यां भूयो न शोचति। एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु॥२६॥

पहली ज्ञान भूमिका को 'शुभेच्छा' नाम दिया गया है। दूसरी 'विचारणा', तीसरी 'तनुमानसी', चौथी 'सत्त्वापत्ति', पाँचवीं 'असंसक्ति', छठवीं 'पदार्थभावना' तथा सातवीं 'तुर्यगा' है। इन भूमिकाओं में पुनः शोकाकुल न होने देने वाली मुक्ति निहित है। अब तुम इन भूमिकाओं का विस्तार सुनो॥ २४-२६॥

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः। वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥२७॥
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्। सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥ २८॥

मैं भ्रमितमति क्यों हूँ? शास्त्र तथा श्रेष्ठ जनों से मैं इस सम्बन्ध में चर्चा करूँगा-इस प्रकार से वैराग्य धारण करने से पूर्व जो अभिलाषा जागती है, उसे ज्ञानियों ने 'शुभेच्छा' नाम दिया है। इसके बाद शास्त्र तथा श्रेष्ठ जनों के सान्निध्य लाभ से अध्ययन आदि के द्वारा अभ्यास एवं वैराग्य भावना से सदाचार की प्रवृत्तियों का प्राकट्य होता है, उसे ही 'विचारणा' नाम दिया है॥ २७-२८॥

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता। यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी॥ २९॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्ते तु विरतेर्वशात्। सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥ ३०॥

शुभेच्छा और विचारणा द्वारा इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति जब क्षीण हो जाती है, ऐसी अवस्था को 'तनुमानसी' कहा गया है। इन तीन भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा वैराग्य भाव के प्राबल्य से जब चित्त निर्मल सत्त्वरूप में स्थित होता है, इसी अवस्था को 'सत्त्वापत्ति' कहते हैं॥ २९-३०॥

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या। रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका॥ ३१॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया दृढम्। आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥३२॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम्। पदार्थभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका॥ ३३॥

इन सभी भूमिकाओं का अभ्यास हो जाने पर चमकने वाली संसर्गहीन कला सत्त्वारूढ़ होती है,वही 'असंसक्ति'कहलाती है। इन पाँचों भूमिकाओं के अभ्यास के फलस्वरूप अपनी चेतना में ही रमते रहने तथा बाह्याभ्यन्तर पदार्थों की भावना के नष्ट होने पर'पदार्थ भावना'नामक छठी भूमिका में पदार्पण होता है॥३१-३३

भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात्। यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥ ३४॥
एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेति विद्यते। विदेहमुक्तिविषयं तुर्यातीतमतः परम्॥ ३५॥

इन छः भूमियों के परिपक्व हो जाने पर भेद-बुद्धि का क्षय हो जाता है और आत्म-भाव में ही साधक की दृढ़निष्ठा हो जाती है, यही 'तुर्यगा' अवस्था कही गयी है। इस तुर्यावस्था को जीवन्मुक्त पुरुष ही उपलब्ध कर पाते हैं। इसके बाद तुर्यातीत अवस्था है, जो विदेह मुक्ति का विषय है॥ ३४-३५॥

ये निदाघ महाभागाः सप्तमीं भूमिमाश्रिताः। आत्मारामा महात्मानस्ते महत्पदमागताः॥ ३६॥
जीवन्मुक्ता न मज्जन्ति सुखदुःखरसस्थिते। प्रकृतेनाथ कार्येण किंचित्कुर्वन्ति वा न वा॥३७॥

हे निष्पाप! जो अति भाग्यवान् पुरुष सप्तमी तुर्यगावस्था को प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मा में रमणशील महात्मा महत्पद (परमपद) को ग्रहण कर चुके हैं। ऐसी जीवन्मुक्त आत्मायें सुख-दुःख के अनुभवों से सर्वथा निर्लिप्त रहती हैं। वे कर्तव्य कर्मों में संलग्न रहकर भी उनसे लिप्त नहीं होतीं॥ ३६-३७॥

पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम्। आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदुत्थिताः॥ ३८॥
भूमिकासप्तकं चैतद्धीमतामेव गोचरम्। प्राप्य ज्ञानदशामेतां पशुम्लेच्छादयोऽपि ये॥ ३९॥
सदेहा वाप्यदेहा वा ते मुक्ता नात्र संशयः। ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन्सति विमुक्तता॥ ४०॥

अपने निकटस्थ परिजनों के सचेत किये जाने पर जैसे मनुष्य सोते से जाग पड़ता है,वैसे ही वे ज्ञानीजन सत्कर्मों में संलग्न रहकर सनातन आचरण की परम्परा निभाते हैं। इन सात भूमिकाओं को यदि पशु और म्लेच्छ आदि भी जान लें,तो वे भी देह रहते या देहत्याग के पश्चात् मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं,इसमें सन्देह की गुंजायश नहीं। हृदय-ग्रन्थियों का खुल जाना ही ज्ञान है और ज्ञान प्राप्ति हो जाने पर मुक्ति सुनिश्चित है॥३८-४०

मृगतृष्णाम्बुबुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ। ये तु मोहार्णवात्तीर्णास्तैः प्राप्तं परमं पदम्॥४१॥
ते स्थिता भूमिकास्वासु स्वात्मलाभपरायणाः। मनः प्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते॥४२॥

जैसे मृग-तृष्णा में जल की भ्रान्ति होती है, इसे ही अविद्या कहा गया है, अविद्या का नाश ही मुक्ति है। परमपद के अधिकारी वही हैं, जो मोहरूपी सागर से पार हो चुके हैं। आत्मसाक्षात्कार के प्रयत्नों में संलग्न पुरुष ही इन भूमिकाओं में प्रतिष्ठित होते हैं। मन की पूर्णतया शान्ति के साधन को योग कहा गया है॥ ४१-४२॥

सप्तभूमिः स विज्ञेयः कथितास्ताश्च भूमिकाः। एतासां भूमिकानां तु गम्यं ब्रह्माभिधं पदम्॥४३॥
त्वत्ताऽहन्तात्मता यत्र परता नास्ति काचन। न क्वचिद्भावकलना न भावाभावगोचरा॥ ४४॥

सर्वं शान्तं निरालम्बं व्योमस्थं शाश्वतं शिवम्। अनामयमनाभासमनामकमकारणम्॥ ४५॥
न सन्नासन्न मध्यं तं न सर्वं सर्वमेव च। मनोवचोभिरग्राह्यं पूर्णात्पूर्णं सुखात्सुखम्॥ ४६॥
असंवेदनमाशान्तमात्मवेदनमाततम् । सत्ता सर्वपदार्थानां नान्या संवेदनादृते॥ ४७॥

योग की इन सात भूमिकाओं को ज्ञानभूमि के अन्तर्गत ऊपर बतलाया जा चुका है। इन भूमिकाओं का लक्ष्य है—ब्रह्मपद की प्राप्ति। जहाँ तेरा-मेरा और अपने-परायेपन का संकीर्ण भाव मिट जाता है, उस समय न तो भावात्मक बुद्धि अवशेष रहती है और न ही भाव-अभाव का चिन्तन हो पाता है; क्योंकि जागतिक वस्तुओं की सत्ता आत्मसंवेदन मात्र है, इससे अतिरिक्त कुछ नहीं। सर्वथा शान्त, आलम्बन रहित, आकाशस्वरूप, शाश्वत, शिव, दोषरहित, भासमान रहित, अनिर्वचनीय, कारणरहित, न सत्, न असत्, न मध्य, सम्पूर्णतारहित और सम्पूर्ण भी, मन-वाणी से अग्राह्य, पूर्ण से पूर्ण, सुख से सुखतरस्वरूप, संवेदन की पहुँच से परे, पूर्ण शान्त, आत्मानुभूतिरूप तथा व्यापकता यह ब्रह्म का स्वरूप है। सभी पदार्थों की सत्ता के अतिरिक्त यह चैतन्य भिन्न नहीं है और इसकी प्राप्ति का आधार एक मात्र सम्यक् अनुभूति है॥ ४३-४७॥

संबन्धे द्रष्टृदृश्यानां मध्ये दृष्टिर्हि यद्वपुः । द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं पदम्॥ ४८॥
देशाद्देशं गते चित्ते मध्ये यच्चेतसो वपुः। अजाड्यसंविन्मननं तन्मयो भव सर्वदा॥ ४९॥
अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य यत्ते रूपं सनातनम्। अचेतनं चाजडं च तन्मयो भव सर्वदा ॥ ५०॥
जडतां वर्जयित्वैकां शिलाया हृदयं हि तत्। अमनस्कस्वरूपं यत्तन्मयो भव सर्वदा। चित्तं दूरे परित्यज्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव॥ ५१॥ पूर्वं मनः समुदितं परमात्मतत्त्वात्तेनाततं जगदिदं सविकल्पजालम्। शून्येन शून्यमपि विप्र यथाम्बरेण नीलत्वमुल्लसति चारुतराभिधानम्॥ ५२॥

द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध हो जाने पर मध्य में दृष्टि का जो स्वरूप परिलक्षित होता है, वह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से भिन्न साक्षात्काररूप स्थिति ही है। चित्त के एक देश से दूसरे में प्रवेश करने के मध्य जो अवस्था होती है, उस जड़तारहित चेतनरूप चिन्तन में निरन्तर तन्मय रहना चाहिए। जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति से परे जड़-चेतन विहीन जो सनातनरूप है, उसी में हमेशा स्थित रहो। जड़ता ही हृदय की पाषाणवत् स्थिति है, उसका परित्याग करने पर जो अमनस्क अवस्था है, उसी में सदैव लीन रहो। चित्त को दूर से ही त्यागकर जिस अवस्था में हो, उसी में स्थिर रहो। परमात्म तत्त्व से सर्वप्रथम मन की उत्पत्ति हुई, पश्चात् उसी मन से विकल्पजालरूप यह संसार उत्पन्न हुआ। हे विप्र! शून्य से भी शून्य की उत्पत्ति होती है, जैसे- आकाश शून्य है, परन्तु इसी से मनोहर दिखलाई पड़ने वाली नीलिमा प्रकट होती है॥ ४८-५२॥

संकल्पसंक्षयवशाद्गलिते तु चित्ते संसारमोहमिहिका गलिता भवन्ति।
स्वच्छं विभाति शरदीव खमागतायां चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः॥ ५३॥

संकल्प के विनष्ट हो जाने पर चित्तवृत्तियाँ गल जाती हैं और इसी के साथ संसार का मोहरूपी कुहरा भी छँट जाता है। ऐसे में शरदृतु के आगमन पर स्वच्छ आसमान की तरह वह अजन्मा, आद्य, अनन्त, एक, चिन्मात्ररूप ब्रह्म ही अन्तिम रूप से सुशोभित होता है॥ ५३॥

अकर्तृकमरङ्गं च गगने चित्रमुत्थितम् । अद्रष्टृकं स्वानुभवमनिद्रस्वप्नदर्शनम् ॥ ५४॥
साक्षिभूते समे स्वच्छे निर्विकल्पे चिदात्मनि। निरिच्छं प्रतिबिम्बन्ति जगन्ति मुकुरे यथा॥५५॥

बिना कर्त्ता और रङ्ग के आकाश चित्रित सा प्रतीत होता है। बिना द्रष्टा के स्वयं अनुभूत निद्राहीन स्वप्न दिखलाई देता है। यह चिदात्मा साक्षिरूप, सम (सबके प्रति समान रहने वाला), स्वच्छ, निर्विकल्प तथा दर्पणवत् है, उसमें बिना किसी आकांक्षा के तीनों लोक प्रतिबिम्बित हो रहे हैं॥ ५४-५५॥

एकं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम्। इति भावय यत्नेन चेतश्चाञ्चल्यशान्तये॥ ५६॥
रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला। तथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकमिह दृश्यताम्॥ ५७॥

सर्वस्वरूप, चिदाकाशरूप और अखण्डित ब्रह्म एक है, चित्त की चपलता शान्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक ऐसी भावना करनी चाहिए। तीनों लोकों से युक्त ब्रह्म के दर्शन उसी प्रकार करने चाहिए, जैसे एक मोटी पत्थरशिला पर रेखायें-उपरेखाएँ खिंची होती हैं॥ ५६-५७॥

द्वितीयकारणाभावादनुत्पन्नमिदं जगत्। ज्ञातं ज्ञातव्यमधुना दृष्टं द्रष्टव्यमद्भुतम्॥ ५८॥
विश्रान्तोऽस्मि चिरं श्रान्तश्चिन्मात्रान्नास्ति किंचन। पश्य विश्रान्तसंदेहं विगताशेषकौतुकम्॥५९

ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य कारण के न होने पर इस जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई (खरगोश के सींग की तरह यह त्रिकालबाधित है)। इस प्रकार मैंने (ऋभु का आत्मकथन) जो ज्ञातव्य था, उसे जान लिया, जो विलक्षणता देखनी थी, उसे देख लिया और चिरकाल से थका मैं अब विश्रान्ति को प्राप्त हो चुका हूँ। (हे निदाघ!) इस सम्पूर्ण जागतिक माया से विमुक्त होकर तथा संशयविहीन होकर तुम चिन्मात्र के दर्शन करो। चिन्मात्र के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, ऐसा समझो॥ ५८-५९॥

निरस्तकल्पनाजालमचित्तत्वं परं पदम्। त एव भूमतां प्राप्ताः संशान्ताशेषकिल्बिषाः॥ ६०॥
महाधियः शान्तधियो ये याता विमनस्कताम्। जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः॥ ६१॥
मननं त्यजतो नित्यं किंचित्परिणतं मनः। दृश्यं संत्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः॥ ६२॥
द्रष्टारं पश्यतो नित्यमद्रष्टारमपश्यतः। विज्ञातव्ये परे तत्त्वे जागरूकस्य जीवतः॥ ६३॥
सुप्तस्य घनसंमोहमये संसारवर्त्मनि। अत्यन्तपक्ववैराग्यादरसेषु रसेष्वपि॥ ६४॥
संसारवासनाजाले खगजाल इवाधुना। त्रोटिते हृदयग्रन्थौ श्लथे वैराग्यरंहसा॥ ६५॥
कातकं फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति। तथा विज्ञानवशतः स्वभावः संप्रसीदति॥ ६६॥

जिन्होंने संकल्प-बन्धन को काट दिया है, जो चित्तत्वरहित महान् पद पा चुके हैं, ऐसे ही साधक निष्पाप होकर ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। मन को वश में करके जो विमनस्क हो गये हैं, शान्तचित्तता उनकी प्रखर मेधा की परिचायिका है। वेदान्त के विषय में चिन्तनशील मनुष्य, जिनकी चित्तवृत्तियों का क्षय हो चुका है और मानसिक संकल्पों के त्याग में अभ्यस्त होने से जिनका मन सुस्थिर हो चुका है। जो मुमुक्षु पुरुष हेय और उपादेय दोनों तरह के दृश्यों का परित्याग कर रहे हैं, जो नित्य द्रष्टा अर्थात् आत्मज्ञान के साक्षात्कार में संलग्न तथा अद्रष्टा अर्थात् प्रपञ्च को न देखने वाले हैं, जो ज्ञातव्य परमतत्त्व में विशेषरूप से जागरूक रहकर जीवन-यापन करते हैं, जो रसयुक्त तथा रसहीन इन सभी पदार्थों के प्रति अति सुस्थिर वैराग्य भाव से सघन मोहात्मक संसार पथ में सोये हुए हैं। वैराग्य की प्रबल भावना से चूहे द्वारा काटे गये पक्षी के पाश की तरह जिनकी सांसारिक वासना-तृष्णा का पाश कट चुका है और हृदय की ग्रन्थियाँ ढीली पड़ गई हैं, ऐसे साधकों का स्वभाव विशिष्ट ज्ञान से उसी प्रकार परिष्कृत-निर्मल हो जाता है, जिस प्रकार कातक (निर्मली) फल से जल निर्मल हो जाता है॥ ६०-६६॥

नीरागं निरुपासङ्गं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम्। विनिर्याति मनो मोहाद्विहङ्गः पञ्जरादिव॥ ६७॥
शान्तसंदेहदौरात्म्यं गतकौतुकविभ्रमम्। परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते॥ ६८॥

मन के रागरहित, अनासक्त, द्वन्द्व से रहित तथा निरालम्ब हो जाने पर पिंजड़े से मुक्त हुए पक्षी की तरह ही मोह-बन्धन से मन की मुक्ति हो जाती है। संशयरूप दुरात्मभावना जिनकी शान्त हो चुकी है, जो प्रपञ्च कौतुक से विमुक्त हैं, उनका चित्त पूर्णमासी के चन्द्र के समान विशेष शोभा पाता है॥ ६७-६८॥

नाहं न चान्यदस्तीह ब्रह्मैवास्मि निरामयम्। इत्थं सदसतोर्मध्याद्यः पश्यति स पश्यति॥ ६९॥
अयत्नोपनतेष्वक्षिदृग्दृश्येषु यथा मनः। नीरागमेव पतति तद्वत्कार्येषु धीरधीः॥ ७०॥
परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये। विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम्॥ ७१॥

न मैं स्वयं और न अन्य कुछ ही यहाँ है, मैं तो सभी दोषों से रहित मात्र ब्रह्म हूँ, जिसकी दृष्टि सत्-असत् के मध्य इस प्रकार की है, वही वास्तव में ब्रह्म साक्षात्कार करने वाला है। जिस प्रकार दर्शनीय दृश्यों की तरफ मन स्वाभाविक रूप से बिना आसक्ति के ही खिंच जाता है, उसी प्रकार धीरमति पुरुष कर्त्तव्य कर्मों के निर्वाह में संलग्न रहते हैं। भली प्रकार सोच-समझकर भोगा गया भोग उसी तरह संतुष्टि का निमित्त बनता है, जिस तरह जान-बूझकर सेवा में संलग्न चोर चौर्यकार्य को छोड़कर मित्रता ही निभाता है॥ ६९-७१॥

अशङ्कितापि संप्राप्ता ग्रामयात्रा यथाऽध्वगैः। प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते॥ ७२॥
मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः। तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते॥७३॥
बद्धमुक्तो महीपालो ग्रासमात्रेण तुष्यति। पैरबद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते॥ ७४॥

जिस ग्राम में जाने का मन में कभी विचार भी नहीं था,ऐसे ग्राम में अचानक आ जाने पर यात्री जिस आश्चर्य भरी दृष्टि से उसे देखता है,उसी दृष्टि से ज्ञानीपुरुष भोग-ऐश्वर्यों पर दृष्टिपात करता है। बिना श्रम से उपलब्ध हुई स्वल्पमात्र भोग सामग्री को नियन्त्रित मन वाला साधक बहुत अधिक समझते हुए कष्टदायी मानकर त्याग देता है। शत्रु के बन्धन से मुक्त होने पर जो राजा-भोजन के एक ग्रास से सन्तुष्ट हो जाता है,वही राजा शत्रु द्वारा आक्रान्त और आबद्ध न किये जाने पर राज्य के विशाल वैभव को भी तुच्छ ही मानता है॥ ७२-७४॥

हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च। अङ्गान्यङ्गैरिवाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः॥ ७५॥
मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे। महानरकसाम्राज्ये मत्तदुष्कृतवारणाः। आशाशरशलाकाढ्या दुर्जया हीन्द्रियारयः॥ ७६॥

हाथ से हाथ को मलकर, दाँत से दाँत को पीसकर तथा अङ्गों से अङ्गों को दबाकर अर्थात् स्वकीय सम्पूर्ण पराक्रम और साहस द्वारा मन को जीतने का प्रयास करे। इस संसार सागर में मन पर विजय पाने से बढ़कर अन्य उपाय नहीं है। इस भयंकर नरक रूपी साम्राज्य में दुष्कृत रूपी मतवाले हाथी भ्रमण करते हैं। आशारूपी बाणों और कटारों से सुसज्जित इन्द्रियरूपी वैरियों को जीतना अत्यन्त मुश्किल है॥ ७५-७६॥

प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः। पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः॥ ७७॥
तावन्निशीव वेताला वसन्ति हृदि वासनाः। एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः॥ ७८॥
भृत्योऽभिमतकर्तृत्वान्मन्त्री सर्वार्थकारणात्। सामन्तश्चेन्द्रियाक्रान्तेर्मनो मन्ये विवेकिनः॥ ७९॥

जो इन्द्रियरूपी वैरियों को अपने वशीभूत कर चुके हैं तथा जिन्होंने चित्त के अहंभाव को विनष्ट कर दिया है, उनकी भोग लिप्साएँ उसी प्रकार समाप्त हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतु में कमल का पौधा सूख जाता है। एकत्व के दृढ़ अभ्यास द्वारा जब तक मन को नियन्त्रित नहीं कर लिया जाता, तब तक ही रात्रि में बेताल की तरह हृदय में वासना टिकी हुई रहती है। विवेकशील व्यक्ति अपने मन को अभीष्ट सिद्धि के लिए सेवक के समान सभी प्रयोजनों की पूर्ति के लिए मन्त्रीरूप तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों को स्वनियन्त्रित करने के लिए सामन्तरूप बना लेते हैं, ऐसा मेरा विचार है॥ ७७-७९॥

लालनात्स्निग्धललना पालनात्पालकः पिता। सुहृदुत्तमविन्यासान्मनो मन्ये मनीषिणः॥ ८०॥
स्वालोकतः शास्त्रदृशा स्वबुद्ध्या स्वानुभावतः। प्रयच्छति परां सिद्धिं त्यक्त्वात्मानं मनःपिता॥
सुहृष्टः सुदृढः स्वच्छः सुक्रान्तः सुप्रबोधितः। स्वगुणेनोर्जितो भाति हृदि हृद्यो मनोमणिः॥८२॥

एनं मनोमणिं ब्रह्मन्बहुपङ्ककलङ्कितम्। विवेकवारिणा सिद्ध्यै प्रक्षाल्यालोकवान्भव॥ ८३॥

मेरे विचार से मनीषी का मन लालन करने के फलस्वरूप स्नेहमयी ललना-स्वरूप और पालन करने से पितृतुल्य है। शास्त्रानुकूल आचरण से, स्वयं के एकत्रित अनुभवजन्य ज्ञान प्रकाश से तथा विवेक बुद्धि से मनरूपी पिता परमसिद्धि का मार्ग प्रशस्त करता है। अति हृष्ट-पुष्ट, सुदृढ़, निर्मल, स्ववशीभूत, भली प्रकार चैतन्य तथा आत्मिक सद्‌गुणों से प्रखर-तेजस्विता युक्त सुन्दर मनरूपी मणि हृदय में विराजमान है। हे ब्रह्मन्! बहुविध वासना-तृष्णा के कीचड़ से सने इस मनरूपी मणि को विवेक रूपी जल से निर्मल करके साधन-सिद्धि के लिए चमकदार (परिष्कृत) बनायें॥ ८०-८३॥

विवेकं परमाश्रित्य बुद्ध्या सत्यमवेक्ष्य च। इन्द्रियारीनलं छित्त्वा तीर्णो भव भवार्णवात्॥८४॥

सद्‌विवेक का अवलम्बन लेकर, बुद्धि से यथार्थ सत्य का अनुसन्धान करके इन्द्रियरूपी वैरियों को तुम छिन्न-भिन्न कर पाओगे, इसी से संसार रूपी भवसागर से तुम पार उतरने में सक्षम हो सकोगे॥ ८४॥

आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः। अनास्थामात्रमभितः सुखानामालयं विदुः॥ ८५॥
वासनातन्तुबद्धोऽयं लोको विपरिवर्तते। सा प्रसिद्धातिदुःखाय सुखायोच्छेदमागता॥ ८६॥
धीरोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि कुलजोऽपि महानपि। तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंहः शृङ्खलया यथा॥८७॥
परमं पौरुषं यत्नमास्थायादाय सूद्यमम्। यथाशास्त्रमनुद्वेगमाचरन्को न सिद्धिभाक्॥ ८८॥

संसार में मात्र आस्था (आशा) ही अनेक कष्टों की उत्पत्ति का कारण है और अनास्था (आशा-अपेक्षारहित जीवन) ही सुख का घर समझना चाहिए। वासनाओं के सूत्र से बँधा हुआ यह संसार पुनः-पुनः उत्पन्न होता है। वह प्रख्यात वासना अति कष्टदायिनी बनकर समस्त सुखों का पूरी तरह से उच्छेदन करने के लिए आती है। जंजीर से सिंह के बाँधने के समान वासना के मोहपाश में धीर, कुलीन, अति बहुश्रुत तथा महान् व्यक्ति भी बँध जाते हैं। शास्त्रानुकूल आचरण करता हुआ, परम पुरुषार्थ का अवलम्बन लेकर और श्रेष्ठ उद्यम करते हुए कौन सिद्धि को प्राप्त नहीं करता?॥ ८५-८८॥

अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माहमच्युतः। नान्यदस्तीति संवित्त्या परमा सा ह्यहंकृतिः॥ ८९॥
सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं वालाग्रादप्यहं तनुः। इति या संविदो ब्रह्मन्द्वितीयाहंकृतिः शुभा॥ ९०॥
मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते॥ ९१॥

मैं समस्त विश्वरूप हूँ, मैं अच्युत परमात्मस्वरूप हूँ, मेरे अतिरिक्त शेष कुछ भी नहीं-इस तरह के बोधात्मक अहंभाव को उत्तम माना गया है। 'मैं सभी प्रपञ्च से भिन्न हूँ,' मैं बाल के अग्रभाग से कहीं अधिक सूक्ष्म हूँ-इस प्रकार का दूसरा अहं भाव मोक्ष को देने वाला है, बन्धन में फँसाने वाला नहीं। जीवन्मुक्त आत्मायें ही ऐसे अहंभाव से युक्त होती हैं॥ ८९-९१॥

पाणिपादादिमात्रोऽयमहमित्येष निश्चयः। अहंकारस्तृतीयोऽसौ लौकिकस्तुच्छ एव सः॥ ९२॥
जीव एव दुरात्मासौ कन्दः संसारदुस्तरोः। अनेनाभिहतो जन्तुरधोऽधः परिधावति॥ ९३॥
अनया दुरहंकृत्या भावात्संत्यक्तयाचिरम्। शिष्टाहंकारवाञ्जन्तुः शमवान्याति मुक्तताम्॥ ९४॥

मैं हाथ-पैर वाला मात्र स्थूल शरीरधारी हूँ- इस प्रकार की मान्यता जो तीसरे लौकिक अहंकार में होती है, उसे अत्यन्त निकृष्ट कहा गया है। अहंकार से युक्त दुरात्मा प्राणी ही कष्टमय संसार रूपी वृक्ष का मूल कारण है। इससे प्रताड़ित प्राणी निरन्तर पतन की ओर बढ़ता है। इस तृतीय दुःखमय अहंभाव का परित्याग करके लम्बे समय से शुभ अहंभाव में संलग्न प्राणी शान्तचित्त होकर मुक्ति प्राप्त करते हैं॥ ९२-९४॥

प्रथमौ द्वावहंकारावङ्गीकृत्य त्वलौकिकौ। तृतीयाहंकृतिस्त्याज्या लौकिकी दुःखदायिनी ॥९५॥ अथ ते अपि संत्यज्य सर्वाहंकृतिवर्जितः। स तिष्ठति तथात्युच्चैः परमेवाधिरोहति॥ ९६॥

प्रारम्भिक दो अलौकिक अहंकारों को स्वीकार करके तीसरे दु:खप्रद लौकिक अहंकार को त्याग दे। साधन शक्ति की वृद्धि पर इन सब प्रकार के अहंकारों को त्यागकर निरहंकारिता ग्रहण करे, उसी से उत्तमपद की प्राप्ति सम्भव है॥ ९५-९६॥

भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते। मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः। ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि शृङ्खला॥ ९७॥ नानन्दं न निरानन्दं न चलं नाचलं स्थिरम्। न सन्नासन्न चैतेषां मध्यं ज्ञानिमनो विदुः॥ ९८॥ यथा सौक्ष्म्याच्चिदाभास्य आकाशो नोपलक्ष्यते। तथा निरंशश्चिद्भावः सर्वगोऽपि न लक्ष्यते॥ ९९॥

भोगेच्छा ही बन्धन कही गयी है और उसका परित्याग ही मोक्ष कहलाता है। मन की प्रगति का कारण उसका नष्ट होना है। मन का नाश सौभाग्यवान् पुरुषों की पहचान है। ज्ञानी पुरुषों के मन का नाश हो जाता है। अज्ञानी के लिए मन बन्धन का कारण है। ज्ञानी पुरुषों के लिए मन न तो आनन्द रूप है और न ही आनन्दरहित है। उनके लिए वह चल, अचल, स्थिर, सत्, असत् भी नहीं है अथवा इसके मध्य की स्थिति वाला भी नहीं है। अखण्ड चेतनसत्ता सर्वव्यापक होते हुए भी उसी प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होती, जिस प्रकार चित्त में आलोकित होने वाला आकाश सूक्ष्मता के कारण दिखाई नहीं देता॥ ९७-९९॥

सर्वसंकल्परहिता सर्वसंज्ञाविवर्जिता। सैषा चिदविनाशात्मा स्वात्मेत्यादिकृताभिधा॥ १००॥ आकाशशतभागाच्छा ज्ञेषु निष्कलरूपिणी। सकलामलसंसारस्वरूपैकात्मदर्शिनी॥ १०१॥ नास्तमेति न चोदेति नोत्तिष्ठति न तिष्ठति। न च याति न चायाति न च नेह न चेह चित्॥ १०२

सभी संज्ञाओं से रहित और संकल्पों से रहित यह चिदात्मा अविनाशी तथा स्वात्मा आदि नामों से जाना जाता है। वह समस्त निर्मल संसार के रूप में एकमात्र स्वयं को ही दर्शाता है। ज्ञानियों की दृष्टि में वह आकाश से भी सौ गुना स्वच्छ, निर्मल तथा निष्कलरूप है। वह चेतनसत्ता न तो कभी उदय होती है और न ही अस्त होती है, वह गमन-आगमन से रहित, न उठती और न स्थिर बैठी ही रहती है। वह न तो यहाँ और न ही वहाँ ही है॥ १००-१०२॥

सैषा चिदमलाकारा निर्विकल्पा निरास्पदा॥ १०३॥ आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत्। पश्चात्सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत्॥ १०४॥ अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्। महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः॥ १०५॥

वह चिदात्मा आश्रयहीन, विकल्परहित और शुद्धस्वरूप है। प्रारम्भ में शम-दम आदि गुणों द्वारा शिष्य के अन्त: का परिष्कार करना गुरु के लिए आवश्यक है, तत्पश्चात् उसे बोधस्वरूप यह ब्रह्मज्ञान प्रदान करे-यह सभी कुछ ब्रह्मरूप है और तुम निर्मल ब्रह्मरूप हो। अपरिपक्व बुद्धिवाले और अज्ञानी के समक्ष सब कुछ ब्रह्ममय है, ऐसा कहना उसे मानो घोर नरक में धकेलने की तरह है॥ १०३-१०५॥

[ऋषि कहते हैं कि प्रारम्भ में शिष्य-साधक को अभेद का उपदेश नहीं करना चाहिए। इसे पहले वाञ्छित-अवांञ्छित का भेद बताकर शम-दम आदि द्वारा चित्त शुद्धि करानी चाहिए। जब तक चित्त शुद्ध नहीं हो जाता, तब तक अभेद समझाने के प्रयास में वह अवाञ्छित का त्याग नहीं कर पाता। आज के उपदेशक ऐसी भूल करके साधक को कुपथ्य दे बैठते हैं।]

प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः। नास्त्यविद्यामलमिति प्राज्ञस्तूपदिशेद्गुरुः॥ १०६॥
सति दीप इवालोकः सत्यर्क इव वासरः। सति पुष्प इवामोदश्चिति सत्यं जगत्तथा॥ १०७॥

जिसकी भोग कामनाएँ क्षीण हो चुकी हैं, आकांक्षाएँ समाप्तप्राय हैं तथा बुद्धि जागरूक है, उसी को वेदान्त का उपदेश प्राज्ञ गुरु प्रदान करे। अविद्यारूपी विकार का कोई अस्तित्व नहीं। जैसे सूर्योदय होने पर दिवस, दीपक से प्रकाश तथा पुष्प से सुगन्धि की स्थिति का होना निश्चित है, वैसे ही चैतन्य पर संसार विद्यमान है॥ १०६-१०७॥

प्रतिभासत एवेदं न जगत्परमार्थतः। ज्ञानदृष्टौ प्रसन्नायां प्रबोधविततोदये॥ १०८॥
यथावज्ज्ञास्यसि स्वस्थो मद्वाग्वृष्टिबलाबलम्। अविद्ययैवोत्तमया स्वार्थनाशोद्यमार्थया॥ १०९॥
विद्या संप्राप्यते ब्रह्मन्सर्वदोषापहारिणी। शाम्यति ह्यस्त्रमस्त्रेण मलेन क्षाल्यते मलम्॥ ११०॥
शमं विषं विषेणैति रिपुणा हन्यते रिपुः। ईदृशी भूतमायेयं या स्वनाशेन हर्षदा॥ १११॥

वास्तव में यह संसार अस्तित्व रहित है, यह तो मात्र आभासित होता है। जब तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि आवरण शून्य हो जायेगी और ज्ञान के प्रकाश से ओत-प्रोत होगी, ऐसे में तुम स्वयमेव अपने स्वरूप में स्थित हो जाओगे। तभी तुम्हें मेरे उपदेश की सत्यता का भली प्रकार बोध होगा। हे ब्रह्मन्! सब दोषों को दूर करने वाली विद्या की प्राप्ति स्वार्थभावना को विनष्ट करने के लिए प्रयत्नशील अविद्या द्वारा ही सम्भव होती है। अस्त्र द्वारा अस्त्र को निस्तेज किया जाता है और मल द्वारा मल धुलता है। विष द्वारा विष का शमन तथा शत्रु द्वारा शत्रु का हनन होता है। यह भूतमाया भी इसी प्रकार की है, जो अपने क्षय पर स्वयं हर्षित होती है॥ १०८-१११॥

न लक्ष्यते स्वभावोऽस्या वीक्ष्यमाणैव नश्यति। नास्त्येषा परमार्थेनेत्येवं भावनयेद्धया॥ ११२॥
सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना सा हि मुक्तिदा। भेददृष्टिरविद्येयं सर्वथा तां विसर्जयेत्॥ ११३॥

आसानी से इसका स्वरूप देखने में नहीं आता, परन्तु दिखाई देते ही यह नाश को प्राप्त होती है। भेद दृष्टि का होना ही अविद्या है, इसका सर्वथा त्याग करना ही कल्याणप्रद है। वस्तुतः माया का अस्तित्व है ही नहीं- सब कुछ ब्रह्ममय है, ऐसी दृढ़ निश्चय से की गई आन्तरिक भावना ही मोक्षप्राप्ति का उपाय है॥ ११२-११३॥

मुने नासाद्यते तद्धि पदमक्षयमुच्यते। कुतो जातेयमिति ते द्विज मास्तु विचारणा॥ ११४॥
इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा। अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि तत्पदम्॥ ११५॥
यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम्। तदस्या रोगशालाया यत्नं कुरु चिकित्सने॥ ११६॥

हे मुनिश्रेष्ठ! माया द्वारा जो नहीं पाया जाता, वह अक्षय पद के नाम से जाना जाता है। हे द्विज! इस माया की उत्पत्ति किससे हुई, इसके बारे में तुम्हें विचार नहीं करना चाहिए; अपितु विचार यही रहे कि किस प्रकार इसे नष्ट करूँ? इसके क्षीण होकर विनष्ट हो जाने पर तुम क्षयरहित पद को पा सकोगे। इसके प्रकट होने का लक्षण इसका स्वरूप और इसके नष्ट करने के उपाय पर विचार करते हुए इस रोग के मूलकारण के निदान का प्रयास करना चाहिए॥ ११४-११६॥

यथैषा जन्मदुःखेषु न भूयस्त्वां नियोक्ष्यति। स्वात्मनि स्वपरिस्पन्दैः स्फुरत्यच्छैश्चिदर्णवः॥ ११७॥
एकात्मकमखण्डं तदित्यन्तर्भाव्यतां दृढम्। किंचित्क्षुभितरूपा सा चिच्छक्तिश्चिन्मयार्णवे॥ ११८
तन्मयैव स्फुरत्यच्छा तत्रैवोर्मिरिवार्णवे। आत्मन्येवात्मना व्योम्नि यथा सरसि मारुतः॥ ११९॥
तथैवात्मात्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम्। क्षणं स्फुरति सा दैवी सर्वशक्तितया तथा॥ १२०॥

जिससे यह तुम्हें आवागमन के जन्मचक्र में बारम्बार न डाले और चित् रूपी समुद्र निर्मल आत्म - स्पन्दन से विभासित हो सके। यह चिदात्मा अविभाजित रूप वाली है, अपने भीतर इस प्रकार का दृढ़निश्चय करना चाहिए। यह चिदात्मा चिन्मय सागर में कुछ क्षोभयुक्त हो रही है। सागर में लहरों की तरह निर्मल चिन्मय लहरें उठ रही हैं। आकाश सरोवर में जिस प्रकार वायु स्वयमेव लहराती है, उसी प्रकार अपनी आत्मा में आत्मबल से आत्मा तरंगित होती है। सर्वशक्तिमान् सत्ता द्वारा इस प्रकार की दैवी स्फुरणा क्षण मात्र के लिए होती है॥ ११७-१२०॥

देशकालक्रियाशक्तिर्न यस्याः संप्रकर्षणे। स्वस्वभावं विदित्वोच्चैरप्यनन्तपदे स्थिता॥ १२१॥

जिस चेतनशक्ति को देश, काल और क्रियाशक्ति चलायमान करने में अक्षम है, वही चेतनशक्ति अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानकर उच्च अनन्त पद पर प्रतिष्ठित है॥ १२१॥

रूपं परिमितेनासौ भावयत्यविभाविता। यदैवं भावितं रूपं तया परमकान्तया॥ १२२॥
तदैवैनामनुगता नामसंख्यादिका दृशः। विकल्पकलिताकारं देशकालक्रियास्पदम्॥ १२३॥

यह चेतन शक्ति अज्ञान स्थिति में सीमित सी होकर रूप भावना वाली होती है। उस विलक्षण परमसत्ता में जब रूप की भावना समाविष्ट होती है। उस समय उसके साथ नाम और संख्या आदि उपाधियाँ जुड़ जाती हैं॥ १२२-१२३॥

चितो रूपमिदं ब्रह्मन्क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते। वासनाः कल्पयन्सोऽपि यात्यहंकारतां पुनः॥ १२४॥
अहंकारो विनिर्णेता कलङ्की बुद्धिरुच्यते। बुद्धिः संकल्पिताकारा प्रयाति मननास्पदम्॥१२५॥

हे ब्रह्मन्! चेतनशक्ति का वह रूप जो देश, काल और क्रिया का आश्रयरूप है तथा विकल्परूप को ग्रहण करने वाला है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। पुनः वही वासनात्मक चिन्तन से अहंकाररूप कहा जाता है। जब अहंकार भी निश्चयात्मक और दोषपूर्ण हो जाता है, तो बुद्धि कहलाता है। बुद्धि भी जब संकल्परूप में परिणत हो जाती है, तो मननशील मन का रूप धारण करती है॥ १२४-१२५॥

मनो घनविकल्पं तु गच्छतीन्द्रियतां शनैः। पाणिपादमयं देहमिन्द्रियाणि विदुर्बुधाः॥ १२६॥

मन के गहरे विकल्प में डूबने पर धीरे-धीरे इन्द्रियस्वरूप की झलक मिलती है। मेधावी पुरुष हस्तपाद युक्त स्थूल शरीर को ही इन्द्रिय मानते हैं॥ १२६॥

एवं जीवो हि संकल्पवासनारज्जुवेष्टितः। दुःखजालपरीतात्मा क्रमादायाति नीचताम्॥ १२७॥
इति शक्तिमयं चेतो घनाहंकारतां गतम्। कोशकारक्रिमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम्॥ १२८॥

संकल्प और वासना की रस्सी से बँधा हुआ जीव दुःख-जाल में फँसकर निरन्तर दुर्गति की ओर बढ़ता है। रेशम बनाने वाले कीड़े की तरह शक्तिमय चित् घनीभूत अहंभाव को प्राप्त करके स्वेच्छा से बन्धन में बँधता है॥ १२७-१२८॥

स्वयं कल्पिततन्मात्राजालाभ्यन्तरवर्ति च। परां विवशतामेति शृङ्खलाबद्धसिंहवत्॥ १२९॥

चित्शक्ति अपने ही द्वारा संकल्पित तन्मात्रा रूपी पाश में जकड़कर जंजीर से बँधे हुए सिंह के समान अत्यन्त लाचार हो जाती है॥ १२९॥

क्वचिन्मनः क्वचिद्बुद्धिः क्वचिज्ज्ञानं क्वचित्क्रिया। क्वचिदेतदहंकारः क्वचिच्चित्तमिति स्मृतम्॥
क्वचित्प्रकृतिरित्युक्तं क्वचिन्मायेति कल्पितम्। क्वचिन्मलमिति प्रोक्तं क्वचित्कर्मेति संस्मृतम्॥
क्वचिद्बन्ध इति ख्यातं क्वचित्पुर्यष्टकं स्मृतम्। प्रोक्तं क्वचिदविद्येति क्वचिदिच्छेति संमतम्॥

इसी आत्मा को कहीं मन, कहीं बुद्धि, कहीं ज्ञान, कहीं क्रिया, कहीं अहंकार और कहीं चित्तरूप में जाना जाता है। यही कहीं प्रकृति और कहीं माया कहलाती है। कहीं बन्धन तो कहीं पुर्यष्टक (सूक्ष्मशरीर) कहा जाता है। इसे कहीं अविद्या और कहीं इच्छा नाम से जाना जाता है॥ १३०-१३२॥

इमं संसारमखिलमाशापाशविधायकम्। दधदन्तःफलैर्हीनं वटधाना वटं यथा॥ १३३॥

यह आशा रूपी जाल का रचयिता सम्पूर्ण विश्व को वैसे ही धारण करता है, जैसे फलरहित वट का बीज वटवृक्ष को धारण करता है॥ १३३॥

चिन्तानलशिखादग्धं कोपाजगरचर्वितम्। कामाब्धिकल्लोलरतं विस्मृतात्मपितामहम्॥ १३४॥

यह मन चिन्तारूपी अग्निज्वाला से दग्ध हुआ, क्रोधरूपी अजगर द्वारा काटा गया और कामरूपी सागर के भँवर में फँसा हुआ है, यह अपने पितामह आत्मा को विस्मृत कर चुका है॥ १३४॥

समुद्धर मनो ब्रह्मन्मातङ्गमिव कर्दमात्। एवं जीवाश्रिता भावा भवभावनयाहिताः॥ १३५॥
ब्रह्मणा कल्पिताकारा लक्षशोऽप्यथ कोटिशः। संख्यातीताः पुरा जाता जायन्तेऽद्यापि चाभितः॥
उत्पत्स्यन्तेऽपि चैवान्ये कणौघा इव निर्झरात्। केचित्प्रथमजन्मानः केचिज्जन्मशताधिकाः॥१३७
केचिच्चासंख्यजन्मानः केचिद्द्वित्रिभवान्तराः। केचित्किन्नरगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः॥ १३८॥

हे ब्रह्मन्! कीचड़ (दल-दल) में फँसे हाथी के समान ही इस मन का उद्धार करो। जीव के आश्रित भाव ब्रह्म द्वारा लाखों; करोड़ों तथा असंख्य रूपों में कल्पित होकर पहले भी पैदा हो चुके हैं और आज भी पैदा हो रहे हैं तथा निर्झर से जलबिन्दुओं की उत्पत्ति के समान और भी उत्पन्न होते रहेंगे। कुछ प्रथम बार, कुछ सौ से अधिक बार, कुछ असंख्य बार जन्म धारण कर चुके हैं और किन्हीं के तो दो-तीन ही जन्म हुए हैं। कोई किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर एवं नागरूप में उत्पन्न हैं॥ १३५-१३८॥

केचिदर्केन्दुवरुणास्त्र्यक्षाधोक्षजपद्मजाः। केचिद्ब्राह्मणभूपालवैश्यशूद्रगणाः स्थिताः॥१३९॥
केचित्तृणौषधीवृक्षफलमूलपतङ्गकाः। केचित्कदम्बजम्बीरसालतालतमालकाः॥ १४०॥
केचिन्महेन्द्रमलयसह्यमन्दरमेरवः। केचित्क्षारोदधिक्षीरघृतेक्षुजलराशयः॥ १४१॥

कोई सूर्य, चन्द्र, वरुण, हरि, शिव एवं ब्रह्मरूप धारण किये हुए हैं। कुछ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि रूप में स्थित हैं। कोई औषधि, तृण, वृक्ष, फल, मूल एवं पत्ते के रूप में हैं। तो कोई जम्बीर (नींबू), कदम्ब, आम, ताड़ तथा तमाल पेड़ के रूप में हैं। कुछ महेन्द्र, मलय, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतों के रूप में विद्यमान हैं। कोई खारे सागर, कोई दूध, घृत, गन्ने के रस तथा जलराशि के रूप में स्थित हैं॥ १३९-१४१॥

केचिद्विशालाः ककुभः केचिन्नद्यो महारयाः। विहरन्त्युच्चकैः केचिन्निपतन्त्युत्पतन्ति च॥१४२॥
कन्दुका इव हस्तेन मृत्युनाऽविरतं हताः। भुक्त्वा जन्मसहस्त्राणि भूयः संसारसंकटे॥ १४३॥
पतन्ति केचिदबुधाः संप्राप्यापि विवेकताम्। दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तितः॥१४४॥
लीलयैव यदादत्ते दिक्कालकलितं वपुः। तदेव जीवपर्यायवासनावेशतः परम्॥ १४५॥
मनः संपद्यते लोलं कलनाकलनोन्मुखम्। कलयन्ती मनःशक्तिरादौ भावयति क्षणात्॥ १४६॥
आकाशभावनामच्छां शब्दबीजरसोन्मुखीम्। ततस्तद्घनतां यातं घनस्पन्दक्रमान्मनः॥ १४७॥
भावयत्यनिलस्पन्दं स्पर्शबीजरसोन्मुखम्। ताभ्यामाकाशवाताभ्यां दृढाभ्यासवशात्ततः॥ १४८॥

कोई द्रुतवेग वाली नदियों के रूप में प्रवाहित हैं, तो कोई विस्तृत दिशाओं का रूप धारण किये हुए हैं।

कुछ ऊपर उठते हैं,कुछ नीचे गिरते हैं तथा कुछ पुनः ऊर्ध्वगमन करते हैं। हाथ से गेंद को बार-बार गिराने-उछालने के समान कुछ मृत्यु द्वारा ताड़ित होकर आसमान में उठते और गिरते रहते हैं। अनेक ऐसे हैं जो विवेकवान् होकर भी शुभकर्म करते और हजारों जन्म ग्रहण कर लेने पर भी उनका संसार सागर से आवागमन नहीं मिटता। दिशा और काल से अनवच्छिन्न आत्मतत्त्व जब अपनी सामर्थ्य से शरीर धारण करता है,तब यही जीव वासना के वशीभूत होकर संकल्पों की ओर जाने वाले चञ्चल मन का रूप ग्रहण कर लेता है। वह संकल्प से युक्त मन:शक्ति क्षणमात्र में ही स्वच्छ आकाश की भावना करती है, उसमें शब्दबीज अंकुरित होने लगते हैं। तत्पश्चात् वही मन अधिक सघन होकर घने स्पन्दन के क्रम से वायुस्पन्दन की भावना में लीन होता है॥ १४२-१४८॥

शब्दस्पर्शस्वरूपाभ्यां संघर्षाज्जन्यतेऽनलः। रूपतन्मात्रसहितं त्रिभिस्तैः सह संमितम्॥ १४९॥
मनस्तादृग्गुणगतं रसतन्मात्रवेदनम्। क्षणाच्चेतत्यपां शैत्यं जलसंवित्ततो भवेत्॥ १५०॥

उसमें स्पर्शरूप बीज के अंकुर फूटते हैं। उसके बाद दृढ़ अभ्यास द्वारा शब्द-स्पर्श रूप आकाश एवं वायु के टकराने से अग्नि उत्पन्न होती है। तीनों गुणों से ओत-प्रोत मन रस तन्मात्रा की अनुभूति करता हुआ क्षण भर में जल की ठण्डक का विचार करता है, इससे उसे जल का अनुभव होता है॥ १४९-१५०॥

[आकाश में वायु की गतिशीलता से जो घर्षण क्रिया होती है। उससे विद्युत् विभव (इलैक्ट्रिकल चार्ज) के रूप में अग्नि का उद्भव होता है। वायु के घटकों (हाइड्रोजन+आक्सीजन) को अग्नि संयुक्त करके जल रूप देता है। विज्ञान यह क्रिया स्थूल पदार्थ रूप में ही समझ पाता है, ऋषि इसे सूक्ष्म तन्मात्राओं के रूप में भी अनुभव करते हैं।]

ततस्तादृग्गुणगतं मनो भावयति क्षणात्। गन्धतन्मात्रमेतस्माद्भूमिसंवित्ततो भवेत्॥ १५१॥
अथेत्थंभूततन्मात्रवेष्टितं तनुतां जहत्। वपुर्वह्निकणाकारं स्फुरितं व्योम्नि पश्यति॥ १५२॥

फिर चार गुणों से संयुक्त होकर मन अगले ही क्षण गन्ध तन्मात्रा का भाव कर लेता है, इससे उसे पृथ्वी का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार पाँच तन्मात्राओं से युक्त होकर वह मन अपनी सूक्ष्मता त्यागकर आसमान में अग्निकणों की शक्ल में स्फुरित होते हुए शरीर का दर्शन करता है॥ १५१-१५२॥

[ऋषि सूक्ष्म से क्रमशः स्थूल के विकास का चित्रण कर रहे हैं। यहाँ सूक्ष्म मनोमय से अपेक्षाकृत स्थूल अग्निकणों के रूप में प्राणमय कोश के विकास का क्रम बतलाया गया है। यह प्राणमय ही परिपक्व होकर स्थूल काया का रूप लेता है। ऋषि इस क्रिया की उपमा स्वर्णकणों को गलाकर वाञ्छित आकार में ढालने की क्रिया से दे रहे हैं।]

अहंकारकलायुक्तं बुद्धिबीजसमन्वितम्। तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदम्॥ १५३॥
तस्मिंस्तु तीव्रसंवेगाद्भावयद्भासुरं वपुः। स्थूलतामेति पाकेन मनो बिल्वफलं यथा॥ १५४॥

वह शरीर ही अहंकार कलाओं से युक्त और बुद्धि बीज से संयुक्त 'पुर्यष्टक' नाम से जाना जाता है, जो प्राणियों के हृदय कमल में मँडराने वाले भौंरे के सदृश है। पाक (परिपूर्णावस्था) की स्थिति में बिल्वफल की तरह ही तीव्र संवेगात्मक तेजस्वी शरीर की भावना किये जाने पर, मन स्थूल हो जाता है॥१५३-१५४॥

मूषास्थद्रुतहेमाभं स्फुरितं विमलाम्बरे। संनिवेशमथादत्ते तत्तेजः स्वस्वभावतः॥ १५५॥
ऊर्ध्वं शिरः पिण्डमयमधः पादमयं तथा। पार्श्वयोर्हस्तसंस्थानं मध्ये चोदरधर्मिणम्॥ १५६॥
कालेन स्फुटतामेत्य भवत्यमलविग्रहम्। बुद्धिसत्त्वबलोत्साहविज्ञानैश्वर्यसंस्थितः॥ १५७॥

निर्मल आकाश में वह तेज, मूषा (सोना गलाने के पात्र) में पिघले हुए स्वर्ण के समान स्फुरित होकर अपनी प्रकृति के अनुसार गठित होने लगता है। ऊपर से वह सिर की तरह, नीचे से पैरों की तरह, पार्श्वों में

भुजाओं की तरह तथा मध्य में उदर की तरह समय आने पर अभिव्यक्ति को प्राप्त होकर पूर्ण शरीर के आकार को प्राप्त हो जाता है। बुद्धि, वीर्य, बल, उत्साह, विज्ञान और वैभव से सम्पन्न हो जाता है ॥१५५-१५७॥

स एव भगवान्ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः। अवलोक्य वपुर्ब्रह्मा कान्तमात्मीयमुत्तमम्॥ १५८॥
चिन्तामभ्येत्य भगवांस्त्रिकालामलदर्शनः। एतस्मिन्परमाकाशे चिन्मात्रैकात्मरूपिणि॥ १५९॥
अदृष्टपारपर्यन्ते प्रथमं किं भवेदिति। इति चिन्तितवान्ब्रह्मा सद्योजातामलात्मदृक्॥ १६०॥

वही शरीर सब लोकों का पितामह भगवान् ब्रह्मा बन जाता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान के प्रत्यक्ष द्रष्टा भगवान् ब्रह्माजी ने अपनी उत्तम और मनोहर छबि को निहारकर विचार किया कि इस चिन्मात्र आत्मरूपी परमाकाश का कोई आदि-अन्त दृष्टिगोचर नहीं होता। सर्वप्रथम क्या होना चाहिए? इस प्रकार का विचार करते ही तत्काल उन्हें पवित्र आत्मदृष्टि प्राप्त हुई॥ १५८-१६०॥

अपश्यत्सर्गवृन्दानि समतीतान्यनेकशः। स्मरत्यथो स सकलान्सर्वधर्मगुणक्रमात्॥ १६१॥
लीलया कल्पयामास चित्राः संकल्पतः प्रजाः। नानाचारसमारम्भा गन्धर्वनगरं यथा॥ १६२॥
तासां स्वर्गापवर्गार्थं धर्मकामार्थसिद्धये। अनन्तानि विचित्राणि शास्त्राणि समकल्पयत्॥ १६३॥

उन्हें अतीतकाल में हुई सृष्टि के असंख्य सर्ग दिखाई दिये, इससे समस्त धर्मों एवं गुणों के क्रम उनके स्मृति पटल पर उभर आये। उन्होंने माया से ही विभिन्न प्रकार के आचारों से समन्वित अनेक रूप-रंग की प्रजा को अन्तरिक्ष में गन्धर्वलोक के समान ही संकल्प-शक्ति से प्रादुर्भूत कर दिया। उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए उन्होंने अनेक चित्र-विचित्र शास्त्रों और स्वर्ग-नरकादि की कल्पना (रचना) कर दी ॥ १६१-१६३॥

विरञ्चिरूपान्मनसः कल्पितत्वाज्जगत्स्थितेः। तावत्स्थितिरियं प्रोक्ता तन्नाशे नाशमाप्नुयात्॥१६४
न जायते न म्रियते क्वचित्किंचित्कदाचन। परमार्थेन विप्रेन्द्र मिथ्या सर्वं तु दृश्यते॥ १६५॥
कोशमाशाभुजङ्गानां संसाराडम्बरं त्यज। असदेतदिति ज्ञात्वा मातृभावं निवेशय॥ १६६॥

ब्रह्मारूपी मन की कल्पना द्वारा संसार की स्थिति होने से ब्रह्मा के जीवन के साथ इसका (मन का) जीवन है। ब्रह्माजी के आयुष्य समाप्ति के साथ इस मन की भी समाप्ति है। हे द्विजश्रेष्ठ! वास्तव में न तो कोई कहीं जन्म ही ग्रहण करता है और न अवसान को ही प्राप्त होता है। यह सब मिथ्या है, जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यह प्रपंचात्मक संसार आशारूपी सर्पिणियों की पिटारी है, इसे त्यागना ही उचित है। इसे 'असत्' मानकर मातृभाव में स्थिर होना श्रेयस्कर है॥ १६४-१६६॥

गन्धर्वनगरस्यार्थे भूषितेऽभूषिते तथा। अविद्यांशे सुतादौ वा कः क्रमः सुखदुःखयोः॥ १६७॥
धनदारेषु वृद्धेषु दुःखयुक्तं न तुष्टता। वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह॥ १६८॥
यैरेव जायते रागो मूर्खस्याधिकतां गतैः। तैरेव भागैः प्राज्ञस्य विराग उपजायते॥ १६९॥

गन्धर्व नगर चाहे सुसज्जित हो या असुसज्जित, वह कैसा भी क्यों न दिखाई दे, वह तुच्छ ही है। उसी तरह अविद्या के अंशरूप ये पुत्र आदि भी प्रपंचरूप हैं, इनके प्रति आसक्ति होना दुःख का कारण है। धन-स्त्री आदि की वृद्धि के प्रति सुख-दुःख का भाव रखना निरर्थक है। इसमें सन्तोष मानने की कहीं गुंजायश नहीं। मोह-माया की वृद्धि होने पर इस लोक में कौन सुख-शान्ति का अधिकारी बना है। जिन पदार्थों की बहुतायत से अज्ञानी जन सुख अनुभव करते हैं, उन्हीं से ज्ञानी पुरुष विरक्त रहते हैं॥ १६७-१६९॥

अतो निदाघ तत्त्वज्ञ व्यवहारेषु संसृतेः। नष्टं नष्टमुपेक्षस्व प्राप्तं प्राप्तमुपाहर॥ १७०॥

अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम्। आगतानां च संभोग इति पण्डितलक्षणम्॥ १७१ ॥
शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्ध्वावलम्ब्य च। सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मा गृहाण विमुञ्च मा॥ १७२ ॥

हे तत्त्वज्ञानी निदाघ! सांसारिक व्यवहार में जिस-जिसका अभाव होता जाए, उसकी इच्छा न करे और जो-जो सहजता से उपलब्ध हो, उसे स्वीकार करे। अप्राप्त की इच्छा न करना और प्राप्त उपभोग्य सामग्री का उपयोग करना यही पाण्डित्य है। सत् और असत् के बीच शुद्ध पद को जानकर, उसका अवलम्बन ग्रहण कर के बाह्याभ्यन्तरिक दृश्यों को न तो ग्रहण करे और न ही त्यागे॥ १७०-१७२॥

यस्य चेच्छा तथाऽनिच्छा ज्ञस्य कर्मणि तिष्ठतः। न तस्य लिप्यते प्रज्ञा पद्मपत्रमिवाम्बुभिः॥१७३
यदि ते नेन्द्रियार्थश्रीः स्पन्दते हृदि वै द्विज। तदा विज्ञातविज्ञेयः समुत्तीर्णो भवार्णवात्॥१७४॥
उच्चैःपदाय परया प्रज्ञया वासनागणात्। पुष्पाद्गन्धमपोह्यारं चेतोवृत्तिं पृथक्कुरु॥ १७५ ॥

इच्छा और अनिच्छा को समान मानने वाले ज्ञानी पुरुष कर्म करते हुए भी उसमें उसी प्रकार लिप्त नहीं होते, जैसे कीचड़ में कमलपत्र पड़ा रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता। हे द्विज! यदि आपके हृदय में इन्द्रियजन्य विषय हलचल पैदा नहीं करते, तो आप ज्ञातव्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर संसार रूपी समुद्र से पार हो गये। विशिष्ट ज्ञानयुक्त होकर वासनारूपी फूलों की सुगन्ध से अपनी चित्तवृत्ति को जल्दी ही दूर कर लिया जाए, तो महान् पद की प्राप्ति हो सकती है॥ १७३-१७५॥

संसाराम्बुनिधावस्मिन्वासनाम्बुपरिप्लुते। ये प्रज्ञानावमारूढास्ते तीर्णाः पण्डिताः परे॥ १७६ ॥
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम्। सर्वमेवानुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः॥ १७७॥
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सत्तासामान्यरूपिणः। चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तत्संकल्पाङ्कुरं विदुः॥ १७८ ॥
लेशतः प्राप्तसत्ताकः स एव घनतां शनैः। याति चित्तत्वमापूर्य दृढं जाड्याय मेघवत्॥ १७९ ॥

वासनारूपी जल से युक्त इस संसार-सागर में जो सद्ज्ञान रूपी नौका पर आरूढ़ हैं, वे ज्ञानीजन इससे पार हो गये। सांसारिक प्रपञ्च के जानकार पुरुष सांसारिक व्यवहार का न तो परित्याग करते हैं और न ही उसकी कामना करते हैं; अपितु वे उनके प्रति अनासक्ति का ही व्यवहार करते हैं, ज्ञानियों ने संकल्प का अंकुरित होना ही अनन्त आत्मतत्त्वरूप चेतन का विषयासक्त होना माना है। वही संकल्प अल्पमात्र स्थान प्राप्त करके धीरे-धीरे सघन होते हैं; तत्पश्चात् वे मेघ की तरह सुदृढ़ होकर चित्ताकाश को ढककर जड़त्व भाव का संचार करते हैं॥ १७६-१७९॥

भावयन्ति चितिश्चैत्यं व्यतिरिक्तमिवात्मनः। संकल्पतामिवायाति बीजमङ्कुरतामिव॥ १८० ॥
संकल्पनं हि संकल्पः स्वयमेव प्रजायते। वर्धते स्वयमेवाशु दुःखाय न सुखाय यत्॥ १८१ ॥
मा संकल्पय संकल्पं मा भावं भावय स्थितौ। संकल्पनाशने यत्तो न भूयोऽननुगच्छति॥१८२ ॥

बीज के अंकुरावस्था को प्राप्त करने के समान ही चेतन विषयों को स्वयं से अलग-सा मानते हुए वह संकल्पावस्था को प्राप्त होता है। संकल्प से उसकी क्रिया अपने आप ही प्रकट होती है और स्वयं ही शीघ्रातिशीघ्र वृद्धि को प्राप्त होती है। लेकिन वह दुःख का ही कारण बनती है, सुख देने वाली नहीं होती। चित्त में उत्पन्न होने वाली संकल्प क्रिया को रोके। उसमें पदार्थ भावना न करे, जिसने संकल्प को विनष्ट करने का निश्चय किया है,उसे पुनः उसका अनुगमन करना उचित नहीं॥ १८०-१८२॥

भावनाऽभावमात्रेण संकल्पः क्षीयते स्वयम्। संकल्पेनैव संकल्पं मनसैव मनो मुने॥ १८३ ॥

छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम्। यथैवेदं नभः शून्यं जगच्छून्यं तथैव हि॥१८४॥
तण्डुलस्य यथा चर्म यथा ताम्रस्य कालिमा। नश्यति क्रियया विप्र पुरुषस्य तथा मलम्॥१८५॥
जीवस्य तण्डुलस्येव मलं सहजमप्यलम्। नश्यत्येव न संदेहस्तस्मादुद्योगवान्भवेत्॥ १८६॥
इति महोपनिषत्॥

भावना का अभाव होते ही संकल्प स्वयमेव समाप्त हो जाता है। हे मुनिश्रेष्ठ! संकल्प द्वारा संकल्प को और मन द्वारा मन को नष्ट कर डाले। आकाश की तरह ही यह जगत् भी शून्य है। हे विप्र! जिस तरह ताँबे की कालिमा और धान का छिलका प्रयत्नपूर्वक क्रिया विशेष से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पुरुष का विकार रूपी दोष प्रयत्न से दूर हो जाता है, धान के छिलके के समान जीव पर मल-विकाररूपी दोष प्रकृतिगत हैं, तो भी उनका नष्ट होना निश्चित है-इसमें रत्तीभर सन्देह नहीं। अतएव आत्मस्वरूप में स्थित होकर उद्योगी पुरुष बनने का प्रयत्न करो, इसमें असम्भव जैसी स्थिति है ही नहीं॥ १८३-१८६॥

[चेतन के ऊपर चढ़े विकार की तुलना धान के छिलके से की गई है। विकार हटाये बिना चावल सेवन करने योग्य नहीं होता और पुनः फलित होने के लिए छिलका-विकार आवश्यक है। छिलका-विकार हटते ही वह ज्ञानी के लिए सेव्य है तथा पुनर्जन्म के चक्र की संभावना भी समाप्त हो जाती है।]

॥ षष्ठोऽध्यायः ॥

अन्तरास्थां परित्यज्य भावश्रीं भावनामयीम्। योऽसि सोऽसि जगत्यस्मिँल्लीलया विहरानघ॥१॥
सर्वत्राहमकर्तेति दृढभावनयानया। परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते॥२॥

हे निष्पाप! अन्तरंग की आस्था एवं भावनायुक्त भावों की सम्पदा का परित्याग करके आप अपने वास्तविक रूप में संसार में सुखपूर्वक विचरण करें। सभी जगह स्वयं को अकर्त्ता मानें, इस सुदृढ़ भावना से परम अमृत नाम की समता (एकरसता) ही अवशिष्ट रहती है॥ १-२॥

खेदोल्लासविलासेषु स्वात्मकर्तृतयैकया। स्वसंकल्पे क्षयं याते समतैवावशिष्यते॥३॥
समता सर्वभावेषु यासौ सत्यपरा स्थितिः। तस्यामवस्थितं चित्तं न भूयो जन्मभाग्भवेत्॥४॥

दुःख और उल्लास-विलास-ये मनुष्य द्वारा स्वतः उत्पादित हैं। अपने संकल्प के क्षय होने पर समता भाव ही अवशेष रहता है। सभी पदार्थों में समता की वास्तविक स्थिति को चित्त में निष्ठापूर्वक धारण कर लेने पर आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है॥ ३-४॥

अथवा सर्वकर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने। सर्वं त्यक्त्वा मनः पीत्वा योऽसि सोऽसि स्थिरो भव॥५॥
शेषस्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज। चिन्मनःकलनाकारं प्रकाशतिमिरादिकम्॥ ६॥
वासनां वासितारं च प्राणस्पन्दनपूर्वकम्। समूलमखिलं त्यक्त्वा व्योमसाम्यः प्रशान्तधीः॥७॥

हे मुने! सभी कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का त्यागकर,मन का पान कर आप अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर हों। बाद में समाधिस्थ होकर जिससे आप त्याग किया करते हैं,उसे भी छोड़ दें। चेतन ने ही मानसिक संकल्प का आकार धारण कर रखा है,वही प्रकाश और अंधकार का रूप धारण किये हुए है। अतः प्राणस्पन्दन के साथ-साथ वासना का सम्पूर्ण परित्याग करके आकाश की तरह निर्मल और शान्त मन वाले बनें॥ ५-७॥

हृदयात्संपरित्यज्य सर्ववासनपङ्क्तयः। यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः॥८॥
दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं भ्रान्तं भ्रान्त्या दिशो दश। युक्त्या वै चरतो ज्ञस्य संसारो गोष्पदाकृतिः॥९॥

सबाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च। इत आत्मा ततोऽप्यात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत्॥१०॥

मुक्त और शान्त वही है,जो हृदय से सभी वासनाओं को छोड़ देता है,वही परमेश्वर है। वह दसों दिशाओं में घूमते हुए भ्रान्तिवश द्रष्टव्य पदार्थों को देखने में सक्षम है। प्रयत्नपूर्वक आचरणशील ज्ञानीपुरुषों के लिए यह संसार गोष्पद (गाय का खुर) की तरह सहज ही पार उतरने योग्य बन जाता है। शरीर के बाहर-भीतर,ऊपर-नीचे तथा सभी दिशाओं में सर्वत्र आत्मा ही विद्यमान है,उसके निमित्त यह संसार अनात्ममय नहीं होता॥८-१०

न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न तन्मयम्। किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं सच्चिन्मयं ततम्॥ ११॥
समस्तं खल्विदं ब्रह्म सर्वमात्मेदमाततम्। अहमन्य इदं चान्यदिति भ्रान्तिं त्यजानघ॥ १२॥
तते ब्रह्मघने नित्ये संभवन्ति न कल्पिताः। न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न जरास्ति न जन्म वा॥

हे निष्पाप! 'यह और है' 'मैं अन्य हूँ', इस प्रकार की भ्रान्त-धारणा का परित्याग कर दे। ऐसा कोई स्थल नहीं, जहाँ मेरा अस्तित्व नहीं, उस वस्तु का अभाव है, जो आत्मरूप न हो। मैं ऐसी कौन सी वस्तु की कामना करूँ? सब में सत् और चिन्मय तत्त्व संव्याप्त है। यह सब कुछ ब्रह्ममय ही है, सबमें आत्मा का ही विस्तार है। सर्वव्यापी और नित्य सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में काल्पनिक भावों की सम्भावना नहीं है। यह तत्त्व शोक, मोह, जरा और जन्म से रहित है॥ ११-१३॥

यदस्तीह तदेवास्ति विज्वरो भव सर्वदा। यथाप्राप्तानुभवतः सर्वत्रानभिवाञ्छनात्॥ १४॥
त्यागादानपरित्यागी विज्वरो भव सर्वदा। यस्येदं जन्म पाश्चात्त्यं तमाश्वेव महामते॥ १५॥
विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम्। विरक्तमनसां सम्यक्स्वप्रसङ्गादुदाहृतम्॥ १६॥
द्रष्टुर्दृश्यसमायोगात्प्रत्ययानन्दनिश्चयः। यस्तं स्वमात्मतत्त्वोत्थं निष्पन्दं समुपास्महे॥ १७॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह। दर्शनप्रत्ययाभासमात्मानं समुपास्महे॥ १८॥

आत्मतत्त्व में जो विद्यमान है, वही सब कुछ है। अतएव हमेशा सभी जगह किसी पदार्थ की अभिलाषा न करते हुए सहज में जो उपलब्ध हो, उसी का आसक्तिरहित होकर उपभोग करते हुए शोकरहित होकर रहना चाहिए। किसी वस्तु का न तो परित्याग और न ग्रहण- इस प्रकार सन्तापहीन होकर रहना चाहिए। हे महामते! जिस व्यक्ति का यह जन्म आखिरी है (अर्थात् आगे जिसका जन्म नहीं होना है), उसमें शीघ्र ही श्रेष्ठ प्रजाति की मुक्ता के समान निर्मल विद्या प्रविष्ट होती है। जिनके मन में वैराग्य भाव है, ऐसे ज्ञानियों द्वारा अपने अनुभवजन्य ज्ञान से यह अभिव्यक्त किया गया है कि द्रष्टा को दृश्य के माध्यम से जो निश्चयात्मिका सुखानुभूति होती है, वह आत्मतत्त्व से प्रकट हुआ स्पन्दन है, जिसकी हम उत्तम रीति से उपासना करते हैं॥ १४-१८॥

द्वयोर्मध्यगतं नित्यमस्तिनास्तीति पक्षयोः। प्रकाशनं प्रकाशानामात्मानं समुपास्महे॥ १९॥

वासनात्मक चिन्तन के साथ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीनों का परित्याग करके प्रकाशमान आत्मा के हम उपासक हैं। अस्ति-नास्ति के बीच विद्यमान प्रकाशों के भी प्रकाशक सनातन आत्मा के हम उपासक हैं॥

संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये। ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः॥ २०॥
उत्थितानुत्थितानेतानिन्द्रियारीन्पुनः पुनः। हन्याद्विवेकदण्डेन वज्रेणेव हरिर्गिरीन्॥ २१॥

हमारे हृदय में वह आत्मतत्त्व महेश्वर के रूप में विद्यमान है। जो पुरुष इस आत्मा को त्यागकर अन्य वस्तु की प्राप्ति हेतु यत्नशील हैं, वे अपने हाथ में स्थित कौस्तुभमणि को छोड़कर अन्य रत्न की अभिलाषा करते हैं। इन्द्र द्वारा वज्र से पर्वतों को तहस-नहस करने की तरह इन्द्रियरूपी शत्रु-चाहे बलवान् हों या कमजोर, उन्हें विवेकरूपी दण्डप्रहार से बारम्बार प्रताड़ित करना चाहिए॥ २०-२१॥

संसाररात्रिदुःस्वप्ने शून्ये देहमये भ्रमे। सर्वमेवापवित्रं तद्दृष्टं संसृतिविभ्रमम्॥ २२॥
अज्ञानोपहतो बाल्ये यौवने वनिताहतः। शेषे कलत्रचिन्तार्तः किं करोति नराधमः॥ २३॥
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि रम्याणां मूर्ध्न्यरम्यता। सुखानां मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम्॥२४

संसाररूपी रात्रि के दु:स्वप्नरूप और सर्वथा शून्यवत् इस शरीररूपी भ्रम में जो भी कुछ मायाजाल का प्रसार देखा है, वह सभी पवित्रता से परे है। बाल्यकाल में अज्ञानता से ग्रसित रहा, युवाकाल में वनिता (स्त्री) के द्वारा आहत किया गया और अब अन्तिम अवस्था में यह अधम मनुष्य स्त्री-पुत्रादि की चिन्ता में आर्त्त (दु:खी) होकर आखिर अपना क्या उपकार कर सकता है? सत् के मूर्द्धा (सिर) पर असत् का बोलबाला है। रमणीकता के ऊपर कुरूपता चढ़ी हुई है। सुखों के ऊपर दु:ख प्रतिष्ठित हैं। ऐसी स्थिति में मैं किस एक का अवलम्बन प्राप्त करूँ?॥ २२-२४॥

येषां निमेषणोन्मेषौ जगतः प्रलयोदयौ। तादृशाः पुरुषा यान्ति मादृशां गणनैव का॥ २५॥
संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते। तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम्॥ २६॥

जिनके निमेष एवं उन्मेष से इस संसार का विनाश एवं उत्पत्ति निश्चित है। इस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष भी जब काल-कवलित हो जाते हैं, तब मुझ जैसे सामान्य पुरुषों की तो गणना ही क्या है। इस नश्वर जगत् को ही दु:खों की अन्तिम परिधि माना गया है, उसमें शरीर के पड़े रहने पर सुखास्वादन किस प्रकार हो सकता है?॥ २५-२६॥

प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दुष्टश्चोरोऽयमात्मनः। मनो नाम निहन्म्येनं मनसास्मि चिरं हृतः॥२७॥
मा खेदं भज हेयेषु नोपादेयपरो भव। हेयादेयदृशौ त्यक्त्वा शेषस्थः सुस्थिरो भव॥ २८॥

मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ, मैं जाग गया हूँ। मेरी आत्मा को चुराने वाला दुष्ट चोर मेरा यह दूषित मन ही है। इसने न जाने मुझे कब अति दीर्घकाल से चुराकर अपने वश में कर लिया है। अब मैं इसे जान गया हूँ। अत: इसको विनष्ट कर डालूँगा। हेय पदार्थों के लिए दु:खित मत हो और उपादेय पदार्थों के प्रति आसक्त मत हो। हेय एवं उपादेय से सम्बन्धित दृष्टि का परित्याग करके शेष में प्रतिष्ठित होकर अवस्थित हो जाओ॥ २७-२८॥

निराशता निर्भयता नित्यता समता ज्ञता। निरीहता निष्क्रियता सौम्यता निर्विकल्पता॥ २९॥
धृतिर्मैत्री मनस्तुष्टिर्मृदुता मृदुभाषिता। हेयोपादेयनिर्मुक्ते ज्ञे तिष्ठन्त्यपवासनम्॥ ३०॥
गृहीततृष्णाशबरीवासनाजालमाततम्। संसारवारिप्रसृतं चिन्तातन्तुभिराततम्॥ ३१॥
अनया तीक्ष्णया तात छिन्धि बुद्धिशलाकया। वात्ययेवाम्बुदं जालं छित्त्वा तिष्ठ तते पदे॥३२॥

इस नश्वर जगत् की ओर से निराशा, निर्भयता, नित्यता, अभिज्ञता, समता, निष्कामता, निष्क्रियता, सौम्यता, धृति, निर्विकल्पता, मैत्री, सन्तोष, मृदुता एवं मृदुभाषण आदि गुण वासनारहित तथा हेय (हीन) और उपादेय (उपयोगी) के प्रभाव से रहित प्रज्ञावान् पुरुष में निवास करते हैं। तृष्णारूपिणी भीलनी के द्वारा विस्तीर्ण किये हुए वासना रूपी जाल से तुम आबद्ध किये गये हो, चिन्ता रूपी रश्मियों के द्वारा संसार रूपी मृग-मरीचिकात्मक जल चतुर्दिक् फैला दिया गया है। हे पुत्र निदाघ! जिस तरह बवण्डर से मेघ रूपी जाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही इस ज्ञानरूपी तीव्र बर्छी से उसे नष्ट करके अपने व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ २९-३२॥

मनसैव मनश्छित्त्वा कुठारेणेव पादपम्। पदं पावनमासाद्य सद्य एव स्थिरो भव॥ ३३॥
तिष्ठन्गच्छन्स्वपञ्जाग्रन्निवसन्नुत्पतन्पतन्। असदेवेदमित्यन्तं निश्चित्यास्थां परित्यज॥ ३४॥

दृश्यमाश्रयसीदं चेत्तत्सच्चित्तोऽसि बन्धवान्। दृश्यं संत्यजसीदं चेत्तदाऽचित्तोऽसि मोक्षवान्॥

जिस प्रकार वृक्ष द्वारा प्रदत्त बेंट का सान्निध्य पाकर कुल्हाड़ी वृक्ष को ही काट डालती है, उसी प्रकार मन के द्वारा ही मन को काटकर परम पावन अविनाशी पद को अतिशीघ्र प्राप्त करके स्थिर हो जाओ। खड़े रहते, चलते, जागते, सोते, निवास करते, बैठते, उठते तथा गिरते समय भी ये सभी कुछ असत् ही है; इस प्रकार का दृढ़ निश्चय रखो। दृश्य पदार्थों से आस्था का परित्याग कर दो; क्योंकि यदि दृश्य पदार्थ का आश्रय प्राप्त करते हो, तो चित्तमय होकर बन्धन में पड़ते हो तथा यदि दृश्य पदार्थ का पूरी तरह से त्याग करते हो, तो चित्त शून्यता के कारण मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी बनते हो॥ ३३-३५॥

नाहं नेदमिति ध्यायंस्तिष्ठ त्वमचलाचलः। आत्मनो जगतश्चान्तर्द्रष्टृदृश्यदशान्तरे॥ ३६॥
दर्शनाख्यं स्वमात्मानं सर्वदा भावयन्भव। स्वाद्यस्वादकसंत्यक्तं स्वाद्यस्वादकमध्यगम्॥ ३७॥
स्वदनं केवलं ध्यायन्परमात्ममयो भव। अवलम्ब्य निरालम्बं मध्येमध्ये स्थिरो भव॥ ३८॥

न मैं स्वयं हूँ और न ही यह संसार है, ऐसा चिन्तन करते हुए तुम पर्वत की भाँति अडिग होकर निवास करो। आत्मा एवं जगत् के मध्य द्रष्टा एवं दृश्य आदि इन दोनों स्थितियों के मध्य अपने आपको सदैव दर्शन स्वरूप आत्मा को ही मानते रहो। स्वादयुक्त पदार्थ एवं उस स्वाद युक्त पदार्थ के चखने वाले 'कर्त्ता' से भिन्न और इन दोनों के बीच में केवल स्वाद का चिन्तन करते हुए परमात्मस्वरूप होकर प्रतिष्ठित हो जाओ। बीच-बीच में अवलम्बन रहित स्थिति का आश्रय प्राप्त करके एक स्थान पर स्थित हो जाओ॥ ३६-३८॥

रज्जुबद्धा विमुच्यन्ते तृष्णाबद्धा न केनचित्। तस्मान्निदाघ तृष्णां त्वं त्यज संकल्पवर्जनात्॥३९॥ एतामहंभावमयीमपुण्यां छित्त्वाऽनहंभावशलाकयैव। स्वभावजां भव्यभवान्तभूमौ भव प्रशान्ताखिलभूतभीतिः॥ ४०॥ अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम्। नाहमेभिर्विना किंचिन्न मयैते विना किल॥ ४१॥ इत्यन्तर्निश्चयं त्यक्त्वा विचार्य मनसा सह। नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते॥ ४२॥ अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वतो लीलया क्रियाम्। यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो ब्रह्मन्प्रकीर्तितः॥ ४३॥

रज्जु (रस्सी) से बँधे हुए लोग तो मुक्त हो जाते हैं, लेकिन तृष्णा से आबद्ध प्राणि-समूह किसी के द्वारा भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कराये जा सकते। इसलिए हे पुत्र निदाघ! तुम संकल्प का त्याग करते हुए तृष्णा को छोड़ने का प्रयास करो। अहंभाव से रहित इस बर्छी के द्वारा अहंभाव से युक्त, स्वभावतः प्रादुर्भूत हुई पापमयी इस तृष्णा को काटकर समस्त प्राणिवर्ग को उत्पन्न होने वाले भय से निर्भय होकर सौन्दर्ययुक्त परमार्थ लोक में भ्रमण करो। मैं इन समस्त पदार्थों का हूँ और ये सभी मेरे जीवन हैं, इनके अभाव में मैं कुछ भी नहीं हूँ और न ही ये मेरे बिना कुछ हैं; अपने अन्तर्मन के द्वारा इस संकल्प को छोड़ दो। मन से विचार करो कि मैं इन पदार्थों का नहीं हूँ और ये पदार्थ मेरे नहीं हैं, इस प्रकार की दृढ़ भावना करो। स्थिर शान्त चित्त से चिन्तन करते हुए विचारपूर्वक अपने कार्यों को सामान्य ढंग से सम्पन्न करते हुए जो वासना का त्याग किया जाता है, हे ब्रह्मन्! वही वास्तविक ध्येय कहा गया है॥ ३९-४३॥

सर्वं समतया बुद्ध्या यः कृत्वा वासनाक्षयम्। जहाति निर्ममो देहं नेयोऽसौ वासनाक्षयः॥४४॥
अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः। तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४५॥

जो पुरुष समत्व बुद्धि के द्वारा सदैव के लिए वासना का परित्याग करके ममतारहित हो जाता है, उसी से शरीर के बन्धनों का भी त्याग किया जा सकता है। इस कारण वासना का त्याग ही परम कर्त्तव्य है। जो मनुष्य

अहंकार से युक्त वासना को सहजतापूर्वक त्याग करके, ध्येय वस्तु का सम्यक् रूपेण परित्याग करके प्रतिष्ठित होता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ४४-४५ ॥

निर्मूलं कलनां त्यक्त्वा वासनां यः शमं गतः । ज्ञेयं त्यागमिमं विद्धि मुक्तं तं ब्राह्मणोत्तमम् ॥४६ ॥

जो मनुष्य संकल्परूप वासना को मूलसहित छोड़कर परमशक्ति को प्राप्त होता है, उसी का वह श्रेष्ठ त्याग समझने योग्य है। उसी को मुक्त हुआ तथा ब्रह्मवेत्ताओं में अनुपम जानो ॥ ४६ ॥

द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेतौ विगतज्वरौ। आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतौ॥ ४७॥
संन्यासियोगिनौ दान्तौ विद्धि शान्तौ मुनीश्वर। ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु ॥४८ ॥
सुषुप्तवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते । हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ॥ ४९ ॥
न हृष्यति ग्लायति यः परामर्शविवर्जितः । बाह्यार्थवासनोद्भूता तृष्णा बद्धेति कथ्यते ॥ ५० ॥

ये दोनों ही ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करते हैं, ये ही दोनों-सांसारिक ताप से मुक्त हैं। हे मुने! शम-दम से युक्त संन्यासी एवं योगी किसी भी काल में आ पड़ने वाले सुखों व दुःखों से युक्त नहीं होते। जिसके अन्तःकरण में इच्छा एवं अनिच्छा दोनों ही समाप्त हो गई है और जो सुषुप्तावस्था का आचरण करता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है; जो वासनाओं से रहित है, वह हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध, काम एवं कार्पण्य की दृष्टि से न तो आनन्दित होता है और न ही दुःखी होता है। जो तृष्णा बाहर के विषयों की वासना से प्रकट होती है, वह बन्धन डालने वाली कही गयी है॥ ४७-५० ॥

सर्वार्थवासनोन्मुक्ता तृष्णा मुक्तेति भण्यते। इदमस्तु ममेत्यन्तमिच्छां प्रार्थनयान्विताम्॥ ५१ ॥
तां तीक्ष्णशृङ्खलां विद्धि दुःखजन्मभयप्रदाम्। तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा॥ ५२ ॥
संत्यज्य परमोदारं पदमेति महामनाः। बन्धास्थामथ मोक्षास्थां सुखदुःखदशामपि॥ ५३ ॥
त्यक्त्वा सदसदास्थां त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत्। जायते निश्चयः साधो पुरुषस्य चतुर्विधः ॥५४ ॥
आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः । इत्येको निश्चयो ब्रह्मन्बन्धायासविलोकनात्॥ ५५ ॥
अतीतः सर्वभावेभ्यो वालाग्रादप्यहं तनुः । इति द्वितीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम् ॥५६ ॥
जगज्जालपदार्थात्मा सर्व एवाहमक्षयः। तृतीयो निश्चयश्चोक्तो मोक्षायैव द्विजोत्तम॥ ५७ ॥

जो तृष्णा सभी तरह के विषयों की वासना से रहित होती है, वह मोक्ष प्रदाता होती है। प्रार्थना के द्वारा किसी भी वस्तु के प्राप्ति की कामना ही दुःख, भय एवं जन्म प्रदात्री होती है। उसे घोर बन्धनस्वरूपा जानो। महात्माजन सत्-असत्रूप समस्त पदार्थों की इच्छा-आकांक्षा का हमेशा के लिए पूर्णरूपेण परित्याग करके परमउदार पद को प्राप्त करते हैं। बन्धन की सत्ता में आस्था एवं मोक्ष की आस्था तथा सुख-दुःख स्वरूपा सत् एवं असत् की आस्था-विश्वास का सदैव के लिए त्याग करके प्रशान्त महासागर के सदृश प्रतिष्ठित हो जाओ। हे महात्मन्! पुरुष के चार तरह के निश्चय होते हैं, जिनमें से प्रथम निश्चय यह है कि 'पैर से सिर तक मेरी संरचना मेरे माता-पिता के संयोग से हुई है। हे ब्रह्मन्! अब द्वितीय निश्चय सुनें। बन्धन में दुःखों का अवलोकन कर 'मैं सभी तरह के जागतिक-प्रपञ्चों-विकारों से परे बाल के अग्रभाग से भी अतिसूक्ष्म आत्मा हूँ।' यह निश्चय ज्ञानीजनों को मोक्ष दिलाने वाला कहा गया है। हे विप्रवर! तृतीय निश्चय यह है कि 'मैं सम्पूर्ण चराचर जगत् के पदार्थों की आत्मा हूँ, सर्वरूप एवं क्षयरहित हूँ' इस प्रकार से यह तीसरा निश्चय मनुष्य की मुक्ति का विशेष कारण होता है॥ ५१-५७॥

अहं जगद्वा सकलं शून्यं व्योम समं सदा। एवमेष चतुर्थोऽपि निश्चयो मोक्षसिद्धिदः ॥ ५८ ॥
एतेषां प्रथमः प्रोक्तस्तृष्णया बन्धयोग्यया। शुद्धतृष्णास्त्रयः स्वच्छा जीवन्मुक्ता विलासिनः ॥५९
सर्वं चाप्यहमेवेति निश्चयो यो महामते। तमादाय विषादाय न भूयो जायते मतिः ॥६० ॥

अब चौथा निश्चय सुनें, 'मैं या जगत् सभी कुछ आकाश की भाँति शून्य है।' यह चतुर्थ निश्चय पुरुष के लिए मोक्ष प्रदान करने वाला कहा गया है। इनमें से प्रथम निश्चय बन्धन में बाँधने वाला तथा तृष्णा (बन्धनभूता) से युक्त है। शेष तीनों निश्चय स्वच्छ, शुद्ध तृष्णा (बन्धनरहित) से समन्वित होते हैं तथा इन तीनों निश्चयों से युक्त मनुष्य जीवन्मुक्त एवं आत्मतत्त्व में विलास करने वाले होते हैं। हे परमश्रेष्ठ ज्ञानवान् मुने! 'मैं ही सभी कुछ हूँ।' ऐसा जो दृढ़ निश्चय (संकल्प) है, उसे धारण करके बुद्धि पुनः विषाद को प्राप्त नहीं करती ॥ ५८-६० ॥

शून्यं तत्प्रकृतिर्माया ब्रह्मविज्ञानमित्यपि। शिवः पुरुष ईशानो नित्यमात्मेति कथ्यते ॥ ६१ ॥
द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जगन्निर्माणलीलया। परमात्ममयी शक्तिरद्वैतैव विजृम्भते ॥ ६२ ॥
सर्वातीतपदालम्बी परिपूर्णैकचिन्मयः। नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नावसीदति ॥ ६३ ॥

आत्मा के नाम से कहा जाने वाला शून्य ही प्रकृति, माया, ब्रह्मज्ञान, पुरुष, ईशान, शिव, नित्य एवं ब्रह्मज्ञान आदि के नाम से जाना जाता है। परमात्मस्वरूपा अद्वैत शक्ति ही द्वैत एवं अद्वैत से प्रादुर्भूत हुए पदार्थों से संसार के निर्माण की लीला करके विकसित हो रही है। जो सभी तरह के मायाजाल से परे आत्मरूपी पद का आश्रय प्राप्त करके एक पूर्णरूपेण चिन्मयस्थिति में रहकर न कोई उद्योग करते हैं और न ही संतुष्ट होते हैं। इस जागतिक शोक में वे कभी नहीं पड़ते ॥ ६१-६३ ॥

प्राप्तकर्मकरो नित्यं शत्रुमित्रसमानदृक्। ईहितानीहितैर्मुक्तो न शोचति न काङ्क्षति ॥ ६४ ॥
सर्वस्याभिमतं वक्ता चोदितः पेशलोक्तिमान्। आशयज्ञश्च भूतानां संसारे नावसीदति ॥ ६५ ॥

हे पुत्र! जो मनुष्य नित्य प्राप्त कर्मों को करता है, शत्रु एवं मित्र को सम्यक् दृष्टि से देखता है और इच्छा-अनिच्छा से मुक्ति प्राप्त कर चुका है, न विषाद करता है, न किसी भी तरह की वस्तुएँ पाने की आकांक्षा करता है, मृदुभाषी है, प्रश्नों के पूछने पर नम्रतापूर्वक उत्तर देता है तथा समस्त प्राणियों के भावों को जानने में सक्षम है; वही मनुष्य इस विश्व में विषाद को प्राप्त नहीं होता ॥ ६४-६५ ॥

पूर्वां दृष्टिमवष्टभ्य ध्येयत्यागविलासिनीम्। जीवन्मुक्ततया स्वस्थो लोके विहर विज्वरः ॥ ६६ ॥
अन्तःसंत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः। बहिःसर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः ॥ ६७ ॥

प्रथम दृष्टि (आत्मदृष्टि) को लक्ष्य करके विलास की कामना का त्याग करके सांसारिक ताप से रहित होकर तथा अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होकर इस संसार में जीवन्मुक्त की तरह से भ्रमण करो। सभी प्रकार की आशाओं को हृदय से निकाल कर, वीतराग तथा वासना-रहित होकर बाह्य-मन से सभी सांसारिक रीति-रिवाजों का सम्यक् रूप से पालन करते हुए जगत् में तापविहीन होकर निरन्तर प्रवहमान रहो ॥ ६६-६७ ॥

बहिःकृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः।
कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर शुद्धधीः ॥ ६८ ॥
त्यक्ताहंकृतिराश्वस्तमतिराकाशशोभनः।
अगृहीतकलङ्काङ्को लोके विहर शुद्धधीः ॥ ६९ ॥

बाह्य वृत्ति से बनावटी क्रोध का अभिनय करते हुए एवं हृदय से क्रोधरहित, बाहर से कर्त्ता एवं अन्दर से अकर्त्ता बने रहकर शुद्धभाव से जगत् में सर्वत्र रमण करो। अहं को त्यागकर शान्त चित्त हो, कलङ्क रूपी कालिमा से सदैव के लिए मुक्त हो जाओ। आकाश के सदृश शुद्ध-परिष्कृत जीवन प्राप्त करके पवित्र सद्बुद्धि को धारण करके लोक में विचरण करो॥ ६८-६९ ॥

उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान्। अन्तःसङ्गपरित्यागी बहिःसंभारवानिव॥ ७० ॥
अन्तर्वैराग्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः। अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम्॥ ७१ ॥
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्। भावाभावविनिर्मुक्तं जरामरणवर्जितम्॥ ७२ ॥
प्रशान्तकलनारम्यं नीरागं पदमाश्रय। एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया॥७३ ॥

उदार एवं उत्तम आचरण से सम्पन्न, सभी श्रेष्ठ आचार-विचारों का अनुगमन करते हुए अन्दर से आसक्ति-रहित होते हुए भी बाहर से सतत प्रयत्न करता रहे। अन्तःकरण में पूरी तरह से वैराग्य को धारण करते हुए बाहर से आशावादी बनकर श्रेष्ठ व्यवहार करे। यह मेरा अपना (मित्र) है और वह नहीं है, ऐसे निकृष्ट विचार क्षुद्र मनुष्यों के होते हैं। उदार चरित वालों के लिए तो समस्त वसुधा ही अपना परिवार है। जो व्यक्ति भाव-अभाव से मुक्ति प्राप्त कर सका है, जन्म-मृत्यु से परे है, जहाँ पर सभी संकल्प सम्यक् रूप से शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसे रागविहीन तथा रमणीक पद का अवलम्बन ग्रहण करो। यह पवित्र, निष्काम, दोषरहित ब्राह्मी स्थिति है॥ ७०-७३ ॥

आदाय विहरन्नेवं संकटेषु न मुह्यति। वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि॥ ७४ ॥
यत्संकल्पहरार्थं तत्स्वयमेवोन्नयन्मनः । वैराग्यात्पूर्णतामेति मनो नाशवशानुगम् ॥ ७५ ॥
आशया रक्ततामेति शरदीव सरोऽमलम् । तमेव भुक्तिविरसं व्यापारौघं पुनःपुनः ॥ ७६ ॥
दिवसे-दिवसे कुर्वन्प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते। चिच्चैत्यकलितो बन्धस्तन्मुक्तौ मुक्तिरुच्यते॥७७ ॥

इसको स्वीकार करके विहार करता हुआ मनुष्य विपत्तिकाल में भी मोहग्रस्त नहीं होता। शास्त्रों के ज्ञान से या फिर वैराग्य से और महान् सद्गुणों के द्वारा जिस संकल्प को विनष्ट किया जाता है, उससे मन स्वतः ही उन्नतावस्था को प्राप्त होने लगता है। निराशा के वश में हुआ जो मन वैराग्य के द्वारा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, वही आशान्वित होने पर शरत्कालीन ऋतु में स्वच्छ सरोवर की भाँति राग युक्त हो जाता है; किन्तु भोगों से विरक्त हुए मन को बार-बार प्रत्येक दिन रागादि व्यापारों में डालते हुए ज्ञानी पुरुष लज्जित क्यों नहीं होते? चित् एवं विषय का योग ही बन्धन कहलाता है। उस योग से छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष कहलाता है॥ ७४-७७ ॥

चिदचैत्या किलात्मेति सर्वसिद्धान्तसंग्रहः। एतन्निश्चयमादाय विलोकय धियेद्धया॥ ७८ ॥
स्वयमेवात्मनात्मानमानन्दं पदमाप्स्यसि। चिदहं चिदिमे लोकाश्चिदाशाश्चिदिमाः प्रजाः ॥ ७९ ॥
दृश्यदर्शननिर्मुक्तः केवलामलरूपवान्। नित्योदितो निराभासो द्रष्टा साक्षी चिदात्मकः ॥ ८० ॥

निश्चय पूर्वक विषयरहित चित् को ही आत्मा कहा गया है, यही समस्त वेदान्त-सिद्धान्त का सार है। इस विचार को सत्य मानकर प्रदीप्त अन्तःकरण के द्वारा स्वयमेव अपने आप को देखो। इसमें असीम आनन्द पद की प्राप्ति होगी। मैं चित् स्वरूप हूँ। ये समस्त लोक चित् हैं, दिशाएँ एवं ये सभी प्राणि-समुदाय भी चित् स्वरूप हैं। दृश्य एवं दर्शन से छुटकारा प्राप्त करके, मात्र परिष्कृत स्वरूप वाला साक्ष्यरूप चिदात्मा आभासरहित एवं नित्य प्रादुर्भूत होकर द्रष्टा बन रहा है॥ ७८-८० ॥

चैत्यनिर्मुक्तचिद्रूपं पूर्णज्योतिःस्वरूपकम्। संशान्तसर्वसंवेद्यं संविन्मात्रमहं महत्॥ ८१ ॥

संशान्तसर्वसंकल्पः प्रशान्तसकलैषणः। निर्विकल्पपदं गत्वा स्वस्थो भव मुनीश्वर॥ ८२॥

मैं विषय वासनाओं से मुक्त होकर पूर्णरूपेण ज्योतिरूप होकर समस्त संवेदना से पूरी तरह से मुक्त होकर चित्स्वरूप और महान् संवित् (ज्ञानमय) हूँ। हे मुने! सभी संकल्पों को पूर्णरूपेण शान्त करके, सभी कामनाओं को त्यागकर निर्विकल्प पद में प्रविष्ट होकर आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ ८१-८२॥

य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणो नित्यमधीते। अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति। अनुपनीत उपनीतो भवति। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सूर्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वैर्देवैरनुध्यातो भवति। स सर्वक्रतुभिरिष्टवान्भवति। गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। इतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आचक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति। आसप्तमान्पुरुषयुगान्पुनाति। इत्याह भगवान्हिरण्यगर्भः। जप्येनामृतत्वं च गच्छतीत्युपनिषत्॥८३॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण इस महोपनिषद् का प्रतिदिन पाठ करता है, वह यदि अश्रोत्रिय होता है, तो श्रोत्रिय हो जाता है। यदि वह उपनीत नहीं है, तो उपनीत (सदृश) हो जाता है। वह अग्नि के समान पवित्र होता है, वायु की भाँति परिष्कृत तथा वह सोमपूत और सत्यपूत हो जाता है। वह सर्वथा पूर्णशुद्ध हो जाता है। वह समस्त देवों में सुपरिचित हो जाता है। उसे सभी तीर्थ-स्थलों के स्नान का फल प्राप्त हो जाता है। वह सभी यज्ञों का अनुष्ठान संकल्प कर लेने में समर्थ हो जाता है। सहस्रों गायत्री महामन्त्र के जप का फल उसे इस उपनिषद् के अध्ययन से मिल जाता है। सहस्रों इतिहास-पुराण एवं रुद्र पाठ का फल उसे प्राप्त हो जाता है। दस सहस्र प्रणव (ओंकार) के जप का फल उसे प्राप्त हो जाता है। जहाँ तक उसकी दृष्टि जाती है, वहाँ तक उस पंक्ति को वह पवित्र कर देता है। भगवान् हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ने कहा है कि इस (उपनिषद्) का जप करने मात्र से अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है। यही इस उपनिषद् का रहस्य है॥ ८३॥

ॐ आप्यायन्तु ....इति शान्तिः॥

॥ इति महोपनिषत्समाप्ता॥

॥ योगकुण्डल्युपनिषद् ॥

यह योगपरक उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम वायुजय (प्राणायाम सिद्धि) के तीन उपाय- १. मिताहार २. आसन एवं ३. शक्तिचालिनी मुद्रा- बताये गये हैं। तदुपरान्त सरस्वती चालन, प्राणायाम के भेद-सूर्यभेदी,उज्जायी,शीतली,भस्त्रिका आदि, तीन बन्ध-मूलबन्ध,उड्डियान बन्ध तथा जालन्धर बन्ध,योगाभ्यास के विघ्न और उनसे बचाव,योगाभ्यास से कुण्डलिनी जागरण,तीन ग्रन्थियों(ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि तथा रुद्रग्रन्थि)का भेदन करके कुण्डलिनी का सहस्रार चक्र में प्रवेश, प्राणादि का शिवतत्त्व में विलीन होना,समाधि अवस्था में सर्वत्र चैतन्य तत्त्व की अनुभूति और समाधियोग जैसे विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय का शुभारम्भ खेचरी मुद्रा के विशद विवेचन से हुआ है। जिसमें खेचरी का स्वरूप, उसकी फलश्रुति,मन्त्र जप से खेचरी की सिद्धि,खेचरी का अभ्यास क्रम आदि का विस्तृत वर्णन है। तृतीय अध्याय में खेचरी मेलन (खेचरी सिद्धि) का मन्त्र उल्लिखित हुआ है,तदुपरान्त अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा के दृष्टान्त से साधक की दृष्टि का उल्लेख है। इसके बाद प्राणायाम के अभ्यास से विराट् के रूप की उत्पत्ति (सिद्धि),अभ्यास के बिना आत्मा का प्रकाश असम्भव, सद्गुरु के उपदेश से ब्रह्म का ज्ञान, ब्रह्म के विविध अधिष्ठान(वाक् वृत्ति,विश्वादि प्रपंच),परात्परब्रह्म का स्वरूप,ब्रह्म प्राप्ति का उपाय- ध्यान तथा अन्त में जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार योग के सभी प्रमुख विषयों को प्रस्तुत करते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः। तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः॥ १ ॥

चित्त (की चंचलता) के दो कारण हैं, वासना अर्थात् पूर्वार्जित संस्कार एवं वायु अर्थात् प्राण; इन दोनों में से एक का भी निरोध हो जाने पर दोनों समाप्त (निरुद्ध) हो जाते हैं॥ १॥

तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा। मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः॥ २ ॥

दोनों में सबसे पहले वायु अर्थात् प्राण पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। प्राणों पर विजय प्राप्त करने के तीन साधन हैं— १. मिताहार २. आसन एवं ३. शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास॥ २॥

एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम्। सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ॥ ३ ॥
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते। आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा॥ ४ ॥

हे गौतम! अब तुम्हें इनका (मिताहार का) लक्षण कहता हूँ, सादर (ध्यानपूर्वक) सुनो। सबसे पहले साधक को चाहिए कि वह स्निग्ध एवं मधुर भोजन (आधा पेट) करे, (उसका आधा भाग पानी) एवं चौथाई भाग (हवा के लिए) खाली रखे। इस तरह से शिव (कल्याण) के निमित्त भोजन करने को मिताहार कहते हैं। (प्राणजय के लिए प्रमुख) आसन दो कहे गये हैं—पहला है पद्मासन, दूसरा है वज्रासन॥ ३-४॥

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा। पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम्॥ ५ ॥

दोनों पैरों की जंघाओं पर एक दूसरे के ऊपर तलवों को सीधा (ऊपर की ओर) करके रखने से सभी पापों का विनाश करने वाला पद्मासन होता है॥ ५॥

वामाङ्घ्रिमूलकन्दाधो ह्यन्यं तदुपरि क्षिपेत्। समग्रीवशिरःकायो वज्रासनमितीरितम्॥ ६ ॥

गर्दन, सिर एवं शरीर को एक सीध में रखकर बायें पैर की एड़ी को सीवन (योनि) स्थान में तथा दायें पैर की एड़ी उसके ऊपर लगाकर बैठने को वज्रासन कहा जाता है॥ ६॥

[वैसे तो यह लक्षण सिद्धासन का है, परन्तु हठयोग प्रदीपिका जैसे ग्रन्थों में भी इसे वज्रासन कहा गया है; जबकि वर्तमान में दोनों घुटने मोड़कर दोनों एड़ियों पर बैठने की स्थिति 'वज्रासन' कही जाती है।]

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्बुधः। स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते॥ ७

प्रमुख शक्ति कुण्डलिनी कही गई है, बुद्धिमान् साधक उसे चालन क्रिया के द्वारा नीचे से ऊपर दोनों भृकुटियों के मध्य ले जाता है, इसी क्रिया को शक्तिचालिनी कहते हैं॥ ७॥

तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम्। प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत्॥८ ॥

मुख्य रूप से कुण्डलिनी चलाने (जगाने) के दो साधन कहे गये हैं, सरस्वती चालन एवं प्राणरोध (प्राणायाम)। प्राणों के निरोध के अभ्यास से लिपटी हुई कुण्डलिनी सीधी हो जाती है॥ ८॥

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते। अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती॥ ९ ॥

इस प्रकार पहले तुमको 'सरस्वती चालन' के बारे में बताता हूँ। प्राचीन काल के विद्वान् इस सरस्वती को अरुंधती भी कहते थे॥ ९॥

यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली। इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम्॥१०॥

जिस समय इड़ा नाड़ी चल रही हो, उस समय दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर इसके (सरस्वती के) भली प्रकार संचालन करने से कुण्डलिनी स्वयं चलने (जाग्रत् होने) लगती है॥ १०॥

द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम्। विस्तीर्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः॥ ११ ॥

फिर उस नाड़ी को द्वादश अंगुल लम्बे और चार अंगुल चौड़े अम्बर (वस्त्र) के टुकड़े से लपेटे॥ ११॥

[यहाँ कुण्डलिनी नाड़ी (कन्दस्थान) को १२ अंगुल लम्बे और ४ अंगुल चौड़े वस्त्र से लपेटने का उल्लेख योग-साधना पद्धतियों के अनुकूल किया गया है। घेरंड संहिता तथा हठयोग प्रदीपिका (३.११३) में इसी तरह की बात कही गई है। घेरंड संहिता में इतने स्थान पर श्वेत-कोमल वस्त्र लपेटकर पूरे शरीर में भस्म मलने की बात है और हठयोग प्रदीपिका में उस स्थान को उतने परिमाण से लिपटे वस्त्र जैसा कहा गया है।]

अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्। स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनःपुनः॥ १२ ॥

तब दृढ़तापूर्वक दोनों नासा छिद्रों को अङ्गुष्ठ एवं तर्जनी से पकड़कर अपनी (इच्छा) शक्ति से पहले बायें, फिर दायें नासिका के छिद्र से बार-बार रेचक और पूरक करे॥ १२॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः। ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम्॥ १३ ॥

इस तरह निर्भय होकर दो मुहूर्त (= ४ घटी= ९६ मिनट) तक इसको चलाना चाहिए, साथ ही कुण्डलिनी में स्थित सुषुम्ना नाड़ी को किंचित् मात्र ऊपर खींचे॥ १३॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत्। जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥१४॥

इस तरह से (सरस्वती चालन क्रिया से) कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के मुख में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी हो जाती है। इसके साथ ही प्राण अपना स्थान छोड़कर सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है॥ १४॥

तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसंकोचने कृते। सरस्वत्याश्चालनेन वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत्॥१५॥

कण्ठ संकोचन के सहित पेट को ऊपर की ओर खींचकर इस सरस्वती चालन से वायु ऊर्ध्वगामी होकर वक्षस्थल से भी ऊपर चला जाता है॥ १५॥

सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने। कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत्॥ १६॥

सरस्वती चालन करते समय सूर्य नाड़ी (दाहिने स्वर) के द्वारा रेचक करते हुए कण्ठ संकोचन करने से (अधोगत) वायु वक्षस्थल से ऊपर की ओर गमन कर जाता है॥ १६॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम्। यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते॥ १७॥

इसलिए नियमित रूप से शब्दगर्भा (शब्दमयी) सरस्वती संचालन करना चाहिए अर्थात् उक्त 'सरस्वती चालन' क्रिया करनी चाहिए। इसका संचालन करने वाला योगी सभी प्रकार के रोगों से मुक्त हो जाता है॥ १७॥

गुल्मं जलोदरः प्लीहा ये चान्ये तुन्दमध्यगाः। सर्वे तु शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम्॥१८॥

इस शक्तिचालन क्रिया से जलोदर, गुल्म, प्लीहा एवं पेट के समस्त रोग निश्चित ही समाप्त हो जाते हैं॥

प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः। प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः॥ १९॥

अब प्राणों का निरोध अर्थात् प्राणायाम करने की विधि बतलाते हैं। शरीर में संचरण करने वाली वायु को प्राण कहा जाता है, उसे जब (प्राणायाम के द्वारा) स्थिर किया जाता है, तब उसे कुम्भक कहते हैं॥ १९॥

स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा। यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत्॥२०॥

यह कुम्भक दो प्रकार का बताया गया है- १. सहित तथा २. केवल। सहित कुम्भक का अभ्यास तब तक करते रहना चाहिए, जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाये॥ २०॥

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका। भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः॥२१॥

सूर्यभेदन,उज्जायी,शीतली और भस्त्रिका-ये चार कुम्भक के भेद 'सहित कुम्भक' कहलाते हैं॥ २१॥

पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते। धनुः प्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते॥ २२॥
पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे। बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम्॥ २३॥

जहाँ पर कंकड़-पत्थर आदि न हो, आस-पास घास, अग्नि, जल और शीत आदि न हो, पवित्र एवं एकान्त स्थान हो, वहाँ पर न अति नीचा, न अति ऊँचा, सुख देने वाला आसन बिछाकर बद्ध पद्मासन लगाकर सरस्वती चालन क्रिया करनी चाहिए॥ २२-२३॥

दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः। यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः॥ २४॥

श्वास द्वारा धीरे-धीरे दाहिनी नासिका से बाहरी वायु को खींचकर पर्याप्त मात्रा में उदर में भरे, तत्पश्चात् बायीं नासिका-इड़ा से रेचन करना चाहिए॥ २४॥

कपालशोधने वापि रेचयेत्पवनं शनैः। चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च॥ २५॥

कपालशोधन क्रिया में भी धीरे-धीरे वायु का रेचन करना चाहिए। इस प्रकार करने से चारों तरह के वातदोष तथा कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं॥ २५॥

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्। मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः॥ २६॥
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम्। पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः॥ २७॥
शीर्षोदितानलहरं गलश्लेष्महरं परम्। सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम्॥ २८॥
नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम्। गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्॥ २९॥

इस क्रिया का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए, सूर्यभेदन इसी क्रिया का नाम है। (उज्जायी प्राणायाम का का वर्णन) मुँह बंद रखते हुए दोनों नासा छिद्रों से वायु को धीरे-धीरे इस प्रकार खींचना चाहिए कि प्रवेश के साथ श्वास से ध्वनि होती रहे। इस प्रकार हृदय एवं कण्ठ तक वायु को भरे। पुनः पहले की तरह कुम्भक करके

बायें नासा छिद्र से रेचन करना चाहिए, इसके करने से सिर की गर्मी, गले का कफ दूर हो जाता है, जठराग्नि बढ़ती है, नाड़ी जलोदर तथा धातुरोग भी समाप्त हो जाते हैं। उज्जायी नामक इस कुम्भक को स्थिर रहते अथवा चलते-फिरते कभी भी करते रहना चाहिए॥ २६-२९ ॥

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु। शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः॥ ३०॥
गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम्। विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च॥

शीतली प्राणायाम में जिह्वा के द्वारा वायु को खींचकर पहले की तरह कुम्भक करके नासिका से वायु को धीरे-धीरे निकाले। इसके करने से प्लीहा, गुल्म,पित्त, ज्वर,तृषा आदि रोगों का शमन होता है॥ ३०-३१ ॥

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः। मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत्॥ ३२॥
यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः। वेगेन पूरयेत् किंचिद्धृत्पद्मावधि मारुतम्॥ ३३॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः। यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते॥ ३४॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः। यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत्॥ ३५॥
यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु। धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम्॥ ३६॥
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्। कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम्॥ ३७॥
कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम्। ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम्॥ ३८॥
गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम्। विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्॥ ३९॥

भस्त्रिका प्राणायाम के लिए पद्मासन में बैठकर शरीर को गर्दन सहित सीधा करके सर्वप्रथम मुख को बन्द करके नासिका के द्वारा वायु को बाहर निकाले। पुनः इस तरह तीव्रता के साथ वायु को खींचे कि वायु का स्पर्श कण्ठ, तालु, सिर एवं हृदय को मालूम पड़े। फिर उसका रेचन करके पुनः पूरक करे, इस तरह बार-बार वेगपूर्वक लुहार की धौंकनी की तरह वायु को खींचे एवं निकाले। इस प्रकार शरीरस्थ वायु को सावधानी के साथ चलाना चाहिए। जब थकान मालूम पड़े, तब दाहिने (सूर्य) स्वर से वायु को खींचकर तर्जनी को छोड़कर नासिका को कसकर पकड़कर वायु का कुम्भक करे, फिर बायें नासा(इड़ा)छिद्र से निकाल देना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से कण्ठ की जलन मिटती है एवं जठराग्नि की वृद्धि होती है। यह प्राणायाम सुख देने वाला, पुण्यकारी, पापनाशक तथा कुण्डलिनी को जगाने वाला है। सुषुम्ना नाड़ी के मुख पर जो (बाधक) कफ आदि रहता है, इसके अभ्यास से वह सब नष्ट हो जाता है तथा सत, रज, तम इन तीनों गुणों से उत्पन्न तीनों ग्रंथियों का भेदन करता है। इसलिए विशेष रूप से इस भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥३२-३९ ॥

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते। बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः॥ ४०॥

निष्पाप योगी को इन चारों प्रकार के प्राणायामों के कुम्भक के समय तीन प्रकार के बन्ध (मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध) भी लगाने चाहिए॥ ४० ॥

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः। जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते॥ ४१॥

प्रथम को मूलबन्ध, द्वितीय को उड्डियान बन्ध और तीसरे को जालन्धर बन्ध कहते हैं। अब उनके लक्षण अर्थात् साधना की विधि कहते हैं॥ ४१ ॥

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्। आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते॥ ४२॥

शरीर के अधोभाग में विचरण करने वाले अपान वायु को, गुदा को संकुचित करके बलपूर्वक ऊपर उठाने की प्रक्रिया को मूलबन्ध कहते हैं॥ ४२ ॥

अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले। ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता॥ ४३॥
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्। तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा॥ ४४॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते। दण्डाहतभुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥ ४५॥

अपान वायु ऊर्ध्वगमन करके जब वह्निमण्डल से योग करता है, उस समय वायु से आहत होकर अग्नि बहुत तेज हो जाती है। तत्पश्चात् उष्ण स्वरूप वाले प्राण में अग्नि और अपान के मिल जाने पर, उसके प्रभाव से देहजन्य विकार जल जाते हैं। (इसके बाद) उस अग्नि से तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होकर प्रताड़ित की हुई सर्पिणी के समान फुंकारती हुई सीधी हो जाती है॥ ४३-४५॥

बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्। तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥४६॥

उस समय यह अग्नि (कुण्डलिनी) विवर में प्रवेश करने की तरह सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश कर जाती है, इसलिए इस मूलबन्ध का अभ्यास योगियों को सदैव करते रहना चाहिए॥ ४६॥

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः। बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः॥ ४७॥
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः। सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम्॥४८॥
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्। पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्धृदये गले॥ ४९॥
शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धिं निगच्छति। तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः॥ ५०॥

कुम्भक करके जब रेचक करते हैं, उससे पहले उड्डियान बन्ध किया जाता है, जिसके करने से यह प्राण सुषुम्ना नाड़ी के भीतर ऊर्ध्वगमन करता है, इसीलिए योगीजनों द्वारा यह 'उड्डीयाण' कहलाता है। इसके लिए वज्रासन में बैठकर पैरों पर दोनों हाथों को दृढ़ता पूर्वक रखे। जहाँ गुल्फ (टखना) रखा जाता है, उसके समीपस्थ कन्द को दबाते हुए, पेट को ऊपर की ओर खींचते हुए, गला एवं हृदय को भी तनाव देते हुए खींचना चाहिए, इस प्रकार प्राण धीरे-धीरे पेट की सन्धियों में प्रवेश कर जाता है, इससे पेट के समस्त विकार दूर हो जाते हैं। इसलिए इस क्रिया को निरन्तर करते रहना चाहिए॥ ४७-५०॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः। कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः॥ ५१॥

पूरक के अन्त में वायु को रोकने के लिए कण्ठ संकोचन क्रिया करते हैं, जिसे जालन्धर बन्ध कहते हैं॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते। मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥ ५२॥

मूलबन्ध के द्वारा अधोभाग में गुदा का संकोचन करके कण्ठ संकोचन अर्थात् जालन्धर बन्ध करे, बीच में (पेट में) उड्डियान बन्ध के द्वारा प्राण वायु को खींचना चाहिए। इस तरह प्राण को सब ओर से रोकने से वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी होता है॥ ५२॥

पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः। चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत्॥ ५३॥

पूर्व में बतायी गयी विधि से ठीक तरह से आसन पर बैठकर 'सरस्वती चालन' के द्वारा प्राणों का निरोध करना चाहिए॥ ५३॥

प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम्। प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा॥ ५४॥
विंशत्यलं तृतीयेऽह्नि पञ्चवृद्ध्या दिनेदिने। कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः॥५५॥

चारों प्रकार के कुम्भक को पहले दिन दस-दस बार किया जाता है, दूसरे दिन पन्द्रह-पन्द्रह बार कुम्भक करे। प्राणायाम के क्रम में तीसरे दिन बीस-बीस बार अभ्यास करे। इस प्रकार प्रतिदिन पाँच-पाँच संख्या में बढ़ाता चले। कुम्भक का अभ्यास तीनों बन्धों के साथ प्रतिदिन करना चाहिए॥ ५४-५५॥

दिवा सुप्तिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात्। बहुसंक्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः॥ ५६॥
विषमासनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात्। शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्यदि संयमी॥ ५७॥

दिन में सोना, रात्रि का जागरण, अतिमैथुन, मल एवं मूत्र के वेग को रोकना, ज्यादा चलना, आसनों का उचित ढंग से अभ्यास न करना, प्राणायाम की क्रिया में बहुत शक्ति लगाना तथा चिन्तित रहना-इन दोषों के कारण साधक शीघ्र रोगी हो जाता है॥ ५६-५७॥

योगाभ्यासेन मे रोग उत्पन्न इति कथ्यते। ततोऽभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्नमुच्यते॥ ५८॥
द्वितीयं संशयाख्यं च तृतीयं च प्रमत्तता। आलस्याख्यं चतुर्थं च निद्रारूपं तु पञ्चमम्॥ ५९॥
षष्ठं तु विरतिर्भ्रान्तिः सप्तमं परिकीर्तितम्। विषयं चाष्टमं चैव अनाख्यं नवमं स्मृतम्॥ ६०॥
अलब्धिर्योगतत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः। इत्येतद्विघ्नदशकं विचारेण त्यजेद्बुधः॥ ६१॥

मुझे योगाभ्यास के द्वारा रोग हो गया है, यदि कोई साधक यह कहकर अभ्यास बन्द कर दे, तो समझना चाहिए कि योगाभ्यास का यह पहला विघ्न है। दूसरा विघ्न साधना पर शंका करना अर्थात् विश्वास न होना, तीसरा विघ्न प्रमत्तता है, चौथा विघ्न आलस्य करना, पाँचवाँ विघ्न ज्यादा नींद लेना, छठवाँ विघ्न साधना से प्रेम न होना, सातवाँ विघ्न भ्रान्ति, आठवाँ विघ्न विषय-वासना में अनुरक्ति, नवाँ अनाख्य (अप्रसिद्धि या अनाम) और योग तत्त्व का प्राप्त न होना दसवाँ विघ्न है, इस प्रकार ये दस विघ्न हैं, इन पर विचार करके बुद्धिमान् साधक को इनका त्याग कर देना चाहिए॥ ५८-६१॥

प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो नित्यं सत्त्वस्थया धिया। सुषुम्ना लीयते चित्तं तथा वायुः प्रधावति॥६२॥

इसलिए नियमित रूप से सत्त्वमयी बुद्धि से विचार कर प्राणायाम करना चाहिए। इस प्रकार के चिन्तन से चित्त सुषुम्ना नाड़ी में लीन रहता है, जिसके कारण उसमें प्राणों का प्रवाह चलने लगता है॥ ६२॥

शुष्के मले तु योगी च स्याद्गतिश्चलिता ततः। अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्॥ ६३॥

मल शोधन होने के बाद जब प्राण प्रवाहित (गतिशील) होने लगे, तभी बलपूर्वक अपान को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए, उससे पहले नहीं॥ ६३॥

आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते। अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति॥ ६४॥

प्राण को ऊर्ध्वगामी बनाने की प्रक्रिया के लिए गुदा के आकुंचन की क्रिया को मूलबन्ध कहते हैं। इस क्रिया से अपान ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि के साथ संयुक्त होकर ऊपर की ओर चल देता है॥ ६४॥

प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम्। मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः॥
तेनाग्निना च संतप्ता पवनेनैव चालिता। प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्ना वदनान्तरे॥ ६६॥

प्राण के स्थान में जब वह अग्नि पहुँचती है और प्राण तथा अपान दोनों मिलकर कुण्डलिनी में मिलते हैं, उस समय उसकी गर्मी से तप्त होकर एवं वायु के बारम्बार दबाव से कुण्डलिनी सीधी होकर सुषुम्ना के मुँह में प्रवेश कर जाती है॥ ६५-६६॥

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम्। सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत्॥ ६७॥
विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता। ऊर्ध्वं गच्छति यच्चान्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम्॥६८॥

तब यह कुण्डलिनी शक्ति रजोगुण से उत्पादित ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करके विद्युत् शिखा की भाँति सुषुम्ना के मुख में ऊर्ध्वगमन करती है-प्रवेश करती है। (वहाँ से) शीघ्र ही हृदयचक्र में स्थित विष्णुग्रन्थि का भेदन कर उसके भी ऊपर रुद्रग्रन्थि (आज्ञा चक्र) में पहुँच जाती है॥६७- ६८॥

भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम्। अनाहताख्यं यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम्॥६९॥

भृकुटियों के मध्य (आज्ञाचक्र) का भेदन करके यह चन्द्र स्थान में पहुँच जाती है, जहाँ पर षोडश दल वाला अनाहतचक्र स्थित है॥ ६९॥

तत्र शीतांशुसंजातं द्रवं शोषयति स्वयम्। चलिते प्राणवेगेन रक्तं पित्तं रवेर्ग्रहात्॥ ७०॥

यह (कुण्डलिनी शक्ति) वहाँ पर चन्द्रमा के द्वारा निःसृत द्रव को सुखाकर प्राणवायु के वेग से गतिशील होकर, सूर्य से मिलकर, रक्त और पित्त को ग्रहण कर लेती है॥ ७०॥

यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धश्लेष्मद्रवात्मकम्। तत्र सिक्तं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम्॥ ७१॥

वहाँ चन्द्र स्थान में जाकर जहाँ शुद्ध श्लेष्मा द्रवस्वरूप रहता है,उस रस पदार्थ को सोखकर उसे गर्म कर देती है, इस तरह वहाँ शीतलता नहीं रह जाती॥ ७१॥

तथैव रभसा शुक्लं चन्द्ररूपं हि तप्यते। ऊर्ध्वं प्रवहति क्षुब्धा तदैवं भ्रमतेतराम्॥ ७२॥

तब यह शुक्ल रूप चन्द्रमा को शीघ्रता से तपा देती है तथा क्षुब्ध होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है॥ ७२॥

तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्ठं विषयेषु यत्। तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थः स्वात्मरतो युवा॥७३॥

उस स्थिति में उसे अमृतरस का स्वाद मिल जाता है, इसलिए जो मन पहले बाहरी विषयों में भोगरत रहता था, वह अब अन्तर्मुखी होकर स्वयं में स्थित स्वकीय आत्मा में आनन्द की अनुभूति करने लगता है॥७३॥

प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली। क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते॥७४॥

इस तरह से यह कुण्डलिनी शक्ति अष्टधा प्रकृति (पंच तत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) से गमन करते हुए शिव से एकाकार होती है और उन्हीं में विलीन हो जाती है॥ ७४॥

इत्यधोर्ध्वरजः शुक्लं शिवे तदनु मारुतः। प्राणापानौ समौ याति सदा जातौ तथैव च॥ ७५॥

इस प्रकार अधोभाग स्थित रज व ऊर्ध्व स्थित शुक्ल(शुक्र),वायु के वेग से शिव में मिल जाते हैं तथा प्राण व अपान भी शिव में विलीन हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें समान रूप से उत्पन्न होने वाला कहा गया है॥ ७५॥

भूतेऽल्पे चाप्यनल्पे वा वाचके त्वतिवर्धते। धावयत्यखिला वाता अग्निमूषाहिरण्यवत्॥ ७६॥

जिस प्रकार अग्नि की गर्मी से स्वर्ण गलकर फैल जाता है, ठीक उसी प्रकार यह भौतिक शरीर चाहे छोटा हो या बड़ा (कुण्डलिनी की) उष्णता पाकर वह दिव्यशक्ति पूरे शरीर में फैल जाती है॥ ७६॥

आधिभौतिकदेहं तु आधिदैविकविग्रहे। देहोऽतिविमलं याति चातिवाहिकतामियात्॥ ७७॥
जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम्। तस्यातिवाहिकं मुख्यं सर्वेषां तु मदात्मकम्॥७८॥

इस दिव्यशक्ति (कुण्डलिनी) के प्रभाव से यह आधिभौतिक शरीर आधिदैविक शरीर के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा शरीर अत्यन्त पवित्र होकर सूक्ष्म शरीर की तरह हो जाता है। वह जड़ता भाव को छोड़कर विशुद्ध चिन्मय स्वरूप हो जाता है, जबकि शेष मनुष्य अज्ञानग्रस्त ही बने रहते हैं॥ ७८॥

जायाभवविनिर्मुक्तिः कालरूपस्य विभ्रमः। इति तं स्वरूपा हि मती रज्जुभुजङ्गवत्॥ ७९॥
मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते। रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंसोर्भ्रमतो यथा॥ ८०॥

उस साधक को अपने 'स्व' रूप की जानकारी हो जाती है, तब वह भव-बन्धन अर्थात् आवागमन से मुक्त हो जाता है, वह काल के पाश से मुक्त हो जाता है, रस्सी में सर्प, सीपी में चाँदी एवं स्त्री में पुरुष के भ्रम की तरह अपने स्वरूप का ज्ञान होने पर साधक को अपने शरीर की नश्वरता का बोध हो जाता है॥ ७९-८०॥

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि। स्वापाव्याकृतयोरैक्यं स्वप्रकाशचिदात्मनोः॥ ८१॥

इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड तथा सूक्ष्म शरीर एवं सूत्रात्मा के एकाकार होने पर अपनी आत्मा और परम चैतन्य स्वप्रकाशित परमात्मा की एकता का ज्ञान हो जाता है॥ ८१॥

शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा। मूलकन्दं फणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत्॥८२॥
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता। पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः॥ ८३॥
वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन्कुम्भकाविष्टमानसः। वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन्॥ ८४॥

कमल के नाल की तरह कुण्डलिनी शक्ति होती है तथा कमलकन्द की तरह ही मूलकन्द को फणाग्र से देखकर,मुँह में अपने पुच्छ भाग को डालकर ब्रह्मरंध्र(सुषुम्ना नाड़ी)के द्वार को ढककर वह सुप्त पड़ी रहती है। इसके जागरण के लिए पद्मासन में बैठकर गुदा को ऊपर की ओर खींचकर कुम्भक करते हुए वायु को ऊपर की ओर ले जाकर वायु के आघात से स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित अग्नि को प्रज्वलित करना चाहिए॥८२-८४॥

ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट्। ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः॥ ८५॥
रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट्। सहस्त्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते॥ ८६॥
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारिणी॥ ८७॥ इति॥

ऐसा करने से अग्नि और वायु के प्रहार से सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रन्थियों का भेदन करके षट्चक्र का भेदन करती हुई सहस्त्रार कमल में पहुँच जाती है तथा यहाँ वह शक्ति के रूप में शिव में मिलकर आनन्द प्राप्त करती है। यह अवस्था परमानन्ददायी मुक्तिरूप होती है॥ ८५-८७॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथाहं संप्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम्। यथा विज्ञानवानस्या लोकेऽस्मिन्नजरोऽमरः॥१॥

अब खेचरी विद्या का वर्णन करते हैं, जिसे जान लेने के बाद व्यक्ति अजर-अमर हो जाता है॥ १॥

मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने। बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत्॥ २॥

जो मनुष्य जरा, मृत्यु और रोगों से ग्रसित है, वह दृढ़ निश्चय करके खेचरी विद्या का अभ्यास करे॥ २॥

जरामृत्युगदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले। ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः॥ ३॥
तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत्। दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः॥ ४॥

बुढ़ापा, मृत्यु और रोगों का विनाश करने वाली इस खेचरी को इस पृथ्वी पर जो व्यक्ति ग्रन्थों के द्वारा, उनके भावों के द्वारा जानकर अभ्यास करते हों, इसका ज्ञान रखते हों, उन्हें समर्पित होकर, गुरु मानकर इसकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यह खेचरी विद्या तथा उसका अभ्यास दोनों दुर्लभ हैं॥ ३-४॥

अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिध्यति। अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम्॥ ५॥

इस खेचरी विद्या का अभ्यास एवं मेलन (साधना) साथ-साथ सिद्ध होता है, केवल अभ्यास करने से 'मेलन' (सिद्धि) की प्राप्ति नहीं हो पाती॥ ५॥

[खेचरी सिद्धि के लिए क्रिया के अभ्यास के साथ-साथ मेलन प्रयोग करने का विधान है। मेलन के अन्तर्गत मंत्र अथवा गुरु के माध्यम से प्राण शक्ति को शिवशक्ति के साथ संयुक्त करने का विधान कहा गया है। आगे (३.१ में) मेलन मंत्र भी दिया गया है।]

अभ्यासं लभते ब्रह्मञ्जन्मजन्मान्तरे क्वचित्। मेलनं तत्तु जन्मनां शतान्तेऽपि न लभ्यते॥ ६॥

हे ब्रह्मन्! किसी जन्म में अभ्यास तो मिल भी जाता है, पर मेलन सैकड़ों जन्मों में भी नहीं मिलता॥ ६॥

अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्भावसाधितम्। मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित्॥७॥

भाव के सहित बहुत जन्मों में साधना करने पर किसी जन्म में योगी को मेलन प्राप्त हो जाता है॥ ७॥

यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः। तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसंततौ॥ ८॥

साधक जब गुरु के श्रीमुख से 'मेलन' मंत्र ग्रहण करता है एवं शास्त्रीय परम्परानुसार साधना करता है, तब (कहीं) सिद्धि मिलती है॥ ८॥

ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा। तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंसृतेः॥ ९॥

ग्रंथ के निर्देशानुसार अथवा उसके भावानुसार जब विधिवत् जान कर मेलन को प्राप्त कर लेता है, तब साधक संसार-सागर से मुक्त होकर शिवस्वरूप हो जाता है॥ ९॥

शास्त्रं विनापि संबोद्धुं गुरवोऽपि न शक्नुयुः। तस्मात्सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं मुने॥ १०॥

शास्त्र के बिना गुरु भी ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकते, इसलिए हे मुने! शास्त्र का प्राप्त होना जरूरी है; क्योंकि यह शास्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण है॥ १०॥

यावन्न लभ्यते शास्त्रं तावद्गां पर्यटेद्यतिः। यदा संलभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिः करे स्थिता॥ ११॥

यति (साधक) को चाहिए कि जब तक 'शास्त्र' की प्राप्ति न हो जाए, तब तक धरती पर घूम-घूम कर उसे ढूँढ़ना चाहिए। सच्चा शास्त्र-ज्ञान प्राप्त हो जाने पर हाथों-हाथ सिद्धि प्राप्त हो जाती है॥ ११॥

न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्त्रये। तस्मान्मेलनदातारं शास्त्रदातारमच्युतम्॥ १२॥

तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत्। लब्ध्वा शास्त्रमिदं मह्यमन्येषां न प्रकाशयेत्॥ १३॥

तीनों लोकों में बिना शास्त्र ज्ञान के सिद्धि नहीं मिल सकती। इसलिए शास्त्र का ज्ञान देने वाला और मेलन(योग)का अभ्यास कराने वाला गुरु भगवान् की प्रतिमूर्ति होता है,उसका अभ्यास कराने वाले को 'शिव' मानकर उसका आश्रय लेना चाहिए। यह ज्ञान प्राप्त करके अन्य(अनधिकारी)के समक्ष न प्रकट करे॥ १२-१३

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता। यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन्दिव्ययोगप्रदायकः॥ १४॥

तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम्। तेनोक्तः सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः॥ १५॥

इसे हर प्रकार से गोपनीय रखते हुए, जहाँ भी इस दिव्य ज्ञान 'योग' में पारंगत गुरु मिलें, उन्हीं के पास जाकर खेचरी विद्या को ग्रहण कर उनके निर्देशानुसार जागरूक होकर अभ्यास करना चाहिए॥ १४-१५॥

अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत्। खेचर्या खेचरीं युञ्जन्खेचरीबीजपूरया॥ १६॥

इस विद्या से योगी को खेचरी अर्थात् आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त होती है, इसलिए खेचरी का अभ्यास खेचरी बीज (मन्त्र) के योग के साथ करना चाहिए॥ १६॥

खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत्। खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम्॥ १७॥

इस प्रकार का साधक आकाशगामी देवताओं का अधिपति होकर आकाश में विचरण करता रहता है। खेचरी के बीज मंत्र में खेचर का रूप 'ह' कार, आवसथ अर्थात् धारणा का रूप 'ई' कार, अग्नि का रूप 'र' कार और जल का रूप 'अनुस्वार' अर्थात् बिन्दु है। (इस प्रकार इन सबका योग 'ह्रीं' होता है)॥ १७॥

आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति। सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत्॥ १८॥

तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम्। तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेन परं मुने॥ १९॥

तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी। इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः॥ २०॥

खेचरी योग इसी (बीजमन्त्र) से सिद्ध होता है। (इसके आगे) सोमांश चन्द्रबीज 'स' कार होता है, इसके उल्टे गिनने पर नवें अक्षर पर 'भ' है, पुनः चन्द्रबीज 'स' कार है, इसके उल्टे गिनने पर अष्टम अक्षर पर 'म' है, इससे पाँच अक्षर उल्टा गिनने पर 'प' है, पुनः चन्द्रबीज 'स' कार एवं संयुक्त वर्ण युक्त 'क्ष' सबसे अन्तिम अक्षर है। (इस तरह ह्रीं, भं, सं, मं, पं, सं, क्षं खेचरी का मंत्र होता है।) ॥ १८-२०॥

गुरूपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम्। यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया॥ २१॥
स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः। य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः॥ २२॥
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते। नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः॥ २३॥

गुरु के द्वारा विधिवत् उपदेश लेकर इस मंत्र का जप करने से यह सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाला है। इस मंत्र का प्रतिदिन द्वादश बार जप करने से देह में स्थित माया का स्वप्न में भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस मंत्र का जो नियमपूर्वक पाँच लाख जप करता है, उस व्यक्ति की खेचरी स्वयमेव सिद्ध हो जाती है तथा उसके जीवन के सभी विघ्न समाप्त हो जाते हैं एवं उसे देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त होती है॥ २१-२३॥

वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः। एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः॥ २४॥

शरीर में पड़ी झुर्रियों एवं पके केश जैसे लक्षण समाप्त हो जाते हैं अर्थात् वृद्ध भी युवा हो जाता है, इसमें शंका नहीं करनी चाहिए, इसलिए इस महाविद्या का भली-भाँति अभ्यास करना चाहिए॥ २४॥

अन्यथा क्लिश्यते ब्रह्मन्न सिद्धिः खेचरीपथे। यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम्॥२५॥
ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदा जपेत्। नान्यथा रहितो ब्रह्मन्न किंचित्सिद्धिभाग्भवेत्॥

हे ब्रह्मन्! ऐसा न करने से इस खेचरी की सिद्धि नहीं होती, उल्टे कष्ट ही उठाना पड़ता है। सम्यक् प्रकार से अभ्यास के बाद भी यदि सिद्धि न मिले, तो भी मार्गदर्शक के द्वारा निर्देशित मार्ग का त्याग न करे। निरंतर इसका जप करना चाहिए, बिना उपयुक्त मार्गदर्शक के सिद्धि सम्भव नहीं॥ २५-२६॥

यदिदं लभ्यते शास्त्रं यदा विद्यां समाश्रयेत्। ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः॥२७॥

यदि यह शास्त्र प्राप्त हो जाये, तो इस विद्या का अभ्यास करे। इस प्रकार भली प्रकार से साधना करने पर साधक को सिद्धि शीघ्र प्राप्त हो जाती है॥ २७॥

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित्। स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत्॥ २८॥

सबसे पहले साधक गुरु के निर्देशानुसार तालु के मूल स्थान को सात दिनों तक घिसे, जिससे उसका मैल दूर हो जाये॥ २८॥

स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्। समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ २९॥

इसके बाद थूहर के पत्ते की तरह तीक्ष्णधारयुक्त किसी पवित्र औजार से जिह्वा मूल (नीचे के जबड़े से जीभ को जोड़ने वाले तन्तु) को बाल के बराबर गुरु से कटाये या स्वयं काटे॥ २९॥

हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत्। पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ ३०॥

हरड़ और सेंधा नमक का चूर्ण कटे हुए स्थान पर सात दिन तक बुरकता रहे, इसके बाद पुनः उसी प्रकार बाल मात्र (तनिक सा) काटे॥ ३०॥

एवं क्रमेण षाण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत्। षाण्मासाद्रसनामूलं सिराबन्धं प्रणश्यति॥ ३१॥

इस तरह लगातार छः महीने प्रयास करने से जीभ का (निचले जबड़े से) सम्बन्ध कट जाता है॥ ३१॥

अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत्। शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित्॥ ३२॥
पुनः षाण्मासमात्रेण नित्यं संघर्षणान्मुने। भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि॥ ३३॥
अधश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रमचारिता। पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया॥ ३४॥
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्शाखावधिर्मुने। अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु॥ ३५॥
ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः। तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधिः॥ ३६॥

तब जिह्वा के आगे वाले हिस्से में वस्त्र लपेटकर धीरे-धीरे बाहर की ओर को दोहन करना चाहिए। इस तरह नियमित रूप से अभ्यास करने पर जिह्वा बढ़कर बाहर भृकुटियों के बीच तक पहुँच जायेगी तथा और ज्यादा अभ्यास होने पर दोनों बगल,कान तक पहुँचने लगेगी। बाहर निकलने पर ठोड़ी तक पहुँच जायेगी। इस अभ्यास को यदि बराबर तीन वर्ष तक बनाये रखा जाये,तो जिह्वा सिर के बालों तक पहुँचने लगेगी। इस प्रकार अभ्यास करते रहा जाए, तो जीभ बगल में कन्धे तक एवं नीचे कण्ठकूप तक पहुँच जाती है। आगे और तीन वर्षों तक यदि अभ्यास किया जाये,तो वह गर्दन के पीछे और नीचे कण्ठ के अन्तिम भाग तक पहुँच जाती है। इस प्रकार जिह्वा सिर के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच कर उसे ढक लेगी, इसमें कोई संशय नहीं है॥ ३२-३६॥

[इस उपनिषद् में खेचरी मुद्रा की हठयोग सम्मत दुस्साध्य विधि का वर्णन किया गया है। युग निर्माण अभियान के अन्तर्गत भावरससिद्धि हेतु खेचरी मुद्रा की जो सर्वसुलभ विधि बताई गई है, वह इससे भिन्न है। उस सर्वसुलभ विधि से खेचरी द्वारा अमृतपान साधना करने वाले साधकों को इससे किसी भ्रम या शंका में नहीं पड़ना चाहिए।]

शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभित्। पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याऽतिदुर्लभा॥३७॥
तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया। कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादिहेतवे॥ ३८॥

इस तरह क्रमशः अभ्यास करने पर जिह्वा ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर जाती है। सभी बीजाक्षरों की विधि सहित यह विद्या बहुत कठिन है। पूर्व में कहे हुए इन छः बीजाक्षरों से करन्यास एवं षडंगन्यास करने से ही पूरी सिद्धि मिल सकती है॥ ३७-३८॥

शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि। युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत्॥ ३९॥
तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं मुनिपुङ्गव। यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं व्रजेत्॥४०॥
तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन्दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि। अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वामात्रंनिवेशयेत्॥४१॥

यह अभ्यास बड़ी सावधानी रखते हुए धीरे-धीरे क्रमशः करना चाहिए। जल्दी-जल्दी किया गया अभ्यास शरीर को हानि पहुँचा सकता है। इसलिए इसके अभ्यास में जल्दी नहीं करनी चाहिए। यदि बाह्य (स्थूल) विधि से जिह्वा ब्रह्म विवर में प्रवेश कर जाये, तब अँगुली के अग्रभाग से उठाकर उसे विवर के भीतर कर देना चाहिए॥ ३९-४१॥

[तालु के पीछे नासिका से जुड़ी वायु नली का मार्ग गले में खुलता है। उसे तालुमूल कहा गया है। इस तालुमूल से लगा हुआ लोलचक्र या तालुचक्र कहा गया है। इसका सीधा संबंध मस्तिष्कमध्य में सहस्त्रारचक्र और ब्रह्मरन्ध्र से है। तालुमूल में खुलने वाले उक्त मार्ग के प्रवेश स्थल को ब्रह्म विवर कहा गया है।]

एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति। ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्मथनमाचरेत्॥ ४२॥

तीन वर्ष तक इस तरह अभ्यास करने पर जिह्वा का प्रवेश ब्रह्म द्वार में हो जाता है। जिह्वा के वहाँ प्रवेश कर जाने पर विधिवत् उसके द्वारा मंथन करना चाहिए॥ ४२॥

मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः। खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिध्यते मथनं विना॥ ४३॥

ऐसे कई योग्य साधक होते हैं, जो मंथन के बिना ही खेचरी सिद्ध कर लेते हैं, परन्तु जिन्होंने खेचरी मंत्र सिद्ध कर लिया है, वे ही मन्थन के बिना सिद्ध कर पाते हैं (अन्य नहीं)॥ ४३॥

जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत्। स्वर्णजां रौप्यजां वापि लोहजां वा शलाकिकाम्॥४४
नियोज्य नासिकारन्ध्रं दुग्धसिक्तेन तन्तुना। प्राणान्निरुध्य हृदये सुखमासनमात्मनः॥ ४५॥
शनैः सुमथनं कुर्याद्भ्रूमध्ये न्यस्तचक्षुषी। षाण्मासं मथनावस्था भावेनैव प्रजायते॥ ४६॥

जप और मंथन दोनों करने से जल्दी लाभ मिलता है। मंथन हेतु लोहा, चाँदी या स्वर्ण की शलाका के एक सिरे पर दुग्ध लगा हुआ तन्तु लगाए, पुनः उसे नाक में डाल कर सुखासन में बैठ कर प्राण को हृदय में निरोध करके नेत्रों से भौंहों के मध्य देखते हुए उसी शलाका से मंथन करे। इस प्रकार छः मास तक मंथन करने पर इसका प्रभाव दिखलाई देने लगता है॥ ४४-४६ ॥

यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत्। न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत्॥ ४७॥
सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत्। एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति ध्रुवा॥ ४८॥

उस समय साधक की अवस्था सोते हुए बालक की तरह होती है। इस मन्थन को मास में एक बार करे, नित्य न करे। जिह्वा को भी ब्रह्मरन्ध्र में बार-बार प्रविष्ट करे। द्वादश वर्ष तक इसी तरह अभ्यास करने से सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है॥ ४७-४८॥

शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्मविभेदतः। ब्रह्माण्डोऽयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली॥ ४९॥

अभ्यास की इस अवस्था में योगी अपने अन्तर में पूरे विश्व का दर्शन कर लेता है; क्योंकि जिह्वा के ब्रह्म विवर में जाने वाले मार्ग में ही ब्रह्माण्ड की स्थिति है॥ ४९॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

मेलनमन्त्रः ह्रीं भं सं मं पं सं क्षम्। पद्मज उवाच। अमावास्या च प्रतिपत्पौर्णमासी च शंकर। अस्याः का वर्ण्यते संज्ञा एतदाख्याहि तत्त्वतः॥ १॥

ब्रह्माजी ने कहा! खेचरी का— मेलन मंत्र 'ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं' है। हे शंकर जी! कृपा करके आप हमें यह बतायें कि साधक के लिए अमावस्या, प्रतिपदा एवं पूर्णमासी का क्या अभिप्राय है?॥ १॥

प्रतिपद्दिनतोऽकाले अमावास्या तथैव च। पौर्णमास्यां स्थिरीकुर्यात्स च पन्था हि नान्यथा॥२॥

(आत्मदर्शन के समय साधक की दृष्टि का वर्णन—) आत्मानुसंधान की साधना के प्रथम चरण में साधक की दृष्टि एवं स्थिति प्रकाशरहित अमावस्या की, द्वितीय चरण में प्रतिपदा (अल्प प्रकाश की) तथा तृतीय चरण में पूर्णिमा (पूर्ण प्रकाश) की होती है। वही कल्याण की स्थिति है॥ २॥

कामेन विषयाकाङ्क्षी विषयात्काममोहितः। द्वावेव संत्यजेन्नित्यं निरञ्जनमुपाश्रयेत्॥ ३॥

जब मनुष्य कामनाबद्ध होकर विषयों की ओर दौड़ता है, उस समय विषयों को प्राप्त करते हुए कामनाएँ बढ़ती जाती हैं। इसलिए विषय और कामना दोनों से अलग होकर (आत्मा में ध्यान लगाते हुए) ही विशुद्ध परमात्मभाव की प्राप्ति की जा सकती है॥ ३॥

अपरं संत्यजेत्सर्वं यदीच्छेदात्मनो हितम्। शक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम्॥ ४॥

अपना हित चाहने वाले को समस्त मिथ्या विषयों को छोड़कर शक्ति (कुण्डलिनी) के मध्य में मन को स्थिर करके उसी में स्थिर रहना चाहिए॥ ४॥

[मन को चेतन सत्ता-शक्ति के मध्य स्थिर करना 'स्व' का चेतन में वास कहा जाता है। जब चेतन में वास होता है, तो शरीर को किन्हीं लौकिक संसाधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब तक शक्ति में 'वास' (पूरी तरह स्थिर होना) न सधे, तब तक यत्नपूर्वक 'उपवास' चेतना में आंशिकरूप से रहने का अभ्यास करना चाहिए। उपवास की स्थिति में शरीर के लिए न्यूनतम आहार देकर भी उसे सक्रिय और संतुष्ट रखा जा सकता है। उपवास साधना को शक्ति में वास की साधना का पूर्वाभ्यास कहा जा सकता है।]

मनसा मन आलोक्य तत्त्यजेत्परमं पदम्। मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम्॥ ५॥

मन से मन को देखते हुए उसकी गतिविधियों का निरीक्षण करके उनसे मुक्त होने को ही परम पद कहा गया है। मन ही बिन्दु (ईश्वर) है और वही (जगत्प्रपंच) की उत्पत्ति एवं स्थिति का मुख्य कारण है॥ ५॥

मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् । न च बन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम्॥ ६ ॥

जिस प्रकार दूध से घी निकलता है, उसी प्रकार मन से बिन्दु प्रकट होता है। जो भी बन्धन हैं, मन में हैं, बिन्दु में नहीं॥ ६ ॥

चन्द्रार्कमध्यमा शक्तिर्यत्रस्था तत्र बन्धनम्। ज्ञात्वा सुषुम्नां तद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्॥ ७ ॥

जो शक्ति सूर्य और चन्द्र अर्थात् इड़ा-पिंगला नाड़ियों में स्थित है, वही बन्धन कारक है, यह जानकर उन (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रन्थियों) का भेदन करके प्राणवायु को सुषुम्ना में गतिमान् करना चाहिए, जो इन दोनों के मध्य में स्थित है॥ ७॥

स्थित्वासौ बैन्दवस्थाने घ्राणरन्ध्रे निरोधयेत्। वायुं बिन्दुं समाख्यातं सत्त्वं प्रकृतिमेव च॥ ८ ॥

बिन्दु स्थान में प्राण को रोककर वायु का निरोध नासिका के द्वारा करना चाहिए। बिन्दु, सत्त्व एवं प्रकृति का विस्तार यह प्राणवायु ही है॥ ८॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डलम्। मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम्॥ ९ ॥
अनाहतं विशुद्धिं च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम्। आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैङ्गिकम्॥१० ॥
मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम्। विशुद्धिः कण्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम्॥ ११ ॥

षट्चक्रों को जानकर (उसे भेदकर) सुखमण्डल (सहस्रार चक्र) में प्रवेश करे। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ये छः चक्र कहे गये हैं। गुदास्थान के समीप मूलाधार, लिंग के समीप स्वाधिष्ठान, नाभिमण्डल में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कण्ठमूल में विशुद्धचक्र एवं मस्तक में आज्ञाचक्र स्थित होता है॥ ९-११ ॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डले। प्रविशेद्वायुमाकृष्य तथैवोर्ध्वं नियोजयेत्॥ १२ ॥

षट्चक्रों की जानकारी प्राप्त करके प्राण को आकर्षित करके सुखमण्डल अर्थात् परमानन्ददायी सहस्रार चक्र में प्रवेश करे और उसे ऊर्ध्वगामी दिशा में नियोजित करे॥ १२॥

एवं समभ्यसेद्वायुं स ब्रह्माण्डमयो भवेत्। वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत्॥ १३ ॥
समाधिमेकेन सममममृतं यान्ति योगिनः। यथाग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना॥ १४॥
विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि। घटमध्यगतो दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते॥ १५॥
भिन्ने तस्मिन्घटे चैव दीपज्वाला च भासते। स्वकायं घटमित्युक्तं यथा दीपो हि तत्पदम्॥१६ ॥
गुरुवाक्यसमाभिन्ने ब्रह्मज्ञानं स्फुटीभवेत्। कर्णधारं गुरुं प्राप्य कृत्वा सूक्ष्मं तरन्ति च॥ १७॥

इस तरह अभ्यसित होकर प्राण ब्रह्माण्ड में स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। समुचित रूप से चित्त, प्राण-वायु, बिन्दु एवं चक्र का अभ्यास हो जाने पर योगियों को परमात्मा से एकाकार होकर समाधि अवस्था में पहुँच कर अमृत-तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। जिस तरह लकड़ी में अग्नि है, परन्तु बिना रगड़े हुए वह प्रज्वलित नहीं होती, उसी प्रकार बिना निरन्तर अभ्यास किये हुए योगविद्या का प्रकाश बाहर नहीं आ सकता । जिस प्रकार घड़े के भीतर रखा हुआ दीपक बिना उसका भेदन किये बाहर प्रकाश नहीं दे सकता, ठीक उसी तरह शरीररूपी घट के भीतर स्थित ब्रह्मरूपी प्रकाश तब तक बाहर नहीं दिखता, जब तक गुरुमुख होकर इस शरीररूपी घट का भेदन नहीं किया जाता। कर्णधार (नाविक) रूप गुरु ही इस संसार-सागर से पार होने का उपाय है॥ १३-१७॥

अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम्। परायामङ्कुरीभूय पश्यन्त्यां द्विदलीकृता॥ १८॥
मध्यमायां मुकुलिता वैखर्यां विकसीकृता। पूर्वं यथोदिता या वाग्विलोमेनास्तगा भवेत्॥१९॥

अपनी श्रेष्ठ वासना अर्थात् उच्च आदर्शवादी महत्त्वाकांक्षा एवं निरन्तर अभ्यास के द्वारा अर्जित शक्ति के माध्यम से ही भवसागर को पार किया जा सकता है। शरीर में स्थित वाणी परारूप में अङ्कुरित होती, पश्यंती रूप में द्विदल (दो पत्ते) होती, मध्यमा में मुकुलित(खिलती-अग्रगामी) होती और वैखरी रूप में आकर पूर्ण विकसित (प्रकट) हो जाती है। इस वाणी का जिस तरह से प्राकट्य होता है, उसी क्रम में वह विलीन भी हो जाती है॥ १८-१९॥

तस्या वाचः परो देवः कूटस्थो वाक्प्रबोधकः। सोऽहमस्मीति निश्चित्य यः सदा वर्तते पुमान्॥२०
शब्दैरुच्चावचैर्नीचैर्भाषितोऽपि न लिप्यते। विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयः॥ २१॥
विराड्विरण्यगर्भश्च ईश्वरश्चेति ते त्रयः। ब्रह्माण्डं चैव पिण्डाण्डं लोका भूरादयः क्रमात्॥२२॥
स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि। अण्डं ज्ञानाग्निना तप्तं लीयते कारणैः सह॥ २३॥

उस वाणी का ज्ञान देने वाला 'मैं ही अन्तःस्थित परम देव हूँ' इस तरह निश्चित रूप से समझ कर जो उसके अनुरूप आचरण करता है, उसे अच्छा या बुरा कोई भी शब्द कह दिया जाए, तो वह व्यक्ति उससे प्रभावित नहीं होता। विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ ये तीन तरह के पिण्ड कहे गये हैं। विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर तीन ब्रह्माण्ड एवं भूः, भुवः, स्वः क्रमशः ये तीन लोक कहे गये हैं। ये सभी अपनी उपाधियों के समाप्त होने पर पुनः अपनी पूर्व स्थिति में वापस आ जाते हैं। ज्ञानरूपी अग्नि में तप्त होकर अपने कारणों के मूलस्वरूप में विलीन हो जाते हैं॥ २०-२३॥

परमात्मनि लीनं तत्परं ब्रह्मैव जायते। ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्॥ २४॥

यह (जीव) परमात्मा से एकाकार होकर परम अगाध गम्भीर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, उस समय इसका ऐसा रूप होता है, जिसको न तो प्रकाश कहा जा सकता है, न अंधकार ही कहा जा सकता है॥ २४॥

अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते। ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत्॥ २५॥
अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम्। प्रकाशयन्तमन्तःस्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम्॥ २६॥

उस समय एकमात्र नामरहित सत् स्वरूप, अव्यक्ततत्त्व ही शेष रह जाता है। (उस) मध्यस्थ (अन्तःकरण में स्थित) 'आत्मा' का कलश में स्थित दीपक की तरह ध्यान करके (आगे भी निरन्तर) अङ्गुष्ठमात्र, धूमरहित ज्योतिस्वरूप, प्रकाशमान, कूटस्थ (शाश्वत) और अव्यय (अविनाशी) आत्मतत्त्व का अन्तःकरण में ध्यान करते रहना चाहिए॥ २५-२६॥

विज्ञानात्मा तथा देहे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितः। मायया मोहितः पश्चाद्बहुजन्मान्तरे पुनः॥ २७॥
सत्कर्मपरिपाकात्तु स्वविकारं चिकीर्षति। कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः॥ २८॥

मूलतः आत्मा विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) रूप होता है, परन्तु शरीर प्राप्त होने पर वह माया के वशीभूत होकर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है और उसी माया में मोहित हो जाता है। जब जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यकर्म उदित होते हैं, तब मानव अपने दोषों को जानने की इच्छा करता है, तब वह सोचता है कि वास्तव में मैं कौन हूँ एवं दोषरूप यह संसार कैसे प्राप्त हुआ है?॥ २७-२८॥

जाग्रत्स्वप्ने व्यवहरन्त्सुषुप्तौ क्व गतिर्मम। इति चिन्तापरो भूत्वा स्वभासा च विशेषतः॥ २९॥

जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्था में तो मैं ही कर्त्ता के रूप में व्यवहार करता हूँ, परन्तु सुषुप्ति अवस्था में मेरी क्या गति होती है ? इस तरह चिन्तन करते हुए अपने रूप पर विचार करता रहता है॥ २९॥

अज्ञानात्तु चिदाभासो बहिस्तापेन तापितः। दग्धं भवत्येव तदा तूलपिण्डमिवाग्निना॥ ३०॥

जिस प्रकार रुई का ढेर आग पाते ही जल जाता है, उसी प्रकार चिदाभास के प्रभाव से सांसारिक ताप से तापित अज्ञान समाप्त हो जाता है॥ ३०॥

दहरस्थः प्रत्यगात्मा नष्टे ज्ञाने ततः परम्। विततो व्याप्य विज्ञानं दहत्येव क्षणेन तु॥ ३१॥
मनोमयज्ञानमयान्सम्यग्दग्ध्वा क्रमेण तु। घटस्थदीपवच्छश्वदन्तरेव प्रकाशते॥ ३२॥

इस तरह सांसारिक बोध के समाप्त होने पर प्रत्यगात्मा (शुद्ध आत्मा) प्रकाशित हो जाता है तथा उससे विज्ञान (संसार का विशेष ज्ञान) भी नष्ट हो जाता है। इस तरह क्रमशः मनोमय तथा विज्ञानमय के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर घट के भीतर रखे हुए दीपक की तरह अंत:स्थ प्रकाश रूप आत्मा ही अंत:करण में प्रकाशित होता रहता है॥ ३१-३२॥

ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैवमासुप्तेरामृतेस्तु यः। जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान्॥ ३३॥

इस प्रकार से नित्य प्रति जो आत्मज्ञानी आत्मा का ध्यान करता है तथा मृत्यु के आने पर भी स्थिर चित्त होकर उस पर ध्यान लगाये रहता है,उसे जीवन (सांसारिकता) से मुक्ति मिल जाती है, वही विज्ञानी है, धन्य है और वह कृत-कृत्य हो जाता है॥ ३३॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते। विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥ ३४॥

जीवन्मुक्त साधक का अन्तिम समय (मृत्यु) आने पर वह (शरीर रहते हुए जीवन्मुक्त एवं शरीर समाप्त होने पर) उसी प्रकार विदेह मुक्त हो जाता है, जिस प्रकार वायु (उन्मुक्त) आकाश में स्पन्दनरहित होकर प्रवेश कर जाती है॥ ३४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम्॥ इत्युपनिषत्॥ ३५॥

जो आदि-अंत रहित, नित्य, अव्यय और महान् है तथा जो अटल है एवं शब्द,स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि पंचमहाभूतों से रहित है, वही विकाररहित परमपवित्र ब्रह्म ही अन्त में शेष बचता है, यही उपनिषद् है॥ ३५॥

॥ ॐ सह नाववतु ...... इति शान्तिः॥

॥ इति योगकुण्डल्युपनिषत्समाप्ता॥

॥ योगचूडामण्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। योग साधना द्वारा आत्मशक्ति जागरण की प्रक्रिया का इसमें समग्र मार्गदर्शन है।

सर्वप्रथम योग के छः अंगों (आसन,प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) का उल्लेख हुआ है। तदुपरान्त योग की सिद्धि के लिए आवश्यक देहतत्त्व का ज्ञान, मूलाधार आदि चक्रों का ज्ञान, योनिस्थान (कुण्डलिनी) में परम ज्योति के दर्शन, नाड़ीचक्र,नाड़ी स्थान,नाड़ियों में संचरित प्राणवायु और उनकी क्रियाएँ, प्राणों के साथ जीव की गतिमयता, अजपा गायत्री का अनुसन्धान, कुण्डलिनी द्वारा मोक्ष द्वार का भेदन, तीन बन्ध (मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध तथा उड्डियानबन्ध), खेचरी मुद्रा, वज्रोली आदि (विशेष योगसाधना) के लक्षण, महामुद्रा का स्वरूप, प्रणव (ॐकार) जप की विशेष प्रक्रिया, प्रणव एवं ब्रह्म की एकरूपता, प्रणव (ॐ) के अवयव (अ, उ, म्) का अर्थ, तुरीयोङ्कार द्वारा अग्रब्रह्म की साधना, प्रणव एवं हंस साधना, कैवल्यबोध-आत्मज्ञान का प्रकाशक प्रणव जप, प्रणव मन्त्रानुष्ठान के साधक के लिए प्राणजय आवश्यक, नाड़ीशुद्धि से प्राणायामसिद्धि, मात्रा नियमपूर्वक प्राणायाम, योगांगों में से प्रत्येक के अलग-अलग फल और उनकी तारतम्यता, षण्मुखी मुद्रा के अभ्यास से नादाभिव्यक्ति, प्राणायाम का अभ्यास, सर्वरोग निवारक, 'प्राण' के निरोधाभ्यास में इन्द्रियों का प्रत्याहार आवश्यक इत्यादि अनेकविध विषयों का बड़ा विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। नि:सन्देह इस उपनिषद् के अनुसार साधना करने वाला व्यक्ति योग के क्षेत्र में चूड़ामणि (मुकुट) स्तर का बन सकता है। योगपरक उपनिषदों में इस चूड़ामणि उपनिषद् का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-महोपनिषद्)

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया। कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः ॥ १ ॥

योग चूड़ामणि उपनिषद् को योगियों के हित की कामना से वर्णन करता हूँ, जो योगवेत्ताओं के द्वारा सेवन किया जाने वाला परम गूढ़ तथा कैवल्य (मोक्ष) सिद्धि देने वाला है॥ १ ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥ २ ॥
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्। षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्॥ ३ ॥
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत्। चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम्॥४ ॥
नाभौ दशदलं पद्मं हृदये द्वादशारकम्। षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ॥ ५ ॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकार योग को छः अंगों वाला कहा गया है। दो प्रकार के आसनों का यहाँ वर्णन है, एक सिद्धासन दूसरा पद्मासन। अपने शरीर के भीतर जो साधक षट्चक्र, षोडश-आधार, त्रिलक्ष्य और पाँच आकाशों को नहीं देख पाता, उसे सिद्धि कहाँ मिल सकती है? शरीर में स्थित षट्चक्रों में आधारचक्र (मूलाधार चक्र) चार दल वाला है, स्वाधिष्ठान चक्र में छः दल हैं। दस दल वाला चक्र नाभि में स्थित है, द्वादशदल का पद्मचक्र हृदय में है, विशुद्धचक्र षोडश दल वाला तथा दो दल का चक्र भ्रूमध्य में (आज्ञाचक्र के रूप में) स्थित है॥ २-५ ॥

सहस्त्रदलसंख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि । आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्॥ ६ ॥
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते। कामाख्यं तु गुदस्थाने पङ्कजं तु चतुर्दलम्॥ ७ ॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता। तस्य मध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम्॥८

सहस्त्र दल-कमल ब्रह्मरन्ध्र के महापथ में स्थित है। मूलाधार प्रथम चक्र है तथा स्वाधिष्ठान दूसरा चक्र है। दोनों के बीच में योनि स्थान (कुण्डलिनी) स्थित है। जगत् की उत्पत्ति का कारण होने से उसे कामरूप कहा जाता है। गुदास्थान में चार दल वाला कमल स्थित है, जिसे 'काम' कहा गया है। उसी के बीच सिद्ध पुरुषों के द्वारा वन्दित पश्चिमाभिमुख महालिंग स्थित है॥ ६-८॥

नाभौ तु मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्। तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत्॥ ९ ॥
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम्। समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्॥ १० ॥

नाभि स्थान में मणि की आकृति वाले मणिपूर चक्र को जानने वाला ही योगी है। तपाये हुए सोने के समान आभा वाला, विद्युत् की तरह प्रकाशमान त्रिकोण युक्त अग्नि मेढ्र में प्रतिष्ठित है। समाधि अवस्था में उस स्थान पर अनन्त विश्वतोमुख (सब ओर प्रकाशित) परमज्योति के दर्शन होते हैं॥ ९-१०॥

तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातो न विद्यते। स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः॥ ११ ॥
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते। तन्तुना मणिवत्प्रोतो योऽत्र कन्दः सुषुम्नया॥ १२ ॥

योगाभ्यास के समय उस अग्निमयी ज्वाला के दर्शन कर लेने पर संसार के आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। प्राण का निवास स्वाधिष्ठान चक्र में कहा गया है। प्राण को ही 'स्व' कहते हैं। स्वाधिष्ठान में स्थित होने के कारण उसे 'मेढ्र' भी कहते हैं। जिस प्रकार मणि में तागा पिरोया होता है, उसी प्रकार कन्द (नाड़ी समूह) सुषुम्ना से युक्त है॥ ११-१२॥

तन्नाभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्। द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते॥ १३ ॥
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति। ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दे योनिः खगाण्डवत्॥१४॥
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्त्राणां द्विसप्ततिः। तेषु नाडीसहस्त्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता॥ १५ ॥
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः। इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयगा॥ १६ ॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी। अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता॥१७॥

नाभि मण्डल में स्थित द्वादशदल युक्त मणिपूर चक्र पाप-पुण्य रहित है, जब तक इसका तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक जीव को संसार चक्र में ही भ्रमण करना पड़ता है। पक्षी के अण्डे के आकार वाली योनि अर्थात् कुण्डलिनी, मेढ्र और नाभि के मध्य स्थित है। बहत्तर हजार नाड़ियों का जाल पूरे शरीर में वहीं से फैला है, उनमें से बहत्तर नाड़ियाँ मुख्य हैं। इनमें भी प्रमुख नाड़ियाँ दस कही गई हैं। १. इड़ा, २. पिंगला, ३. सुषुम्ना, ४. गांधारी, ५. हस्तिजिह्वा, ६. पूषा, ७. यशस्विनी, ८. अलम्बुसा, ९. कुहू और १०. शंखिनी॥ १३-१७॥

एतन्नाडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा। इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता॥१८॥
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि। दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे॥ १९ ॥
यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुसा। कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी॥ २० ॥

नाड़ियों के इस महाचक्र का ज्ञान योगियों को होना चाहिए। शरीर में इड़ा नाड़ी (नासिका के) बायीं ओर और पिंगला नाड़ी दाहिनी ओर स्थित रहती है। इड़ा-पिंगला के बीच में सुषुम्ना नाड़ी है। दायें नेत्र में हस्तिजिह्वा और बायें नेत्र में गांधारी का निवास है। पूषा तथा यशस्विनी क्रमशः दायें-बायें कान में स्थित हैं। मुँह में अलम्बुसा का निवास है। जननेन्द्रिय में कुहू एवं मूलस्थान में शंखिनी नाड़ी का निवास है॥ १८-२०॥

एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ते नाडयः क्रमात्। इडापिङ्गलासौषुम्नाः प्राणमार्गे च संस्थिताः ॥२१॥

सम्पूर्ण शरीर के भीतर एक-एक द्वार पर एक-एक नाड़ी स्थित है और प्राणमार्ग में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ स्थित हैं॥ २१॥

सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः। प्राणापानसमानाख्या व्यानोदानौ च वायवः॥ २२॥
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः। हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले॥ २३॥
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः। व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः॥ २४॥

सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि देवता प्राणों के वाहक हैं। प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान—ये पाँच प्राणवायु कहे गये हैं। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त एवं धनञ्जय—ये पाँच उपप्राणवायु कहे गये हैं। शरीर के अन्दर हृदय में (मुख्य) प्राणवायु, गुदा स्थान में अपान, नाभि स्थान में समान, गले में उदान एवं पूरे शरीर में व्यानवायु स्थित रहता है। ये प्रधान प्राणवायु शरीर के पाँच स्थानों में स्थित हैं॥ २२-२४॥

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा। कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे॥ २५॥

ऊर्ध्ववायु (डकार) में नाग नामक उपप्राण, आँखों की पलक झपकने में कूर्मवायु, कृकल छींकने में एवं देवदत्त की स्थिति जँभाई लेने में होती है॥ २५॥

न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनंजयः। एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः॥ २६॥

सम्पूर्ण शरीर में धनञ्जय वायु इस प्रकार से व्याप्त है कि मृत्यु के बाद भी शरीर को नहीं छोड़ता है। इन्हीं नाड़ियों में जीव (प्राण) भ्रमण करते रहते हैं॥ २६॥

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः। प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति॥ २७॥

खिलाड़ियों के द्वारा इधर से उधर फेंकी हुई गेंद की तरह जीव भी प्राण, अपान आदि वायुओं से स्थिर नहीं रह पाता अर्थात् सदैव गतिशील रहता है॥ २७॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति। वामदक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते॥२८॥

यह जीव प्राणादि वायुओं के वशीभूत होकर नीचे-ऊपर गमन करता हुआ बायें एवं दायें मार्ग में भी आता-जाता है। गमनचक्र तीव्रता से चलने के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता॥ २८॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः। गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति॥ २९॥

रस्सी से बँधा हुआ श्येन पक्षी ऊपर उड़ता हुआ भी जिस प्रकार खींच लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार गुणों से आबद्ध यह जीव भी प्राण और अपान वायुओं के द्वारा खींचा जाता है॥ २९॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति। अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति। ऊर्ध्वाधःसंस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्॥ ३०॥

प्राण अपान को खींचता है एवं अपान प्राण को खींचता है, इसलिए यह जीव प्राण और अपान की इस क्रिया के द्वारा निरंतर ऊपर-नीचे आता जाता रहता है। प्राण एवं जीव की इस अधः एवं ऊर्ध्वगमन प्रक्रिया को जानने वाला ही योगवेत्ता है॥ ३०॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः। हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥ ३१॥

श्वास 'स' कार ध्वनि (वायु) के माध्यम से भीतर और 'ह' कार के साथ बाहर आती है। इस तरह यह जीव हंस-हंस (हंसमंत्र) का जप सदैव करता रहता है॥ ३१॥

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः। एतत्संख्यान्वितं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा॥ ३२॥

दिन-रात निरन्तर जप करते रहने से यह जीव इक्कीस हजार छः सौ मंत्र नित्य जपता है॥ ३२॥

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा। अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३३॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः। अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति॥ ३४॥

योगियों के लिए मुक्ति प्रदात्री यही अजपा गायत्री है। इसके संकल्प मात्र से सभी पापों से मुक्ति मिल जाती है। इसके समान न कोई विद्या, न कोई जप, न कोई ज्ञान पहले हुआ है और न भविष्य में होगा॥३३-३४॥

कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी। प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित्॥३५

यह गायत्री प्राण को धारण करने वाली प्राणविद्या है-महाविद्या है, जो कुण्डलिनी से उद्भूत है। इस प्रकार जो जान लेता है, वही वेदवेत्ता है॥ ३५॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः। ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति॥ ३६॥

कुण्डलिनी शक्ति कन्द के ऊर्ध्वभाग में आठ कुण्डलों की आकृति में व्याप्त होकर ब्रह्म द्वार के मुँह को अपने मुख से ढककर सदैव स्थित रहती है॥ ३६॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं मनोमयम्। मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥ ३७॥

जिस मनोमय ब्रह्म द्वार (सुषुम्ना) में प्रवेश किया जाता है, उसी द्वार (मुख) को अपने मुख से ढककर यह परमेश्वरी शक्ति (कुण्डलिनी) सोई रहती है॥ ३७॥

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह। सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया॥ ३८॥

वह्नियोग (अग्नियोग) के द्वारा जाग्रत् होकर यह प्रकाश के रूप में मन और प्राणवायु के साथ सुषुम्ना नाड़ी के भीतर होकर सुई की तरह ऊपर की ओर चलती है॥ ३८॥

उद्घाटयेत्कवाटं तु यथा कुञ्चिकया गृहम्। कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्॥ ३९॥

कुंजी के द्वारा जिस तरह से घर का किवाड़ (ताला) खोलते हैं, उसी प्रकार कुण्डलिनी के द्वारा योगी लोग मुक्ति का द्वार खोल लेते हैं॥ ३९॥

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं गाढं वक्षसि संनिधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेष्टितम्। वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः॥ ४०॥

दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर हाथों को ऊपर-नीचे गोदी में रखकर सम्पुटित करे, पुनः सिर नीचा करके ठोड़ी को छाती से लगाये, इसके बाद ब्रह्म में ध्यान को एकाग्र करके, बार-बार श्वास को भीतर खींचे और बाहर निकाले। प्राणवायु अन्दर ले जाए और अपान वायु ऊपर ले जाए। इस तरह प्राणायाम करने से मनुष्य को अतुल शक्ति की अनुभूति होती है॥ ४०॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा। कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत्॥ ४१॥

इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यास के श्रम से जो पसीना निकलता है, उसे शरीर में ही मसल लेना चाहिए तथा नमकीन, खट्टे, कड़ुवे पदार्थों का परित्याग करना चाहिए और दूध एवं दूध से बने भोजन का विशेष रूप से प्रयोग करना चाहिए॥ ४१॥

ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः। अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा॥ ४२॥

ब्रह्मचारी और मिताहार वाला योगी यदि योग के अभ्यास में लग जाए, तो एक वर्ष में ही योग की सिद्धि प्राप्त कर लेगा, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए॥ ४२॥

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः । भुञ्जते शिवसंप्रीत्या मिताहारी स उच्यते॥ ४३ ॥

योग के साधक को मधुर और स्निग्ध भोजन ही लेना चाहिए,(आधा पेट भोजन,चौथाई पानी तथा) चौथाई भाग खाली रखे। इस प्रकार भगवान् को समर्पित करके जो भोजन करता है,उसे मिताहारी कहते हैं ॥४३

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः। बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा॥४४॥

आठ कुण्डलों वाली कन्द के ऊर्ध्वभाग में जो कुण्डलिनी शक्ति है, वह योगियों के लिए मोक्ष देने वाली तथा अज्ञानियों के लिए बन्धनकारक कही गई है॥ ४४॥

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम्। मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्॥४५ ॥

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध को जो जानता है, वह योगी मुक्ति को प्राप्त करता है॥ ४५॥

पार्ष्णिघातेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम्। अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते॥ ४६ ॥

एड़ी से दबाव डालकर योनि (सीवन) स्थान को पीड़ित करते हुए दृढ़तापूर्वक संकुचित करे, अपान वायु को ऊपर की ओर खींचने की इस प्रक्रिया को मूलबन्ध कहा जाता है॥ ४६॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः। युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥ ४७॥

इस प्रकार प्राण और अपान को एक में मिलाया जाता है, इससे मल-मूत्र कम हो जाता है। इस प्रकार मूलबन्ध का अभ्यास करने से वृद्ध भी युवा हो जाता है॥ ४७॥

ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः। ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी॥ ४८ ॥

महापक्षी (गिद्ध आदि) जिस प्रकार विश्राम के लिए (आकाश में अत्यधिक ऊँचे) उड़ते हैं, उसी तरह उड्डियान बन्ध का अभ्यास मृत्यु रूपी हाथी को पछाड़ने के लिए सिंह के समान है। (बड़े पक्षियों को एक विशेष प्रकार से उड़ने में विश्राम प्राप्त होता है, जिससे उन्हें शक्ति प्राप्त हो जाती है।)॥ ४८॥

उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते । ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥ ४९ ॥

पेट को नाभि के नीचे तानना अर्थात् खींचना पश्चिमोत्तान कहलाता है। वहीं पेट में यह उड्डियान बंध भी किया जाता है॥ ४९॥

बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम्। ततो जालन्धरो बन्धः कष्टदुःखौघनाशनः॥ ५०॥

जो शरीर में नीचे की ओर प्रवहमान आकाश-जल (खेचरी मुद्रा द्वारा क्षरित होने वाला) को शिरोभाग में रोककर रखता है, उसे जालंधर बंध कहते हैं, यह दुःखों और कष्टों का नाश कर देता है॥ ५०॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे । न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति॥ ५१ ॥

जालन्धर बंध में सामने की ओर सिर झुकाकर गले से नीचे ठोढ़ी को हृदय से स्पर्श करना होता है। इस से अमृत न तो अग्नि की ओर गिरता है और न वायु की ओर गमन करता है, स्थिर हो जाता है॥ ५१॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा । भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ ५२ ॥

दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य स्थित करे एवं जीभ को गले की ओर पीछे लौटाकर कपाल कुहर (गले के मध्य तालु) में प्रवेश कराये, इस प्रकार की क्रिया को खेचरी मुद्रा कहते हैं॥ ५२॥

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा। न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥ ५३ ॥

जो खेचरी मुद्रा को जानता और साधना करता है उसे रोग, मरण, भूख-प्यास और मूर्छा आदि से छुटकारा प्राप्त हो जाता है॥ ५३॥

पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः। बाध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥५४॥

खेचरी मुद्रा जानने वाला न तो रोग से कष्ट पाता है और न कर्मों में ही उसकी आसक्ति होती है तथा उसके पास तक कोई विघ्न भी नहीं पहुँच पाते॥ ५४॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे यतः। तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता॥ ५५॥

जिसकी साधना करने से चित्त और जिह्वा आकाश में विचरण करते हैं, उस खेचरी मुद्रा को सभी सिद्ध लोग प्रणाम करते हैं॥ ५५॥

बिन्दुमूलशरीराणि शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः। भावयन्ती शरीराणि आपादतलमस्तकम्॥ ५६॥

सिर से लेकर पैर तक शरीर के सभी अंगों का जिनके द्वारा पोषण होता है, उन सभी शिराओं का मूल बिन्दु खेचरी मुद्रा ही है॥ ५६॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः। न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च॥५७॥

खेचरी मुद्रा के द्वारा जिस साधक ने जीभ के ऊपर कपाल कुहर को ढक लिया है, उस साधक का रमणी के आलिंगन से भी बिन्दुपात नहीं हो सकता॥ ५७॥

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः। यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति॥ ५८॥

जब तक साधक ने खेचरी मुद्रा को बाँध रखा है, तब तक बिन्दु नहीं जाता है और जब तक शरीर में बिन्दु स्थित है, तब तक मृत्यु का क्या भय है?॥ ५८॥

ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम्। व्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया॥५९॥

यदि जाज्वल्यमान अग्नितत्त्व में बिन्दुपात भी हो जाये, तो उसको योनिमुद्रा के द्वारा बलपूर्वक रोका और ऊर्ध्वगामी बनाया जा सकता है॥ ५९॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा। पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः॥६०॥

सफेद और लाल दो वर्ण (रंग) का बिन्दु होता है। श्वेत को शुक्ल (शुक्र) नाम दिया गया तथा लाल को महारज कहा गया है॥ ६०॥

सिन्दूरव्रातसंकाशं रविस्थानस्थितं रजः। शशिस्थानस्थितं शुक्लं तयोरैक्यं सुदुर्लभम्॥ ६१॥

सिन्दूर के समान ज्योतित रविस्थान में रज का निवास स्थान है तथा चन्द्रस्थान में शुक्ल का निवास स्थान है। शुक्ल और रज का संयोग बड़ा कठिन होता है॥ ६१॥

बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः। उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम्॥ ६२॥

बिन्दु ब्रह्मारूप है तथा रज शक्तिस्वरूप है, बिन्दु चन्द्ररूप और रज सूर्यरूप है। इन दोनों का योग (मिलन) होने से ही परमपद की प्राप्ति होती है॥ ६२॥

वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः। याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेद्दिव्यवपुस्तदा॥ ६३॥

जब वायु (प्राणायाम) से शक्तिचालिनी मुद्रा के द्वारा गमनशील रज बिन्दु से एकाकार हो जाता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है॥ ६३॥

शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संगतम्। तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित्॥६४॥

रज का संयोग सूर्य में और शुक्ल (शुक्र) का संयोग चन्द्र में जिस प्रकार होता है, उस विषय को और दोनों के एकाकार होने को जानने वाला साधक योगवेत्ता कहा जाता है॥ ६४॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः। रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते॥ ६५॥

जिस साधना के द्वारा नाड़ी-समूह का शोधन किया जाता है तथा सूर्य-चन्द्र को चलाया जाता है एवं रस का शोषण किया जाता है,उसे 'महामुद्रा' कहते हैं॥ ६५॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्। आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचयेत्सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते॥ ६६॥

बायें पैर से योनि स्थान पर दबाव डालते हुए, ठोढ़ी को छाती से लगाये और दायाँ पैर सीधा फैलाकर दोनों हाथों से पैर की अँगुलियों सहित पैर पकड़कर दोनों कुक्षियों अर्थात् पेट में पूरा श्वास भरकर धीरे-धीरे बाहर निकाले। यह महामुद्रा की क्रिया समस्त प्रकार की व्याधियों को नष्ट करती है॥ ६६॥

चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥६७॥

अभ्यास क्रम में सर्वप्रथम बायीं नासिका 'चन्द्रअंश' से श्वास खींचकर रेचन करते हुए अभ्यास करे, फिर दायीं नासिका 'सूर्यअंश' से श्वास खींचकर रेचन का अभ्यास करना चाहिए। जब दोनों स्वर (चन्द्र-सूर्य) समान हो जाएँ, तब अभ्यास बन्द करना चाहिए॥ ६७॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः। अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते॥ ६८॥

इस 'महामुद्रा' के करने से पथ्य-अपथ्य अथवा सभी तरह का नीरस भोजन सरस हो जाता है। भोजन अधिक कर लेने पर तथा विष भी खा लेने पर वह अमृत के समान पच जाता है॥ ६८॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः। तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥ ६९॥

इस महामुद्रा के अभ्यास करने वाले साधक को इसके प्रभाव से क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त (भगन्दर), गुल्म (तिल्ली बढ़ना), अजीर्ण आदि एवं भविष्य में होने वाले सभी रोगों से छुटकारा मिल जाता है॥ ६९॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्। गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥ ७०॥

यह महामुद्रा साधकों को महासिद्धि देने वाली है, इसको हर किसी को (अनधिकारी को) नहीं बताना चाहिए, प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए॥ ७०॥

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः। नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोंकारमव्ययम्॥ ७१॥

एकान्त स्थान में पद्मासन लगाकर कमर से सिर तक शरीर को सीधा करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को जमाकर अव्यय प्रणव (ॐ) का जप करना चाहिए॥ ७१॥

ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीयं यद्भूतं भवद्भविष्यत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनवच्छिन्नं परं ब्रह्म तस्माज्जाता परा शक्तिः स्वयंज्योतिरात्मिका। आत्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। एतेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्रविष्णुब्रह्माणश्चेति। तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलयकर्तारः। राजसो ब्रह्मा सात्त्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति एते त्रयो गुणयुक्ताः। ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव। धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवुः। एतेषां ब्रह्मणो लोका देवतिर्यङ्नरस्थावराश्च जायन्ते। तेषां मनुष्यादीनां पञ्चभूतसमवायः शरीरम्। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिचित्ताहंकारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च

सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवेत्युच्यते। गुणत्रययुक्तं कारणम्। सर्वेषामेवं त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाश्चेत्यवस्थाश्चतस्रः तासामवस्थानामधिपतयश्चत्वारः पुरुषा विश्वतैजस-प्राज्ञात्मानश्चेति। विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्। आनन्दभुक्तथा प्राज्ञः सर्वसा-क्षीत्यतः परः॥ ७२॥

ॐ निरंजन, निर्विकल्प, नामरहित, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, अनादिनिधन (शाश्वत), एक, तुरीय, भूत, भविष्यत्, वर्तमान में एक रस रहने वाले परब्रह्म से स्वयं प्रकाशरूपी पराशक्ति प्रकट हुई। आत्मा (परमात्मा) से आकाश प्रकट हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी प्रकट हुई। सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा ये पाँच देवता इन पाँच महाभूतों के पाँच स्वामी हैं। इसमें ब्रह्माजी उत्पत्ति करने वाले, विष्णु पालन करने वाले तथा रुद्र संहार करने वाले हैं। सतोगुणरूप विष्णु, रजोगुणरूप ब्रह्मा, तमोगुणरूप रुद्र हैं। देवताओं में पहले ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। सृष्टि की उत्पत्ति के लिए ब्रह्मा, सृष्टि के पालन अर्थात् विकास करने के लिए विष्णु, सृष्टि के विनाश के लिए रुद्र, भोगों के लिए इन्द्र की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई। लोक, देव, तिर्यक्, नर और स्थावर इन सबकी उत्पत्ति ब्रह्माजी के द्वारा हुई। उनमें मनुष्य आदि का शरीर पंचभूतों के संयोग से बनता है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञान के विषय, प्राण आदि पंच वायु, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार (अपेक्षाकृत) स्थूल रचना होने से (इनके मूल कारण को) स्थूल प्रकृति कहा जाता है। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, ज्ञान के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), पंचवायु, मन और बुद्धि को सूक्ष्म (लिंग) शरीर कहा जाता है। कारण शरीर तीन गुणों से युक्त है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर सबके होते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चार अवस्थाएँ होती हैं, तैजस, प्राज्ञ, विश्व और आत्मा ये चार पुरुष इन सब (अवस्थाओं) के अधिपति हैं। विश्व स्थूल का नित्य भोग करने वाला है, तैजस एकान्त का भोग करने वाला है, प्राज्ञ आनन्द का भोगने वाला है और सबका साक्षी (आत्मा) इससे परे कहा जाता है॥ ७२॥

प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः। अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः॥ ७३॥

सर्वव्यापी प्रणव (परमात्मा) जीवों की सभी आनन्दमय अवस्थाओं के भोग के समय अधोमुख अर्थात् उदासीन होकर रहता है॥ ७३॥

अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयो गुणास्त्रीण्यक्षराणि त्रयः स्वरा एवं प्रणवः प्रकाशते। अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु। उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुप्तितः॥ ७४॥

(प्रणव ॐ कार में निहित) तीन अक्षर 'अ' कार, 'उ' कार एवं 'म' कार तीन वेद, तीन लोक, तीन गुण, तीन अक्षर और तीन स्वर के रूप में प्रणव (ओंकार ही) प्रकाशमान है। 'अ' कार समस्त जीवधारियों के जाग्रत् अवस्था में नेत्रों में निवास करता है, सोते समय 'उ' कार कण्ठ में निवास करता है और 'म' कार सुषुप्ति अवस्था में हृदय प्रदेश में निवास करता है॥ ७४॥

**विराड्विश्वः स्थूलश्चाकारः। हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः। कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः। अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते। उकारः सात्त्विकः शुक्लो विष्णुरित्यभिधीयते॥७५॥
मकारस्तामसः कृष्णो रुद्रश्चेति तथोच्यते। प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः॥ ७६॥
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत्। अकारे लीयते ब्रह्मा ह्युकारे लीयते हरिः॥ ७७॥
मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते। ज्ञानिनामूर्ध्वगो भूयादज्ञाने स्यादधोमुखः॥ ७८॥
एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित्। अनाहतस्वरूपेण ज्ञानिनामूर्ध्वगो भवेत्॥ ७९॥**

यह स्थूल विराट् विश्व 'अ' कार ही है, सूक्ष्म तेजस्वी हिरण्यगर्भ के रूप में 'उ' कार कहा जाता है और 'म' कार अव्याकृत (अप्रकट) कारण प्राज्ञ कहा जाता है। 'अ' कार की प्रकृति राजसी, वर्ण लाल है, उसे सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा कहा गया है। 'उ' कार की प्रकृति सात्त्विक, वर्ण श्वेत है, उसे पालनकर्त्ता विष्णु कहा गया है। 'म' कार की प्रकृति तामस, वर्ण कृष्ण है, उसे संहारकर्त्ता रुद्र कहा गया है, इस तरह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की उत्पत्ति का कारण प्रणव (ॐ) ही कहा गया है। प्रणव ही सबका अनादि कारण परतत्त्व है। 'अ' कार में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा समाहित हैं, उकार में विष्णु समाहित हैं तथा मकार में रुद्र समाहित हैं। एकमात्र प्रणव ही (सर्वत्र) प्रकाशमान रहता है। यह प्रणव ज्ञानी मनुष्यों में ऊर्ध्वमुख एवं अज्ञानी मनुष्यों में अधोमुख वाला कहा गया है। इस प्रकार सर्वत्र समरूप से प्रणव (ॐ कार) ही प्रतिष्ठित है, इसको इस प्रकार से जो जानता है, वही वेदविद् है। ज्ञानी साधकों में यह प्रणव अनाहत रूप से ऊर्ध्वगति वाला होता है॥ ७५-७९ ॥

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् । प्रणवस्य ध्वनिस्तद्वत्तदग्रं ब्रह्म चोच्यते॥ ८० ॥

तैलधारवत् अविच्छिन्न, घण्टा के गम्भीर स्वर की तरह प्रणव (ओंकार) की ध्वनि वाला अनाहत नाद होता है, जिसका मूल 'ब्रह्म' कहा जाता है॥ ८०॥

ज्योतिर्मयं तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूक्ष्मतः। ददृशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित्॥ ८१ ॥

महापुरुषों के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य प्रणव का वह अग्रभाग (मूल) प्रकाशमय और वाणी से परे है, इस प्रकार से जानने वाला महात्मा ही वेदविद् है॥ ८१॥

जाग्रन्नेत्रद्वयोर्मध्ये हंस एव प्रकाशते। सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम्॥ ८२ ॥
हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम्। सकारो ध्यायते जन्तुर्हकारो हि भवेद्ध्रुवम्॥८३ ॥

दोनों नेत्रों के बीच जाग्रत् अवस्था में हंस ज्योतित रहता है। 'स' कार खेचरी के रूप में कहा गया है, जो निश्चित रूप से 'त्वं' का स्वरूप है। 'ह' कार पद परमात्मा का द्योतक है, जो निश्चित रूप से 'तत्' पद के रूप में है। जो भी प्राणी 'स' कार का ध्यान करता है, वह निश्चित रूप से 'ह' कार रूप हो जाता है। यही सोऽहम् और तत्त्वमसि की साधना है॥ ८२-८३॥

[ऋषि यहाँ 'सोऽहम्' और 'तत् त्वम्' बोध वाक्यों की समानता-एकरूपता प्रदर्शित कर रहे हैं। साधक जब तात्त्विक दृष्टि से 'स्व' की ओर देखता है, तो 'सोऽहमस्मि' का बोध करता है तथा जब बाहर की ओर उसी दृष्टि से देखता है, तो तत्त्वमसि का अनुभव करता है।]

इन्द्रियैर्बध्यते जीव आत्मा चैव न बध्यते। ममत्वेन भवेज्जीवो निर्ममत्वेन केवलः॥ ८४॥

जीव को इन्द्रियाँ बन्धन में बाँधती हैं, आत्मा को इन्द्रियाँ नहीं बाँध सकती हैं। जब तक ममता होती है, वह जीव रहता है, ममता के बन्धन समाप्त हो जाने पर कैवल्य रूप हो जाता है॥ ८४॥

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः। यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति॥ ८५ ॥

सूर्य, चन्द्र औँर अग्नि देवता एवं भूः, भुवः, स्वः लोक जिसकी मात्राओं में स्थित रहते हैं, वह परम प्रकाशरूप ओंकार है ॥ ८५॥

क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी। त्रिधा मात्रास्थितिर्यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥८६ ॥

परम प्रकाशमान ओंकार की तीन मात्राओं में क्रिया, इच्छा और ज्ञान तथा ब्राह्मी, रौद्री एवं वैष्णवी शक्तियाँ विराजमान हैं॥ ८६॥

वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत्। मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति॥ ८७॥

सदैव वाणी से उसका जप करे तथा शरीर से उसी के प्रति आचरण करना चाहिए। मन से उसी का जप करते हुए उसी परमप्रकाशरूप ओंकार में स्थिर हो जाए॥ ८७॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा। न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ ८८॥

पवित्र या अपवित्र किसी भी अवस्था में ओंकार का जप करने वाला पाप-पंक में नहीं फँसता, संसार में वह जल से अलिप्त पद्मपत्र की तरह निर्लिप्त बना रहता है॥ ८८॥

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्। योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्॥८९

जब तक वायु चलती रहेगी, तब तक बिन्दु भी चलायमान होगा, वायु के स्थिर हो जाने पर योगी स्थिरता (निश्चलता) को प्राप्त हो जाता है। इसलिए वायु की स्थिरता (प्राणायाम) का अभ्यास करना चाहिए॥ ८९॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुञ्चति। मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरुन्धयेत्॥९०॥

शरीर में जब तक वायु विद्यमान है, तब तक शरीर में जीव स्थिर रहेगा। शरीर से वायु निकल जाना ही मृत्यु है, इस कारण वायु का निरोध (प्राणायाम) करना चाहिए॥ ९०॥

यावद्बद्धो मरुत् देहे तावज्जीवो न मुञ्चति। यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः॥९१॥

जीव शरीर से तब तक नहीं निकल सकता, जब तक शरीर में वायु आबद्ध (स्थित) है, जो व्यक्ति दोनों भृकुटियों के बीच में दृष्टि को स्थिर रखता है, वह काल को जीत लेता है, उसे काल का भय कैसा?॥ ९१॥

अल्पकालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरो भवेत्। योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणान्निरोधयेत्॥ ९२॥

ब्रह्मा भी अल्प काल के भय से (अल्पायु से) मुक्ति पाने के लिए प्राणायाम करते हैं। इसलिए प्राण का निरोध करने के लिए योगियों और मुनियों को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥ ९२॥

षड्विंशदङ्गुलिर्हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः। वामदक्षिणमार्गेण प्राणायामो विधीयते॥ ९३॥

यह प्राण हंस रूप है, जो श्वास के माध्यम से छब्बीस अंगुल बाहर आता है। प्राणायाम नासिका के दोनों छिद्रों अर्थात् बायें-दायें मार्ग से करना चाहिए॥ ९३॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्। तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणक्षमः॥ ९४॥

सभी प्रकार के मलों से नाड़ी चक्र के शुद्ध हो जाने पर योगी प्राणों का निरोध करने (प्राणायाम-सिद्ध होने) में समर्थ हो जाता है॥ ९४॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्। धारयेद्वा यथाशक्त्या भूयः सूर्येण रेचयेत्॥ ९५॥

योग का अभ्यास करने के लिए बद्ध पद्मासन लगाकर चन्द्र नाड़ी (बायें स्वर) के द्वारा वायु को भीतर खींचे-पूरक करे, पुनः कुछ समय भीतर रोके-कुम्भक करे, फिर सूर्य नाड़ी (दायें स्वर) के द्वारा रेचन करे अर्थात् बाहर निकाले॥ ९५॥

अमृतोदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम्। ध्यात्वा चन्द्रमसं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत्॥ ९६॥

प्राणायाम के समय अमृत समुद्र से निकले हुए गो-दुग्ध के समान श्वेत वर्ण के चन्द्रबिम्ब का ध्यान करने से साधक सुखी होता है॥ ९६॥

स्फुरत्प्रज्वलसंज्वालापूज्यमादित्यमण्डलम्। ध्यात्वा हृदि स्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत्॥

पुनः हृदयकमल में स्थित प्रज्वलित ज्वालासदृश भगवान् सूर्य के ध्यान के साथ प्राणायाम करना योगी के लिए सुखदायी होता है॥ ९७॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया। सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिन्दुद्वयं ध्यायतः शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मासद्वयादूर्ध्वतः॥ ९८॥

प्राणायाम में सर्वप्रथम इड़ा नाड़ी अर्थात् बायें स्वर से श्वास खींचे (पूरक करे)। पुनः पिंगला नाड़ी अर्थात् दायें स्वर से श्वास का रेचन करे (पुनः इसके विपरीत करे)। इस प्रकार प्राणायाम करते समय चन्द्र और सूर्य दोनों का पूर्व वर्णित तरीके से ध्यान का अभ्यास करने पर मात्र दो महीने में नाड़ीशोधन हो जाता है ॥ ९८ ॥

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्। नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्॥ ९९ ॥

'नाड़ीशोधन प्राणायाम' करने से नाड़ी शुद्ध होने पर वायु को यथेष्ट धारण करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है तथा आरोग्य के लाभ के साथ जठराग्नि प्रबल हो जाती है और दिव्यनाद सुनाई पड़ने लगता है ॥ ९९ ॥

प्राणो देहस्थितो यावदपानं तु निरुन्धयेत्। एकश्वासमयी मात्रा ऊर्ध्वाधो गगने गतिः ॥ १०० ॥

प्राणायाम में कुंभक की स्थिति में जब तक वायु भीतर रुकी रहे, तब तक अपान वायु को भी रोके रखे। इस प्रकार हृदयाकाश में एक श्वास की मात्रा ऊपर और नीचे गमनशील होती है ॥ १०० ॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः । प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः ॥ १०१ ॥

प्राणायाम की पूरक, कुम्भक और रेचक ये तीनों क्रियाएँ साक्षात् प्रणव का ही रूप हैं (इस चिन्तन के साथ) द्वादश मात्रायुक्त प्राणायाम करना चाहिए॥ १०१ ॥

मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ। दोषजालमबध्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा॥ १०२ ॥

सूर्य और चन्द्र का यह द्वादश मात्रा वाला प्राणायाम साधक के सभी दोषों को समाप्त कर देता है ॥ १०२ ॥

पूरकं द्वादशं कुर्यात्कुम्भकं षोडशं भवेत्। रेचकं दश चोंकारः प्राणायामः स उच्यते ॥ १०३ ॥

पूरक में द्वादश मात्रा, कुम्भक में षोडश मात्रा और रेचक में दस मात्रा के प्राणायाम को ओंकार प्राणायाम कहा जाता है॥ १०३ ॥

अधमे द्वादश मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता। उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥ १०४ ॥

यह प्राणायाम द्वादश मात्रा का सामान्य कोटि का, इससे दुगुनी मात्रा का मध्यम स्तर का और उसकी तिगुनी अर्थात् छत्तीस मात्रा का प्राणायाम उत्तम कोटि का होता है ॥ १०४ ॥

अधमे स्वेदजननं कम्पो भवति मध्यमे। उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्॥ १०५ ॥

अधम अर्थात् सामान्य प्राणायाम पसीना लाने वाला होता है, मध्यम प्राणायाम में शरीर काँपने लगता है तथा उत्तम कोटि के प्राणायाम में शरीर आसन से ऊपर उठने लगता है, इसलिए इसी तरह का प्राणायाम करना चाहिए॥ १०५ ॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम्। नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत्॥ १०६ ॥

योग का अभ्यास करने के लिए एकान्त में बद्धपद्मासन लगाकर बैठे और शिवस्वरूप गुरु को नमस्कार करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥ १०६ ॥

द्वाराणां नव संनिरुध्य मरुतं बध्वा दृढां धारणां नीत्वा कालमपानवह्निसहितं शक्त्या समं चालितम्। आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि स्थिरं यावत्तिष्ठति तावदेव महतां सङ्गो न संस्तूयते॥ १०७॥

जिन नव द्वारों से वायु का गमनागमन होता है, उनका निरोध करके वायु को रोके और अपान को अग्नि से मिलाकर ऊर्ध्वगामी बनाकर शक्तिचालिनी मुद्रा द्वारा कुण्डलिनी मार्ग से दृढ़तापूर्वक ऊपर मस्तिष्क में आत्मा के ध्यान के साथ स्थापित करे। जब तक यह स्थिर रहे, तब तक वह (अन्य) महापुरुष की संगति नहीं चाहता अर्थात् वह स्वयं सर्वश्रेष्ठ हो जाता है ॥ १०७॥

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः। भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा॥ १०८॥

संसार-सागर से मुक्ति के लिए यह प्राणायाम महासेतु के सदृश है और पाप रूपी ईंधन को जलाने वाले अग्नि की तरह है, ऐसा योगियों द्वारा प्रायः कहा जाता है॥ १०८॥

आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम्। विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति॥ १०९॥

योग के आसनों से (शारीरिक) रोग समाप्त होते हैं, प्राणायाम करने से पापों का विनाश होता है तथा प्रत्याहार करने से मानसरोग (विकार) समाप्त होते हैं॥ १०९॥

धारणाभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम्। समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्॥११०॥

योग की धारणाशक्ति द्वारा योगी का मन धैर्यवान् बनता है, समाधि से जीव के शुभाशुभ कर्म समाप्त हो जाते हैं तथा मुक्ति मिल जाती है॥ ११०॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः। प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा॥ १११॥
धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः। ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥ ११२॥

बारह बार प्राणायाम करने से प्रत्याहार की स्थिति बनती है तथा बारह बार इसी तरह प्रत्याहार करने से शुभफलदात्री धारणा की सिद्धि होती है। इसी प्रकार धारणा की द्वादश आवृत्ति पर ध्यान बनता है तथा द्वादश बार ध्यान होने पर समाधि अवस्था प्राप्त होती है, ऐसा योग के विशारदों का मत है॥१११-११२॥

यत्समाधौ परंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्। तस्मिन्दृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते॥ ११३॥

समाधि की स्थिति में साधक परमप्रकाशरूप अनन्त विश्वतोमुख अर्थात् सर्वत्र समभाव प्राप्त कर लेता है, इस स्थिति को प्राप्त होने पर न तो कुछ करना शेष रहता है, न किये हुए कर्म मनुष्य को बन्धन में डालते हैं, इससे आवागमन से छुटकारा मिल जाता है॥ ११३॥

संबद्धासनमेढ्रमङ्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुटद्वाराद्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम्।
बध्वा वक्षसि बह्वपानसहितं मूर्ध्नि स्थिरं धारयेदेवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरास्तन्मनाः॥

दोनों पैर की एड़ियों को मेढ्र अर्थात् सीवन स्थान में लगाकर आसन में दृढ़तापूर्वक बैठे, तत्पश्चात् आँख, कान एवं नाक को अँगुलियों से बन्द करे और मुँह से वायु खींचे। पुनः नीचे से अपान वायु को ऊर्ध्वगामी बनाए, फिर दोनों वायुओं को हृदय प्रदेश में रोके। पुनः ऊर्ध्वगामी बनाकर मस्तिष्क में स्थिर करके मन को उसी में लगाए, इस क्रिया से योगियों को विशेष समत्वभाव प्राप्त होता है॥ ११४॥

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्। घण्टादीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता॥ ११५॥

ऊपर और नीचे दोनों ओर से गतिशील वायु जब आकाशमण्डल (हृदय प्रदेश) में स्थिर होती है, तब साधक को महान् ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है, घण्टा आदि वाद्यों की तरह ध्वनि सुनाई पड़ती है तथा नादयोग की सिद्धि होती है॥ ११५॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्। प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः॥ ११६॥

विधिवत् प्राणायाम के अभ्यास से सभी प्रकार के रोगों से मुक्ति मिलती है। प्राणायाम के न करने से यह शरीर रोगों का उत्पत्तिस्थान बना रहता है॥ ११६॥

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः। भवन्ति विविधा रोगाः पवनव्यत्ययक्रमात्॥

वायु के विकृत होने के कारण ही खाँसी, श्वास, हिचकी, सिर, कान, आँख की पीड़ा होती है और नाना प्रकार के रोग पैदा होते हैं॥ ११७॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः। तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्॥११८॥

हाथी, सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु जिस प्रकार से धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा वश में होते हैं, उसी तरह प्राणवायु को शनैः-शनैः अभ्यास के द्वारा वश में करे। यदि साधक ऐसा नहीं कर पाता है, तो उसका विनाश हो जाता है॥ ११८॥

युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं प्रपूरयेत्। युक्तंयुक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात्॥ ११९॥

समुचित तरीके से प्राणवायु को खींचे, समुचित तरीके से प्राणवायु को बाहर निकाले तथा समुचित तरीके से ही प्राणवायु को रोकने से सिद्धि प्राप्त होती है॥ ११९॥

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्। तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते॥ १२०॥

आँख आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर भागती हैं, उनको वहाँ से रोकना (और इष्ट साधना में लगाना) प्रत्याहार कहा जाता है॥ १२०॥

यथा तृतीयकाले तु रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम्। तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं हरेत्॥ इत्युपनिषत्॥ १२१॥

जैसे-जैसे तृतीय प्रहर (सायंकाल) होता जाता है, वैसे ही सूर्य अपने प्रकाश को समेटता जाता है और सायंकाल को पूरी तरह समेट लेता है, ठीक उसी प्रकार योगी अपनी साधना का स्तर बढ़ाते हुए (तीन अवस्था, तीन गुण, तीन शरीर से आगे बढ़ते हुए) जब अपने तृतीयांग (उच्च योग के तृतीयांग-समाधि) में स्थित हो जाता है, तो वह अपने मन के समस्त विकारों का शमन कर लेता है। यही उपनिषद् (रहस्य विद्या) है॥ १२१॥

ॐ आप्यायन्तु .... इति शान्तिः॥

॥ इति योगचूडामण्युपनिषत्समाप्ता॥

॥ योगराजोपनिषद् ॥

यह योगपरक उपनिषद् है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह योगपरक उपनिषदों में श्रेष्ठ है, तभी इसे 'योगराज' संज्ञा प्रदान की गई है। इसमें कुल २१ मन्त्र हैं, जिसमें योग विषयक सिद्धान्तों को बड़े सरल शब्दों में व्याख्यायित किया गया है। सर्वप्रथम चार योगों-मन्त्रयोग,लययोग, हठयोग एवं राजयोग का उल्लेख है। इसके बाद योग के प्रमुख चार अंगों-आसन, प्राणसंरोध (प्राणायाम), ध्यान तथा समाधि का विवेचन है। पुनः ९ चक्रों (ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, नाभिचक्र, हृदयचक्र,कण्ठचक्र, तालुकाचक्र, भ्रूचक्र, ब्रह्मरन्ध्रचक्र, व्योमचक्र) का वर्णन तथा उनमें ध्यान करने की प्रक्रिया का उल्लेख है। अन्त में चक्रों के ध्यान की फलश्रुति बताते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

योगराजं प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये। मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा॥ १ ॥

अब योगियों के योग-सिद्धि के लिए मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग इन चार प्रकार वाले योग से युक्त योगराज उपनिषद् का वर्णन करते हैं॥ १ ॥

योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिकः॥२ ॥

योग के तत्त्वदर्शियों ने योग को आसन, प्राणसंरोध, ध्यान तथा समाधिरूप चार प्रकार का कहा है॥

एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम्। ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मन्त्रं जाप्यं विशारदैः॥ ३ ॥

ये चारों सर्वयोग-सम्मत कहे गये हैं। विद्वज्जन ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के मन्त्रों का जप करें॥ ३ ॥

साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा। कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञितः॥ ४ ॥

मन्त्रयोग को सिद्ध करने वाले वत्सराज आदि हैं एवं लययोग को व्यासादि ने सिद्ध किया॥ ४ ॥

नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः। प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तं भगाकृति॥ ५ ॥

नौ प्रकार के चक्रों में लय करके महात्मा लोग योग की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। तीन बार आवृत्त (घिरा हुआ) 'भग' (त्रिकोण)की आकृति का प्रथम चक्र है, जिसको ब्रह्मचक्र कहा गया है॥ ५ ॥

अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः। तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा॥६ ॥

अपान के स्थान में कामरूपी मूलकन्द स्थित है, उसको ही अग्नि कुण्ड एवं तत्त्व कुण्डलिनी कहा है॥६

तां जीवरूपिणीं ध्यायेज्ज्योतिष्ठं मुक्तिहेतवे। स्वाधिष्ठानं द्वितीयं स्याच्चक्रं तन्मध्यगं विदुः॥७ ॥

उस ज्योतिस्वरूप जीवरूपिणी का मुक्ति की कामना से ध्यान करना चाहिए। उसी के मध्य में स्वाधिष्ठान नाम का दूसरा चक्र विद्वानों ने कहा है॥ ७ ॥

पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसन्निभम्। तत्रोड्डीयाणपीठेषु तं ध्यात्वाकर्षयेज्जगत्॥ ८ ॥

प्रवालाङ्कुर(रक्त वर्ण के अंकुर)के समान प्रकाशमान पश्चिमाभिमुख एक लिङ्ग स्थित है। वहाँ उड्डीयाणपीठ (स्वाधिष्ठान चक्र) के अन्तर्गत उस (प्रकाशमान अंकुर) का ध्यान करते हुए संसार का आकर्षण करे॥ ८ ॥

तृतीयं नाभिचक्रं स्यात्तन्मध्ये तु जगत् स्थितम्। पञ्चावर्तां मध्यशक्तिं चिन्तयेद्विद्युदाकृति॥९ ॥

तृतीय चक्र नाभि चक्र है, उसके अन्दर संसार की स्थिति कही गयी है। उसके मध्य में पाँच आवृत्ति वाली विद्युत् के समान शक्ति का चिन्तन (ध्यान) करना चाहिए॥ ९ ॥

तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां भाजनं जायते बुधः। चतुर्थं हृदये चक्रं विज्ञेयं तदधोमुखम्॥ १० ॥

उसका ध्यान करके विद्वान् पुरुष समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। चतुर्थ चक्र नीचे की ओर मुँह किये हृदय में स्थित है, ऐसा जानना चाहिए॥ १० ॥

ज्योतीरूपं च तन्मध्ये हंसं ध्यायेत् प्रयत्नतः। तं ध्यायतो जगत् सर्वं वश्यं स्यान्नात्र संशयः॥११ ॥

उसके मध्य में प्रकाश के रूप में हंस का ध्यान प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। उसका ध्यान करने से सारा संसार वशीभूत हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए॥ ११॥

पञ्चमं कण्ठचक्रं स्यात् तत्र वामे इडा भवेत्। दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया सुषुम्ना मध्यतः स्थिता॥१२॥

पञ्चम चक्र कण्ठचक्र कहा गया है, उसके वाम भाग में इड़ा, दक्षिण भाग में पिङ्गला एवं मध्य में सुषुम्ना की स्थिति कही गई है॥ १२॥

तत्र ध्यात्वा शुचि ज्योतिः सिद्धीनां भाजनं भवेत्। षष्ठं च तालुकाचक्रं घण्टिकास्थान मुच्यते॥

वहाँ पर (कण्ठचक्र में) पवित्र प्रकाश का ध्यान करने से समस्त सिद्धियाँ मिल जाती हैं। छठा 'तालुका' चक्र कहा गया है, जिसे घण्टिका स्थान भी कहते हैं॥ १३॥

दशमद्वारमार्गं तद्राजदन्तं च तज्जगुः। तत्र शून्ये लयं कृत्वा मुक्तो भवति निश्चितम्॥ १४॥

उसे दसवें द्वार का मार्ग एवं राजदन्त भी कहा जाता है। वहाँ पर शून्य में (मन को) लय करने से मनुष्य निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

भ्रूचक्रं सप्तमं विद्याद्बिन्दुस्थानं च तद्विदुः। भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते॥ १५

सप्तम 'भ्रू' चक्र है, उसे विद्या एवं बिन्दुस्थान भी कहते हैं। योगीजन भृकुटि-मध्य में गोलाकार ज्योति का ध्यान करके मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं॥ १५॥

अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकम्। तं ध्यात्वा सूतिकाग्रामं धूमाकारं विमुच्यते॥ १६॥

परम निर्वाण का सूचक आठवाँ चक्र 'ब्रह्मरन्ध्र' कहा जाता है। धूम्रवर्ण वाले उस सूतिका ग्राम अर्थात् उद्गमस्थान का ध्यान करके योगी मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ १६॥

तच्च जालन्धरं ज्ञेयं मोक्षदं नीलचेतसम्। नवमं व्योमचक्रं स्यादश्रैः षोडशभिर्युतम्॥ १७॥

उस नीलवर्ण वाले मोक्षदाता को जालन्धर (जालन्धरपीठ) समझना चाहिए। नौवाँ चक्र सोलह दल वाला व्योमचक्र कहा गया है॥ १७॥

संविद्ब्रूयाच्च तन्मध्ये शक्तिरुद्धा स्थिता परा। तत्र पूर्णां गिरौ पीठे शक्तिं ध्यात्वा विमुच्यते॥१८

उस षोडशदलचक्र के मध्य में जो पराशक्ति अवरुद्ध (स्थित) है, उसे संविद् कहना चाहिए। वहाँ (उस चक्र के मध्य में) पूर्णागिरिपीठ में पूर्णशक्ति का ध्यान करके साधक मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १८॥

एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः। सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्थाः स्युर्दिने दिने॥ १९॥

जो साधक ऊपर वर्णित इन नौ चक्रों में से क्रमशः एक-एक का ध्यान करता है, उसे मुक्ति के सहित समस्त सिद्धियाँ प्रतिदिन प्राप्त होती जाती हैं॥ १९॥

एको दण्डद्वयं मध्ये पश्यति ज्ञानचक्षुषा। कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते॥ २०॥

अपने ज्ञाननेत्र से जो साधक कदम्ब के गुच्छक के समान गोलाकार चक्र के मध्य में दो दण्डों का दर्शन करते हैं, वे ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेते हैं॥ २०॥

ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन अधःशक्तेर्निकुञ्चनात्। मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखं
जायते परमं सुखम्। इति॥ २१॥

ऊर्ध्वशक्ति के निपात से एवं अधःशक्ति को संकुचित करने से तथा मध्य की शक्ति को जाग्रत् कर देने से परमसुख प्राप्त हो जाता है। यह निश्चित है॥ २१॥

॥ इति योगराजोपनिषत् समाप्ता॥

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अकर्तृकमरङ्गं च गगने	महो० ५.५४	अत्रैते श्लोका भवन्ति	त्रि०ब्रा० २.१
अकार उकारो मकारश्चेति	यो०चू० ७४	अथ कस्मादुच्यते	नृ०पूर्व० २.९
अकारे तु लयं प्राप्ते	ध्या०बि० १०	अथ कस्मादुच्यते ज्वलन्तम्	नृ०पूर्व०२.११
अकारोकारमकार	गा०रह० ४	अथ कस्मादुच्यते नामामीति	नृ०पूर्व०२.१७
अक्षसूत्राङ्कुशधरा	सर०रह० ३८	अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति	नृ०पूर्व०२.१३
अक्ष्यन्तस्तारयोश्चन्द्र	अद्व०ता० ९	अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति	नृ०पूर्व०२.१५
अगम्या वचसां शान्ता	अक्षि० २.४१	अथ कस्मादुच्यते भीषणम्	नृ०पूर्व०२.१४
अग्निरूपा अन्नपानादि	सीता० १५	अथ कस्मादुच्यते महाविष्णु...	नृ०पूर्व०२.१०
अग्निवायुसूर्यरूपा	गा०रह० ५	अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युम्	नृ०पूर्व०२.१६
अघोरबीजमन्त्रेण	रुद्र०जा० २४	अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखम्	नृ०पूर्व०२.१२
अङ्गचेष्टार्पणं बलिः	द०मू० २३	अथ कस्मादुच्यतेऽहमिति	नृ०पूर्व०२.१८
अङ्गानां मर्दनं कृत्वा	ध्या०बि० ७१,यो०कुं० ४१	अथ कानि त्रीणि वलयानि	नृ०षट्० ३
अङ्गानि मात्राणि	पा०ब्र० १.१७	अथ कानि नामानि भवन्ति	नृ०षट्० २
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु	यो०कुं० १.१२	अथ कालाग्निरुद्रः प्रोवाच	रुद्र० जा० ४७
अङ्गुष्ठमात्रमात्मानं	यो०कुं० ३.२६	अथ कालाग्निरुद्रं	रुद्र०जा० ४६
अङ्गुष्ठादि स्वावयव....	त्रि०ब्रा० २.१२१	अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं	काल०रु० २
अङ्गैः प्रथमाऽऽवृतिः	सौ०ल० १.६,१०	अथ कालाग्निरुद्रोपनिषदः	काल०रु० १
अचक्षुः श्रोत्रमत्यर्थं	पा०ब्र० २.२९	अथ किं बाह्यं वलयम्	नृ०षट्० ६
अचिरादेव तत्प्राप्तिः	त्रि०ब्रा० २.१४५	अथ किं मध्यमं	नृ०षट्० ५
अजपानाम गायत्री	यो०चू० ३३	अथ किमान्तरं वलयम्	नृ०षट्० ४
अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य	महो० ५.५०	अथ तां पञ्चभिर्गन्धैरमृतैः	अक्ष० ४
अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य	महो० ५.१०५	अथ तुलस्युपनिषदं	तुलसी० १
अज्ञानात्तु चिदाभासो	यो०कुं० ३.३०	अथ ते अपि संत्यज्य	महो० ५.९६
अज्ञानोपहतो बाल्ये	महो० ६.२३	अथ द्वात्रिंशदरं	नृ०पूर्व० ५.६
अज्ञासिषं पूर्वमेवम्	महो० २.१७	अथ द्वादशारं द्वादशपत्रं	नृ०पूर्व ५.४
अणोरणीयान्महतो	शरभ० २१	अथ ध्यानम् वज्राङ्गं	लांगूल० ३
अण्डाकृति तिरश्चां च	त्रि०ब्रा० २.५९	अथ नारायणः	महो० १.८
अतः पौरुषमाश्रित्य	महो० ४.१०३	अथ नित्यो नारायणः	नारा० २
अतः संकल्पसिद्धेयं	महो० ४.१२२	अथ पञ्चदश ऋगात्मकस्य	सौ०ल०१.३
अतश्चात्मनि कर्तृत्वम्	महो० ४.१४	अथ पुनरुत्थाप्य	अक्ष० १५
अतसीपुष्प संकाशं	ध्या०बि० ३०	अथ पुनरेव नारायणः	महो० १.७
अतिबाह्यं तथा बाह्यम्	महो० २.७३	अथ पुरुषो ह वै	नारा० १
अतिमोहकरी माया मम	शरभ० २४	अथ प्रजापतिर्गुहं	अक्ष० १
अतिशून्यो विमर्दश्च	सौ०ल० २.८	अथ बहिर्लक्ष्यलक्षणं	अद्व० ता० ६
अतीतः सर्वभावेभ्यो	महो० ६.५६	अथ भगवन्तं देवा	सौ०ल० १.१
अतुले त्वतुलायां हि	तुलसी० ५	अथ मध्यलक्ष्यलक्षणं	अद्व०ता० ७
अतो निदाघ तत्त्वज्ञ	महो० ५.१७०	अथ वागीश्वरी धाम	यो०कुं०२.३२
अत्राप्यावृतिनाशेन	सर०रह० ५७	अथवा सर्वकर्तृत्वम्	महो० ६.५
अत्रैते मन्त्ररहस्यश्लोका	द०मू० ६	अथ व्योमानिलानल....	त्रि०ब्रा० १.९

परिशिष्ट

परिभाषा-कोश-१०८ उपनिषद्-साधना खण्ड

१. **अक्षर—द्र०-ज्ञानखण्ड-अक्षरब्रह्म।**

२. **अङ्गन्यास**—सामान्यतः न्यास शब्द का अर्थ धारण करना माना जाता है। इसीलिए पूजा आदि कृत्यों में षट्कर्म के अन्तर्गत विभिन्न अङ्गों को पवित्र करने, उनमें देवत्व धारण के निमित्त न्यास की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। प्रख्यात संस्कृत कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में अङ्गन्यास इन शब्दों में परिभाषित है-**अङ्गेषु हृदयादिषु मन्त्रभेदस्य न्यासः** अर्थात् हृदयादि अङ्गों में मन्त्र भेद से (देवत्व धारण करना) न्यास कहलाता है। हिन्दी विश्व कोश के अङ्गन्यास प्रकरण में यह उल्लेख इन शब्दों में है-- '**अङ्गेषु अङ्गशुद्धिहेतोरङ्गेषु हृदयादिषु मन्त्रविशेषस्य न्यासः**' जिसका अभिप्राय यह है कि तन्त्रोक्त मन्त्रोच्चार के साथ हाथ द्वारा हृदयादि -अङ्गों को एक-एक करके स्पर्श करना। जैसे- **ॐ क्रां हृदयाय नमः। ॐ क्रीं शिरसे स्वाहा। ॐ क्रूं शिखायै वषट्** आदि मन्त्रों सहित उपर्युक्त अङ्गों का स्पर्श करना अङ्ग न्यास है। यों तो दैनिक पूजा, होम में भी नित्य न्यास कर्म किया जाता है; किन्तु तान्त्रिक प्रयोगों में इस प्रक्रिया का विशेष महत्त्व है। स्थिति भेद से न्यास के कई प्रकार हैं, जैसे-करन्यास, षडङ्गन्यास आदि। हिन्दी विश्वकोश में करन्यास इस प्रकार निर्दिष्ट है—**करे करावयवे न्यासः** अर्थात् तन्त्रोक्त मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक अङ्गुष्ठ सहित समस्त अँगुलियों के तल और पृष्ठ भाग पर किए गये न्यास को करन्यास कहते हैं—जैसे- **अं कं खं गं घं ङं आं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः, इं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्यां स्वाहा** आदि मन्त्रों के साथ किया गया न्यास करन्यास है। इसी प्रकार षडङ्ग अर्थात् शरीर के छः अङ्गों- दो जङ्घाओं, दो भुजाओं, मस्तक और मध्य भाग पर किये गये न्यास को भी षडङ्ग न्यास कहते हैं। इन सभी न्यासों के पृथक्-पृथक् मन्त्र होते हैं। दक्षिणामूर्त्युपनिषद् में अङ्गन्यास का उल्लेख इस सन्दर्भ के साथ संप्राप्य है- ....**देवता दक्षिणाऽऽस्यः। मन्त्रेणाङ्गन्यासः** (द० मू०६)। योगकुण्डल्युपनिषद् में खेचरी विद्या प्रकरण में ऋषि ने छः बीजाक्षरों से षडङ्ग न्यास और करन्यास करके सम्पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने की बात कही है- **शनैः शनैः ....महावज्रकवाटभित्। पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याऽतिदुर्लभा॥ तस्याः षडङ्गं कुर्वीत ....भिन्नया। कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादि हेतवे** (२.३७-३८)। इसके अतिरिक्त न्यास शब्द के अन्य भी कई अर्थ मिलते हैं। जैसे-किसी की वह वस्तु भी न्यास कहलायेगी, जो किसी अन्य व्यक्ति के यहाँ इस विश्वास पर रखी है कि वह उसकी रक्षा करेगा और माँगने पर वापस कर देगा। विन्यास, अर्पण, त्याग आदि अर्थों में भी बहुत स्थलों पर न्यास शब्द का प्रयोग होता है।

३. **अग्निष्टोम—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।**

४. **अचेतन—द्र०-ज्ञानखण्ड-जड़-चेतन।**

५. **अजपा गायत्री—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।**

६. **अजा-अनजा-अज्ञेया**—इस सम्पूर्ण सृष्टि का प्रादुर्भाव परब्रह्म की शक्ति से हुआ है। शक्ति को देवी की मान्यता प्रदान की गई है। प्रकृति-पुरुष, शक्ति-शिव का सदैव युग्म के रूप में नाम लेने पर प्रथम स्त्रीवाचक, शक्ति का ही नामोच्चारण होता है, इसीलिए उसे प्रथम माना गया है। अवतारों में भी अधिकांश युग्म रूप में ही आये हैं और उन्होंने अपनी सहयोगिनी शक्ति के माध्यम से ही महान् कार्य करके युगान्तरकारी परिवर्तन किए। शक्ति की इस प्रधानता के कारण ही परब्रह्म परमेश्वर को माता के रूप में भी माना जाता है। स्थिति और कार्यभेद से उस शक्ति के अनेक नाम भी हुए हैं। कई बार ये शक्तियाँ (देवियाँ) एकाकी भी अवतरित होती हैं, तब उनकी सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान् रूप में अभ्यर्चना की जाती है। देव्युपनिषद् में उल्लेख है कि देवी दुर्गा के समीप गये देवों द्वारा उनके सम्बन्ध में पूछे जाने पर देवी ने अपने विषय में बताते हुए कहा '**मैं ब्रह्म स्वरूपिणी हूँ।**' कार्य-कारण स्वरूप प्रकृति-पुरुषात्मक इस जगत् का प्रादुर्भाव मेरे द्वारा ही हुआ है। अपनी विभिन्न विशेषताएँ बताते हुए उनने कहा मैं वेद-अवेद, विद्या-अविद्या और अजा (जन्म न लेने वाली)-अनजा (आवश्यकता पड़ने पर जन्म धारण कर लेने वाली) भी हूँ- **वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याऽहमविद्याऽहम्। अजाऽहमनजाऽहम्** (देवी०३)। इसी प्रकार उन देवी के अन्य भी अनेक नाम हैं। जैसे ब्रह्मा आदि के द्वारा भी जिनके पदार्थ रूप को नहीं जाना जा सकता, इस कारण उन्हें (देवी को) अज्ञेया कहते हैं, चेतन होने के कारण उनका कभी अन्त न होने से उन्हें अनन्ता, उनका चेतन स्वरूप दिखाई न पड़ने से उन्हें ही अलक्ष्या कहा जाता

के कारण उनका कभी अन्त न होने से उन्हें अनन्ता, उनका चेतन स्वरूप दिखाई न पड़ने से उन्हें ही अलक्ष्या कहा जाता है-**यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यतेऽज्ञेया। यस्या अन्तो न विद्यते तस्मादुच्यतेऽनन्ता। यस्या ग्रहणं नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽलक्ष्या** (देवी० २६)। काल का नियमन करने के कारण इन्हें कालरात्रि, वेदों में स्तुति होने के कारण इन्हें ब्रह्मस्तुता, विष्णु शक्ति होने से इन्हें वैष्णवी भी कहते हैं। इसी प्रकार इन देवी के अन्य भी स्कन्दमाता, सरस्वती, अदिति, दक्षकन्या, पापनाशिनी, कल्याणी और भगवती आदि नाम हैं-**कालरात्रिं ब्रह्मस्तुतां वैष्णवीं स्कन्दमातरम्। सरस्वतीमदितिं दक्षदुहितरं नमामः पावनां शिवाम्** (देवी० ११)।

७. **अणिमा**—द्र०-अष्ट सिद्धि।

८. **अण्डज—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-कला।**

९. **अतिरात्रयज्ञ**—यज्ञ को भारतीय संस्कृति का पिता और गायत्री को माता कहा जाता है। व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में तो त्यागपूर्ण जीवन जीने को ही यज्ञ माना जाता है। लोककल्याण के कार्यों को भी यज्ञ की संज्ञा प्रदान की जाती है। जैसे-नेत्रदान यज्ञ, रक्तदान यज्ञ, भूदान यज्ञ आदि। ये तो यज्ञ के दार्शनिक स्वरूप हैं। शास्त्रीय दृष्टि में भी यज्ञ के अनेक प्रकार होते हैं। इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया गया है। १. श्रौत यज्ञ २. स्मार्त यज्ञ। श्रुति प्रतिपादित यज्ञों को श्रौत यज्ञ तथा स्मृति प्रतिपादित यज्ञों को स्मार्त यज्ञ कहते हैं। श्रौत यज्ञ में श्रुति निर्दिष्ट मन्त्रों और स्मार्त यज्ञ में वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक मन्त्रों का भी प्रयोग होता है। श्रौत यज्ञों के अन्तर्गत अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग आते हैं- **स वा एष यज्ञः पञ्चविधः अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि पशुः सोमः** (ऐ० आ० २.३.३)। इनमें सोमलता के रस द्वारा जिन यज्ञों को सम्पादित किया जाता है, उन्हें सोमयाग कहते हैं, जिनमें दूध, दही, घी और पुरोडाश आदि पिष्टक आहुति दी जाती है, उन्हें हविर्यज्ञ कहते हैं। सोमयाग वसन्त ऋतु में सम्पन्न करने का शास्त्रीय विधान है। यद्यपि सामान्यतया यह यज्ञ एक ही दिन में पूर्ण हो जाता है; किन्तु अपने अङ्ग-उपाङ्गों सहित सम्पन्न होने में इसमें पाँच दिन का समय लग जाता है। इस यज्ञ में सोलह ऋत्विक् होते हैं, जो चार वर्गों में विभाजित होते हैं-**षोडशर्त्विजो ब्रह्मोद्गातृ होत्राध्वर्यु ....**(का०श्रौ० ७.१.७) अर्थात् सोलह ऋत्विजों के चार वर्गों में ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु प्रमुख ऋत्विज् कहलाते हैं। इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन सहयोगी होते हैं। आश्वलायन श्रौत सूत्र में उल्लेख है-**चत्वारस्त्रिपुरुषाः। तस्य तस्योत्तरे त्रयः** (आ०श्रौ०४.१.४-५)। ब्रह्मा के सहयोगी ऋत्विज्-ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र एवं पोता; अध्वर्यु के सहयोगी ऋत्विज्-प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता; होता के सहयोगी ऋत्विज्-मैत्रावरुण, अच्छावाक् और ग्रावस्तुत तथा उद्गाता के सहयोगी ऋत्विज्-प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य होते हैं। सोमयाग सात प्रकार के हैं- १.अग्निष्टोम २. अत्यग्निष्टोम ३.उक्थ्य ४.षोडशी ५.वाजपेय ६.अतिरात्र ७.अप्तोर्याम।

क. **अग्निष्टोम**—अग्निष्टोम नामक सोमयाग में सर्वप्रथम सोमरस से आहुति प्रदान की जाती है, तत्पश्चात् सोमरस का पान किया जाता है। इसका काल भी वसन्त ऋतु माना जाता है- **वसन्ते अग्निष्टोमः इति कात्यायनः** (हि०वि०को०खं० १ पृ० १२०)। अग्निष्टोम के सन्दर्भ में शान्तिकुञ्ज द्वारा प्रकाशित १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्या खण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में विस्तृत विवरण देखा जा सकता है। अधिक विस्तृत ज्ञान के लिए **'कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श' द्रष्टव्य है।**

ख. **अत्यग्निष्टोम**—इसे अग्निष्टोम की विकृति माना जाता है। विकृति का अर्थ यहाँ मूल यज्ञ (प्रकृति) की अनुकरण प्रक्रिया से है। जैसे--सोमयाग के अन्तर्गत मूल यज्ञ अग्निष्टोम है और अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य षोडशी आदि याग अग्निष्टोम की पद्धति का अनुकरण करने वाले होने से इन्हें अग्निष्टोम की विकृति कहा जाएगा और स्पष्टतः कहें तो यों कहेंगे कि अग्निष्टोम यदि प्रकृति है तो अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य आदि इसकी विकृति (विशिष्टकृति) है। इस याग में अन्य क्रिया - कलाप तो अत्यग्निष्टोम की तरह ही सम्पन्न होते हैं; किन्तु यज्ञ समापन पर अग्निष्टोम सामपाठ के उपरान्त षोडशी साम का गान भी होता है। इस याग (यज्ञ) में यजमान सपत्नीक बैठते हैं और षोडश ऋत्विज् यज्ञ कार्य सम्पादित करते हैं।

उक्थ्य याग—यह सोमयाग का उक्थ्य संज्ञा सम्पन्न तृतीय भेद है। इसे भी अग्निष्टोम की विकृति मानते हैं। इस यज्ञ का आयोजन पशु की आकांक्षा से किया जाता है- **उक्थ्येन पशुकामो यजेत** (स० श्रौ०९.७)। इसमें इन्द्र और अग्निदेव के लिए यजन किया जाता है। इन दोनों देवों को एक-एक अज समर्पित करने का विधान है। अज शब्द ओषधि का भी पर्यायवाची है। इन यज्ञों में प्रयोग परीक्षण की दृष्टि से कई प्रकार की वनस्पतियों-ओषधियों का प्रयोग किया जाता था। अतः अज शब्द को पाशविक, हिंसा आदि में प्रयुक्त नहीं मानना चाहिए।

घ. **षोडशी याग—** सोमयागों के क्रम में चतुर्थ याग षोडशी याग है। इसे भी अग्निष्टोम याग की विकृति (विशिष्टकृति) मानते हैं। इसमें कुछ ही विशिष्ट विधान होते हैं, शेष सब प्रकृतिवत् अर्थात् अग्निष्टोम याग के अनुरूप ही होते हैं। याजक इस याग को वीर्यवान् होने की कामना से सम्पन्न करते हैं- **षोडशिना वीर्यकामः** (स०श्रौ० ९.७)। इसके प्रमुख देव अग्नि, इन्द्राग्नी और इन्द्र होते हैं, जिनके लिए क्रमशः दो के लिए अज और एक के लिए मेष समर्पित किया जाता है। वस्तुतः पशु समर्पण का यह रूप वनस्पतियों के समर्पण का मानवीकरण ही है।

ङ. **वाजपेय याग—**सोमयाग की सात संस्थाओं में वाजपेय याग पंचम संस्था है। इसे षोडशीयाग की विकृति रूप मानते हैं। षोडशीयाग से ही इस वाजपेय याग के अधिकांश क्रिया-कलाप सम्बद्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि इसे साम्राज्य प्राप्ति और सम्राट् बनने की कामना से किया जाता है-**वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राट् भवति** (श०ब्रा०५.१.१.१४)। इसे ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के आहिताग्नि यजमान शरद ऋतु में सम्पन्न करते हैं-**यदेनेन बृहस्पतिरयजत। यदेनेनेन्द्रोऽयजत** (श०ब्रा० ५.१.१.११)। **वाजपेयः शरदि** (का०श्रौ० १४.१.१)। वाजपेय याग से पूर्व में एवम् बाद में बृहस्पतिसव नामक यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं। इन यज्ञों को परियज्ञ नाम से जाना जाता है। परियज्ञों को सम्पन्न करने के सम्बन्ध में कई विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। जैसे-कुछ विद्वान् मानते हैं कि यदि वाजपेय याग का प्रमुख दिवस (सौत्य दिवस) आश्विन कृष्ण अमावस्या को हो, तो इससे पूर्व का बृहस्पतिसव (परियज्ञ) भाद्रपद पूर्णिमा को होना चाहिए और वाजपेय याग के उपरान्त का बृहस्पतिसव कार्तिक पूर्णिमा को होना चाहिए। कुछ विद्वानों का मानना है कि वाजपेय यज्ञ के परियज्ञ के रूप में बृहस्पतिसव के स्थान पर अग्निष्टोम पर आधारित ज्योतिष्टोम का आयोजन किया जाता है- **बृहस्पतिसवस्थाने, अग्निष्टोमसंस्थो ज्योतिष्टोम एव भवति न बृहस्पतिसवः** (दे०प०पृ० ४३८)। अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि वाजपेय याग के पूर्ववर्ती बारह शुक्ल पक्षों में और परवर्ती बारह शुक्ल पक्षों में परियज्ञ के रूप में ज्योतिष्टोम याग सम्पन्न करने चाहिए। कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि वाजपेय याग से पूर्व और पश्चात् राजसूय याग में वर्णित अग्निष्टोम पर आधारित नौ प्रकार के सोमयाग सम्पन्न करने चाहिए। इस प्रकार ये चार मत प्रख्यात हैं। साम्राज्य विस्तार और सम्राट होने की दृष्टि से वाजपेय याग का बहुत महत्त्व है और इसके क्रिया-कलाप भी बड़ी संख्या में हैं; किन्तु इसके विधानों में सप्तदश संख्या का विशेष प्रयोग होना बहुत आकर्षक है, जैसे- सप्तदश प्रजापति, सप्तदश दीक्षा, सप्तदश स्तोत्र, सप्तदश सोमग्रह, सप्तदश सुराग्रह, सप्तदश पशु, सप्तदश अन्न, सप्तदश रथ, सप्तदश दुन्दुभि, सप्तदश इषुप्राशन, सप्तदश गज, सप्तदश अज, सप्तदश गौ आदि। इसके क्रियाकलापों में प्रमुखतः सप्तदशरथ-चक्रारोहण, सप्तदश दुन्दुभि वादन, सप्तदश इषुप्रक्षेप, सप्तदश रथ धावन, रथ समर्पण, सुरा समर्पण, यूपारोहण, पुटोत्क्षेपण, अभिषेक, सम्राट् पद प्राप्ति, अवभृथ याग आदि हैं। वाजपेय याग के समूचे क्रिया-कलापों का वर्णन यहाँ स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है, श्रौत ग्रन्थों में इसे सविस्तार देखा जा सकता है।

च. **अतिरात्रयाग—** सोमयाग की सप्त संस्थाओं के अन्तर्गत अतिरात्र याग षष्ठ संस्था है। इस याग को भी अग्निष्टोम याग की विकृति (विशिष्ट कृति) माना गया है, इसलिए इस याग की मूल प्रकृति अग्निष्टोम ही है। देवयाज्ञिक पद्धति में इसका उल्लेख इस प्रकार है-**उक्थ्य षोडश्यतिरात्राणामग्निष्टोम विकारत्वम्** (दे०प०पृ० ३७९) अर्थात् उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र अग्निष्टोम की विकृति है। अतिरात्र याग का आयोजन ब्रह्मवर्चस की कामना से किया जाता है-**अतिरात्रेण ब्रह्मवर्चसकामः** (स०श्रौ० ९.७)। इस याग के चार देवता प्रमुख होते हैं- अग्नि, इन्द्राग्नी, इन्द्र और सरस्वती। इनमें से प्रत्येक को क्रमशः अज, अज, मेष और मेषी समर्पित की जाती है। पूर्व में भी कहा जा चुका है कि यागों में देवों के निमित्त पशु समर्पण का जो वर्णन मिलता है, वह वनस्पति अथवा उन पशुओं में निहित उन दोषों का समर्पण भी हो सकता है, जो अपने अन्दर विद्यमान हैं। इस याग में निश्चित परिमाण में देवों के प्रति पुरोडाश भी समर्पित किया जाता है। इस याग में तीन रात्रि पर्याय होते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक में चार-चार स्तोत्र और शस्त्र भी होते हैं। स्तोत्रों का पाठ उद्गाता सम्पन्न करता है। अवभृथ याग आदि शेष विधान प्रकृतिवत् (अर्थात् अग्निष्टोम याग की तरह) ही सम्पन्न करके अन्त में एक हजार ब्राह्मणों को ब्रह्मभोज कराया जाता है।

छ. **अप्तोर्याम याग—**सोम यागों में यह सातवाँ और अन्तिम याग है। इसे पशुकामना से सम्पन्न किया जाता है- **अप्तोर्यामेण पशुकामः** (स०श्रौ० ९.७)। यह याग अतिरात्र याग की विकृति है- **अतिरात्र विकारोऽप्तोर्यामः** (दे०प०पृ०३७९)। इस याग में ग्रह, स्तोत्र और शस्त्रों की संख्या तैंतीस होती है। इसके देवता अग्नि, इन्द्राग्नी, इन्द्र और सरस्वती होते हैं। जिनमें से प्रत्येक के सवनीय पशु क्रमशः अज, अज, मेष और मेषी होते हैं-**अतिरात्रसंस्थे**

आग्रेयैन्द्राग्रैन्द्रसारस्वताश्चत्वारो यथोक्तजातीयाः (दे०प०पृ० ३००)। उपनिषदों में भी इन यागों की महत्ता प्रतिपादित की गई है। नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् में भगवान् नृसिंह के आनुष्टुभ मन्त्र जप को अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम आदि यागों द्वारा यजन कर लेने के समान विवेचित किया गया है-**य एतं मन्त्रराजमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निष्टोमेन यजते स उक्थ्येन यजते स षोडशिना यजते स वाजपेयेन यजते सोऽतिरात्रेण यजते सोऽप्तोर्यामेण यजते......सर्वैः क्रतुभिर्यजते** (नृ०पूर्व० ५.१७)।

१०. **अद्वय ब्रह्म**— द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड- 'अद्वयानन्द'।

११. **अद्वैत ग्रन्थि**— द्र०- अद्वैतशक्ति।

१२. **अद्वैतभाव**— द्र०-ज्ञानखण्ड- 'अद्वैत'।

१३. **अद्वैतशक्ति**— अद्वैत शब्द की व्युत्पत्ति कोश ग्रन्थों में इस प्रकार वर्णित है-**द्विधा इतं द्वीतं तस्य भावः द्वैतं भेदः, न द्वैतम्, अभावार्थे नञ् -तत्** (हि०वि०को०खं०१पृ०३४३) अर्थात् अभेद, एकत्व, ब्रह्म एवं जीव की अभिन्नता। प्रायः अद्वैत शब्द का प्रयोग जीव और ब्रह्म में एकत्व प्रदर्शित करने के लिए ही किया जाता है। यही मान्यता अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। यों तो मूलतः जीव और ब्रह्म में एक ही चेतना संचरित होती है। इसी कारण उस चेतना को अद्वैत कहते हैं; किन्तु जब वही चेतना लौकिक रूप में आकर कार्य करती है, तब वह (जीव और ब्रह्म के रूप में) पृथक् दिखाई पड़ती है। ऐसी स्थिति में ईश्वर और जीव दो तत्त्व अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं। दो तत्त्वों में विश्वास की मान्यता ही द्वैतवाद के नाम से प्रख्यात है। इस मत के प्रतिपादक माधवाचार्य ने मुण्डकोपनिषद् का उद्धरण देते हुए इस तथ्य को स्पष्ट किया है- **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति** (मुण्डक० ३.१.१) अर्थात् शरीर रूपी वृक्ष में ईश्वर और जीव दोनों ही मित्रतापूर्वक निवास करते हैं। दोनों में अन्तर मात्र इतना है कि जीव रूपी पक्षी शरीर रूपी वृक्ष के सुस्वादु फलों का रसास्वादन करता है और ईश्वर रूपी पक्षी उसका भोग न करके मात्र द्रष्टा बनकर देखता रहता है। वस्तुतः ब्रह्म एक ही है; किन्तु समस्त प्राणियों और पदार्थों में विद्यमान है। अन्तर्यामी होने के कारण सभी में अवस्थित होकर साक्षी रूप में उनके व्यवहार का द्रष्टा बना रहता है। इस तथ्य को श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च** (श्वेता० ६.११)। तात्पर्य यह है कि समस्त भूतों का निर्माण करके वह ब्रह्म उन सभी में प्रवेश कर गया है। वह सभी में व्याप्त है तथा उनके अन्तःकरण में विराजमान है, वह सभी के कर्मों का साक्षी है, उनका फल देने वाला है; किन्तु स्वयं निर्गुण है। अद्वैत वेदान्त की मान्यतानुसार ईश्वर, ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है; यदि भेद परिलक्षित भी होता है, तो वह औपाधिक है- **जीवो ब्रह्मैव नापरः।** आचार्य शंकर का मत है कि ब्रह्म माया की उपाधि से युक्त होकर जीव स्वरूप धारण कर लेता है और शरीर रूपी पञ्जर में बँध जाता है। मनुष्य में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की कल्पना अभ्यासवश होती है। मुण्डकोपनिषद् में उल्लेख है कि जिस प्रकार आग में से निकलने वाली चिनगारियों और आग में अभेद है, उसी प्रकार ब्रह्म और जीव में अभेद है। यही अद्वैतवाद का सिद्धान्त है। महोपनिषद् में अद्वैत शक्ति का निरूपण करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है कि परब्रह्म से सम्बद्ध होने के कारण अद्वैत शक्ति ही (उपाधि के कारण) द्वैत दिखाई देती है और अद्वैत द्वारा प्रकट पदार्थ से विश्व निर्माण की माया (लीला) करती हुई अग्रगमन करती है-**द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जगन्निर्माणलीलया। परमात्ममयी शक्तिरद्वैतैव विजृम्भते** (महो० ६.६२)। यज्ञोपवीत प्रकरण में उसके स्वरूप के तात्त्विक विवेचन के क्रम में ब्रह्मग्रन्थि को अद्वैत ग्रन्थि कहा गया है; क्योंकि जिस प्रकार जीव और ब्रह्म मिल जाने पर दोनों एक ही हैं, उसी प्रकार दोनों ओर से आये हुए धागों में जब ब्रह्मग्रन्थि लगाई जाती है, तब उनका द्वित्व समाप्त हो जाता है और वे एक हो जाते हैं, इसीलिए उस ग्रन्थि को अद्वैत (ब्रह्म) ग्रन्थि कहते हैं। पाशुपतब्रह्मोपनिषद् में यह तथ्य इन शब्दों में निर्दिष्ट है-**षण्णवतितत्त्व ....चिद्ग्रन्थिबन्धनम् अद्वैतग्रन्थिः** (पा०ब्र०पू० का० १४)। ब्रह्मयोगी ने अपने भाष्य में इसे और स्पष्ट किया है.....**तदैक्यग्रन्थेः तद्भेदग्रासत्वात् अद्वैतग्रन्थिः अद्वितीयपरमात्मा भवतीत्यर्थः। यथा यज्ञसूत्रब्रह्मग्रन्थिः तदैक्यहेतुः तथा अत्रापीत्यर्थः** (पा०ब्र०पू०का० १४ ब्र०भा०)।

१४. **अधिदेवता**—भारतीय संस्कृति में तैंतीस कोटि देवताओं की मान्यता है। जिसके अनुसार प्रत्येक स्थान, वस्तु, कुल के पृथक्-पृथक् अधिष्ठाता देवता होते हैं। जैसे- ग्राम देवता, कुल देवता, वन देवता, जल देवता, वास्तु देवता आदि।

यों तो सभी में परब्रह्म की चेतना ही सर्वत्र संव्याप्त है, उससे अलग कुछ भी नहीं है; किन्तु उस परब्रह्म की विभिन्न शक्ति धाराएँ हैं, जो देवता कहलाती हैं। शरीर में विद्यमान विभिन्न इन्द्रियों के भी पृथक्-पृथक् अधिष्ठाता देवता होते हैं। जैसे- श्रोत्रेन्द्रिय के देवता दिशाएँ, त्वचा के देवता वायु, चक्षु के अधिष्ठाता देवता सूर्य, रसना के वरुण, नासिका के देवता अश्विनीकुमार, वाणी के अग्नि, हाथों के इन्द्र, पादों के उपेन्द्र, चित्त के देवता मित्र, उपस्थेन्द्रिय के देवता प्रजापति तथा मन के देवता चन्द्र कहलाते हैं। अक्षमालिकोपनिषद् में प्रजापति द्वारा गुह से अक्षों (मोती, माणिक, रुद्राक्ष आदि) के विषय में विभिन्न प्रश्नों के क्रम में अक्षों के अधिदेवता (अधिष्ठाता-देवता) के सम्बन्ध में भी पूछे जाने का उल्लेख है-**अथ प्रजापतिर्गुहं पप्रच्छ-भो भगवन् ..... का प्रतिष्ठा कैषाऽधिदेवता किं फलं चेति** (अक्ष० १)।

१५. **अध्यास**— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

१६. **अध्वर्यु**—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

१७. **अनन्ता**—द्र०-अजा-अनजा-अज्ञेया।

१८. **अनासक्त**—किसी विषय अथवा वस्तु विशेष में अनुरक्ति या अत्यधिक लगाव हो जाने को आसक्ति कहते हैं। हि०वि०को० खं० २ पृ० ७३६ के अनुसार आसक्ति शब्द अन्य विषय को छोड़कर किसी एक ही विषय का अवलम्बन लेना अथवा उससे लगाव रखना है। इसे असङ्ग भी कहते हैं। आसक्ति के 'पथ स्थापन' और 'अभिप्राय पूर्वक' दो अन्य अर्थ भी होते हैं; किन्तु अधिकतर इस शब्द का उपयोग 'लगाव' के अर्थ में ही होता है। आसक्त और अनासक्त शब्द इसी आसक्ति शब्द से जन्मे हैं। जो व्यक्ति किसी विषय अथवा वस्तु के प्रति अत्यधिक अनुरक्त है, वह आसक्त और जो किसी विषय या वस्तु विशेष में अनुरक्त या आसक्त न होकर केवल उसके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करता है,उसे अनासक्त कहते हैं। साधक को अनासक्त होना अनिवार्य है; क्योंकि आसक्ति ही बन्धन में डालती है। निम्न स्थिति से उच्च स्थिति तक जाने के प्रगति पथ में पूर्व स्थिति के प्रति आसक्ति ही बाधक बनती है। भावी जन्म के निर्धारण में भी पूर्व जन्म में रही अमुक वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थितियों के प्रति आसक्ति ही कारण बनती है। हिरन के प्रति आसक्ति ही जड़ भरत के हरिणशावक के रूप में जन्म का कारण बनी थी। आसक्ति श्रेष्ठ और निकृष्ट दोनों ही कर्मों, स्थितियों आदि के प्रति हो सकती है। यदि श्रेष्ठ स्थिति के प्रति आसक्ति रही है, तो भावी जन्म उसी स्थिति के घर में होता है और वहीं से अनुकूल वातावरण प्राप्त कर आगे की यात्रा तय होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है-**तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन** (गी०६.४३)। मुक्ति अथवा मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक साधकों को तो अनासक्त रहने का ही परामर्श उपनिषदों में दिया गया है। जीवित रहते ही कई व्यक्तियों को मुक्ति मिल जाती है, ऐसे लोगों को जीवन्मुक्त कहते हैं। महोपनिषद् में उल्लेख है कि जो सुख-दुःख आदि से न हर्षित होता है और न ग्लानि करता है, वह अनासक्त पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है- **आपतत्सु यथाकालं सुख - दुःखेष्वनारतः। न हृष्यति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्यते** (महो० २.४३)।

१९. **अनास्था**—किसी वस्तु, व्यक्ति और सिद्धान्त आदि के प्रति श्रद्धा ही आस्था कहलाती है। किसी के प्रति यदि इस आस्था का अभाव हो, तो इसे अनास्था कहेंगे। कोश ग्रन्थों में तो इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है-**नास्ति आस्था यस्य** (हि०वि०को०) अर्थात् अनादर, अपमान, बेइज्जती, सम्मान का न होना आदि; किन्तु विशेषतया अनास्था शब्द का उपयोग ईश्वर, धर्म, कर्मफल, उच्च सिद्धान्तों आदि पर विश्वास न होने के अर्थ में ही किया जाता है। इसी कारण आज धर्म-अध्यात्म, ईश्वर से विश्वास उठ जाने को अनास्था का प्रभाव अथवा आस्था संकट कहा जाता है। यदि कहीं आस्था (विश्वास) दीखती भी है, तो वह विकृत रूप में। जैसे-भगवान् की पूजा-पत्री में, अपनी इच्छा पूर्ति करवाने की शर्त पर कुछ फल, मिठाइयाँ, वस्त्रादि चढ़ा देना, संतान प्राप्ति के लिए देवी के समक्ष किसी बालक या पशु की बलि चढ़ा देना आदि। यही आस्था यदि उच्च उद्देश्यों के प्रति, ईश्वर के प्रति-समर्पित हो, तो इसे सही अर्थों में आस्था और जिसके अन्दर वह होगी, उसे आस्तिक माना जायेगा। अक्ष्युपनिषद् में योग की विभिन्न भूमिकाओं के वर्णन में असंसर्ग भूमिका का लक्षण बताते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है कि शास्त्रार्थ समझ लेने के उपरान्त समस्त भोग पदार्थों में अनास्था हो जाती है (अत: वे व्यर्थ प्रतीत होते हैं) और उनके प्रति अभाव की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसे सामान्य प्रकार का असंसर्ग कहा गया है-**कालश्च कलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम्।अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम्** (अक्षि०२३-२४)। इस प्रकार व्यावहारिक अर्थ में किसी के प्रति श्रद्धा-विश्वास का न होना और उसके प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण होना अनास्था कहलाता है।

२०. **अनाहतनाद—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।**

२१. **अनाहतशब्द—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड-अनाहत नाद।**

२२. **अनुयाज**—याग, याज और यज्ञ समानार्थक शब्द हैं। सामान्यत: विशिष्ट प्रयोजनों के लिए किए जाने वाले विराट् यज्ञ कई चरणों में सम्पन्न किये जाते हैं। इन यज्ञों के प्रथम चरण में किये जाने वाले क्रिया-कलापों को प्रयाज (अर्थात् यज्ञ के पूर्व की तैयारियाँ) कहते हैं। यज्ञीय कर्मकाण्ड को याज और यज्ञ के पश्चात् के क्रिया-कलापों को अनुयाज कहते हैं। याज शब्द में पूर्व वाची प्र उपसर्ग और पश्चात् वाची अनु उपसर्ग लगने से प्रयाज और अनुयाज शब्द बनते हैं, जो मुख्य यज्ञीय कर्मकाण्ड के पूर्व व पश्चात्वर्ती कार्यों का बोध कराते हैं। प्रख्यात कोश ग्रन्थ हि०वि०को० खं० १४, पृ० ६२० में प्रयाज शब्द दर्श पौर्णमास यज्ञ के अन्तर्गत एक अङ्ग-यज्ञ निरूपित किया गया है। इसी कोशग्रन्थ में अनुयाज इन शब्दों में परिभाषित है- **अनु प्रधानात् पश्चाद् इज्यते;** अर्थात् दर्शपौर्णमास यज्ञ वाले प्रधान अङ्ग के पीछे का अङ्ग, याग का अवशिष्ट अङ्ग। ऐतरेय ब्राह्मण २.१८ में अनुयाज का अर्थ देवता विशेष लिया गया है, इसके ग्यारह देवताओं को अनुयाज माना गया है, इसी प्रकार याज (उपयाज) और प्रयाज के भी ग्यारह-ग्यारह देवता होते हैं- **एकादश प्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशोपयाजा एते असोमपा: पशुभाजना:।** निरुक्तकार यास्क के मतानुसार प्रयाज और अनुयाज शब्द अग्नि देवता के बोधक हैं- **अथ किं देवता: प्रयाजानुयाजा:। आग्नेया इत्येके। आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजा इति च ब्राह्मणम्** (नि० ८.२१)। इस प्रकार प्रयाज और अनुयाज के विभिन्न अर्थ होते हैं; किन्तु प्रचलित अर्थों में प्रयाज और अनुयाज क्रमश: यज्ञ के पूर्व के कृत्य व पश्चात् के कृत्य के रूप में ही जाने जाते हैं। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत यज्ञ के विभिन्न अङ्गों के अतिरिक्त प्रयाज और अनुयाज भी वर्णित हैं- **अस्य शारीरयज्ञस्य ....के प्रयाजा: के अनुयाजा: केडा ......किमवभृथमिति** (प्रा०हो० २१)। शरीर यज्ञ में कौन प्रयाज व कौन अनुयाज हैं? इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि ने पञ्चमहाभूतों को प्रयाज तथा गुणों को अनुयाज कहा है- **महाभूतानि प्रयाजा: गुणा अनुयाजा: जिह्वेडा .... समाहिता:** (प्रा०हो० २२)।

२३. **अन्त:दृष्टि—द्र०-अन्तर्मुखी वृत्ति।**

२४. **अन्तर्मुखीवृत्ति**—मनुष्य के अन्दर कार्य करने वाली दो वृत्तियाँ प्रमुख हैं, जिनके अनुसार ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्धारण होता है। इन्हें अन्तर्मुखी वृत्ति और बहिर्मुखी वृत्ति के नाम से जानते हैं। इनमें अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वह है, जिसे अपनाकर साधक अपने को आत्मतत्त्व, निर्विकार जानकर शरीर को मात्र वस्त्र समझकर धारण किए रहता है और समस्त लोक व्यवहार जल में कमल पत्रवत् असङ्ग रहकर सम्पन्न करता हुआ योगी का जीवनयापन करता है। गीता में उल्लेख है-**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति य:। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा** (गी० ५.१०)। श्रीमद्भगवद्गीता में ही भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश प्रदान करते हुए अन्तर्मुखी साधक के लक्षण बताते हुए कहा है- **योऽन्त:सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव य:। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति** (गी० ५.२४)। जो (अन्तर्मुखी) साधक निश्चित रूप से आत्मा में ही सुख वाला, आत्मा में ही आराम वाला तथा आत्मा में ही ज्ञान वाला है, वह ब्रह्मभूत (सच्चिदानन्द परमात्मा में एकीभाव हुआ) योगी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में (आध्यात्मिक अथवा भौतिक) सफलताएँ पाने के लिए अन्तर्मुखी वृत्ति होना आवश्यक है। ध्यान योग की विभिन्न क्रियाओं में दृष्टि को अन्दर भ्रूमध्य अथवा हृदयादि में स्थिर करके-अन्तर्दृष्टि करके ध्यान करना अन्तर्मुखी स्थिति की दिशा में बढ़ने का ही एक चरण है। अद्वयतारकोपनिषद् में साधक द्वारा 'चित्स्वरूप' का भाव रखकर भ्रूमध्य के ऊपर अन्तर्दृष्टि करके ध्यान करना वर्णित है- **चित्स्वरूपोऽहमिति ....वाऽन्तर्दृष्ट्या भ्रूदहरादुपरि ....तद्रूपो भवति** (अद्व०ता० २)। रुद्रोपनिषद् में उसी चतुर्वेदज्ञ शिवभक्त को ब्राह्मण कहा गया है, जो अन्तर्मुखी वृत्ति (अर्थात् बाह्य प्रपञ्चों से प्रभावित न होकर आत्मा में ही रमण करने वाला) से युक्त है- **चतुर्वेदज्ञोऽपि शिवभक्त्यान्तर्भवतीति स एव ब्राह्मण:** (रुद्र० १)। जो बाहरी दुनिया के विषय-भोगों का चिन्तन करता हुआ, उन्हीं में रमा रहता है, उसके लिए आत्मदर्शन व ईश्वर दर्शन असम्भव है। ऐसे व्यक्ति को ही बहिर्मुखी वृत्ति वाला कहते हैं। जिसे आत्मदर्शन व ईश्वर दर्शन करके मुक्ति की प्राप्ति करनी हो, उसे बाहर के विषयों को बाहर ही छोड़कर नेत्रों की दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थित करके प्राण और अपान वायु को समान करके जितेन्द्रिय होने का परामर्श गीता में इन शब्दों में निर्दिष्ट है-**स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवो:। प्राणापानौ .....य: सदा मुक्त एव स:** (गी० ५.२७-२८)।

२५. **अन्तर्वेदिका—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।**

२६. **अपराशक्ति—**सामान्यत: परा को चेतन और अपरा को जड़ कहा गया है। परमात्मा जिन दो शक्तियों से समूची सृष्टि का निर्माण करता व उसकी व्यवस्था चलाता है, उन्हें ही परा और अपराशक्ति के नाम से जाना जाता है। परा को श्रेष्ठ, सबसे परे, चेतन और उत्तम अर्थ वाला माना जाता है; जबकि अपरा को जड़ और स्थूल अर्थ में लिया जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय के चौथे और पाँचवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी प्रकृति (शक्ति) को आठ भागों में विभक्त बताया है-**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा** (गीता० ७.४) अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ भागों में विभक्त मेरी प्रकृति है। इस अष्टधा प्रकृति को ही उन्होंने अपरा शक्ति कहा है तथा इससे भिन्न चेतन प्रकृति को परा कहा है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है- **अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्** (गी० ७.५)।

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष को ही समूची सृष्टि का उत्पादक, पालक और संहारक मानते हैं। वहाँ भी प्रकृति को जड़-स्थूल और प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली अर्थात् व्यक्त माना है तथा पुरुष को चेतन अनश्वर अव्यक्त माना है। शास्त्रों में अपरा और परा शक्तियों के जो लक्षण हैं, वे ही प्रकृति और पुरुष के भी लक्षण हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में जगत् (प्रकृति) को नश्वर और चेतना (पुरुष) को अनश्वर मानकर इन्हीं दोनों के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति, पालन आदि का तथ्य वर्णित है-**संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ....सर्वपाशैः** (श्वेता० १.८)। इसी उपनिषद् में आगे प्रकृति को माया (जो नहीं है) कहा गया है। परब्रह्म जिसे मायापति कहा गया है, वही पुरुष है। इन्हीं के संयोग से यह जगत् संव्याप्त है-**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तं महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्** (श्वेता० ४.१०)। इस प्रकार गायत्री को परा और सावित्री को अपरा कहा गया है। इस प्रकार अपरा-परा, प्रकृति-पुरुष, माया-ईश्वर नाम से परब्रह्म की इन्हीं जड़ और चेतन शक्तियों को जाना जाता है। बह्वृचोपनिषद् में चित् शक्ति को ही आदि शक्ति अथवा आद्यशक्ति विवेचित कर उसी को समस्त जगत् की कारण स्वरूपा निर्दिष्ट किया गया है। चित्शक्तिरूपी देवी से ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि से लेकर समूची सृष्टि का आविर्भाव हुआ है-**देवी ह्येकाग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत्।.............तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्............ मनुष्यमजीजनत्** (बह्वृ० १-२)। इस उपनिषद् में इन देवी को ही सबसे प्रारम्भ में उत्पन्न होने के कारण आद्यशक्ति कहा गया है। वेदमाता गायत्री और सीता इसी चित् शक्ति का प्रतिनिधित्व करने के कारण आदिशक्ति कहलाती हैं। इसी चित् शक्ति को अपराशक्ति कहा गया है- **सैषापरा शक्तिः** (बह्वृ०-३)।

२७. **अप्तोर्याम—द्र०-अतिरात्र यज्ञ।**

२८. **अभिषेक—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।**

२९. **अमनस्क अवस्था—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड -अमनस्कस्थिति।**

३०. **अमरत्व—द्र०-ज्ञानखण्ड-अमृत मृत्यु।**

३१. **अमृत—द्र०- ज्ञानखण्ड-अमृत मृत्यु।**

३२. **अर्धनारीश्वर—**शास्त्रों-पुराणों में स्थितियों व गुणों की दृष्टि से भगवान् शिव के विभिन्न नामों-रूपों का उल्लेख मिलता है। जैसे-अर्धनारीश्वर, नीलकण्ठ, मृत्युञ्जय, पशुपति, विरूपाक्ष और सदाशिव आदि। इनमें अर्धनारीश्वर का रूप बहुत विलक्षण व महिमायुक्त है। पुराणों में वर्णित है कि शक्ति की साधना करते-करते इनका आधा शरीर स्त्री का हो गया था। कारण कि शक्ति से इतना तादात्म्य हो गया कि इनके आधे अंग भी उन्हीं के अनुरूप ढल गये थे। शिव के इस अर्धनारीश्वर स्वरूप का तात्त्विक अर्थ यह है कि ईश्वर के सत्, चित् और आनन्द ये तीन गुण माने जाते हैं, इनमें तीसरा गुण आनन्द शिव का बोधक है अर्थात् सत् और चित् इन दोनों के मिश्रण अर्थात् साम्यावस्था से उत्पन्न जो अक्षुब्ध भाव है, वही आनन्द है। दूसरी दृष्टि से ईश्वर का सत् स्वरूप मातृस्वरूप है तथा चित् स्वरूप पिता का स्वरूप है। इन दोनों स्वरूपों के मिल जाने से आनन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। माता-पिता दोनों के ही गुण शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप में विद्यमान हैं। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि शिव और शक्ति (शंकर-पार्वती) एक ही शरीर में विद्यमान हैं, उनके इस स्वरूप का ध्यान जन सामान्य को यह प्रेरणा देता है कि नर के बिना नारी अधूरी है और नारी

के बिना नर। लौकिक सन्दर्भ में दोनों का परस्पर तालमेल (सामञ्जस्य) ही परिवार में स्वर्गिक परिस्थितियाँ बना सकता है। शिव और शक्ति का समन्वित स्वरूप प्रकृति और पुरुष का प्रतीकात्मक दर्शन है; क्योंकि समूची सृष्टि इन्हीं दोनों से मिलकर बनी है। विभिन्न पुराणों और उपनिषदों में भी शिव के अर्धनारीश्वर रूप की स्तुति की गई है- **नमोर्द्धनारीशहरमसितांगीति नासिकाम्। नम उग्राय लोकेशं लालतात पुनर्भुवौ** (म०पु०-६०-२५)। इसी प्रकार ब्रह्माण्डपुराण में भी अर्धनारीश्वर की स्तुति की गई है- **नमो दिग्वाससे देव किंकिणीधाय वै नमः। अर्धनारीशरीराय सांख्ययोगप्रवर्तिने** (ब्र०पु०-२.२७.९८)।

रुद्राक्षजाबालोपनिषद् में रुद्राक्ष धारण करने के क्रम में उनकी महत्ता बताते हुए दो मुखी रुद्राक्ष को अर्धनारीश्वर स्वरूप वाले शिव का प्रतीक बताया गया है- **द्विवक्त्रं तु मुनिश्रेष्ठ चार्धनारीश्वरात्मकम्। धारणादर्धनारीशः प्रीयते तस्य नित्यशः** (रुद्र०जा० २८)। ध्यातव्य है कि रुद्राक्ष की उत्पत्ति रुद्र (शिव) के नेत्रों से त्रिपुरासुर वध के समय उनकी बन्द आँखों से पतित जल बिन्दुओं से होने के कारण इसका नाम रुद्राक्ष पड़ा है- **त्रिपुरवधार्थ .... तेभ्यो जलबिन्दवो भूमौ पतितास्ते रुद्राक्षा जाताः** (रुद्र०जा०-२)। शिव का एक नाम नीलकण्ठ भी है। प्रसिद्ध है कि देवों और असुरों के द्वारा हुए समुद्रमन्थन में निकले चौदह रत्नों में एक विष (जहर) भी निकला था। उस विष से समस्त प्राणियों के नष्ट हो जाने की आशंका थी; उसका शमन करने वाला कोई नहीं था, तब उदारता की प्रतिमूर्ति भगवान् शंकर (शिवजी) ने स्वयं उसका पान कर लिया। चूँकि उसे गले से नीचे नहीं जाने दिया, इसलिए उनका कण्ठ नीला पड़ गया और तभी से वे नीलकण्ठ कहे जाने लगे। नीलरुद्रोपनिषद् में नीलकण्ठ भगवान् शिव की स्तुति इन शब्दों में निर्दिष्ट है- **अपश्यं त्वावरोहन्तं दिवितः पृथिवीमवः। अपश्यं रुद्रमस्यन्तं नीलग्रीवं शिखण्डिनम्** (नी०रुद्रो० १.१)। शिव को जगत् के संहारकर्त्ता के साथ ही मृत्युञ्जय भी कहा जाता है। अभिप्राय यह है, कि उन्होंने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली थी, इसीलिए उन्हें मृत्युञ्जय कहते हैं। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्ष (रुद्राक्ष) माला को धारण करने के क्रम में उसकी स्तुति करते हुए रुद्र से सम्बद्ध होने के कारण उसे भी मृत्युनाशिनी तथा मृत्युञ्जय स्वरूपिणी उपन्यस्त किया गया है- .... **विश्वामृत्यो मृत्युञ्जयस्वरूपिणि .... वासयसि** (अक्ष० १५)। निरन्तर लोक कल्याण में प्रवृत्त रहने के कारण शिव को सदाशिव भी कहते हैं। कालाग्निरुद्रोपनिषद् में त्रिपुण्ड्र धारण विधि के सन्दर्भ में त्रिपुण्ड्र की तीनों रेखाओं में द्वितीय रेखा को सदाशिव स्वरूप वाली निरूपित किया गया है- **याऽस्य द्वितीया रेखा ....सदाशिवो देवतेति** (का० रुद्रो०-७)। समस्त पशुओं (प्राणियों) के स्वामी होने के कारण शिव को पशुपति नाम से भी अलंकृत किया गया है। इसके दो कारण हैं- प्रथम यह कि जो सबको अविशेष रूप में देखते हैं, उन्हें भी पशु कहा जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त समस्त पशु ही हैं, शिव सबके ज्ञान प्रदाता व अज्ञान से रक्षा करने वाले हैं, इसलिए उन्हें पशुपति कहते हैं-**ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च पशवः परिकीर्तिताः। तेषाम्पतिर्महादेवः स्मृतः पशुपतिः श्रुतौ** (शि०क०पृ०२४०, संस्क० संवत्० २०५२)। द्वितीय कारण यह है कि त्रिपुरासुर वध के उपरान्त समस्त देवगण शिव की पशुता (अधीनता) को प्राप्त हो गये थे, इसलिए उनके स्वामी होने के कारण उन्हें पशुपति अभिधान दिया गया है- **यो लीलयैव त्रिपुरं ददाह .... सर्वे देवाः पशुतामवापुः स्वयं तस्मात् पशुपतिर्बभूव** (शरभ० १४)। त्रिनेत्र होने के कारण शिव विषम नेत्रों वाले हो गये थे,इसलिए उन्हें विरूपाक्ष भी कहते हैं। रुद्र और विष्णु ऐक्य के वर्णन में रुद्रहृदयोपनिषद् में शिव (रुद्र) को विरूपाक्ष निरूपित किया गया है- **ये द्विषन्ति विरूपाक्षं ते द्विषन्ति जनार्दनम्।** प्राणतत्त्व से पहचाने जाने के कारण शिव को प्राणलिङ्गी भी कहते हैं। **तस्मात्प्राणलिङ्गी शिवः। शिव एव प्राणलिङ्गी** (रुद्र० २)। इनके अतिरिक्त शिव के त्रिनेत्र, कृत्तिवासा, पंचवक्त्र, शितिकण्ठ, खण्डपरशु, प्रमथाधिप, गङ्गाधर, महेश्वर, पितामह, संसार-वैद्य, सर्वज्ञ, परमात्मा,कपाली और भूतनाथ आदि और भी अनेक नाम हैं (रुद्रहृ०-६)।

३३. **अवभृथस्नान—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।**

३४. **अवेदन—द्र०-असंसक्ति।**

३५. **अष्टदल कमल—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।**

३६. **अष्टधाप्रकृति—द्र०-अपराशक्ति।**

३७. **अष्टसिद्धि**—साधना से सिद्धि का सिद्धान्त सर्व विदित है। योग शास्त्रों में विभिन्न प्रकार की साधनाओं का वर्णन मिलता है। यम-नियम, आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा, जप, ध्यान आदि की साधनाओं के द्वारा जो विभिन्न प्रकार की

शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, उन्हें ही सिद्धियाँ कहते हैं। इन्हें प्राप्त कर लेने वाले सिद्ध कहलाते हैं। सिद्धियाँ अनेक प्रकार की होती हैं, जिनमें आठ सिद्धियाँ प्रमुख हैं, इन्हें-अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व के नाम से जाना जाता है। अणिमा सिद्धि के द्वारा शरीर को अणु की तरह सूक्ष्म कर लिया जाता है। महिमा सिद्धि से शरीर बहुत विशाल आकार का बनाया जा सकता है। गरिमा सिद्धि से शरीर को आवश्यकतानुसार भारी किया जा सकता है और लघिमा से शरीर को हल्का किया जा सकता है। प्राप्ति सिद्धि से दूरस्थ पदार्थों को स्पर्श अथवा उन्हें प्राप्त भी किया जा सकता है। प्राकाम्य सिद्धि द्वारा इच्छित कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। ईशित्व सिद्धि प्राप्त सिद्धजन शरीर और मन के अन्दर संस्थानों और चक्रों पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करके संसार के पदार्थों को अपनी इच्छा से प्रयोग कर सकने में समर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार वशित्व सिद्धि से समस्त परिस्थितियों अथवा वस्तु-पदार्थों को अपने वश में कर लिया जाता है। योग दर्शन में जिन अष्ट सिद्धियों का उल्लेख है, उनमें गरिमा सिद्धि का उल्लेख नहीं है वरन् एक अन्य सिद्धि यत्र कामावसायित्व का वर्णन है, शेष उपर्युक्त ही है। यत्र कामावसायित्व सिद्धि का अर्थ है, वह सिद्धि जिसके द्वारा सिद्ध योगी का प्रत्येक सङ्कल्प पूर्ण हो जाता है अर्थात् उसके सङ्कल्प के अनुसार ही भूत पदार्थों के स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। जैसे- योगी यदि सङ्कल्प कर ले तो वह अमृत के स्थान पर किसी को विषपान कराकर भी जीवन प्रदान कर सकता है। इस प्रक्रिया में योगी के सङ्कल्प से प्रभावित होकर विष के परमाणु अमृत के परमाणुओं में बदल जाते हैं। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि योगियों के सङ्कल्प सदैव जनहित में ही होते हैं अर्थात् सांख्य दर्शन में अष्ट सिद्धियाँ अन्य प्रकार से विवेचित हैं, जिनके सम्बन्ध में यह श्लोक द्रष्टव्य है-**ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः। दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽकुशस्त्रिविधः** (सां०का० ५९) अर्थात् ऊह, शब्द, अध्ययन, तीन दुःख विघात, मित्र प्राप्ति और दान ये आठ सिद्धियाँ हैं। इनमें पूर्वजन्मों के संचित संस्कारों द्वारा स्वयमेव सृष्टि का अवलोकन करके नित्य-अनित्य, जड़-चेतन निर्णय से चौबीस तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेना ऊह सिद्धि कहलाती है। विवेकशील गुरु से सदुपदेश की प्राप्ति शब्द सिद्धि कहलाती है। वेद शास्त्रों के स्वाध्याय से ज्ञान की प्राप्ति को अध्ययन सिद्धि कहते हैं। अज्ञान निवारण हेतु सतत भ्रमणशील सिद्धजनों में से किसी कृपालु द्वारा ज्ञान प्राप्ति सुहृत्प्राप्ति सिद्धि के नाम से जानी जाती है। तीन दुःख विघात सिद्धि (दुःखत्रय विघात सिद्धि) अर्थात् आध्यात्मिक दुःख विघात (सभी प्रकार के आध्यात्मिक दुःखों का मिट जाना) सिद्धि, आधिभौतिक दुःख विघात (समस्त आधि भौतिक दुःखों का विनष्ट हो जाना) सिद्धि और आधिदैविक दुःख विघात (सभी आधिदैविक दुःखों का नष्ट हो जाना) सिद्धि। इन सभी से दैहिक, दैविक और भौतिक समस्त दुःख समाप्त हो जाते हैं। अन्तिम सिद्धि दानसिद्धि है। लोक कल्याण के कार्यों में निरत रहने वाले योगियों की भोजन आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु दान करके उनसे (योगियों से) ज्ञान लाभ करना दानसिद्धि कहलाती है। गीता १७,२०,२१, २२ में सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के दानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इनमें सात्त्विक दान श्रेष्ठ है, क्योंकि यह दाता और गृहीता दोनों को सात्त्विक लाभ प्रदान करता है। कुछ ग्रन्थों में अष्ट सिद्धियाँ इस प्रकार वर्णित हैं- १. आत्मसिद्धि २. विविधा सिद्धि ३. ज्ञानसिद्धि ४. तपसिद्धि ५.क्षेत्र सिद्धि, ६.देव सिद्धि ७.शरीर सिद्धि ८.विक्रिया सिद्धि। शङ्कराचार्य जी ने अन्य ढंग से अष्टसिद्धियाँ मानी हैं जो इस प्रकार हैं- १. जन्मसिद्धि—अर्थात् जन्म से ही (पूर्व प्रारब्धवश) श्रेष्ठ संस्कार तथा वैभव प्राप्त होना। २. शब्दज्ञान सिद्धि-किसी विषय में मात्र सुनकर ही वस्तुस्थिति का आभास हो जाना। ३.शास्त्रज्ञान सिद्धि- शास्त्राध्ययन से असामान्य बुद्धि का विकास। ४.आधिभौतिक ताप सहनशक्ति-भौतिक कष्ट सहने की सामर्थ्य। ५.आध्यात्मिक ताप सहनशक्ति-आत्मिक (आन्तरिक-मानसिक) कष्ट सहिष्णुता। ६.आधिदैविक ताप सहनशक्ति-दैवी आपदाओं को सहने की सामर्थ्य। ७.विज्ञान सिद्धि-अर्थात् अन्तःकरण से तात्त्विक ज्ञान की स्फुरणा होना। ८. विद्या सिद्धि-विद्या से अविद्या के विनाश की सिद्धि।

अन्य ग्रन्थों में अष्ट सिद्धियाँ ये मानी गई हैं-१. परकाया प्रवेश २. जल आदि में असङ्ग होना ३.उत्क्रान्ति ४.ज्वलन (स्थूल रूप से जल जाने पर भी अन्दर से अग्नि का दाह अनुभव न करना) ५. दिव्य श्रवण (दिव्य आवाजों, आकाशवाणी आदि को सुन लेने की शक्ति) ६. आकाश मार्ग गमन ७. प्रकाशावरणक्षय और ८.भूतजय। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों के मतों में अष्ट सिद्धियों के कई वर्ग हैं, पर सर्वाधिक प्रख्यात प्रारम्भ में वर्णित अणिमा, गरिमादि अष्ट सिद्धियाँ ही हैं। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्ष (रुद्राक्ष) में विभिन्न शक्तियों को प्रतिष्ठित करने के सन्दर्भ में विभिन्न बीज मन्त्रों का उल्लेख करते हुए 'फं' कार को अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों का प्रदाता तथा प्रकाशस्वरूप बताते हुए उससे अड़तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित होने की प्रार्थना की गई है-**ॐ फंकाराणिमादिसिद्धिप्रद ज्योतीरूपाष्टत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ**

शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते (अक्षि० २.२५-२६)। संक्षेप में इस तीसरी भूमिका में साधक अद्वैतभाव की गहनता से द्वैत भाव को समाप्त कर देता है और चौथी भूमिका 'स्वप्न' में पहुँचकर जगत् को स्वप्नवत् देखने लगता है। पंचम भूमिका सुषुप्तपद में साधक का चित्त विलीन हो जाता है, तब मात्र सत्त्व ही शेष बचता है, जिससे सांसारिक विकल्प उठने बन्द हो जाते हैं, जिससे अद्वैत स्थिति में आत्मबोध से हर्षित साधक सुषुप्तघन (आनन्दप्रद अवस्था) प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति में वह बाह्य व्यवहार करते हुए भी अन्तर्मुखी रहता है। इसके पश्चात् साधक छठी भूमिका तुर्या में प्रवेश करता है, जिसमें सत्-असत्, अहंकार-अनहंकार, कुछ भी नहीं रहता। वह पूर्ण अद्वैत स्थिति में मनन वृत्ति से रहित होकर एकदम निर्भय हो जाता है, उसके समस्त संशय मिट जाते हैं। जीवित रहते हुए भी वह जीवन्मुक्त की स्थिति में रहकर भावशून्यता(भावरहित स्थिति)प्राप्त कर लेता है। सातवीं भूमिका विदेह मुक्ति की स्थिति है। इसमें उसके समस्त प्रारब्ध समाप्तप्राय हो जाते हैं, देह का समापन हो जाता है और वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है। उस समय वह ब्रह्मभूत होकर परम शान्ति, ब्रह्मानन्द की अनुभूति करता हुआ पूर्ण पवित्रता एवं शून्यता को प्राप्त कर लेता है। तेजोबिन्दूपनिषद् ४.३३ में यह तथ्य इन शब्दों में निर्दिष्ट है- **ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा ब्रह्मानन्दमयः सुखी। स्वच्छरूपो महामौनी वैदेही मुक्त एव सः॥** अक्ष्युपनिषद् २.४०-४८ में विदेहमुक्ति भूमिका का विस्तृत वर्णन है, जिसमें भी उपर्युक्त तथ्य ही प्रतिपादित है- **विदेहमुक्तताऽत्रोक्ता सप्तमी योगभूमिका। ...... प्रज्ञानघनमानन्दं ब्रह्मास्मीति विभावयेत्॥** इस प्रकार महोपनिषद् व अक्ष्युपनिषद् में योग की जो सात भूमिकाएँ पृथक्-पृथक् नामों से उपन्यस्त हैं, उनकी स्थिति व क्रम में भले ही कुछ अन्तर हो; पर वस्तुतः प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की योग की सभी स्थितियाँ उनमें समाहित हो जाती हैं।

४०. **असंसर्ग—द्र०- असंसक्ति।**

४१. **असङ्ग—द्र०-असंसक्ति।**

४२. **आकाश—द्र०-ज्ञानखण्ड।**

४३. **आचार्य—** हिन्दी विश्वकोश के अनुसार आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति आचर-ण्यत् से मानी गई है, जिसके कई अर्थ हैं। प्रथमतः गुरु, मुरशद या उस्ताद को आचार्य कहा गया है। महाराज मनु के अनुसार जो द्विज (ब्राह्मण) शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके उसे वेदाङ्गों सहित सरहस्य (उपनिषद् सहित) वेद पढ़ाता है, उसे ही आचार्य कहते हैं- **उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः। सांगं च सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते** (मनु० २.१४०)। द्वयोपनिषद् में आचार्य शब्द इस प्रकार उपन्यस्त है- **आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारस्थापनादपि। स्वयमाचरते यस्तु तस्मादाचार्य उच्यते** (द्वयो०३) अर्थात् जो शास्त्र के अर्थों को चुनकर उनकी स्थापना हेतु स्वयं भी (शास्त्रों का) आचरण करता है, उसे आचार्य अथवा गुरु कहते हैं। किसी पात्र व्यक्ति को मंत्र देने वाले गुरु को भी आचार्य कहते हैं। कालान्तर में आचार्य शब्द शिक्षक के लिए रूढ़ हो गया, इसीलिए आज भी शिशु मन्दिरों, विद्यालयों के शिक्षकों को आचार्य कहने लगे। अन्य मतों में मतसंस्थापकों को भी आचार्य कहते हैं, जैसे- आचार्य शङ्कर आदि। यज्ञादि में पौरोहित्य कर्म करने वालों को भी आचार्य कहते हैं। पूज्य मात्र अथवा शिक्षक मात्र को भी आचार्य कहते हैं। नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् में उल्लेख है कि यदि कोई आचार्य किसी अनधिकारी (कुपात्र) को मन्त्रोपदेश करे, तो वह आचार्य अधोगति प्राप्त करता है-**सावित्रीं लक्ष्मीं यजु : प्रणवं .... स आचार्यस्तेनैव स मृतोऽधो गच्छति** (नृ०पूर्व० १.७)।

४४. **आज्यभाग— द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।**

४५. **आज्यस्थाली—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।**

४६. **आत्मचिन्तन—द्र०-संवित्।**

४७. **आत्मचैतन्य—द्र०-संवित्।**

४८. **आत्मदृष्टि—द्र०-संवित्।**

४९. **आत्मसाक्षात्कार—द्र०- ज्ञानखण्ड-साक्षात्कार।**

५०. **आदिपुरुष—** सृष्टि के आदि (प्रारम्भ) में केवल उसी परब्रह्म के होने से उसका एक नाम आदिपुरुष भी है। प्रसिद्ध कोशग्रन्थ वाचस्पत्यम् में आदि पुरुष की निष्पत्ति इस प्रकार है- **आदौ पुरिदेहे वसति वस-उषन्, स्वेनात्मना पूरयति जगत् पूर- उषन् ....। आदिजीवे, हिरण्यगर्भे, नारायणे च** (वाच०पृ० ६९७) अर्थात् सृष्टि के आदि में शरीर में निवास करने और अपने द्वारा जगत् को पोषण प्रदान करने के कारण परब्रह्म को आदिपुरुष कहते हैं। आदि जीव,

(अक्ष०५)। इसी प्रकार णं कार को समस्त सिद्धियों का प्रदाता मानकर उससे इकतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित होने की प्रार्थना की गई है- **ॐ णंकार सर्वसिद्धिप्रद मोहकरैकत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ** (अक्ष० ५)। इस प्रकार जीवन साधना के प्रतिफल स्वरूप अनेक सिद्धियाँ हस्तगत होती रहती हैं, पर उनका उपयोग लोकमंगल और लोकहित में ही होना उचित है। आत्मप्रदर्शन अथवा किसी का अनिष्ट करने के लिए इनका दुरुपयोग करना शास्त्र विरुद्ध और निषिद्ध है। यदि ये सिद्धियाँ किसी को साधना के परिणाम स्वरूप मिल भी जाती हैं, तो भी उद्देश्य सच्चा न देखकर लुप्त हो जाती हैं अथवा प्रभावहीन हो जाती हैं।

३८. **अष्टादशाक्षर मन्त्र**—द्र०कामबीज।

३९. **असंसक्ति**—उपनिषदों में योग,ध्यान, प्राणायाम आदि विषयों का सविस्तार वर्णन है। इसी क्रम में अक्ष्युपनिषद् तथा महोपनिषद् में योग की सात भूमिकाएँ उपन्यस्त हैं, जिनके अन्तर्गत एक भूमिका असंसक्ति भी है। महोपनिषद् के अनुसार ये सात भूमिकायें इस प्रकार हैं- १.शुभेच्छा २.विचारणा ३.तनुमानसी ४.सत्त्वापत्ति ५.असंसक्ति ६.पदार्थ भावना ७.तुर्यगा। इनमें प्रथम भूमिका शुभेच्छा उस स्थिति को कहते हैं, जब वैराग्य धारण करने से पूर्व सांसारिक मायाजाल के प्रति ग्लानि का भाव उत्पन्न होकर शास्त्रादि के प्रति जिज्ञासा तथा श्रेष्ठ कर्म करने की इच्छा उत्पन्न होती है। द्वितीय भूमिका-विचारणा वह है, जिसमें सत्संग शास्त्राध्ययनादि द्वारा अभ्यास वैराग्य से युक्त होकर श्रेष्ठाचरण करने की प्रवृत्ति प्रादुर्भूत होती है। इस भूमिका के सम्पन्न हो चुकने पर जब विषयों के प्रति अनुराग क्षीण हो जाता है,तब वह तीसरी भूमिका-तनुमानसी कहलाती है। इन तीनों भूमिकाओं के निरन्तर अभ्यास से वैराग्य प्रबल होकर, चित्त के शुद्ध-सत्त्व स्वरूप में स्थित होने को ही चौथी भूमिका-सत्त्वापत्ति कहते हैं। इन भूमिकाओं के अभ्यास से असंसर्ग कला(विषयों के प्रति असङ्ग भाव या अनासक्ति)सत्त्वारूढ़(ईश्वर तत्त्व के संसर्ग को प्राप्त)होती है,वहीं पाँचवीं भूमिका-'असंसक्ति' के नाम से प्रख्यात है- **दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या। रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका** (महो० ५.३१)। उपर्युक्त पाँचों भूमिकाओं को पार करते-करते आत्मा में निरन्तर रमण होने लगता है, जिसके कारण बाह्य पदार्थ भावना विनष्ट हो जाती है(अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, ऐसा भाव विकसित हो जाता है), इसी भूमिका को पदार्थ भावना कहते हैं। इन सबके पश्चात् अन्तिम भूमिका तुर्यगा आती है, जिसमें साधक की भेदबुद्धि समाप्त प्राय हो जाती है और वह आत्मभाव में एकनिष्ठ हो जाता है। ऐसे जीवन्मुक्त साधक को ही यह स्थिति प्राप्त होती है। इन सातों भूमिकाओं के बाद ही विदेहमुक्ति वाली तुर्यातीत स्थिति आती है। इन्हीं सातों भूमिकाओं से मिलती-जुलती योग की सात भूमिकाएँ अक्ष्युपनिषद् में वर्णित हैं; किन्तु स्थिति में कुछ अन्तर होने से उनके नाम कुछ परिवर्तित हैं। ये भूमिकाएँ हैं-१.अवेदन २.विचार ३.असंसर्ग ४. स्वप्न ५. सुषुप्तपद ६. तुर्या ७. विदेह मुक्ति। इनमें प्रथम अवेदन भूमिका जिसे योग की प्रारम्भिक स्थिति भी कह सकते हैं, इस प्रकार है- इसमें साधक दिनानुदिन वासनात्मक चिन्तन से दूर होता जाता है और निरन्तर पारमार्थिक कार्यों में संलग्न होकर हर्षित रहता हुआ किसी की अश्लील चेष्टाओं से घृणा करते हुए किसी के समक्ष प्रकट नहीं करता। पाप से भयभीत रहकर भोग साधनों की आकांक्षा त्याग देता है। सबके प्रति मधुर व्यवहार रखते हुए स्वाध्याय और सत्संग करते हुए सतत भवसागर (संसाररूपी समुद्र) से पार जाने की अभिलाषा सँजोये रहता है। दूसरी भूमिका विचार कहलाती है। इस भूमिका से युक्त साधक उन श्रेष्ठ विद्वज्जनों का आश्रय ग्रहण करता है, जो श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यानादि की तर्कसंगत व्याख्या के लिए प्रख्यात हों। वह शास्त्रों में पारंगत, कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय में कुशल, शास्त्र, गुरु और सत्पुरुषों के सेवा-सहयोग से गूढ़ रहस्य युक्त ज्ञान को पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त कर लेता है। इसके बाद तीसरी भूमिका असंसर्ग प्रारम्भ होती है। इसमें साधक शास्त्र अभिमतों में अपनी बुद्धि को स्थिर करके तपस्वियों के आश्रम में निवास करता हुआ, अध्यात्म शास्त्रों का स्वाध्याय करता हुआ, कठोर भूमि पर शयन करता हुआ आयु व्यतीत करता है। विषयोपभोग आसक्ति से नहीं सहज रूप में करता है अर्थात् उनका संसर्ग करते हुए भी उनके प्रति असंसर्गवान् रहता है। असंसर्ग भी दो प्रकार का है अ. सामान्य ब. श्रेष्ठ। सामान्य असंसर्ग की भूमिका में स्थित साधक अपने को कर्त्ता, भोक्ता, बाध्य, बाधक कुछ भी न मानकर सब कुछ कर्माधीन और ईश्वराधीन जानकर विषयों के प्रति अनासक्त रहता है। श्रेष्ठ असंसर्ग की भूमिका में स्थित साधक अपने को अकर्त्ता, ईश्वर और पूर्वकृत अपने कर्मों को ही कर्त्ता मानता हुआ शब्द और अर्थ के भावों को विसर्जित करके मौन (मन और इन्द्रियों को नियंत्रित करना), आसन (अन्तर में स्थित होना) और शान्त भाव (बाह्यभावों के विस्मरण) को प्राप्त कर लेता है- **नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्तनं मम। कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम्। यन्मौनमासनं**

हिरण्यगर्भ और नारायण के लिए भी आदिपुरुष शब्द प्रयुक्त होता है। गीता में भगवान् के विराट् रूप का दर्शन करके, उनकी स्तुति करते हुए अर्जुन ने उन्हें आदिदेव और सनातन पुरुष कहा है, जिससे भी उनके आदिपुरुष होने का स्वर ध्वनित होता है- **त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।.........विश्वमनन्तरूप** (गीता०११.३८)। वेदों में भी इस समूची सृष्टि को उस आदि पुरुष से उत्पन्न निरूपित किया गया है- **पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति** (ऋ० १०.९०.२)। उस विराट् और आदि पुरुष से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि जातियाँ प्रकट हुईं। उसके किन अङ्गों से कौन उपजे? इसका उल्लेख इस ऋचा में मिलता है- **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत** (ऋ० १०.९०.१२)। इसी प्रकार उस आदिपुरुष के अन्य अङ्गों से चन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौः, भूमि, दिशाएँ और लोक उत्पन्न हुए बताये गये हैं। कलिसंतरणोपनिषद् में ब्रह्मा-नारद संवाद के अन्तर्गत ब्रह्मा ने कलि के दोषों के शमन का उपाय बताते हुए आदिपुरुष भगवान् श्री नारायण के नाम के संकीर्तन का परामर्श दिया है- .... **भगवत आदि पुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवतीति** (कलि० १)।

५१. **आद्यशक्ति—द्र०-अपराशक्ति।**

५२. **आनुष्टुभ मन्त्र—द्र०- महाचक्र-सुदर्शन चक्र।**

५३. **आर्य**—कोश ग्रन्थों में आर्यशब्द इस प्रकार निष्पन्न बताया गया है- **आर्यते गम्यते पूजा** (हि०वि०को०)। इसके कई अर्थ हैं- जैसे- महाकुल, कुलीन, सभ्य, सज्जन, साधु या वफादार इंसान आदि। इसी प्रकार अन्य अर्थों में आर्य को पूज्य, श्रेष्ठ, शान्तचित्त, स्वामी, वैश्य और वेदोक्त जाति विशेष माना गया है। पाश्चात्य विद्वान् 'अर्' धातु से अर्य शब्द की निष्पत्ति बताते हैं, जिसका अर्थ भूमि जोतना है। उनका मत है कि प्रधानतः कृषि कार्य करने के कारण आर्य नाम हुआ है। इसीलिए इस कृषि प्रधान देश भारत में रहने वाले लोगों को आर्य और भारत को आर्यावर्त कहा जाता था; किन्तु अध्ययन से विदित होता है कि आर्य नाम केवल कृषि कार्य प्रधान होने से ही नहीं, वरन् अन्य कारणों से भी पड़ा है। जैसे कुलीन वंशोत्पन्न, श्रेष्ठ, सभ्य, सज्जन आदि गुणों के कारण भी आर्य नाम पड़ा होगा और बाद में वह जाति विशेष बन गई। आर्य शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही होता रहा है, इसका अर्थ यह है कि आर्य अति प्राचीन जाति (कर्मानुसार) रही है। वैदिक काल में आर्य और दस्यु ये दो ही जातियाँ थीं। आर्यों को श्रेष्ठ और दस्युओं को शूद्र जाति माना जाता था। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में कई स्थानों पर आर्यों के संरक्षण और दस्युओं के प्रतिकार के लिए देवों से प्रार्थना की गई है- ....**विद्वान्वज्रिन्दस्यवे हेतिमस्यार्यं सहो वर्धया द्युम्नमिन्द्र** (ऋ० १.१०३.३)। एक अन्य स्थल पर ऋग्वेद में ही इन्द्रदेव से प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्रदेव! आप आर्यों और दस्युओं (अनार्यों) को पहचानें, व्रतहीनों (दस्युओं) को वशीभूत करके यज्ञ करने वालों के लिए उन्हें नष्ट करें- **विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।........ते सधमादेषु चाकन** (ऋ०१.५१.८)। उपर्युक्त उदाहरणों से आर्य जाति का श्रेष्ठ व धार्मिक होना स्पष्ट है। आचार्य सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य में आर्य शब्द के विज्ञ अनुष्ठाता, विज्ञ स्तोता, अरणीय अथवा सर्वगन्तव्य, उत्तमवर्ण त्रैवर्णिक, मनु और कर्मानुष्ठान से श्रेष्ठ आदि अर्थ बताये हैं। शुक्ल यजु०संहिता में आचार्य महीधर ने आर्य शब्द को स्वामी और वैश्य वाचक माना है। आर्य के सम्बन्ध में सायण के अरणीय अथवा सर्वगन्तव्य अर्थ और महीधर के वैश्य अर्थ दोनों समान हैं। सम्भवतः व्यापार आदि के निमित्त सर्वत्र गमन करने वाले आर्य वैश्य कहलाये होंगे। निरुक्तकार यास्क ने आर्य शब्द की व्याख्या में आर्य को ईश्वर पुत्र कहा है- **आर्यः ईश्वरपुत्रः** (नि० ६.५.३)। निघण्टु २/२२ में ईश्वर के लिए 'अर्य' शब्द व्यवहृत हुआ है, जिससे अपत्यार्थ प्रत्यय में आर्य शब्द बनता है, ईश्वर के बल, तेज, दया, क्षमा, पराक्रम आदि गुणों से युक्त होने के कारण मानव जाति में श्रेष्ठ समुदाय को आर्य कहा गया। उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि आर्य श्रेष्ठ, ज्ञानवान् भ्रमण करने वाले और यज्ञादि अनुष्ठान करने वाले धार्मिकों की जाति थी, जो अतिप्राचीन है। उपनिषदों में भी आर्य जाति का उल्लेख हुआ है। अक्ष्युपनिषद् में योग की भूमिकाएँ बताते हुए उपनिषद्कार ने कहा है-**एवं विचारवान् यः स्यात् संसारोत्तारणं प्रति। स भूमिकावानित्युक्तः शेषस्त्वार्य इति स्मृतः** (अक्षि० २.९.१०) अर्थात् भवसागर से पार हो जाने की इच्छा से इस विचार में जो सतत लगा रहता है, उसे भूमिकावान् कहते हैं, शेष आर्य नाम से जाने जाते हैं। अभिप्राय यह है कि योग की विभिन्न भूमिकाओं में जाने के लिए तो विशेष प्रकार की साधनाएँ करनी होती हैं। उन-उन साधनाओं को करने वाला साधक तो भूमिकावान् है और इन भूमिकाओं से पूर्व की स्थिति आर्य (श्रेष्ठमानव) की है। ध्यातव्य है कि आर्य सामान्य मनुष्यों (जो घिसा-पिटा शिश्नोदर परायण जीवन जीते हैं) से तो श्रेष्ठ हैं, पर भूमिकावान् नहीं हैं ।

५४. **आवागमन चक्र**— द्र०- ज्ञानखण्ड।

५५. **आश्रम**— द्र०-ज्ञानखण्ड-चतुराश्रम।

५६. **इड़ा**— द्र०- ज्ञानखण्ड-सुषुम्नानाड़ी।

५७. **इष्ट**— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

५८. **ईशान**— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

५९. **ईश्वर**— द्र०-ज्ञानखण्ड-ईश्वर जीव।

६०. **उक्थ्ययाग**— द्र०-अतिरात्रयज्ञ।

६१. **उड्डियान बन्ध**— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

६२. **उद्गाता**— द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड-अध्वर्यु।

६३. **उद्भिज्ज**— द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड-कला।

६४. **उपपातक**— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड-महापातक।

६५. **ऊर्ध्वरेता**— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

६६. **ऋत**— द्र०-ज्ञानखण्ड-ऋत-सत्य।

६७. **कपालशोधन क्रिया**— योग की विभिन्न क्रियाओं के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त हठयोग प्रदीपिका में छः क्रियाओं का उल्लेख भी मिलता है- **धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा। कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते** (ह०यो०प्र० २.२२) अर्थात् धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक और कपालभाति-इन छः क्रियाओं को (शरीर शोधन हेतु) सम्पन्न करना चाहिए। इनमें छठी और अन्तिम क्रिया कपालभाति है, यह एक विशिष्ट प्रकार का प्राणायाम है, जो कफ आदि दोषों का नाशक है। हठयोग प्रदीपिका, द्वितीय उपदेश के मन्त्र क्र० ३५ में कपालभाति इन शब्दों में परिभाषित है-**भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ। कपालभातिर्विख्याता कफदोष विशोषिणी** (हठ० प्र० २.३५) अर्थात् लुहार की धौंकनी के समान शीघ्रतापूर्वक किया गया रेचक और पूरक प्राणायाम कपालभाति क्रिया कहलाती है, जो कफदोष विनाशक है। घेरण्ड संहिता में कपालभाति क्रिया के प्रायः तीन प्रकार बतलाये गये हैं-(क) वातकर्म कपाल भाति (ख) व्युत्कर्म कपाल भाति- (ग) शीतकर्म कपाल भाति। इनमें प्रथम वातकर्म कपालभाति की तीन विधियाँ हैं- प्रथम विधि के अनुसार सुखासन में बैठकर दायें नथुने को बन्द करके बायें से बलपूर्वक वायु को खींचकर बिना रोके दायें नथुने से बाहर निकाला जाता है, इसी प्रकार दायें से वायु खींचकर बायें से बाहर निकालते हैं। द्वितीय विधि में दोनों नथुनों से एक साथ वायु खींचकर बाहर निकालते हैं तथा तृतीय विधि में-दायें नथुने को बन्द करके बायें से पूरक-रेचक करते हैं तथा बायें नथुने को बंद करके दायें से पूरक-रेचक करते हैं। सम्भवतः वातकर्म कपालभाति की दूसरी तीसरी विधि के प्रकार से मिलती-जुलती कपालशोधन क्रिया अथवा कपालसोधनी है; क्योंकि इसमें भी श्री चरणदास के अनुसार बायें से धीरे-धीरे रेचक करने की बात कही गई है- **बायें सेती रेचिये हौरे-हौरे जान। कपाल सोधनी जानिये चरणदास पहिचान** (हि०श०सा०पृ० ७८२)। इस प्रक्रिया से मस्तिष्क और आमाशय की शुद्धि होती है। इसी कारण कपाल शोधन इसका नामकरण हुआ है। योगकुण्डल्युपनिषद् में सूर्यभेदन क्रिया के अन्तर्गत कपाल शोधन क्रिया का इन शब्दों में उल्लेख हुआ है- **दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः। यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः॥ कपाल शोधने वाऽपि रेचयेत्पवनं शनैः। चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च** (यो०कु०१.२४-२५) अर्थात् दायीं नासिका से शनैः-शनैः बाहर की वायु को खींचकर बायीं नासिका से रेचक करे। कपालशोधन क्रिया में भी वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाले, इस प्रक्रिया से चारों प्रकार के वातदोष और कृमिदोष विनष्ट हो जाते हैं। इससे अधिक कपालशोधन क्रिया का कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

६८. **करन्यास**— द्र०-अङ्गन्यास।

६९. **कला**— द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

७०. **कलियुग**— द्र०-ज्ञानखण्ड-चतुर्युग।

७१. **कल्पवृक्ष—** कल्पवृक्ष एक ऐसे पेड़ का नाम है, जो मनचाही वस्तु दे सकन में सक्षम माना जाता है। हि०वि०को० के कल्पतरु प्रकरण में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है-**कल्पश्चासौ तरुश्चेति अथवा कल्पस्य तरुः राहोः शिरः इत्यादिवत्** जिसके कई अभिप्राय हैं। प्रथमतः देवलोक का वृक्ष विशेष जो याचना करने पर समस्त पदार्थ प्रदान करता है-**निगम कल्पतरोर्गलितं फलम्** (भाग० १.१.३)। द्वितीयतः स्मृतिशास्त्र विशेष को भी कल्पतरु कहते हैं। कल्पवृक्ष के और भी अनेक नाम हैं, जैसे- कल्पद्रु, कल्पद्रुम, कल्पतरु, कल्पलतिकी, कल्पलता, कल्पमहीरुह, कल्पवल्ली, कल्पविटप आदि। इसी प्रकार सुपारी, इमली, बहेड़ा और छोटे अमलतास के वृक्ष को भी कल्पवृक्ष या कल्पद्रुम कहते हैं। इच्छित वस्तु प्रदान करने की क्षमता के कारण ही किसी उदार पुरुष को भी कल्पतरु कहने लगते हैं। इस प्रकार लोक में कई प्रकार से कल्पवृक्ष और उसके पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार होता है। पौराणिक मान्यता है कि कल्पद्रुम या कल्पवृक्ष देवासुर संग्राम के बाद दोनों के सामूहिक पुरुषार्थ-समुद्र मंथन से चौदह रत्नों के क्रम में निकला था-**श्री मणि रम्भा वारुणी अमिय शंख गजराज। कल्पद्रुम शशि धेनु-धनु धन्वन्तरि विष बाजि।** इसके सम्बन्ध में मान्यता है कि यह कल्पान्त पर्यन्त जीवन वाला होता है। गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् में भगवान् गोविन्द (श्रीकृष्ण) की स्तुति में उन्हें वृन्दावन में कल्पवृक्ष के नीचे रत्नखचित सिंहासन पर सतत विराजमान निरूपित किया गया है- **तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या स्तोष्यामि** (गो०पूर्व० ३३)। इच्छित पदार्थ प्रदान करने के लिए ही कामधेनु भी प्रख्यात है। हि०वि०को० में कामधेनु प्रकरण में कामधेनु इस प्रकार प्रतिपादित है- **कामप्रतिपादिका धेनुः** अर्थात् एक गो विशेष, इस गाय से याचना करने पर इच्छित पदार्थ प्राप्त होते हैं। इसे भी स्वर्ग-लोक की धेनु कहा जाता है। स्वर्ग की गाय को सुरभि कहते हैं। उसे ही कामधेनु कहा गया है, जिसका वर्ण श्वेत और चतुर्वेद चार पाद स्वरूप हैं। उसके चारों स्तनों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष स्वरूप दुग्ध धाराएँ निःसृत होती हैं। शिववाहन वृषभ कामधेनु से ही उद्‌भूत हुआ था। सुरभि वंशजा होने के कारण कई स्थानों पर कामधेनु के लिए सुरभि शब्द भी प्रयुक्त होता देखा जाता है। गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् में ब्रह्मा द्वारा कृष्ण के अष्टादशाक्षर मंत्र से सृष्टि के उत्पादन के क्रम में मंत्र के **'गोविन्दाय'** पद से सुरभि (कामधेनु) के सृजन का तथ्य उल्लिखित है- ....**कृष्णादाकाशं खाद्वायुरुत्तरात् सुरभिविद्याः प्रादुरकार्षमकार्षमिति ....सकलमिदमिति** (गो०पूर्व० २५)। कामधेनु कुलोत्पन्ना नन्दिनी जो महर्षि वशिष्ठ की गाय मानी जाती है। जिसकी सेवा करके महाराज दिलीप ने रघु जैसा पुत्र रत्न प्राप्त किया, उसे भी कामधेनु ही कहा जाता है। कामधेनु का प्राकट्य भी समुद्र मन्थन से निकले चौदह रत्नों में माना जाता है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। साधना क्षेत्र में गायत्री को भी कामधेनु कहा जाता है; क्योंकि उनकी साधना से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है- **गायत्री सर्वकामधुक्।**

७२. **कामकला—** कोशग्रन्थों में कामकला शब्द के कई अर्थ मिलते हैं, जैसे-**कामस्य कलाप्रिया।** षष्ठी तत्पुरुष समास युक्त होने के कारण इसका अर्थ हुआ कामदेव की कला (प्रिया या पत्नी) रति। चन्द्रमा की सोलह कलाओं तथा तन्त्रोक्त विधि विशेष को भी कामकला नाम से जाना जाता है। लौकिक क्षेत्र में कामक्रीड़ा विज्ञान को भी कामकला कहते हैं। आध्यात्मिक सन्दर्भ में कामकला सृष्टि निर्माण की आदि कारण एक देवी को कहते हैं। तन्त्र ग्रन्थों में उल्लेख है कि आदि सृष्टि का मूल कारण शिव (कल्याणकारी ब्रह्म) और शक्ति (ब्रह्म की चित्‌शक्ति) दो बिन्दु रूप हैं। शिवबिन्दु श्वेत और शक्ति बिन्दु रक्त वर्ण वाला है। दोनों बिन्दुओं के संयोग का नाम 'काम' है। शिवशक्ति बिन्दु से अक्षर भाषा एवं पञ्चभूतों की उत्पत्ति वर्णित है। अकार शिव और इकार शक्ति का बोधक है। शिव बिन्दु, शक्ति बिन्दु और नाद इन्हीं तीनों से अहंकार का प्रादुर्भाव होता है, इसी को कामकला कहा गया है। बह्वृचोपनिषद् में चित्‌शक्ति को आदि देवी मानकर उन्हीं से सम्पूर्ण सृष्टि का आविर्भाव विवेचित है। इन्हीं देवी को कामकला, शृंगारकला आदि कहा जाता है- **ॐ देवी ह्येकाऽग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत्। कामकलेति विज्ञायते। शृङ्गारकलेति विज्ञायते** (बह्वृ० १)। इस तथ्य से यह प्रमाणित होता है कि परब्रह्म की **एकोऽहं बहु स्याम्** की कामना और उसके अनुसार अपनी चित् शक्ति से ब्रह्माण्ड का सृजन ही 'कामकला' है, जिसे देवी मानकर कामकला नाम दिया गया है। निराकार ब्रह्म का व्यक्त रूप ओंकार माना गया है। इसी प्रणव से प्रकृति का प्राकट्य हुआ है और यही प्रकृतित्व देवी का स्वरूप है- ....**परापरब्रह्मरूपेण यद्वस्तु तत् ओं इत्योंकारार्थरूपं तस्योंकारस्य ....प्रकृतत्वात् देवीप्रकृतित्वमुच्यते, 'प्रणवत्वेन प्रकृतित्वं वदन्ति ब्रह्मवादिनः' 'इति श्रुतेः'** (बह्वृ०१ ब्र०भा०)। कामना के उत्पत्ति स्थल (ब्रह्म) को कामयोनि और कामना की क्रिया को कामकला कहकर दोनों को एक ही तत्त्व निरूपित कर परब्रह्म की चित् शक्ति का

परिचय दिया गया है। अपने उपर्युक्त भाष्य के अन्दर ही ब्रह्मयोगी जी इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- **'कामो योनिः कामकला' इति श्रुत्या ईंकारस्य कामकलात्वेन वर्णितत्वात्।** इसी चित्शक्ति को शृङ्गार कला भी कहा गया है। यहाँ शृङ्गार का अभिप्राय साहित्य जगत् के शृङ्गार रस से न होकर किसी भी मंत्र के पूर्व में उच्चारण किये जाने वाले ओंकार से है, जो 'भृंग' स्वरूप अकार, उकार और मकार तथा अर्धमात्रा के रूप में मंत्र के प्रारम्भ में विद्यमान रहता है। इसीलिए इस चित्शक्ति को कामकला के साथ ही शृङ्गार कला भी कहते हैं। प्राणिमात्र के शरीरत्रय (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर) में विद्यमान रहने के कारण इसी चित्शक्ति को त्रिपुर सुन्दरी और महात्रिपुर सुन्दरी नाम प्रदान किया गया है-**सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य .... महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः** (बह्व० ४)। त्रिपुरोपनिषद् और देव्युपनिषद् में कामयोनि, कामकला, वज्रपाणि, गुहा, मातरिश्वा, सकला, माया आदि के रूप में उसी चित्शक्ति की वन्दना की गई है- **कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा ....पुरूच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्योम्** (देवी० १४-त्रिपुरा० ८)। त्रैपुर (त्रिपुर अर्थात् तीन पुरों समष्टि और व्यष्टिगत स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीरों) में निवास करने वाली चित् शक्ति ही त्रिपुरा कही गई है। इसे अजरा, पुराणी, (चिरंतन-प्राचीन) महान् महिमा से युक्त देवताओं में श्रेष्ठ कहा गया है-**अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम्** (त्रिपुरा० १)। यह चित्शक्ति और भगवान् (अर्थात् षडैश्वर्य से सम्पन्न) कामेश या कामेश्वर (समस्त कामनाओं के नियन्त्रक ब्रह्म) निष्काम उपासक को ब्रह्मपद (परमपद) की प्राप्ति करा देते हैं- **भगः शक्तिर्भगवान् काम ईश उभा दाताराविह सौभगानाम्** (त्रिपुरा० १४)। कहीं-कहीं सच्चिदानन्द घन परमात्मा को कामेश्वरी देवता भी कहा गया है। भावनोपनिषद् में शरीर में श्रीचक्रत्व सिद्धि के कारणों का विवेचन करते हुए अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, कामेश्वरी, वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी को आन्तरिक त्रिकोण के अग्रभाग में स्थित देवता कहा गया है। यहाँ आद्या प्रधान कामेश्वरी को सत्, चित् और आनन्दस्वरूप एवं पूर्ण ब्रह्म (पूर्ण पुरुष) और आत्मा की ऐक्यरूपा देवता विवेचित किया गया है- **अव्यक्तं ....कामेश्वरी वज्रेश्वरी .... तयोः कामेश्वरी सदानन्दघना परिपूर्णस्वात्मैक्यरूपा देवता** (भाव० २)।

७३. **कामधेनु**— द्र०-कल्पवृक्ष।

७४. **कामबीज**— तन्त्र ग्रन्थों में कामबीज को कामनापूर्ति करने वाला बीज मंत्र बताया गया है। बीज मंत्र को मूल मंत्र भी कहते हैं। इसीलिए विशिष्ट प्रयोजनों के निमित्त उनके लिए निर्धारित मन्त्रों के साथ बीज मंत्र (ह्रीं, क्लीं आदि) लगाते हैं; ताकि वे और अधिक सशक्त होकर वाञ्छित प्रभाव डालकर अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध कर सकें। गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् में '**क्लीं**' को कामबीज कहा गया है। भगवान् कृष्ण की प्राप्ति के लिए जपे जाने वाले '**क्लीं**' संयुक्त १८ अक्षर वाले मन्त्र को अष्टादशाक्षर अथवा अष्टादशार्ण मन्त्र कहते हैं। इसमें प्रारम्भ में '**क्लीं**' बीजमन्त्र है। इसका जप करने से साधक शीघ्र ही पूर्णकाम होकर श्रीकृष्ण की प्राप्ति करता है। यह मन्त्र इस प्रकार है- **क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।** इस मन्त्र में पाँच पद होने से यह पञ्चपदी मन्त्र भी कहलाता है। गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् के मन्त्र क्रमाङ्क १२-१३ में यह तथ्य इस प्रकार उपन्यस्त है- **पञ्चपदं जपन् पञ्चाङ्गं .... ब्रह्म संपद्यते ब्रह्म संपद्यत इति। तदेष श्लोकः-क्लीमित्येतदादावादाय कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन वल्लभायेति .... स्यादिति** (गो०पूर्व० १२-१३)। इस प्रकार कामबीज सहित मन्त्र जप आप्तकाम बनाकर परमानन्द की प्राप्ति कराता है।

७५. **कामेश—द्र०-कामकला।**

७६. **कामेश्वरी—द्र०-कामकला।**

७७. **कालरात्रि—द्र०-अजा- अनजा-अज्ञेया।**

७८. **कालाग्नि**— कोशग्रन्थों में कालाग्नि का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है- **कालः सर्वसंहारकःअग्निः** (हि०वि०को०खं० ४ पृ० ५७७) अर्थात् सबका विनाश करने वाली अग्नि ही कालाग्नि है। इस अर्थ के अनुसार प्रलयाग्नि ही कालाग्नि है; क्योंकि प्रलयकाल में सर्वप्रथम अग्नि की तेज लपटें उठती हैं, तदुपरान्त पृथ्वी का जल वाष्पीभूत होकर घनघोर वर्षा होती है, जिससे सम्पूर्ण पृथिवी जलमग्न हो जाती है और सब कुछ विनष्ट हो जाता है, इसे ही महाप्रलय कहते हैं। चूँकि संहार के देवता रुद्र हैं, इसलिए रुद्र का एक नाम कालाग्नि भी है। पञ्चमुखी रुद्राक्ष को भी कालाग्नि कहते हैं, कारण यह है कि यह शिव को अतिप्रिय है। **पञ्चवक्त्रं स्वयं रुद्रः कालाग्निर्नाम नामतः** (हि०वि०को० खं० ४ पृ० ५७७)।

कालाग्नि की तरह ही प्रलयाग्नि के लिए एक शब्द संवर्तक अग्नि भी प्रयुक्त होता है। संवर्त का अभिप्राय प्रलय और कल्पान्त से है, इसी से निर्मित संवर्तक शब्द के कई अर्थ हैं- **संवर्त्तयतीति** से निर्मित संवर्तक को प्रलय-कालीन मेघ की अग्नि कहते हैं। भगवान् कृष्ण के अग्रज बलदेव जी तथा उनके अस्त्र को भी संवर्तक कहते हैं। बड़वानल भी संवर्तक अग्नि है, जिसे समुद्र में स्थित अग्नि कहा जाता है। इस प्रकार कालाग्नि और संवर्त्तकाग्नि दोनों सृष्टि विनाशक अग्नियाँ ही हैं। कालाग्निरुद्रोपनिषद् में कालाग्नि को देवता और संवर्त्तकाग्नि को ऋषि रूप में विवेचित कर इन दोनों अग्नियों का मानवीकरण प्रस्तुत किया गया है-**अथ कालाग्निरुद्रोपनिषदः संवर्तकोऽग्निर्ऋषिरनुष्टुप्छन्दः श्रीकालाग्निरुद्रो देवता .... विनियोगः** (काला०रु०-१)। इस मन्त्र के भाष्य में ब्रह्मयोगी ने कालाग्नि को सब कुछ विनष्ट करने वाला परमेश्वर कहा है-**स्वाज्ञानतत्कार्यं कालयति नाशयति निःशेषं भस्मीकरोतीति कालाग्निः परमेश्वरः ....** (काला०रु० १ ब्र०भा०) इस प्रकार इन्होंने संवर्त्तक अग्नि को प्रलय काल का सूर्य विवेचित किया है, जो अविद्या के समूह को भस्म करने में कुशल है- **तस्य संवर्तकोऽग्निः स्वाविद्याऽण्ड भस्मीकरणपटुः प्रळयकाल सूर्य ....** (काल०रु० १ ब्र०भा०)।

७९. **कालातीत—** कालातीत का अभिप्राय सामान्यतया समय के निकल जाने या टल जाने से है। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार उल्लिखित है- **कालस्यातीतमत्ययः .... कालातिक्रमे .....** अर्थात् काल का अतिक्रमण कर जाना-निकल जाना। उदाहरणार्थ समय निकल जाने पर संध्या उसी प्रकार व्यर्थ जाती है, जिस प्रकार बन्ध्या स्त्री से संगम व्यर्थ होता है अर्थात् कोई फल नहीं देता-**कालातीते वृथा सन्ध्या बन्ध्यस्त्री मैथुनं यथा** (हि०वि०को०खं० ४ पृ० ५७८)। विशिष्ट अर्थ में 'कालातीत' परब्रह्म की एक संज्ञा है। जो तीनों कालों भूत, भविष्यत् और वर्तमान से परे हैं अर्थात् जो भूत-भविष्य को वर्तमान की तरह ही देखते और जानते हैं, वे कालातीत हैं। इस प्रकार की क्षमता से युक्त देवों के लिए भी कई बार यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। गणपत्युपनिषद् में भगवान् गणेश को भी देहत्रयातीत, गुणत्रयातीत और कालत्रयातीत (कालातीत) कहा गया है- ....**त्वं गुणत्रयातीतः। त्वं देहत्रयातीतः। त्वं कालत्रयातीतः ....सुवरोम्** (गण०६)। परब्रह्म के लिए उसके गुणों के अनुसार विभिन्न सम्बोधन प्रयुक्त किए जाते हैं, जैसे द्वन्द्व रहित (एक मात्र) रहने से द्वन्द्वातीत या अद्वन्द्व, सदैव से और सदा रहने के कारण सनातन ब्रह्म, सभी का मूल कारण होने से कारण ब्रह्म, सभी विशेषताओं से परे होने से निर्विशेष ब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म या कारण ब्रह्म) निर्गुण निराकार होने से-सभी प्रकार के आरोपों-प्रत्यारोपों, अविद्या आदि दोषों से परे होने के कारण निष्कलंक (.....**निष्कलंको निरञ्जनो ....शिरोऽधीते**-नारा० २) नाम उसी परब्रह्म का है। यही ब्रह्म जब अपनी विशिष्टताओं से समन्वित होकर विश्वब्रह्माण्ड के सृजन-पालन-संहार में प्रवृत्त होता है, तो वह सविशेष ब्रह्म (सगुण ब्रह्म या कार्य ब्रह्म) कहलाने लगता है। भगवान् रुद्र की ब्रह्म से एकात्मता के कारण उन्हें भी द्वन्द्वातीत और सनातन ब्रह्म निरूपित किया गया है- **सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वं परं ब्रह्म सनातनम्। सच्चिदानन्दरूपं तदवाङ्मनसगोचरम्** (रुद्रहृ० २६)। पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् में महेश्वर रुद्रशिव को ब्रह्म का मानस ब्रह्म कहा गया है-**मानसं ब्रह्म महेश्वरं ब्रह्म** (पू०का० ११)। मानस ब्रह्म का रूप हंसः अथवा सोऽहम् को बताते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है-**मानसो हंसः सोऽहम् इति** (पू०का० १२)। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण को भी पूर्ण पुरुष और सनातन ब्रह्म अर्थात् शाश्वत ब्रह्म कहा गया है; किन्तु उन्होंने अपनी माया विग्रह (लीला विग्रह) से अर्थात् माया से ही मंच पर नाटक करने के समान गोपवेष धारण किया है। वस्तुतः वे पूर्ण पुरुष परब्रह्म अर्थात्; साक्षात् श्री हरि ही हैं। श्रीकृष्णोपनिषद् में इसका उल्लेख इस प्रकार है-**गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारणः। ....शेषनागोऽभवद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्** (कृष्ण० १०-१२)।

८०. **कुण्डलिनी शक्ति—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड-कुण्डलिनी।**

८१. **कृत्या—** कृत्या का अभिप्राय उस क्रिया विशेष से होता है, जो अभिचार के अन्तर्गत की जाती है और जिसका उद्देश्य सम्बन्धित व्यक्ति को क्षतिग्रस्त अथवा विनष्ट करना होता है। वाचस्पत्यम् में यह तथ्य इस प्रकार संप्राप्य है- **कृत्या ....अभिचारक्रियाजन्ये अभिचारोद्देश्यनाशके** (वाच०पृ० २१८९)। प्रख्यात कोश ग्रन्थ हिन्दी विश्वकोश में कृत्या इन शब्दों में निर्दिष्ट है- **कृत्या ....कृ भावे क्यप् तुगागमः टाप् च।** जिसका प्रथम अर्थ क्रिया या काम है और दूसरा अर्थ अभिचारादि कार्य, जादू-टोना है तथा तीसरा अर्थ अभिचार आदि के लिए आराधित कोई देवता (देवी) है। माना जाता है कि अभिचार आदि कार्य के समय ही कृत्या उत्पन्न होती है तथा जिसके विनाश के लिए भेजी जाती है, उसे विनष्ट करके ही समाप्त होती है। यदि किसी कारण वह निर्दिष्ट व्यक्ति को नहीं मार पाती, तो वह लौटकर प्रयोक्ता पर

ही आक्रमण करके उसे समाप्त कर देती है। वेदों में भी (विशेषतया अथर्ववेद में) कृत्या को देवता मानकर उसकी स्तुति की गई है। अथर्ववेद में कृत्यादूषण और कृत्या परिहरण सूक्तों के अन्तर्गत इस प्रकार के मंत्र हैं, जिनसे प्रयुक्त की गई कृत्या को खदेड़ने तथा उसे प्रयोक्ता के पास वापस लौटकर उसी को नष्ट करने का तथ्य स्पष्ट होता है। यथा- **अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते। प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत्** (अथर्व० १०.१.५) अर्थात् हिंसक पाप (कृत्या) और शपथरूप शाप प्रयोगकर्त्ता के पास पहुँचे। हम अभिचार कर्म (कृत्या को इस प्रकार भेजते हैं, जिससे वह प्रयोक्ताओं को विनष्ट करे। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्ष (मोती स्फटिक अथवा रुद्राक्ष आदि का मनका) धारण करने के क्रम में अ वर्ण से लेकर क्ष वर्ण तक प्रत्येक अक्षर के अनुसार प्रत्येक अक्ष में विभिन्न देवताओं का मन्त्रों से आवाहन करके उनमें इन्हें स्थापित करने का विधान है। प्रत्येक मंत्र में उस-उस देवता की शक्ति का वर्णन भी निर्दिष्ट है। इसी क्रम में २४ वें अक्षर 'जकार' के बीज मंत्र जं को २४ वें अक्ष में प्रतिष्ठित होने की भावना की गई है, जो कृत्या आदि शक्तियों का विनाशक और दुर्धर्ष है-................**ॐ जङ्कार कृत्यादिनाशकर दुर्धर्षचतुर्विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ** (अक्ष० ५)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामान्यतः तो कृत्या कोई भूतनी या डाकिनी प्रतीत होती है; किन्तु यह एक मारक या हानिकारक आभिचारिक शक्ति है, जिसे यदि अनुपयुक्त व्यक्ति पर अनुचित ढंग से प्रयुक्त किया गया, तो वह प्रयोग करने वाले को ही विनष्ट कर देती है।

८२. **कैवल्य—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।**

८३. **क्षेत्रज्ञ—द्र०-ज्ञान खण्ड।**

८४. **क्षेत्रपाल—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।**

८५. **खेचरी विद्या (खेचरीमुद्रा)—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड -मुद्रा।**

८६. **गन्धर्व—द्र०-ज्ञानखण्ड।**

८७. **गरिमा—द्र०-अष्टसिद्धि।**

८८. **गुरु—द्र०-ज्ञानखण्ड —गुरु-शिष्य, ब्रह्मविद्या खण्ड —सद्गुरु।**

८९. **चाक्षुषी विद्या**— उपनिषदों में विभिन्न प्रकार की आध्यात्मिक और गूढ़ विद्याओं का वर्णन मिलता है। इनमें अधिकांश तो आत्मिक उन्नति के लिए हैं; किन्तु कुछ ऐसी भी हैं, जो भौतिक समृद्धि, शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। चाक्षुषोपनिषद् में नेत्ररोगों को दूर करने के मंत्र निर्दिष्ट हैं, उनके पाठ की विधि भी वर्णित है। चक्षुओं (नेत्रों) के रोग दूर करने अथवा उन्हें रोगग्रस्त न होने देने की विद्या के कारण इसे चाक्षुषी विद्या कहते हैं। इस विद्या के ऋषि अहिर्बुध्न्य, छन्द गायत्री और देवता सूर्य हैं। चक्षुरोग निवृत्ति के लिए इसका विनियोग किया जाता है। चाक्षुषोपनिषद् में इस तथ्य का उल्लेख इस प्रकार है- **चक्षूरोगाः सर्वतो नश्यन्ति। ....तस्याश्चाक्षुषी विद्याया अहिर्बुध्न्य ऋषिः। गायत्री छन्दः। सूर्यो देवता। चक्षूरोगनिवृत्तये जपे विनियोगः। ॐ चक्षुः चक्षुः चक्षुः तेजः स्थिरो भव ....** (चा०१) आदि मंत्र के नियमित पाठ पूर्वक सूर्य ध्यान से चक्षुरोग विनष्ट हो जाते हैं तथा उसके कुल में कोई अन्धा नहीं होता, ऐसा चाक्षुषोपनिषद् में उल्लेख है- **य इमां चाक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति। न तस्य कुले अन्धो भवति** (चा०१)। इसी विद्या को चाक्षुष्मती विद्या भी कहते हैं, जिसका उल्लेख अक्ष्युपनिषद् में इस प्रकार हुआ है कि एक बार भगवान् (ऋषि) सांकृति आदित्य लोक में गये और (चाक्षुषी) विद्या द्वारा सूर्यदेव की वन्दना की (अक्ष्युपनिषद् वर्णित वन्दना के मंत्र चाक्षुषोपनिषद् में वर्णित मंत्रों से कुछ पाठभेदयुक्त हैं)। इससे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्यदेव ने कहा इस विद्या का जो ब्राह्मण (साधक) नित्य पाठ करता है, उसे न तो चक्षुरोग होता है और न ही उसके कुल में कोई अन्धा होता है। आठ साधकों को इस विद्या को ग्रहण करा देने पर इसकी सिद्धि हो जाती है। जो इसे जानता है, वह महान् हो जाता है-**एवं चाक्षुष्मतीविद्यया स्तुतः सूर्यनारायणः सुप्रीतोऽब्रवीत् चाक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो यो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति ....अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वाथ विद्यासिद्धिर्भवति। य एवं वेद स महान् भवति** (अक्षि०प्र०ख)। चाक्षुषोपनिषद् ही चक्षुरुपनिषद् चक्षूरोगोपनिषद्; नेत्रोपनिषद् आदि नामों से भी जानी जाती है।

९०. **चाक्षुष्मती विद्या—द्र०- चाक्षुषी विद्या।**

९१. **चिदात्मा—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।**

९२. **चिरंतन**—द्र०-कामकला।

९३. **चौंसठकला-विद्या**—'**कलयति कलते वा कर्त्तरि अच्, कल्यते ज्ञायते कर्मणि अच् वा**' आदि वाचस्पत्यम् में वर्णित कला की परिभाषा के अनुसार कला उसे कहते हैं, जो किसी के कर्म अथवा स्थिति को द्योतित करती है। किसी के अंश या भाग तथा गुण को भी कला कहते हैं। जैसे चन्द्रमा की (स्थिति अनुसार) षोडश कलाएँ होती हैं। सूर्य की द्वादश कलाएँ होती हैं। अवतारों में भी कलाएँ होती हैं, उन्हीं के अनुसार उनकी शक्ति का आकलन किया जाता है। जैसे-राम बारह कला और कृष्ण सोलह कला के अवतार थे। जीव मात्र में एक-दो कलाएँ तो रहती ही हैं। जैसे-जैसे चेतना का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे कलाएँ बढ़ती जाती हैं। कलाओं सम्बन्धी विस्तृत विवरण शान्तिकुञ्ज द्वारा प्रकाशित १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्या खण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में 'कला' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा जा चुका है। षोडश, द्वादश आदि कलाओं के अतिरिक्त चौंसठ कलाओं का उल्लेख भी शास्त्रों में मिलता है। जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष हैं। काम और अर्थ, धर्म तथा मोक्ष की सीमा में ही रखे गये हैं। जहाँ आध्यात्मिक उन्नति और मानव जीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति को धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों की फलश्रुति माना गया है, वहीं धर्म, अर्थ और काम की फलश्रुति भौतिक सफलता व समृद्धि को माना गया है। मोक्ष शास्त्र का मूल वेदों के ज्ञान और उपासना काण्ड तथा सभी उपनिषद् व दर्शनों को तथा काम या कलाशास्त्र का मूल सामवेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद, स्थापत्य और इनके अन्तर्गत समस्त कला साहित्य को माना गया है। कामशास्त्र और तन्त्र शास्त्र में जीवन को व्यवस्थित और विकसित बनाने वाली ६४ कलाओं का वर्णन मिलता है। इन्हें ६४ कलाएँ अथवा ६४ महाविद्याएँ भी कहते हैं। इनके अन्दर जीवन व्यवहार, विनय, शिष्टाचार, काव्यलेखन, वक्तृता, छन्दज्ञान, भाषाज्ञान, शिल्प, चित्रकारी आदि विभिन्न विद्याओं का समावेश है। ये चौंसठ कलाएँ— विद्याएँ इस प्रकार हैं- १.गीत (गायन), २. वाद्य (बजाना), ३. नृत्य (नाचना), ४. नाट्य (अभिनय करना), ५. आलेख्य (चित्रकारी), ६. विशेष कच्छेद्य (तिलक के साँचे बनाना), ७.तण्डुल कुसुमावलि विकार (चावल के फूलों का चौक पूरना), ८. पुष्पास्तरण (पुष्पों की सेज बनाना), ९. दशन वसनांग राग (दाँतों, कपड़ों और अंगों को रँगना अथवा दाँतों के लिए मंजन, मिस्सी आदि, वस्त्रों के लिए रंग और रँगने की सामग्री तथा अङ्ग लेपन हेतु चन्दन, केसर, मेंहदी, महावर आदि बनाना और उसकी विधि का ज्ञान), १०. मणिभूमिका कर्म (ऋतु के अनुसार गृह सज्जा), ११. शयन रचना (बिछावन बिछाना), १२. उदक वाद्य (जलतरंग बजाना), १३. उदकघात (पानी के छींटे आदि मारने और पिचकारी आदि मारने से काम लेने की कला), १४. चित्रयोग अवस्था परिवर्तन कर देना अर्थात् वृद्ध को युवा और युवा को वृद्ध कर देना। १५. माल्यग्रन्थ-विकल्प (देवपूजन आदि के लिए माला गूँथना), १६. केश-शेखरापीड़-योजन (शिर के बालों में अनेक प्रकार के पुष्प गूँथकर सज्जित करना), १७. नेपथ्य योग (देश, काल, परिस्थिति के अनुसार वस्त्र, आभूषण आदि पहनना), १८. कर्ण पत्रभङ्ग कानों हेतु कर्णफूल आभूषण आदि निर्मित करना), १९. गन्धयुक्ति (सुगन्धित पदार्थ इत्र, तेल-फुलेल आदि बनाना), २०. भूषण योजन, २१. इन्द्रजाल, २२. कौचुमार अथवा कौमार योग (विभिन्न पदार्थों के प्रयोग से कुरूप को सुन्दर बना देना), २३. हस्तलाघव (हाथ की सफाई, फुर्ती), २४. चित्रशाकापूप भक्ष्य-विकार-क्रिया (अनेक प्रकार के पक्वान्न बनाने की कला), २५. पानक रस रागासव योजन (अनेक प्रकार के पेय शर्बत, मदिरा आदि बनाना)। २६. सूची कर्म (सिलना, पिरोना) २७. सूत्र कर्म (कपड़े बुनना, रफूगरी, कसीदा और तरह-तरह के बेलबूटे काढ़ना), २८.प्रहेलिका (पहेलियाँ कहना व पूछना), २९. प्रतिमाला (अन्त्याक्षरी करना), ३०. दुर्वाचक योग (कठिन शब्दों का तात्पर्य निकालना), ३१. पुस्तक वाचन (उचित प्रकार से पुस्तक पढ़ना), ३२. नाटिकाख्यायिका दर्शन (नाटक देखना या दिखाना) ३३. काव्य समस्या पूर्ति, ३४. पट्टिकावेत्रवाण विकल्प (निवाड़, बेंत आदि से चारपाई बुनना), ३५. तर्कु कर्म (तकुआ सम्बन्धी समस्त कार्य, कुछ विद्वानों ने इसे तर्क कर्म अर्थात् दलील देकर तथ्य स्पष्ट करना माना है,) ३६. तक्षण (बढ़ई का काम), ३७. वास्तु विद्या (मकान आदि बनाना), ३८. रूप्यरत्न परीक्षा (धातु और रत्नों का परीक्षण)३९. धातुवाद (कच्ची धातुओं की सफाई या मिली हुई धातुओं को पृथक्-पृथक् करना), ४०. मणिरागज्ञान (रत्नों के रंगों की जानकारी), ४१. आकर ज्ञान (खानों की विद्या), ४२. वृक्षायुर्वेदयोग (वृक्षों का ज्ञान, चिकित्सा और उन्हें लगाने-करने की विधि), ४३. मेष- कुक्कुटलावक-युद्ध विधि (मेढ़ा, मुर्गा, बटेर, बुलबुल आदि को लड़ाने की विद्या), ४४. शुकसारिका प्रलापन (तोता-मैना को पढ़ाना), ४५. उत्सादन (उबटन आदि लगाना तथा हाथ, पैर, शिर आदि दबाना), ४६. केश मार्जन कौशल (बालों का मलना और तेल लगाना), ४७. अक्षर मुष्टि का कथन (करपलई), ४८. म्लेच्छित कला विकल्प (विदेशी भाषाओं का ज्ञान), ४९.

देशभाषा ज्ञान (प्राकृतिक बोलियों को जानना), ५०. पुष्प शकटिका निमित्त ज्ञान (दैवी लक्षण जैसे बादल आदि देखकर आगामी भविष्य की भविष्यवाणी करना), ५१. यन्त्र मातृका (समस्त यंत्रों को बढ़ाना), ५२. धारण मातृका (स्मरण बढ़ाना) ५३. सम्पाठ्य (दूसरे को पढ़ते हुए सुनकर उसी प्रकार पढ़ देना), ५४. मानसी काव्य क्रिया (अभिप्राय देखकर तुरन्त मन में काव्य निर्माण व उसे पढ़ते जाना), ५५. क्रिया विकल्प (क्रिया के प्रभाव को उलट देना), ५६. छलितक योग (छल अथवा ऐयारी करना), ५७. अभिधानकोश छन्दोज्ञान, ५८. वस्त्रगोपन (वस्त्रों की रक्षा करना) ५९. द्यूत विशेष (जुआ खेलना) ६०. आकर्षण क्रीड़ा (खींचने-फेंकने वाली समस्त क्रीड़ाएँ), ६१. बाल क्रीड़ा कर्म (बच्चा खिलाना), ६२. वैनायिकी विद्याज्ञान (विनय और शिष्टाचार), ६३. व्यायामिकी विद्या-ज्ञान (शत्रु पर विजय पाने का कौशल), ६४. वैतालिकी विद्याज्ञान (कुछ विद्वानों ने इसे व्यायामिकी विद्या ज्ञान मानकर खेल, कसरत, आसन, प्राणायाम आदि व्यायाम की कला कहा है)। उपर्युक्त ६४ कलाओं का वर्णन, शिवतंत्र, कामशास्त्र, हिन्दी विश्वकोश, हिन्दी शब्दसागर तथा हिन्दू धर्मकोश के अन्तर्गत लिखित 'हिन्दुत्व' ग्रन्थ में भी संप्राप्य है। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्षमाला धारण करते समय विभिन्न देवों को नमन के साथ उन्हें उसमें प्रतिष्ठित होने की कामना की गई है, उसी क्रम में लोक में वर्णित सात कोटि महामन्त्रों तथा ६४ कला विद्या को भी नमन करके उनसे उस अक्षमाला में प्रतिष्ठित होने की प्रार्थना की गई है-**अथोवाच ये मन्त्रा या विद्यास्तेभ्यो नमस्ताभ्यश्चोंनमस्तच्छक्तिरस्याः प्रतिष्ठापयति** (अक्ष० ९)। इसे ब्रह्मयोगी ने अपने भाष्य में इस प्रकार लिखा है- **अस्मिन् लोके ये सप्तकोटि महामन्त्रा विद्यन्ते याश्च चतुष्षष्टिकला विद्या विद्यन्ते ताभ्यो नमः** (अक्ष०९ ब्र० भा०)।

९४. **जरायुज—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड-कला।**

९५. **जालन्धरबन्ध—द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड।**

९६. **जीव—द्र०-ज्ञानखण्ड-ईश्वर-जीव।**

९७. **जीवन्मुक्त—द्र०-ज्ञानखण्ड।**

९८. **तत्त्वनिष्ठ—द्र०- संवित्।**

९९. **तनुमानसी—द्र०-असंसक्ति।**

१००. **तर्पण—द्र०-श्राद्ध।**

१०१. **तारक ब्रह्म—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-तारकब्रह्म-तारक मन्त्र।**

१०२. **तारक मन्त्र—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड - तारकब्रह्म-तारक मन्त्र।**

१०३. **तुर्यगा- द्र०-असंसक्ति।**

१०४. **तुर्या- द्र०-असंसक्ति।**

१०५. **तैजस—द्र०- ज्ञानखण्ड -प्राज्ञ।**

१०६. **त्रिगुणमयी माया-** वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों आदि में ब्रह्म की शक्ति माया का कई बार विभिन्न रूपों में उल्लेख हुआ है, जिसे कई नामों से अभिहित किया गया है, जैसे- माया, अविद्या, अज्ञान, अव्यक्त, प्रकृति, अलौकिकशक्ति, दैवीशक्ति, महद्ब्रह्म आदि। माया की बहुप्रचलित व्युत्पत्ति 'मा' अर्थात् नहीं, 'या' अर्थात् जो के अनुसार जो तत्त्वतः नहीं है और दिखाई पड़ती है, यही माया है। कुछ विद्वानों ने माया की परिभाषा अन्य प्रकार से करते हुए उसे अन्य नाम भी दिये हैं, जैसे- आचार्य सायण ने **मिमीते जानीते, कर्ममीयतेऽनयेति वा माया** (ऋ०३.२७.७ सा०भा०) अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है या कर्म विधान का ज्ञान प्राप्त होता है वह माया है। निरुक्तकार यास्क ने माया को 'प्रज्ञा' कहा है-**एतां मायां प्रज्ञां** (नि०७.७.२७ दु०वृ०)। श्रीमद्भगवद्गीता में ईश्वर की प्रकृति के लिए माया तथा अज्ञान शब्द प्रयुक्त हुआ है। गीता ५.१५ में इसके लिए अज्ञान शब्द प्रयुक्त हुआ है-**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।** भगवान् श्रीकृष्ण ने माया को त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण युक्त कहा है, जिसे पार करना दुष्कर बताया है-**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते** (गी० ७.१४)। गीता में ही १४ वें अध्याय के तीसरे श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने त्रिगुणमयी माया को महद्ब्रह्म कहकर उसे योनि कहा है, जिसमें चेतनस्वरूप बीज के आरोपण अर्थात् जड़ प्रकृति और चेतन ब्रह्म के संयोग से समस्त भूतों

(प्राणियों) की उत्पत्ति बताई है- **मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्। संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत** (गी० १४.३)। इस प्रकार उन्होंने महद्ब्रह्म अर्थात् अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति अथवा माया गर्भधात्री और अपने को (ब्रह्म को) सबका पिता कहा है। सत, रज और तम तीनों इसी माया से ही समुद्भूत हैं, जो जीव को देह से बाँधते हैं- **सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः। .... देहिनमव्ययम्** (गी० १४.५)। कृष्णोपनिषद् में त्रिगुणात्मक होने के कारण ही माया को त्रिविधा कहा गया है। इस त्रिविधा माया में सात्त्विकी माया रुद्रदेव में विद्यमान है, राजसी माया ब्रह्मा में तथा असुरों में तामसी माया समाविष्ट है- **माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वराजसतामसी। प्रोक्ता......... राजसी। तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा ह्युदाहृता** (कृष्ण० ४-५)। विवेक चूड़ामणि में आचार्य शंकर ने भी माया को परमेश्वर की अव्यक्त शक्ति कहकर उसे त्रिगुणमयी विवेचित किया है- **अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधियैव माया, यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते** (वि०चू० ११०)। ऋग्वेद में इन्द्र को माया द्वारा विभिन्न स्वरूप धारण करने वाला विवेचित किया गया है अर्थात् माया वह शक्ति है, जिससे अनेक रूप धारण किये जा सकते हैं- **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** (ऋ० ६.४७.१८)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि माया त्रिगुणमयी है, जो ईश्वर की शक्ति ही है, दोनों के संयोग से सृष्टि निर्माण होता है। रामपूर्वतापिन्युपनिषद् में ४७ अक्षर वाले मन्त्र '**ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय......... नमः ॐ**' से साधकों को त्रिगुणात्मक माया से मुक्ति पाने का तथ्य निर्दिष्ट है- **सप्तचत्वारिंशद्वर्णगुणान्तः सगुणः स्वयम्। .... लिखेत्** (रामपूर्व० ४.६४)।

कृष्णोपनिषद् में उपर्युक्त तीनों गुणों वाली माया के अतिरिक्त वैष्णवी माया का भी उल्लेख है, जिसे अजेया तथा देवकी के रूप में अवतरित बताया गया है- **अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा। देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते** (कृष्ण० ५-६)। इस वैष्णवी माया को ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त और किसी कर्मयोगादि साधन से न जीता जा सकने वाला बताते हुए ब्रह्मयोगी ने अपने भाष्य में लिखा है- **सेयं वैष्णवी माया ब्रह्मज्ञानेतर मन्त्रादि जप्येन च शब्दात् कर्मयोगादिसाधनेनाप्यजेया ब्रह्मज्ञानेन जेतुं शक्येति** (कृष्ण० ५- ब्र०भा०)। देवकी को ब्रह्मप्रणव अर्थात् ओंकार का ही अवतार बताते हुए उस ओंकार को ही वैष्णवी माया कहा गया है; क्योंकि ब्रह्मज्ञान का आदि स्रोत ओंकार ही है। समस्त वेदों में इसी की स्तुति की गई है। इसे किसी के द्वारा जीता जा सकना भी संभव नहीं है अर्थात् यह अजेय है। यह ओंकार रूप ब्रह्मविद्या ही ब्रह्मपुत्रा (ब्रह्म की पुत्री) देवकी है, जिसे वैष्णवी माया कहकर निरूपित किया गया है '**ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं,**' '**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**' **इत्यादिवेदैः तुरीयोङ्काररूपेण या उपगीयते सेयं ब्रह्मपुत्रा पुत्री ब्रह्मप्रणवविद्या देवकी भवति** (कृष्ण० ६- ब्र०भा०)। इसी प्रकार सीतोपनिषद् में भगवती सीता को भी प्रकृति का मूल कारण होने से मूल प्रकृति कहा गया है। प्रणव 'ॐ' (ओंकार) प्रकृति स्वरूप होने से सीता जी प्रकृति कहलाती है। त्रिवर्णात्मक नाम वाली और ॐकार स्वरूपा होने से सीता साक्षात् मायामयी अर्थात् योगमाया निरूपित हैं- **मूलप्रकृतिरूपत्वात्सा सीता प्रकृतिः स्मृता। प्रणव प्रकृतिरूपत्वात्सा सीता प्रकृतिरुच्यते। सीता इति त्रिवर्णात्मा साक्षान्मायामयी भवेत्** (सीता० १-३)।

१०७. त्रिणाचिकेताग्नि—द्र०- ज्ञानखण्ड '**नाचिकेताग्नि**'।

१०८. त्रिपुरा—द्र०-**कामकला**।

१०९. त्रिवृत् स्तोम— वेदों, शास्त्रों में स्तोम शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है, जिसके स्तुति, गुणगान, यज्ञ, समूह, राशि आदि कई अर्थ हैं; किन्तु प्रायः स्तोम का अर्थ स्तुतिपरक ही लिया जाता है। सामगान के अन्तर्गत स्तुतिपरक छन्द ही स्तोम हैं। जैमि० १.४३.६ में यह तथ्य इन शब्दों में उपन्यस्त है- **यदृचि तद्वेत्था३ इति स्तोमो वा एष तस्य साम्नो यद्वयं सामोपास्मह इति।** कालान्तर में स्तुति की विशेष पद्धति को स्तोम माना जाने लगा। तैत्ति०सं० ३.१.२४ तथा वाज०सं० ९.३३,१०.१० अदि में इसका उल्लेख हुआ है। श्री कुन्दनलाल शर्मा द्वारा लिखित यजुर्वेद तथा सामवेद संहिताएँ, नामक ग्रन्थ में '**स्तोम**' की परिभाषा इस प्रकार विवेचित है- 'सामगायकों द्वारा यज्ञ में प्रयोज्य तृचों (तीन-तीन मन्त्रों) की तीन-तीन आवृत्ति से सम्पादित अभीष्ट संख्या वाले मंत्र समूह को स्तोम संज्ञा से स्मरण किया जाता है।' तीन ऋचाओं की अभीष्ट आवृत्तियों की एक प्रक्रिया पर्याय कहलाती है, तीन पर्याय मिलकर अभीष्ट स्तोम की रचना करते हैं। इन स्तोमों की संख्या सम्पादन प्रक्रिया '**विष्टुति**' कहलाती है। स्तोम प्रायः ९ प्रकार के होते हैं, जो इस प्रकार हैं- **त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, चतुर्विंश, चतुश्चत्वारिंश, अष्टाचत्वारिंश।** इनमें त्रिवृत् का अर्थ है तीन बार मोड़ा हुआ। इसीलिए अथर्ववेद में यह शब्द उस प्रकार (तीन प्रकार मोड़कर) बने रक्षा

कवच या मणि के लिए प्रयुक्त हुआ है। बृहत् हिन्दीकोश में करधनी जो तीन धागों से बनती है, को भी त्रिवृत् कहा है। एक प्रकार के योगफल का नाम भी त्रिवृत् है- **मखं वै त्रिवृत् स्तोमानाम्** (तां० ब्रा० १७.३.२)। ताण्ड्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में तेज, ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस आदि को त्रिवृत् कहा है-**तेजो वै त्रिवृत्** (तां०ब्रा० २.१७.२), **ब्रह्मवर्चसं वै त्रिवृत्'** (तै०ब्रा०२७.१.१) तथा '**ब्रह्म वै त्रिवृत्**' (तां० ब्रा० २.१६.४)। मन्त्रों में भी कई बार, कई पद्धतियों से उच्चारण करके तेज, शक्ति भर देने को त्रिवृत् कहा गया है। त्रिवृत् स्तोम उसे कहते हैं, जिस स्तोम में मन्त्रों की आवृत्ति उनके अध्ययन क्रम से ही तीन बार करके नौ मंत्रों की संख्या सम्पन्न की जाती है। त्रिवृत् स्तोम में ३ विष्टुतियाँ (स्तोम में संख्या सम्पादन की प्रक्रियाएँ) होती हैं, जो उद्यती, परिवर्तिनी और कुलायनी नामों से जानी जाती हैं। इन्हीं प्रक्रियाओं से त्रिवृत् स्तोम का पाठ किया जाता है। गरुडोपनिषद् में गरुड़देव के शिर को त्रिवृत् स्तोम और नेत्रों को गायत्र अर्थात् साम की संज्ञा प्रदान कर इनका मानवीकरण किया गया है-**सुपर्णोऽसि गरुत्मान्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुः स्तोम आत्मा साम .....सुवः पत** (गरुड०-११)।

११०. त्रैपुर—द्र०-**कामकला।**

१११. त्र्यक्षरी विद्या— आध्यात्मिक साधनाओं की विभिन्न विद्याएँ और पद्धतियाँ हैं। अभीष्ट प्रयोजनों के लिए पृथक्-पृथक् शक्तियों की अलग-अलग ढंगों से साधना, पूजा, अर्चना एवं क्रिया भी की जाती है। इन पूजा अर्चनाओं और क्रियाओं की उन-उन विधियों को ही साधना क्षेत्र में विद्या कहते हैं। ये विद्याएँ हैं-त्र्यक्षरी विद्या, श्रीविद्या, महाविद्या, सनातनी विद्या, सौभाग्यलक्ष्मी विद्या आदि। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में त्र्यक्षरी विद्या, श्रीविद्या सौभाग्यलक्ष्मी (वैभव-धन-धान्य) प्राप्त करने के लिए विहित विद्या को ही '**सौभाग्यलक्ष्मी विद्या**' कहा गया है। इस विद्या के अन्तर्गत ही '**श्री**' सूक्त के वैभवशाली अक्षरों को आधार मानकर (लक्ष्मी) देवी के ध्यान, मन्त्र,चक्र आदि को प्रकट किया गया है। उपनिषद् के प्रारम्भ में ही देवों ने भगवान् श्री नारायण से सौभाग्य लक्ष्मी विद्या जानने की जिज्ञासा करते हुए निवेदन किया है-**अथ भगवन्तं देवा ऊचुर्हे भगवन्नः कथय सौभाग्यलक्ष्मीविद्याम्** (सौ०ल०१.१)। तदुपरान्त भगवान् ने पूरे उपनिषद् में इस विद्या को समझाया है, जो विस्तार से वहाँ द्रष्टव्य है। भगवती सौभाग्यलक्ष्मी की पूजा में बीज कोश में श्री बीज (जिसे श्रीं) कहा गया है, के लेखन मन्त्रलेखन तथा दशाङ्ग युक्त श्रीचक्र जिसमें प्रणव, षट्कोण, भूवृत्त, अष्टदल, भूवृत्त, द्वादशदल, भूवृत्त, षोडशदल, भूवृत्त तथा निर्भूवृत्त होते हैं, का निर्माण करने का विधान है- **तत्पीठकर्णिकायां ससाध्यं श्रीबीजम्। ....मातृकया च श्रियं यन्त्राङ्गदशकं च विलिख्य श्रियमावाहयेत्** (सौ०ल० १.५)। सौभाग्यलक्ष्मी प्राप्त करने की विद्या ही '**श्रीविद्या**' अथवा लक्ष्मी विद्या कहलाती है, जो उच्चस्थिति के निष्काम साधकों (अनुचित कामना विहीन साधकों) को प्राप्त होती है- **निष्कामानामेव श्रीविद्यासिद्धिः** (सौ०ल० १.११)। बह्वृचोपनिषद् में आदिशक्ति-देवी को ही '**षोडशी**' श्रीविद्या और ब्रह्मानन्द कला (अर्थात् ब्रह्मानन्दस्वरूप कला) कहा गया है- **............सैषा षोडशी श्रीविद्या ....ब्रह्मानन्दकलेति** (बह्व० ८)।

इसी प्रकार तीन अक्षरों वाली विद्या को कोशग्रन्थों में त्र्यक्षरी विद्या कहा गया है। वैसे तो त्र्यक्षर अकार, उकार और मकार (ॐ) को कहते हैं; किन्तु तन्त्रोक्त त्रिवर्णात्मक मन्त्र अथवा उस यन्त्र को भी त्र्यक्षर कहते हैं, जिसमें तीन अक्षर हों। सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषद् में '**श्रीं, ह्रीं, श्रीं**' की पूजन विधि को त्र्यक्षरी विद्या कहकर उसी के समान एकाक्षरी विद्या का पूजन बताया है और श्री, लक्ष्मी, वरदा, विष्णुपत्नी, वसुप्रदा आदि नाम मंत्रों द्वारा शक्ति की पूजा करने का निर्देश दिया गया है- **श्री लक्ष्मीर्वरदा विष्णुपत्नी वसुप्रदा .... द्विजतृप्तिः** (सौ०ल० १.११)। विभिन्न विद्याओं की उपादेयता, गुणों और क्रिया की दृष्टि से उन्हें विशेषण प्रदान किये जाते हैं; जैसे-प्राण संवर्धक और संरक्षण की विद्या को गायत्री महाविद्या, सूर्य सम्बन्धी कल्याणकारी विद्या को सावित्री महाविद्या कहते हैं। इसी प्रकार योगकुण्डल्युपनिषद् में खेचरीमुद्रा या खेचरीविद्या (जिसका वर्णन १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्याखण्ड के परिभाषाकोश परिशिष्ट में किया जा चुका है) को महाविद्या कहा गया है, क्योंकि इसकी सिद्धि से क्षुधा, निद्रा, तृष्णा, मूर्छा आदि से त्राण मिलता है और साधना क्षेत्र के समस्त विघ्न समाप्त हो जाते हैं। साधकों को चेतावनी दी गई है कि वे इस महाविद्या को विधिवत् जानकर ही अभ्यास करें-**तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते। नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः। वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः। एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः**(यो०कुं०२.२३-२४)।

११२. दक्षिणा—द्र०-**ज्ञानखण्ड।**

११३. दिग्बन्ध— अनुष्ठान, यज्ञ तथा विशिष्ट साधना सम्बन्धी कृत्यों में प्रायः आसुरी शक्तियों द्वारा विघ्न भी प्रस्तुत किये

जाते रहे हैं, जिसके कारण वे पूर्ण नहीं हो पाते और मध्य में ही छोड़ने पड़ते हैं। इस स्थिति से निपटने के लिए ऋषियों ने मन्त्रों अथवा विशिष्ट शक्तियों द्वारा दिशाओं को बाँध देने के लिए 'रक्षा विधान' की व्यवस्था की थी। सभी दिशाओं को कीलित कर देने अथवा बाँध देने की प्रक्रिया ही दिग्बन्ध या दिग्बन्धन कहलाती है। गरुडोपनिषद् में भूः, भुवः, स्वः तथा ॐ से दिग्बन्धन की क्रिया सम्पन्न करने का निर्देश है-**भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः** (गरुड०४)। इसी प्रकार लाङ्गूलोपनिषद् में पाशुपत मंत्र से दिग्बन्ध करना निर्दिष्ट है-........**पाशुपतेन दिग्बन्धः** (लाङ्गूल०२)।

११४. **दिग्बन्धन—द्र०- दिग्बन्ध।**

११५. **दैवी स्फुरणा—**दैवी स्फुरणा में दैवी और स्फुरणा दो शब्द हैं, जिनमें दैवी का अर्थ है— देवता सम्बन्धी, ईश्वरीय अथवा आकस्मिक और स्फुरणा (स्फुरण) का अर्थ काँपना, हिलना, फड़फड़ाना और मन में यकायक कोई विचार आना आदि हैं। इनमें इन दोनों शब्दों के योग करने पर प्रायः इसका अर्थ अचानक मन में किसी दैवी विचार, संदेश, प्रेरणा, इलहाम आदि आने के रूप में लिया जाता है; किन्तु जिन साधकों का अन्तःकरण शुद्ध, निर्मल, निर्विकार होता है, उनको विशेष समयों पर विशिष्ट उद्देश्य के लिए इस प्रकार के संदेश-स्फुरण आते रहते हैं, जो कभी-कभी भयंकर संकट से मुक्ति दिलाते हैं तथा महान् कार्य करने की प्रेरणा भी प्रदान करते हैं। महोपनिषद् में निर्मल आत्मा में दैवी स्फुरणा उत्पन्न होने का संकेत इन शब्दों में द्रष्टव्य है- **तथैवात्मात्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम्। क्षणं स्फुरति सा दैवी सर्वशक्तितया तथा** (महो० ५.१२०)।

११६. **द्युलोक—** द्युलोक का अभिप्राय स्वर्गलोक से है, जिसकी परिभाषा हिन्दी विश्वकोश में इस प्रकार विवेचित है- **द्यौरेव लोकः** अर्थात् स्वर्ग लोक। द्युलोक के लिए दिव शब्द का उपयोग भी होता है, जिसे कई बार दिन के अर्थ में भी लिया जाता है। द्युलोक के देवता द्यौ हैं, इसीलिए द्यौ को द्युलोक भी कहते हैं। द्युलोक का उल्लेख चारों वेदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में द्यौ शब्द ५०० बार प्रयुक्त हुआ है। इनमें कई बार स्थूल आकाश के रूप में इसका प्रयोग हुआ है। पृथ्वी को मातृस्वरूप और द्यौ को पिता स्वरूप माना गया है- **द्यौ३ष्पितः पृथिविमातरध्रुक्** ....(ऋ० ६.५१.५), **मधु द्यौरस्तु नः पिता** (ऋ० १.९०.७)। उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त 'द्यु' के आकाश, अग्नि, तीक्ष्णता आदि अर्थ भी होते हैं। नृसिंह पूर्वतापिन्युपनिषद् में मन्त्रराज अनुष्टुप् से सृष्टि संरचना का उल्लेख करते हुए उस मन्त्र के द्वितीय चरण से यक्ष, गन्धर्व और अप्सराओं से सेवित अन्तरिक्ष और तृतीय चरण से वसु, रुद्र और आदित्यादि देवताओं से सेवित द्युलोक का निर्माण बताया गया है-**यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितमन्तरिक्षं तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयाद्वसुरुद्रादित्यैः सर्वैर्देवैः सेवितं दिवं तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात्** (नृ०पूर्व० १.३)।

११७. **द्रोण कलश—द्र०- यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।**

११८. **द्वन्द्वातीत—द्र०- कालातीत।**

११९. **धर्म—द्र०-ज्ञानखण्ड-धर्म-अधर्म।**

१२०. **धिष्ण्य—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।**

१२१. **नवचक्र—**यौगिक ग्रन्थों तथा योग सम्बन्धी उपनिषदों में शरीरान्तर्गत सूक्ष्म रूप से स्थित विभिन्न चक्रों का वर्णन है। वैसे तो षट्चक्र और सप्तचक्र सबसे अधिक प्रख्यात हैं, जिनका वर्णन १०८ उपनिषद् ज्ञानखण्ड परिभाषाकोश परिशिष्ट में किया जा चुका है। कुछ उपनिषदों में चक्रों का और सूक्ष्म उल्लेख है, जिसके अनुसार चक्रों की संख्या नौ मानी गई है। योगराजोपनिषद् तथा सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में कुछ ही पाठभेद से नौ चक्रों का उल्लेख है। प्रथम चक्र 'ब्रह्मचक्र' कहलाता है, जो भग-योनि (योनि-त्रिकोण) आकृति का है- **नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः। प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तं भगाकृति** (यो०रा० ५)। अपान के स्थान पर कामरूपी मूलकन्द है, इसी को मूलाधार चक्र कहते हैं, जिसे अग्निकुण्ड एवं तत्त्व कुण्डलिनी भी कहते हैं- **अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः। तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा** (यो०रा०६)। उसी के बीच स्वाधिष्ठान नामक द्वितीय चक्र है- ....**स्वाधिष्ठानं द्वितीयं स्याच्चक्रं तन्मध्यगं विदुः** (यो०रा० ७)। तीसरा चक्र नाभिचक्र है, इसके अन्दर संसार की स्थिति निरूपित है। इसे ही मणिपूर चक्र कहते हैं। चतुर्थ चक्र हृदय में अधोमुख रूप में है, इसे हृदयचक्र या अनाहत चक्र के नाम से जाना जाता है। पाँचवाँ कण्ठ चक्र है, जिसे विशुद्धाख्य चक्र भी कहते हैं, इसके वाम भाग में इड़ा, दक्षिण में पिङ्गला एवं मध्य में सुषुम्ना नाड़ी की स्थिति कही गई है-**पञ्चमं कण्ठचक्रं स्यात् तत्र वामे इडा भवेत्। दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया**

सुषुम्ना मध्यतः स्थिता (यो०रा०१२)। छठा तालुका चक्र है, जिसे घण्टिका स्थान भी कहते हैं। सातवाँ भ्रूचक्र है, जिसे विद्या एवं बुद्धि स्थल भी कहते हैं, इसी को आज्ञाचक्र भी कहा जाता है-**सप्तमं भ्रूचक्रमङ्गुष्ठमात्रम्......भवत्याज्ञाचक्रम्** (सौ०ल० ३.७)। निर्वाण सूचक आठवाँ चक्र ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है- **अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकम्। .....विमुच्यते** (यो०रा० १६)। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में इस अष्टम ब्रह्मरन्ध्र को निर्वाण चक्र एवं परब्रह्म चक्र भी कहा गया है- **ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रम्। .... भवतीति परब्रह्मचक्रम्** (सौ०ल० ३.८)। नवाँ चक्र षोडशदल वाला व्योम चक्र कहलाता है, इसे ही आकाश चक्र, शून्य चक्र, महाशून्य चक्र आदि नामों से अभिहित किया गया है- **नवमं व्योमचक्रं स्यादश्रैः षोडशभिर्युतम्** (यो०रा० १७)। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में इसे इस प्रकार कहा गया है- **नवममाकाशचक्रम्। तत्र षोडशदलपद्ममूर्ध्वमुखं** (सौ०ल० ३.९)। इसी उपनिषद् के द्वितीय खण्ड के नवें मन्त्र में प्राणवायु द्वारा चक्रवेधन की प्रक्रिया में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक आदि चक्रों को वेधने के पश्चात् महाशून्य (आकाश चक्र) में प्रवेश करने और तदुपरान्त चित्तानन्द की स्थिति में पहुँचने व उसे भी भेदकर समस्त पीठों (कामरूप, उड्डीयाण या उड्डियान, जालन्धर एवं पूर्णगिरि आदि पीठों-चक्रों के मध्य स्थित शक्ति केन्द्रों) में गतिशील होने का उल्लेख है- **महाशून्यं ततो याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम्। चित्तानन्दं ततो भित्त्वा सर्वपीठगतानिलः** (सौ०ल० २.९)। उपर्युक्त नवचक्रों के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन योगराजोपनिषद् एवं सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में देखा जा सकता है- अन्य योग ग्रन्थों व उपनिषदों में भी इनका वर्णन है।

१२२. **नाद- द्र०- ज्ञानखण्ड।**

१२३. **नारसिंह मन्त्र- द्र०- महाचक्र-सुदर्शन चक्र।**

१२४. **नारायण- द्र०- ज्ञानखण्ड।**

१२५. **निरंजन-द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड।**

१२६. **निरहंकारिता -द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड।**

१२७. **निर्विकल्पक समाधि-द्र०-ज्ञान खण्ड -समाधि।**

१२८. **निर्विशेषब्रह्म- द्र०- कालातीत।**

१२९. **निवृत्ति-द्र०-ज्ञानखण्ड-मुक्तिमोक्ष।**

१३०. **निष्कलंक-द्र०-कालातीत।**

१३१. **नीलकण्ठ-द्र० -अर्धनारीश्वर।**

१३२. **पञ्च आकाश- द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-व्योम पञ्चक ।**

१३३. **पञ्च तन्मात्राएँ -द्र० - पञ्चभूत (पञ्चतत्त्व) पंचीकरण।**

१३४. **पञ्चभूत (पञ्चतत्त्व) पंचीकरण**— सम्पूर्ण सृष्टि पञ्च तत्त्वों अथवा पञ्चमहाभूतों से निर्मित मानी जाती है। यह शरीर भी पंचतत्त्वों का ही है। ये पाँच तत्त्व पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश और वायु हैं। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में इस सन्दर्भ में उल्लेख है-**पञ्चानां तत्त्वानां समाहारः। पञ्चसु भूतेषु स्वरोदयः।** तन्त्र ग्रन्थों में पञ्च मकार-मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन को पञ्चतत्त्व कहा गया है- **मद्यं मांसं तथा मत्स्यो मुद्रा मैथुनमेव च। पञ्च तत्त्वमिदं प्रोक्तं देवि! निर्वाणहेतवे** (तन्त्रसार संग्रह)। अन्य तन्त्र ग्रन्थों में गुरुतत्त्व, मनस्तत्त्व, मन्त्रतत्त्व, देवतत्त्व और ध्यानतत्त्व इन्हें पञ्चतत्त्व माना गया है- **गुरुतत्त्वं पञ्चतत्त्वं मनस्तत्त्वं सुरेश्वरि! देवतत्त्वं ध्यानतत्त्वं मन्त्रतत्त्वं प्रकीर्तितम्** (निर्वाण तन्त्र)। सृष्टि में विद्यमान जिन पञ्च तत्त्वों का वर्णन है, वे पृथिवी आदि पञ्चतत्त्व हैं। रामचरित मानस के किष्किन्धा काण्ड में एक चौपाई में इन तत्त्वों का उल्लेख इन शब्दों में हुआ है- **छिति जल पावक गगन समीरा। पञ्च रचित अति अधम सरीरा॥** त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में इस अखिल जगत् की उत्पत्ति के क्रम में भी पञ्चतत्त्वों का उल्लेख मिलता है-**ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहंकारः। अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यःपञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत्** (त्रि०ब्रा०३) अर्थात् सर्वप्रथम ब्रह्म से अव्यक्त उत्पन्न हुआ, अव्यक्त से महत् तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्च तन्मात्राओं से पञ्च महाभूत (पञ्चभूत-पञ्चतत्त्व) और पञ्चमहाभूतों से यह अखिल विश्व उत्पन्न हुआ। सांख्य मत में यह क्रम इस प्रकार है-

प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राएँ और पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों (पञ्चतत्त्वों) का आविर्भाव हुआ, जिनसे यह सम्पूर्ण जगत् बना। पञ्च तन्मात्राएँ पञ्चमहाभूतों के ही सूक्ष्मरूप हैं। पञ्चतत्त्वों के विषय -शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पञ्च तन्मात्राएँ हैं। मोटे तौर पर आकाश का विषय-शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि (तेज) का रूप, जल का रस और पृथिवी का विषय गन्ध है;किन्तु यदि और सूक्ष्मावलोकन करें तो प्रत्येक तत्त्व में अन्य तत्त्व और उनकी तन्मात्राएँ समाहित होती हैं, इससे उसके गुणों में भी वृद्धि हो जाती है। जैसे-आकाश की तन्मात्रा शब्द है, इसमें शब्द तन्मात्रा का आधिक्य है। इसीलिए उसका गुण भी शब्द है। वायु में शब्द और स्पर्श तन्मात्रा का आधिक्य होने से उसके गुण शब्द, स्पर्श हैं। तेज (अग्नि) में शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्राओं का प्राचुर्य है, अत: यही इसके गुण हैं। जल (अप्) तत्त्व में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्राएँ अधिक हैं, इसीलिए ये ही इसके गुण हैं तथा पृथिवी तत्त्व में शब्द, स्पर्श, रूप , रस और गन्ध तन्मात्राओं की प्रचुरता होने से ये सभी पृथिवी के गुण हैं। वेदान्तमत के पञ्चीकरण सिद्धान्त के अनुसार पाँच तत्त्वों में प्रत्येक प्रमुख तत्त्व का आधा(१/२) भाग तथा शेष सभी तत्त्वों का अष्टमांश (१/८ भाग) मिश्रित होने पर ही वह तत्त्व बनता है। इस प्रकार सभी तत्त्व मिलने पर यह स्थूल शरीर या जगत् निर्मित होता है। इस विषय में वेदान्त का यह श्लोक प्रसिद्ध है- **द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः। स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते** (वे०वि०पृ० ८८) अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वों के प्रत्येक के पहले दो भाग करके प्रत्येक के द्वितीयांश के ४-४ भाग किये जाते हैं। तदुपरान्त उन सबको प्रत्येक तत्त्व के दूसरे वाले अर्धभाग में मिला देने से प्रत्येक तत्त्व में अन्य सभी चार तत्त्वों के १/८, १/८ भाग मिलकर (पाँच तत्त्व वाला) एक पूर्ण तत्त्व बन जाता है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के इस मन्त्र में पञ्चीकरण की प्रक्रिया द्रष्टव्य है- **अथ व्योमानिलानलजलान्नानां पञ्चीकरणमिति** (त्रि०ब्रा०१.९)। पंचीकरण की यह अवधारणा त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् में दूसरे शब्दों में भी दी गई है। वहाँ कहा गया है कि ये पंचभूत १६ कलाओं से विनिर्मित हैं- **पृथग्भूते षोडशकलाः स्वार्ध भागान्परान्क्रमात्।......... रसपायुनभः क्रमात्** (त्रि०ब्रा० २.१) अर्थात् प्रत्येक (सूक्ष्म) तत्त्व के अर्धभाग से तथा दूसरे तत्त्वों -अन्त:करण (आकाश), व्यान (वायु), नेत्र (अग्नि), रस (जल) एवं गुदा (पृथिवी) आदि के संयोग से १६ कलायुक्त (स्थूल) आकाशादि बने हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पंचीकरण के अंतर्गत उक्त धारणा में जहाँ १/२ (आधा) एक तत्त्व तथा शेष चार के १/८ अंश मिलकर पूरा तत्त्व बनता है, वहीं यहाँ एक तत्त्व का १/२ तथा शेष के २/१६ अंश मिलकर पूरा तत्त्व बनाते हैं। सारांशत: कह सकते हैं कि दोनों स्थानों में शब्द का अंतर है, तथ्य का अंतर नहीं है। देव्युपनिषद् में देवी ने अपने पञ्चभूत और अपञ्चभूत अर्थात् पाँच तत्त्वों का सम्मिलित रूप और पाँच तत्त्वों का स्वतंत्र रूप कहा है। इससे इसी पञ्चीकरण सिद्धान्त की पुष्टि होती है, जिसमें पाँच स्वतन्त्र तत्त्व या भूत उपर्युक्त अनुपात में मिलकर एक तत्त्व बनने की मान्यता है-**अहं पञ्च भूतान्यपञ्च भूतानि** (देवी० ३)। जाबालदर्शनोपनिषद् में शरीर स्थित अङ्ग विशेषों में तत्त्वों की प्रधानता के सन्दर्भ में इस प्रकार उल्लेख है- **देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत्। प्राणे बाह्यानिलं तद्वत् ज्वलने चाग्निमौदरे। .... आकाशांशस्तथा प्राज्ञ मूर्धांशः परिकीर्तितः** (८.१-५) अर्थात् तत्त्वाधिक्य की दृष्टि से पाँव से घुटने तक का भाग (पृथिवी तत्त्व के आधिक्य के कारण) पृथिवी तत्त्व का भाग कहलाता है, घुटने से गुदा तक जलीय अंश, गुदा से हृदय तक अग्न्यंश, हृदय से भौंहों तक वाय्वंश तथा मस्तक क्षेत्र आकाशांश कहा गया है। इन तत्त्वों में देवों के ध्यान के सन्दर्भ में वर्णन है कि पृथिवी तत्त्वांश में ब्रह्मा का, जल तत्त्वांश में विष्णु का, अग्नितत्त्वांश में महेश का, वायु तत्त्वांश में ईश्वर का तथा आकाशतत्त्वांश में सदाशिव का ध्यान करना चाहिए-**ब्रह्माणं पृथिवी भागे विष्णुं तोयांशके तथा। अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके। आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत्तु सदाशिवम्** (जा०दर्शन० ८.५-६)।

१३५. पदार्थ भावना - द्र०-असंसक्ति।

१३६. परम गति- द्र०- ज्ञानखण्ड।

१३७. परम ज्योति - द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड।

१३८. परम पद - द्र०-ज्ञानखण्ड।

१३९. परम व्योम - द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१४०. परमहंस - द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड।

१४१. **परमाकाश** - द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड-व्योमपञ्चक।

१४२. **परमेश्वरी शक्ति** - द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड-कुण्डलिनी।

१४३. **परलोक** - द्र०- ज्ञानखण्ड-लोक, परलोक, सप्तलोक।

१४४. **परा-अपरा विद्या** - द्र०- ज्ञान खण्ड।

१४५. **परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी** —विचारों और भावनाओं को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया वाणी द्वारा सम्पन्न होती है। हि०वि०को० में वाणी के अर्थ में सरस्वती, वचन, मुँह से निकले हुए सार्थक शब्द, वाक्शक्ति, वागिन्द्रिय आदि शब्द उल्लिखित हैं। उपर्युक्त अर्थों से वाणी के मुखर स्वरूप की ही पुष्टि होती है, जिससे शब्द स्पष्टत: सुनाई पड़ते हैं। यह वाणी का अत्यन्त स्थूल रूप है। आर्ष ग्रन्थों में वाणी के चार रूपों का उल्लेख है। ये हैं- परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक वाणियाँ। इनमें परा वाणी मूलाधार चक्र से उठने वाले नाद को कहते हैं। इसे पश्यन्ती वाणी तब कहते हैं, जब वह नाद मूलाधार चक्र से उठकर हृदय में पहुँच जाता है। यही नाद जब आगे बढ़कर बुद्धि से संयुक्त होता है, तब मध्यमा वाणी कहलाता है। इसका उल्लेख अलंकार कौस्तुभ नामक ग्रन्थ का सन्दर्भ देते हुए हि०वि०को० खं० १३ पृ० १६५ में इस प्रकार है-**मूलाधारात्प्रथममुदितो यस्तु तार: पराख्य:। पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्य:।** यही नाद जब कण्ठ में आकर वागिन्द्रिय द्वारा प्रस्फुटित होकर सबके सुनने योग्य होता है, तब इसे ही वैखरी वाणी कहते हैं। वेदों में कई मंत्रों में वाक् (वाणी) अथवा सरस्वती की स्तुति की गयी है। निरुक्तकार यास्कमुनि ने वाक् के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है- **वाक् कस्मात् ? ....वचे:** (नि० २३)। **स च वाक् शब्द: 'वच् परिभाषणे'** (नि०दु०वृ०२.२३) अर्थात् वाक् शब्द वच् धातु से निष्पन्न है, जिसका प्रयोग परिभाषण-बोलने के अर्थ में होता है। आचार्य सायण ने भी वाक् (वाणी) के उपर्युक्त चार प्रकारों का उल्लेख अपने अथर्ववेद भाष्य में किया है-**सर्वा हि वाक् परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपचतुरवस्थापन्ना** (अथर्व० ७.४४.१ सा०भा०)। निरुक्तकार ने वाणी के चार प्रकारों में मध्यमा वाणी को वाक् की संज्ञा प्रदान की है- ....**तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते** (नि० ११.२७)। माध्यमिका या मध्यमा को सरस्वती भी कहा गया है-**सरस्वती माध्यमिका वाक्** (नि०११.२७)। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए अपने को वाक् (वाणी) भी कहा है- **मृत्यु: सर्वहरश्चाहं ....श्रीर्वाक्‍ ..क्षमा** (गीता० १०.३४)। यहाँ भी वाक् से अभिप्राय परा आदि चार वाणियों से है। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्षमालिका को परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी स्वरूप मानकर उसे नमन किया गया है- **नमस्ते परारूपे नमस्ते पश्यन्तीरूपे नमस्ते मध्यमारूपे नमस्ते वैखरीरूपे .... नमस्ते नमस्ते** (अक्ष० १५)। कई साधक आहार नियमन तथा निरन्तर सत्य बोलने के अभ्यास से वाक् सिद्धि कर लेते हैं, तब उनके मुख से जो भी निकल जाये, वह सत्य ही होता है। इसके लिए कई यौगिक क्रियाएँ भी होती हैं। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में उल्लेख है कि ब्राह्ममुहूर्त में जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर पीने से तीन मास में वाक् सिद्धि हो जाती है तथा छ: मास में महारोग (आयुर्वेद में वर्णित आठ भारी रोग-उन्माद, क्षय, दमा, कोढ़, मधुमेह, पथरी, उदररोग और भगंदर महारोग कहलाते हैं) से मुक्ति मिल जाती है- **नासाग्रे ....ब्राह्मे मुहूर्ते संप्राप्ते वायुमाकृष्य जिह्वया। पिबतस्त्रिषु मासेषु वाक्सिद्धिर्महती भवेत्। अभ्यासतश्च षण्मासान्महारोगविनाशनम्** (त्रि०ब्रा० २.१११-११२)। ध्यातव्य है कि ये यौगिक साधनाएँ किसी समर्थ गुरु के प्रत्यक्ष संरक्षण में ही करनी चाहिए, केवल पुस्तकों में पढ़कर प्रारम्भ कर देने से लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक आशंका रहती है।

१४६. **पर्जन्य**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१४७. **पशुपति**—द्र०-अर्धनारीश्वर।

१४८. **पिंगला**—द्र०-ज्ञानखण्ड-सुषुम्नानाड़ी।

१४९. **पितृगण**—द्र०-ज्ञानखण्ड-पूर्वज-गोत्रज।

१५०. **पुण्यकर्म**—द्र०-ज्ञानखण्ड-पाप-पुण्य।

१५१. **पुरश्चरण**— पुरश्चरण शब्द दो पदों से मिलकर बना है-पुर:+चरण=पुरश्चरण। पुर: का अर्थ है पूर्व को अर्थात् आगे की ओर तथा चरण का अर्थ है चलना। चलने से पूर्व (पहले) की जो तैयारी है, उसे पुरश्चरण कहते हैं। प्रख्यात हिन्दी विश्वकोश में पुरश्चरण की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है-**'पुरस् चर भावे ल्युट्'** अर्थात् अग्रत आचरण। इसका

तात्पर्य भी यही हुआ कि किसी कार्य की सिद्धि के लिए पहले से ही उपाय सोचना और अनुष्ठान करना। इस आगे चलने की प्रक्रिया (पुरश्चरण) के तीन चरण हैं। १. गति २.आगति, ३. स्थिति। गति बढ़ने, आगति लौटने और स्थिति ठहरने को कहते हैं। पुरश्चरण में यह तीनों प्रक्रियाएँ इस प्रकार सम्पन्न होती हैं-किसी विशिष्ट अभीष्ट की प्राप्ति हेतु जो साधना की जाती है, उसके साथ -साथ उन दोषों को लौटाया भी जाता है, जो प्रगति का मार्ग अवरुद्ध करते हैं। इस गति-आगति से पूर्व शक्ति को स्फुटित करने के लिए जिस स्थिति को अपनाया जाता है, वही पुरश्चरण है। सवालक्ष या न्यूनाधिक मन्त्रों का अनुष्ठान सर्वसुलभ और लोक-कल्याण-आत्मकल्याण परक साधना है; किन्तु पुरश्चरण किसी उद्देश्य विशेष के लिए किया जाता है, इसका विधान भी जटिल होता है, जो किसी उच्च पुरोहित, समर्थ गुरु के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन और संरक्षण में ही करना चाहिए, तभी इसके वाञ्छित परिणाम मिलते हैं, अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना रहती है। पुरश्चरण के प्रमुख क्रिया-कलाप इस प्रकार हैं- १. नित्यकर्म २. सन्ध्या ३.पूजन (कवच, न्यास, ध्यान, स्तोत्र आदि) ४. शापमोचन ५. हवन ६. तर्पण ७. मार्जन-अभिषेक ८. मुद्रा ९. विसर्जन १०. ब्राह्मणभोजन। पुरश्चरण में निर्धारित देवता के मंत्र का जप सवालक्ष, चौबीस लक्ष, एक करोड़, सवा करोड़ अथवा कम से कम चौबीस हजार की संख्या में किया जाता है।

पुरश्चरण के विषय में कुलार्णव तन्त्र, वाराही तन्त्र, गौतमीय तन्त्र, वीर तन्त्र, योगिनी हृदय, नारदीय तन्त्र, मुण्डमाला तन्त्र, रामार्चन चन्द्रिका और रुद्रयामल आदि ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन है। स्थानाभाव से यहाँ पूरा विवरण दे सकना कठिन है। सारांश यह है कि पुरश्चरण पूरी पवित्रता के साथ समस्त नियमोपनियमों का पालन करते हुए करना चाहिए, जैसे-मिथ्या भाषण, अब्रह्मचर्य का परित्याग और बाह्याभ्यन्तर शुचिता तथा कुशशय्या शयन नितान्त आवश्यक है- **शयीत कुशशय्यायां शुचिवस्त्रधरः सदा। ....शय्यामेकाकी निर्भयः स्वपेत्॥ असत्यभाषणं वाचं कुटिलां परिवर्जयेत्। वर्जयेद्गीतवाद्यादि श्रवणं नृत्यदर्शनम् ....देवप्रपूजनम्** (हि०वि०को०खं० १३ पृ० ६४८)। नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् १.१६ में तारक मंत्र रूपी साम के जपपूर्वक पुरश्चरण करने से साधना के सफल होने तथा महाविष्णुरूप हो जाने का उल्लेख है- **य एतां महोपनिषदं वेद स कृतपुरश्चरणो महाविष्णुर्भवति महाविष्णुर्भवति** (नृ०पूर्व० १.१६)।

१५२. **पुराण पुरुष**—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड।

१५३. **पुर्यष्टक**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१५४. **पूर्णपुरुष**—द्र०-कामकला, कालातीत।

१५५. **पूषा**— पूषा पोषण के देवता हैं। इन्हें चारों वेदों में देवत्व प्राप्त हुआ है। पूषा (पूषन्) शब्द संस्कृत की पुष् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ पोषक अथवा पुष्ट करने वाला है। ऋग्वेद में पूषा सूर्य की 'मानव पुष्टि प्रदात्री' तथा 'मानव कल्याणकारी शक्ति' के रूप में उपन्यस्त हैं। यास्क मुनि ने पूषा की परिभाषा करते हुए कहा है- **अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति** (नि० १२.१६) अर्थात् जो पोषण हेतु रश्मियों (किरणों) को पोषकत्व से भर देता है, वह पूषा है। यजुर्वेद में पूषा देवता सूर्य की प्रेरणा से ही विचरण करने वाला बताया गया है- **तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्** (यजु० १७.५८)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में पूषा को दीर्घायु और वर्चस् प्रदाता बताया गया है- **पूष्णः पोषेण महयं दीर्घायुत्वाय शत शारदाय शतं शरद्भ्यः आयुषे वर्चसे** (तैत्ति० ब्रा० १.२.१.१९)। गायत्री रहस्योपनिषद् में पूषा को गायत्री मंत्र के बारहवें अक्षर का देवता विवेचित किया गया है-**द्वादशं पौष्णं** (गा०रह० ५)।

१५६. **प्रज्ञा**—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्रज्ञा-प्रज्ञान।

१५७. **प्रज्ञानघन**—द्र०-संवित्।

१५८. **प्रणव**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१५९. **प्रतिप्रस्थाता**—द्र०-अतिरात्रयज्ञ।

१६०. **प्रतिष्ठा**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१६१. **प्रदक्षिण (प्रदक्षिणा)**— कोश ग्रन्थों में प्रदक्षिण जिसे लोक भाषा में प्रदक्षिणा भी कहते हैं, की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है- **प्रगतं दक्षिणमिति** (हि०वि०को० खं० १४ पृ० ५७५) अर्थात् देवपूजन आदि के अवसर पर देवमूर्ति आदि को दाहिनी ओर करके दायें से श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उसके चारों ओर घूमना-परिक्रमा करना प्रदक्षिण

कहलाता है। देवता भेद से ये परिक्रमाएँ भिन्न-भिन्न संख्या में की जाती हैं। जैसे स्त्री देवता (देवी) की एक बार, रवि की सात बार, विनायक की तीन बार, केशव की चार बार और शिव की अर्ध परिक्रमा (प्रदक्षिणा) करने का विधान 'कर्मलोचन' ग्रन्थ में इस प्रकार निर्दिष्ट है- **एकं देव्यां रवौ सप्त त्रीणि कुर्याद्विनायके। चत्वारि केशवे कुर्यात् शिवे चार्द्धप्रदक्षिणम्॥**

कालिका पुराण में प्रदक्षिण-के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है कि दक्षिण हस्त को फैलाकर, सिर झुकाकर देवता को दाहिनी ओर कर एक अथवा तीन बार उनकी जो परिक्रमा की जाती है, वह प्रदक्षिण है। इससे समस्त देवगण तुष्ट होते हैं, जो मनुष्य देवी की एक सौ आठ बार प्रदक्षिण करता है, उसके समस्त मनोरथ पूर्ण होते हैं। हरिभक्ति विलास में प्रदक्षिणा (प्रदक्षिण) महिमा इस प्रकार वर्णित है- **'प्रदक्षिणां ये कुर्वन्ति भक्तियुक्तेन चेतसा। न ते यमपुरं यान्ति यान्ति पुण्यकृतां गतिम्'** अर्थात् जो नर भक्तिपूर्वक देव प्रदक्षिणा करते हैं, वे यमपुर न जाकर पुण्यकर्मियों की गति को प्राप्त करते हैं। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्षमाला-मन्त्र मातृका की प्रदक्षिणा करके नमन करने का निर्देश इन शब्दों में हैं- **अथ पुनरुत्थाप्य प्रदक्षिणी कृत्यों नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले ....नमस्ते** (अक्ष० १५)।

१६२. प्रयाज—द्र०-अनुयाज।

१६३. प्रसविता—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड-सूर्य।

१६४. प्रस्तोता—द्र०-ज्ञानखण्ड-ऋत्विज्।

१६५. प्राज्ञ—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१६६. प्राणलिङ्गी—द्र०-अर्धनारीश्वर।

१६७. बन्ध—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१६८. बला-अतिबला— यों तो बला शब्द का प्रयोग किसी आपत्ति, आफत, कष्ट, दु:ख, भूत-प्रेत, व्याधि और रोगादि के लिए होता है तथा एक ओषधि-वनस्पति के लिए भी होता है- **अतिशयितं बलं यस्याः ....। अत्यन्त बलाधायिकायां ....इति ख्यातायां लतायां ....** (वाच०पृ० १०१)। जो (बला, अतिबला, महाबला और नागबला नाम से चार प्रकार की होती है) शीतवीर्य, मधुर, बलवर्द्धक, कान्तिकारक, स्निग्धधारक, वायु , रक्तपित्त, रक्तदोष और क्षतविनाशक मानी गई है; किन्तु विशिष्ट अर्थ में यह एक प्रकार की विद्या है (जो ब्रह्म कन्या मानी जाती है)। ऋषि विश्वामित्र ने इस बला और अतिबला नामक विद्या की शिक्षा रामचन्द्र को दी थी। इस सन्दर्भ में वाचस्पत्यम् में उल्लेख है- **विश्वामित्रेण रामाय दत्ते अस्त्रविद्याभेदे** (वाच० पृ० १०१)। इस विद्या के प्रभाव से युद्ध के समय योद्धा को भूख-प्यास नहीं लगती, न थकान आती है और न अङ्ग विकृति होती है। वाल्मीकि रामायण के सन्दर्भ में प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में इसके विषय में इस प्रकार उल्लेख है- **गृहाण द्वे इमे विद्ये बलामतिबलां तथा। न ते श्रमो जरावाभ्यां भविता नाङ्गवैकृतम्॥........ बलामतिबलां चैव ज्ञानविज्ञान मातरौ। क्षुत्पिपासे च ते राम! नात्यर्थं पीडयिष्यतः** (वाच०पृ० १०१-१०२)। राम और लक्ष्मण दोनों ने इस विद्या को सीखा था इसका भी रामायण में उल्लेख है-**जयत्वतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबल** इति रामा०। सावित्र्युपनिषद् में बला और अतिबला विद्याओं के ऋषि विराट् पुरुष, छन्द गायत्री और देवता भी गायत्री ही वर्णित हैं-**बलातिबलयोर्विराट् पुरुष ऋषिः। गायत्री छन्दः। गायत्री देवता** ...... (सावि० १४-१५)। यह विद्या तन्त्र प्रयोग के अन्तर्गत एक गूढ़ विद्या है।

१६९. बिन्दु—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१७०. बुद्धिगुहा—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड-लक्ष्यत्रय।

१७१. ब्रह्मग्रन्थि—द्र०-रुद्रग्रन्थि।

१७२. ब्रह्मज्ञान—द्र०-ज्ञानखण्ड-ब्रह्मविद्या।

१७३. ब्रह्मद्वार—द्र०-वह्नियोग।

१७४. ब्रह्मनाड़ी—द्र०-ज्ञानखण्ड-सुषुम्नानाड़ी।

१७५. ब्रह्मपद—द्र०-कामकला।

१७६. ब्रह्मयज्ञ—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१७७. **ब्रह्मविद्या—द्र०-ज्ञानखण्ड।**

१७८. **ब्रह्मसन्ध्या—** कोशग्रन्थों में सन्ध्या शब्द का अर्थ इस प्रकार बताया गया है- **सं सम्यक् ध्यायत्यस्यामिति** (श०क०खं० ५ पृ० २४१) अर्थात् जिस उपासना में ध्यान सम्यक् रूप से लगे, वह सन्ध्या है। सन्ध्या शब्द सन्धि से बना है, जिसके कई अर्थ हैं, जैसे-दो समयों, दो वर्णों, दो राजाओं, दो युगों की सन्धि आदि। सन्धि काल में ईश्वरोपासना विधिवत् सम्पन्न करने का विधान शास्त्रों में वर्णित है, इसीलिए त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल) सन्ध्या-ईश्वर उपासना की जाती है। आरुण्युपनिषद् में संन्यासी को त्रिकाल सन्ध्याओं में स्नान करके समाधिस्थ होकर आत्मा में रमण करने का निर्देश दिया गया है- **त्रिसंध्यादौ स्नानमाचरेत्। संधिं समाधावात्मन्याचरेत्** (आरुणि० २)। सन्धिकाल में ईश्वरोपासना के लिए ब्रह्मसन्ध्या शब्द भी प्रयुक्त होता है। पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् में ब्रह्मसंध्या को मानसिक यज्ञ क्रिया और सन्ध्या क्रिया को मानसिक यज्ञ का लक्षण कहा गया है-**ब्रह्मसंध्याक्रिया मनोयागः। संध्याक्रिया मनोयागस्य लक्षणम्** (पा०ब्र०पू०का० १८)। इसका भाष्य करते हुए ब्रह्मयोगी ने **तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि** आदि महावाक्यों का अनुसरण करते हुए आत्मा-परमात्मा की एकता की अनुभूति की मानसिक क्रिया को ब्रह्मसंध्या कहा है- **'तत् त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इति प्रत्यक्परब्रह्मणोरैक्यमेव सन्ध्याक्रिया मनोयागः उच्यते।** जीव और परमात्मा के ऐक्य की सन्ध्या क्रिया को ही मनोयाग का लक्षण कहा है- **मनोयागस्य लक्षणं इत्यत्र- जीवात्मपरमात्मनोः एकत्वज्ञानेन तयोः भेद एव विभग्नः, सा सन्ध्येति-नोदकैर्जायते सन्ध्या न मन्त्रोच्चारणेन तु। सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं सा सन्ध्या सद्भिरुच्यते** (पा०ब्र०पू० का० १८ ब्र०भा०) अर्थात् सन्ध्या जल प्रयोग और मन्त्रोच्चारण से नहीं होती। जीवात्मा और परमात्मा में सन्धि होना, दोनों मिलकर एक हो जाना ही सन्ध्या है।

१७९. **ब्रह्मसम्पत्ति — द्र०-संवित्।**

१८०. **ब्रह्मसायुज्य— द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविध मुक्ति।**

१८१. **ब्रह्माण्ड— द्र०-ज्ञानखण्ड।**

१८२. **ब्रह्मानन्द— द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड -अद्वयानन्द।**

१८३. **ब्रह्मानन्दकला— द्र०-त्र्यक्षरी विद्या।**

१८४. **ब्राह्मणाच्छंसी— द्र०-ज्ञानखण्ड-ऋत्विज्।**

१८५. **ब्राह्मीस्थिति—** योगी की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। स्थिति भेद से इन्हें अलग-अलग नाम दिये जाते हैं। महोपनिषद् तथा अक्ष्युपनिषद् में कुछ ही नाम भेद से योग की सात भूमिकाओं का उल्लेख है, जिनका वर्णन इसी परिभाषा कोश परिशिष्ट में असंसक्ति शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है। इन्हीं भूमिकाओं में जो पदार्थभावना, तुर्यगा, सुषुप्तपद तथा तुर्या नाम वाली अवस्थाएँ हैं, उनसे युक्त साधक जीवन्मुक्त की स्थिति प्राप्त कर लेता है। फिर वह बाह्याचरण करते हुए समस्त लोक-व्यवहारों का निर्वाह करके भी ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं देखता। स्वयं को ब्रह्म में लीन अनुभव करता हुआ वह सदैव ब्राह्मी स्थिति में रहता है। महोपनिषद् ६.६६-७३ में ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की ब्राह्मीस्थिति का सविस्तार वर्णन है। उसमें साधक को निर्देश दिया गया है कि वह आत्मदृष्टि को लक्ष्य करके भोग वासना को त्याग दे और सांसारिक ताप से विमुक्त होकर अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होकर जीवन्मुक्त की तरह भ्रमण करे। ब्राह्मीस्थिति वाले साधक के लिए लोक व्यवहार यथावत् करने का निर्देश देते हुए उपनिषद्कार ने कहा है- **बहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः। कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर शुद्धधीः॥ त्यक्ताहं कृतिरा ....शुद्धधीः** (महो० ६.६८-६९) अर्थात् बाह्य वृत्ति से बनावटी क्रोध का अभिनय करते हुए हृदय से क्रोधरहित, बाहर से कर्ता एवं अन्दर से अकर्ता बने रहकर शुद्ध भाव से जगत् में सर्वत्र भ्रमण करना चाहिए। इस स्थिति का आगे वर्णन करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है, वह उदात्त एवं उत्तम आचरण करते हुए, अनासक्त रहकर बाहर से सतत कर्मरत रहे, अन्तः में पूर्णरूपेण वैराग्य धारण करके बाहर से आशावादी बना रहे। उसका कोई मित्र, कोई शत्रु न हो, भाव-अभाव से मुक्त होकर संकल्पों को शान्त करके रागविहीन (वीतराग) होकर सदा आनन्दित रहे, यही ब्राह्मीस्थिति है-**उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान्।.........एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया** (महो० ६.७०-७३)। श्रीमद्भगवद्गीता में भी ईश्वर (ब्रह्म) को प्राप्त पुरुष का लक्षण १२.१३-२० तक विस्तार से बताया गया है। यथा-**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।**

शीतोष्णसुखदु:खेषु समः सङ्गविवर्जितः (गीता० १२.१३-१८) अर्थात् जो समस्त प्राणियों में द्वेषभाव से रहित सबका प्रेमी और दयालु है। ममता और अहंकार से रहित तथा सुख-दु:खों की प्राप्ति में समान भाव वाला तथा क्षमावान् है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। इसी प्रकार जो मान-अपमान,सर्दी-गर्मी,सुख-दु:ख में समान और संसार के प्रति आसक्ति से रहित है, ऐसा(ब्राह्मी स्थिति सम्पन्न)भक्त मुझे प्रिय है।

१८६. भवसागर— द्र०-असंसक्ति।

१८७. भावनायोग— भावना अन्त:करण का विषय है। चिन्तन, क्रिया और भावना में भावना उत्पन्न होने का स्थान हृदय अर्थात् अन्त:करण है। जबकि चिन्तन और क्रियाएँ क्रमश: मस्तिष्क और शरीर द्वारा सम्पन्न होती हैं। यदि हमारा अन्त:करण पवित्र और निर्मल हो, तो भावनाएँ शुद्ध ही उठती हैं और तदनुसार ही विचारणा एवं क्रियाएँ बनती हैं। देवों के आवाहन का मूल शुद्ध भावना ही है। यदि अन्त: पुकार सच्ची है, तो भगवान् भी दौड़े चले आते हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, मीरा आदि के उदाहरण इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं, इसीलिए शास्त्रकारों ने भावना को भी योग कहा है अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा और परमात्मा का योग (मिलन) हो जाये, वह तत्त्व भाव (भावना) ही है। भावनोपनिषद् में दैवीशक्तियों के आवाहन, आसन, पूजा, उपचार विधि में 'भावनायोग' को ही उपचार अथवा पूजा कहा गया है- ....**कर्तव्यमकर्तव्यमिति भावनायुक्त उपचारः**(भाव०३)। आगे बाहर-भीतर के रूप ग्रहण की योग्यता को ही देवावाहन, बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों के एकरूप होकर विषय ग्रहण करने को ही आसन, सतोगुण और तमोगुण के एकीकरण को पाद्य और सतत आनन्द स्थिति में रहने तथा इस (ब्रह्मज्ञान) के दान को ही अर्घ्य कहा गया है-**तस्य बाह्याभ्यन्तःकरणानामेकरूपविषय-ग्रहणमासनम्। रक्तशुक्लपदैकीकरणं पाद्यम्।........ अर्घ्यम्** (भाव० ३)। उपर्युक्त सभी क्रियाओं का आधार स्थूल न होकर भावनात्मक ही है; अत: भावना की महत्ता स्पष्ट ही है। भावना को योग के अन्तर्गत रखकर उपनिषद्कार द्वारा उसे 'भावनायोग' की संज्ञा प्रदान करना सर्वथा उचित ही है। इस उपनिषद् में देवपूजन में समस्त क्रियायें भावनापूर्वक करने का निर्देश है, भावना की महत्ता यहाँ तक बताई गई है कि यदि कोई मनुष्य (योगी साधक) तीन मुहूर्त तक भावना परायण रहता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है- **एवं मुहूर्तत्रयं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति** (भाव०४)।

१८८. भावशून्यता— द्र०-असंसक्ति।

१८९. भौतिक शरीर (स्थूलशरीर)— द्र०-ज्ञानखण्ड -त्रयशरीर।

१९०. मन्त्रयोग— द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१९१. महाचक्र-सुदर्शन चक्र— नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् में मन्त्रराज आनुष्टुभ द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की रचना विवेचित है। यह मंत्र अनुष्टुप् छन्द में है, जिसमें चार चरण तथा प्रत्येक चरण में आठ-आठ अक्षर होते हैं, इस प्रकार इसमें कुल बत्तीस अक्षर होते हैं। उपनिषद् में मंत्र के विभिन्न खण्डों की पृथक्-पृथक् विवेचना की गई है। जो संकेत दिये गये हैं, उस आधार पर मंत्रराज आनुष्टुभ या नारसिंह मंत्र (प्रणव सहित) इस प्रकार बनता है-**ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्** (नृ०पूर्व०२.६ टि०)। देवों द्वारा प्रजापति ब्रह्मा से महाचक्र के विषय में प्रश्न करने पर उन्होंने बताया कि 'महाचक्र' मंत्रराज आनुष्टुभ-नारसिंह मंत्र से ही बनता है। इसी को सुदर्शन चक्र भी कहते हैं, जिसे भगवान् विष्णु का चक्र भी माना जाता है। पद्म पुराण के उत्तर खण्ड १४५ वें अध्याय में वर्णित है कि सुदर्शन चक्र शिव ने निर्मित करके विष्णु को दिया था-**सुदर्शनचक्रं च सर्वदेवतेजोभिः शिवेन निर्माय विष्णवे दत्तं यथोक्तं** .... (वाच०पृ० ५३१२)। समय-समय पर विभिन्न प्रयोजनों की पूर्ति व दुष्टदलन हेतु वे इसी चक्र का प्रयोग करते हैं। भगवान् नृसिंह विष्णु के ही अवतार हैं, इसलिए यह चक्र उन्हीं का माना जाता है। भिन्न-भिन्न अक्षर खण्डों से ये अलग-अलग शक्ति वाला बनता है। इसके विभिन्न अरे इसकी शक्ति के परिचायक हैं। छ: अरों (छ: अक्षरों) वाले 'सुदर्शन चक्र-महाचक्र' में छ: ऋतुएँ ही छ: अरे हैं। यह सम्पूर्ण चक्र माया द्वारा आवेष्टित है- **स होवाच प्रजापतिः षडक्षरं वा एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्मात्षडरं भवति षट्पत्रं चक्रं भवति षड् वा ऋतव ऋतुभिः ....तस्मान्मायया बहिर्वेष्टितं भवति** (नृ०पूर्व० ५.२)। इसके पश्चात् आठ अरों वाला अष्टाक्षर मंत्र का चक्र, बारह अरों वाला द्वादशाक्षर मंत्र का चक्र, सोलह अरों वाला षोडशाक्षर मंत्र का चक्र और बत्तीस अरों वाला द्वात्रिंशदक्षर मंत्र का महाचक्र सुदर्शनचक्र बनता है। ये सभी चक्र मायारूपी नेमि से आवेष्टित रहते हैं। महाचक्र-सुदर्शन के अरे वेद, पत्ते छन्द बताये गये हैं । बत्तीस दलों-अरों वाला महाचक्र जो सुदर्शन चक्र के नाम से भी प्रख्यात है, के नाभि स्थल में

एकाक्षरी 'ॐ' मंत्र के न्यास, चक्र के छः पत्रों-दलों में षडक्षरी मंत्र- सुदर्शन मंत्र 'सहस्रार हुं फट्'; चक्र के अष्टदलों में अष्टाक्षरी नारायण मंत्र 'ॐ नमो नारायणाय' चक्र के द्वादश दलों में द्वादशाक्षरी वासुदेवमंत्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'; चक्र के सोलह दलों में वर्णमाला के सोलह स्वराक्षरों (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ,ओ, औ, अं, अः) और चक्र के बत्तीस दलों में बत्तीस अक्षर वाले उपर्युक्त आनुष्टुभ मंत्र के न्यास का विधान वर्णित है- **एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्य मध्ये नाभ्यां तारकं ...... द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति** (नृ०पूर्व० ५.८)। इस मंत्रराज आनुष्टुभ रूपी महाचक्र-सुदर्शन चक्र के नियमित जप से समस्त सिद्धियों की प्राप्ति, लोकों पर विजय तथा अन्त में परमधाम की प्राप्ति तक का माहात्म्य सविस्तार वर्णित है।

१९२. **महात्रिपुरसुन्दरी— द्र०-कामकला।**

१९३. **महापातक— द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड।**

१९४. **महाप्रलय— द्र०-कालाग्नि।**

१९५. **महामुद्रा— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड- मुद्रा।**

१९६. **महारोग— द्र०-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।**

१९७. **महाविद्या— द्र०-त्र्यक्षरी विद्या।**

१९८. **महाशून्यचक्र— द्र०-नवचक्र।**

१९९. **महिमा— द्र०-अष्टसिद्धि।**

२००. **मानसब्रह्म— द्र०-कालातीत।**

२०१. **मायाजाल— द्र०-ज्ञानखण्ड-अविद्या, माया, अज्ञान।**

२०२. **मायामयी— द्र०-त्रिगुणमयी माया।**

२०३. **मार्जन— द्र०-श्राद्ध।**

२०४. **मुक्ति— द्र०-ज्ञानखण्ड-मुक्ति-मोक्ष।**

२०५. **मुदिता**— योग शास्त्रों में आध्यात्मिक उन्नति की विभिन्न साधनाएँ वर्णित हैं। पातञ्जल योग दर्शन में समाधि पाद के तैंतीसवें सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा गुणों के द्वारा चित्त की निर्मलता व प्रसन्नता प्रतिपादित है- **मैत्रीकरुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्** (पा०यो०स०पा० ३३) अर्थात् सुखी-दुःखी, पुण्यात्मा-पापी पुरुषों के सन्दर्भ में क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना रखने से चित्त निर्मल और प्रसन्न रहता है। यहाँ मैत्री का अर्थ मित्रता (प्रेम), करुणा का दया (दूसरों के दुःखों को निवृत्त करने की आकांक्षा), मुदिता का हर्ष और उपेक्षा का अर्थ उदासीनता है। उपर्युक्त गुणों को व्यावहारिक धरातल पर धारण करने का अभिप्राय हुआ कि किसी को सुखी समझकर उसके साथ मित्रता (प्रेम) करे, न कि ईर्ष्या। किसी को दुःखी देखकर उसके प्रति करुणा (दया) का भाव जाग्रत् करे कि इसका दुःख कैसे दूर हो, न कि घृणा और तिरस्कार करे। पुण्यात्माओं में उनके श्रेष्ठ कृत्यों, पुण्यों को देखकर उनके प्रति मुदिता (हर्ष-प्रसन्नता) व्यक्त करे। इसी प्रकार पापियों के विषय में उनके पाप कृत्यों के प्रति उपेक्षा (उदासीनता) का भाव करे, न कि उनसे द्वेष करने लगे। किसी सन्त ने कहा भी है— **'पाप से घृणा करो पापी से नहीं।'** तात्पर्य यह है कि यदि किसी ने अपने से कुछ अनुचित व्यवहार किया है, तो उस व्यक्ति के प्रति उपेक्षा न करके उसके उस कृत्य की उपेक्षा करे, उसके प्रति द्वेष या घृणा करके अपने मन और चित्त को प्रदूषित क्यों किया जाए? भगवान् कृष्ण ने गीता में अर्जुन को भक्त के लक्षण बताते हुए इन गुणों की ओर संकेत किया है- **अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी** (गी० १२.१३)। महोपनिषद् में भी ऋभु-निदाघ संवाद में ऋभु ने निदाघ को सत्त्वगुण में स्थित प्राणी की स्थिति बताते हुए उसे इन्हीं मैत्री आदि गुणों को धारण करने की सलाह दी है- ....**ते नित्यमेवाभ्युदिता मुदिताः ख इवेन्दवः। .....आकृत्यैव विराजन्ते मैत्र्यादिगुणवृत्तिभिः ....भास्करा इव** (महो० ४.१७-२०)।

२०६. **मुमुक्षु— द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-मुनि।**

२०७. **मूर्ततारक-अमूर्ततारक**— सामान्यतया मूर्त का अर्थ शरीरधारी, मूर्तिमान्, निश्चित आकार की कोई वस्तु, आकृति

आदि होता है। इसी अर्थ में मूर्ति शब्द का प्रयोग भी होता है। इसी प्रकार इसके निषेधात्मक अर्थ, आकारहीन, अशरीरी, निराकार आदि के लिए अमूर्त अथवा अमूर्ति शब्द प्रयोग किया जाता है; किन्तु अद्वयतारकोपनिषद्, अथर्वशिर, अथर्वशिख, मंडलब्राह्मण आदि उपनिषदों में तारक ब्रह्म प्रकरण के अन्तर्गत तारक ब्रह्म की दर्शन विधि में मूर्त और अमूर्त शब्दों का प्रयोग विशिष्ट अर्थों में किया गया है। तारक ब्रह्म का स्वरूप तो १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्या खण्ड के परिभाषाकोश परिशिष्ट में **'तारक ब्रह्म-तारक यंत्र'** शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है। उसके दर्शन की विधि दो प्रकार की बताई गई है- **(अ) मूर्त तारक (ब) अमूर्त तारक।** इन तारक विधियों को समझने से पूर्व तारक शब्द के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है। प्रथम तो समस्त दु:खों से तारने वाले ब्रह्म को तारक कहते हैं और द्वितीय आँखों (नेत्रों) की पुतलियों (तारों) को भी तारक कहते हैं। जिस प्रकार हम नेत्रों की पुतलियों (तारकों) से ब्रह्माण्ड स्थित सूर्य और चन्द्र आदि का दर्शन करते हैं, उसी प्रकार अपने सिर रूपी ब्रह्माण्ड के मध्य में विद्यमान सूर्य एवं चन्द्र का निर्धारण कर उनका अन्त: दृष्टि से दर्शन करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। यही तारक अनुसन्धान कहलाता है- **अक्ष्यन्तस्तारयोश्चन्द्रसूर्यप्रतिफलनं .... तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसंधेय:** (अद्वयता० ९)। इसी पुरुषार्थ को तारक योग कहते हैं। तारक योग पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध भेद से दो प्रकार का है। पूर्वार्द्ध तारक और उत्तरार्द्ध को अमनस्क (मन:शून्य अवस्था) कहते हैं- **तत्तारकं द्विविधं पूर्वार्धंतारकमुत्तरार्धममनस्कं चेति** (अद्वयता०८)। पूर्वार्द्ध 'तारक' के पुन: दो भेद हैं-१.मूर्त तारक २. अमूर्त तारक (जिनका संकेत ऊपर किया जा चुका है)। इनमें मूर्त या मूर्ति तारक (तारक दर्शन की विधि) वह है, जिसमें इन्द्रियों के अन्त (मनश्चक्षु) में तारक ब्रह्म-प्रकाश का ध्यान किया जाता है तथा अमूर्त या अमूर्ति तारक वह है, जिनमें दोनों भृकुटियों के बाहर एक निश्चित दूरी पर उसका दर्शन किया जाता है- **तत्तारकं द्विविधं मूर्तितारकममूर्तितारकं चेति। यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तिमत्। यद्भ्रूयुगातीतं तदमूर्तिमत्** (अद्वयता० १०)। अन्त: दृष्टि (मनश्चक्षु,) से दर्शन करते समय व बाहर भ्रूयुगल से कुछ दूरी पर, दोनों स्थितियों में मन को संयुक्त रखना पड़ता है। मूर्त तारक में मन सहित नेत्रों की अन्तर्दृष्टि से देखा जाता है और अमूर्त तारक में मन सहित भ्रूयुगल से बाहर (एक निश्चित दूरी पर) उस तारक प्रकाश रूप ब्रह्म के दर्शन का अभ्यास किया जाता है-**उभयमपि मनोयुक्तमभ्यसेत्। मनोयुक्तान्तरदृष्टिस्तारकप्रकाशाय भवति** (मं०ब्रा०उ० १.३.२)। यह तारक योग का पूर्वार्द्ध हुआ। तारक योग का उत्तरार्द्ध तो अमनस्क स्थिति में किया जाता है। इन स्थितियों को अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य और मध्यलक्ष्य कहते हैं। जिनका वर्णन १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्या खण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में **'लक्ष्यत्रय'** शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है, वहाँ देखा जा सकता है।

२०८. मूलकन्द—द्र०-नवचक्र।

२०९. मूलबन्ध—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड -बन्ध।

२१०. मृगतृष्णा-मृगमरीचिका—मृगतृष्णा और मृगमरीचिका शब्दों का प्रयोग परस्पर पर्यायवाची शब्दों के रूप में होता है। कोश ग्रन्थों में इसको इस प्रकार परिभाषित किया गया है- **मृगतृष्णा .... जलाभासत्वात् मृगाणां तृष्णा विद्यतेऽस्यां** (हि०वि०को०खं० १८ पृ० २४४) अर्थात् जल अथवा जल की लहरों की वह मिथ्या प्रतीति मृगतृष्णा है, जो कभी-कभी मरुभूमि में कड़ी धूप (सूर्य की तीव्र रश्मियाँ-मरीचिकाएँ) पड़ने से प्रतीत होती है। गर्मी के समय में वायु की तहों का घनत्व उष्णता के कारण असमान हो जाता है, तब पृथिवी के निकट की वायु अधिक गर्मी पाकर ऊपर को उठना चाहती है; किन्तु ऊपरी तहें उसे उठने नहीं देतीं। इसलिए वायु की लहरें पृथिवी के समानान्तर बहने लगती हैं, यही लहरें दूर से जल धारावत् दृश्यमान होती हैं। मृग इसे देखकर उसी प्रकार भ्रमित हो जाते हैं, जिस प्रकार कोई रज्जु में सर्प का (अज्ञान के आवरण और विक्षेप शक्तियों द्वारा) आभास पाकर भयभीत हो जाते हैं। मृग उसे जल समझकर पीने के लिए दूर-दूर तक दौड़ते हैं; किन्तु वहाँ जाने पर निराशा ही मिलती है। इसीलिए इसे मृग-तृष्णा या मृग-मरीचिका कहते हैं। इसकी संगति बिठाते हुए प्राय: लौकिक भोग-सुखों को मृगमरीचिका कहते हैं; क्योंकि उनके प्राप्त होने पर भी शाश्वत शान्ति नहीं मिलती, वरन् मन और अधिक पाने की लालसा में अशान्त हो जाता है। महोपनिषद् में ऋभु-निदाघ संवाद में निदाघ कहते हैं— हे पिता! हे गुरु! मृगमरीचिका के सरोवर में खड़े होकर भी मुझमें भोग-लिप्सा की स्फुरणा नहीं हो रही है। अत: आप मुझे अतिशीघ्र तत्त्वज्ञानात्मक बोध करायें-**स्फुरन्ति हि न भोगाशा मृगतृष्णासर:स्वपि। अतो मां ....वै गुरो** (महो० ३.५६)।

२११. मृत्युञ्जय—द्र०-अर्धनारीश्वर।

२१२. मेधा—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२१३. यज्ञसूत्र—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२१४. यज्ञस्तोम—द्र०-यज्ञीय उपकण एवं क्रियाएँ।

२१५. यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ-

क. **अन्तर्वेदिका—** श्रौत यज्ञों के अन्तर्गत प्राय: सभी में यज्ञशाला के अन्दर के निर्माण में विभिन्न प्रकार के कुण्ड, विभिन्न अग्नियों के लिए स्थान, होता, अध्वर्यु, ब्राह्मणाच्छंसी, ब्रह्मा, उद्‌गाता आदि ऋत्विजों के लिए स्थान के अतिरिक्त 'वेदि' का निर्माण भी किया जाता है। यह प्राय: यज्ञशाला के मध्य में होती है। यज्ञ वैभिन्य से इसका परिमाप पृथक्-पृथक् होता है, जैसे-अग्नि चयन याग सुपर्णचिति में वेदि का अग्रभाग पूर्व दिशा में और पीछे का भाग पश्चिम दिशा में होता है। वेदि की कल्पना एक सुन्दर नारी के रूप में की गई है, इसलिए उसके अंगों की संरचना में सौन्दर्य का विशेष ध्यान रखा जाता है- **योषा वै वेदिः** (श०ब्रा० १.२.५.१५)। इसका पूर्वी सिरा कम चौड़ा होता है। पश्चिम छोर को अंस कहते हैं। पूर्वी छोर के मध्य-बिन्दु से लेकर उत्तरी भाग के अन्तिम बिन्दु पर्यन्त मध्य के भाग को उत्तर अंस कहते हैं। इसी प्रकार दक्षिण भाग के अन्तिम बिन्दु पर्यन्त मध्य स्थल को दक्षिण अंस की संज्ञा प्रदान की गई है। इस वेदि (वेदिका) के अन्दर के भाग को अन्तर्वेदि या अन्तर्वेदिका कहते हैं; किन्तु इसके विषय में कहीं विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं होता। श्रौत कोश में अग्निष्टोम याग के अन्तर्गत अन्तर्वेदि का उल्लेख इन शब्दों में है- **तस्यार्धमन्तर्वेदि स्यादर्धं बहिर्वेदि .... अथो अपि सर्वमेवान्तर्वेदि स्यात्** (श्रौ०को०खं० २ पृ० १७३)। हिन्दी विश्वकोश में अन्तर्वेदि को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है-**'अन्तर्गता वेदिर्यज्ञभूमिर्यस्मिन् देशे'** अर्थात् अपने मध्य परिष्कृत बहुयज्ञ भूमि रखने वाला देश। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत विभिन्न यज्ञीय क्रियाओं व यज्ञ भूमि स्थलों का आलङ्कारिक उल्लेख करते हुए उपनिषद्‌कार ने शरीर को वेदि और नासिका को अन्तर्वेदि कहा है- .... **समानो मैत्रावरुणः शरीरं वेदिः नासिकाऽन्तर्वेदिः ....समाहिता:** (प्रा०हो० २२)।

ख. **अभिषेक—** अभिषेक शब्द सामान्यत: जल छिड़कने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जो विभिन्न प्रयोजनों के लिए छिड़का जाता है, जैसे- किसी राजा के सिंहासनारूढ़ होने के समय किया जाने वाला अभिषेक राज्याभिषेक कहलाता है। यज्ञादि के अन्त में शान्ति के लिए किया जाने वाला अभिषेक या स्नान, शान्ति अभिषिञ्चन या शान्ति अभिषेक कहलाता है। शिवलिङ्ग पर दुग्धादि द्वारा अभिषेक करने को रुद्राभिषेक कहते हैं। हिन्दी विश्वकोश खण्ड २ पृ० १४ में अभिषेक शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है-**'अभिषेचनं अभि-सिच-भावे घञ्'** अर्थात् शास्त्रीय विधानपूर्वक शान्ति के लिए सेचन, अधिकार पाने के लिए स्नान, मन्त्र से सिर पर जल छिड़क कर मार्जन, कर्तव्य कर्म के अन्त में शान्ति स्नान, पुरश्चरण के अन्तर्गत मन्त्र द्वारा सिर पर जल छिड़कने का तीसरा काम तथा मन्त्र दीक्षा ग्रहण करते समय दस प्रकार के संस्कारों में पाँचवाँ संस्कार अभिषेक कहलाता है। वाजपेय, सौत्रामणी आदि यागों में अभिषेक का वर्णन प्राप्त होता है। का०श्रौ०सू० १९.४.१४ में सौत्रामणी याग के अन्तर्गत वसाहोम के पश्चात् अवशिष्ट वसा से यजमान का अभिषेक करने का निर्देश इन शब्दों में उल्लिखित है- **सर्वसुरभ्युन्मृदितम्, शेषैरभिषिञ्चति।** इसी प्रकार वाजपेय याग में भी हवन के उपरान्त अवशिष्ट चरु से अभिषेक का विधान शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है- **अथैनं परिशिष्टेनाभिषिञ्चति** (श०ब्रा० ५.२.१.१२)। उपनिषदों में शिवलिङ्ग पर (रुद्राभिषेक) अभिषेक करने तथा गुरु अभिषेक और महेश्वर के चरणामृत से समस्त पापों के धुल जाने का वर्णन है- **लिङ्गाभिषेकं निर्माल्यं गुरोरभिषेकतीर्थं महेश्वरपादोदकं जगन्मालिन्यं क्षालयन्ति** (रुद्र०)।

ग. **अवभृथ स्नान—** किसी यज्ञ के अन्त में किये जाने वाले स्नान को अवभृथ स्नान कहते हैं,इसमें कुछ कर्मकाण्ड भी समाविष्ट रहते हैं। इसे प्रायश्चित्त स्नान भी कहते हैं। हिन्दी विश्वकोश खण्ड २ पृ० २९० में अवभृथ शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार निरूपित है- **'अव अवसाने बिभर्ति पोषयति यज्ञम्'** अर्थात् प्रधान यज्ञ समाप्त होने पर दूसरे यज्ञ का आरम्भ, दीक्षान्त यज्ञ, होम विशेष, इसे ही अवभृथ इष्टि भी कहते हैं। यह अवभृथ इष्टि या याग जलाशय पर यजमान द्वारा सपत्नीक सम्पन्न किया जाता है, जिसे अध्वर्यु आदि ऋत्विज् सम्पन्न कराते हैं, तत्पश्चात् अध्वर्यु यजमान दम्पति को जलाशय में स्नान के लिए उतारता है। वहाँ उनके स्नान करते समय भी मन्त्रोच्चारणपूर्वक विभिन्न क्रियाएँ सम्पन्न कराता है, यही अवभृथ स्नान है। अभिप्राय यह है कि अवभृथ याग अथवा अवभृथ इष्टि के समय किया जाने वाला स्नान

अवभृथ स्नान कहलाता है। अवभृथ स्नान के उपरान्त वस्त्र धारण करते हैं-**अवभृथवत्स्नात्वा वासोऽपासनम्** (का०श्रौ० १९.५.१६)। इसके पश्चात् यजमान यज्ञशाला में आकर आहवनीय में और पत्नी गार्हपत्य में समिधाधान करते हैं- **समिधमादायाहवनीयेऽभ्यादधाति** (का०श्रौ० १५.९.१९)। तत्पश्चात् यजमान आदित्येष्टि, मैत्रावरुणी पयस्येष्टि, सान्तपनीयेष्टि आदि विहित इष्टियाँ सम्पन्न करके यज्ञ के शेष कार्य सम्पन्न करते हैं। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ का वर्णन करते हुए शरीर के इन्द्रियों व गुणों आदि को ही यज्ञ की विभिन्न क्रियाएँ-उपकरण निरूपित किया गया है, जैसे- अहिंसा को इष्टकाएँ, त्याग को दक्षिणा तथा मृत्यु को ही अवभृथ स्नान कहा है- **अहिंसा इष्टयः त्यागो दक्षिणा अवभृथं मरणात् .... समाहिताः** (प्रा०हो० २२)।

घ. **आज्यभाग**— कोशग्रन्थों में आज्य भाग शब्द की व्याख्या इस प्रकार निर्दिष्ट है- **'आज्यस्य भागः'** अर्थात् घृत का एक देश, घी का कोई हिस्सा, घृत की वैदिक आहुति आदि। आज्य की वैदिक आहुति का व्यावहारिक स्वरूप यह है कि ऋग्वेदी जिस आज्य आहुति को स्रुवा द्वारा उत्तराभिमुख होकर अग्नि के निमित्त समर्पित करते हैं, उसे आज्य भाग कहते हैं। दक्षिण की ओर सोमदेव के निमित्त प्रदान की जाने वाली आहुति भी आज्य भाग ही कहलाती है। यजुर्वेदी लोग अग्नि के उत्तर-पूर्वार्द्ध में **'अग्नये स्वाहा'** कहकर तथा दक्षिण- पूर्वार्द्ध में **'सोमाय स्वाहा'** कहकर जो आहुति प्रदान करते हैं, उसे भी आज्य भाग ही कहा जाता है। इन दोनों मन्त्रों के अन्त में इदमग्नये, इदं सोमाय का उच्चारण पात्र में आज्य भाग रखते हुए किया जाता है। कात्यायन श्रौत सूत्र में पौर्णमास याग के क्रम में उल्लेख है कि आज्य भाग (आज्याहुति) होतृवरण और पञ्च प्रयाज के बाद ही किया जाता है। इसके पश्चात् प्रधान याग स्विष्टकृद्याग आदि सम्पन्न किये जाते हैं। आज्य भाग की विस्तृत प्रक्रिया कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श १९८८ संस्करण के पृ० ११४ पर देखी जा सकती है। आज्य रखने के पात्र को आज्यस्थाली कहते हैं। आज्याहुति हेतु आज्यस्थाली में से चार स्रुवा आज्य (घृत) जुहू में, आठस्रुवा उपभृत में और चार स्रुवा ध्रुवा में भरने का उल्लेख भी कात्यायन श्रौत सूत्र ग्रन्थ में है- **स्रुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वा ....। अष्टावुपभृति ....। ध्रुवायाञ्च जुहूवत्** (का०श्रौ० २.७.९-१०,१५)। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत दाहिने हाथ को स्रुवा और बायें हाथ को आज्यस्थाली कहा गया है- **दक्षिणहस्तः स्रुवः सव्य आज्यस्थाली ......** (प्रा०हो० २२)। इसी प्रकार नेत्रों को आज्य भाग तथा गले (गर्दन) को धारा कहा गया है- **चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवाधारा .... समाहिताः** (प्रा०हो० २२)।

ङ. **आज्यस्थाली**—द्र०-आज्यभाग।

च. **द्रोणकलश**— यज्ञीय कार्यों में विभिन्न प्रकार के पात्र-उपकरण प्रयुक्त होते हैं। द्रोणकलश का प्रयोग प्रायः उन यज्ञों में होता है, जिनमें सोम का उपयोग किया जाता है। द्रोणकलश विकङ्कत काष्ठ (जिसे कटाई, किंकिणी और बंज कहते हैं, जिसके फल बेर के समान खट्टे-मीठे, पत्तियाँ व डालें कँटीली होती हैं, जिससे स्रुवा का निर्माण भी होता है।) से निर्मित एक आयताकार पात्र होता है, जो मध्य में गर्तवाला और चारों ओर परिधि वाला होता है। इसकी लम्बाई अठारह अङ्गुल और चौड़ाई बारह अङ्गुल होती है- **अतिरिक्तं वा एतत् पात्राणां यद् द्रोणकलशः** (कपि०क०सं० ४४.९)। इसी प्रकार कात्यायन श्रौत सूत्र में भी द्रोण कलश के सोमपात्र होने का संकेत है- **आहवनीयं गच्छन्त्यादाय ग्रावद्रोणकलशसोमपात्राणि** (का०श्रौ० ८.७.४)। द्रोणकलश नामक पात्र में सोमरस छाना जाता है। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत यज्ञीय क्रियाओं और उपकरणों के आलंकारिक वर्णन में उपनिषद्कार ने मूर्धा को द्रोणकलश की संज्ञा प्रदान की है- **शरीरं वेदिः नासिकाऽन्तर्वेदिः मूर्धाद्रोणकलशः पादो रथः .....समाहिताः** (प्रा०हो० २२)।

छ. **यूप**— श्रौत यागों में विभिन्न प्रयोजनों के अनुसार यूप का प्रयोग किया जाता है। पशु यागों में पशु बन्धन के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। जबकि अग्निष्टोम में यजमान दीक्षा प्रकरण में यूपच्छेदन क्रिया की जाती है- **दीक्षासु यूपच्छेदनं, दीक्षासु महावीर संभरणं .... प्रथम दिन एव** (दे०प०पृ० २४७)। यूप पलाश (ढाक), बिल्व, खदिर, देवदारु आदि काष्ठों के बनाये जाते हैं, जो ३, ५ से लेकर २१ अरत्नि (हाथ) तक लम्बे होते हैं। उपर्युक्त अग्निष्टोम याग में प्रयुक्त होने वाला यूप पलाश या खदिर का होता है, जिसकी लम्बाई ५ अरत्नि (हाथ) होती है- **..........पालाशं बहुलपर्णमशुष्काग्रमूर्ध्वसकलशाखं ....करोत्युपरवर्जम्** (का०श्रौ० ६.१.८,२६)। वाजपेय यज्ञ में यजमान और यजमान पत्नी द्वारा नेष्टा और अध्वर्यु के सहयोग से यूपारोहण करने का विधान है। यजमान यूप की इतनी ऊँचाई तक चढ़ता है कि उसका सिर यूप से अधिक ऊँचा हो जाये-**शिरसायूपमुज्जिहीते** (का०श्रौ० १४.५.१०)। अश्वमेध यज्ञ में इक्कीस यूप प्रयुक्त होते हैं- **एकविंशतिर्यूपाः** (का०श्रौ० २०.४.१६)। प्रत्येक यूप २१ अरत्नि लम्बा

होना चाहिए। प्रत्येक यूप में एक-एक पशु नियोजन और प्रोक्षण होता है। अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता को यूप के निकट पशु लाने का प्रैष (आदेश) करते हैं, पशु आने पर अध्वर्यु उसका यूप में नियोजन और प्रोक्षण करते हैं- **पशवे वै यूपमुच्छ्रयन्ति** (शत०ब्रा० ३.७.२.४)। यूप के खण्ड को यूप शकल कहते हैं, जिसे वज्ररूप कहा जाता है-**वज्रो वै यूपशकलः** (शत०ब्रा०३.८.१.५)। यूप की महत्ता बताते हुए यूप लक्षण परिशिष्टकार ने लिखा है- **यथैवात्मा तथा यूपो यूपे ह्यात्माप्रतिष्ठितः। आत्मा वै यजमानस्य यूपत्वमनुगच्छति** (यू०प० ४)। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत ओंकार को यूप की संज्ञा प्रदान की गई है-**ओंकारो यूपः आशा रशना** (प्रा०हो० २२)।

ज. **स्रुवा—** इससे यज्ञाग्नि में आज्य (घृत) की आहुति प्रदान की जाती है। इसे स्रुव और स्रुवा भी कहते हैं। यह एक अरत्नि लम्बा और आगे घृत लेने हेतु अङ्गुष्ठ पर्वमात्र गर्त वाला होता है। यह विकङ्कत काष्ठ से निर्मित होता है। विकङ्कत काष्ठ से स्रुवा बनने के कारण अमरकोश में इस काष्ठ का एक नाम स्रुवा वृक्ष भी है। इसके अन्य पर्यायवाची शब्दों में स्वादुकण्टक, ग्रन्थिल, मधुपर्णी, किङ्किणी, व्याघ्रपात्, स्रुवाद्रुम आदि हैं। प्रख्यात कोश ग्रन्थ शब्द कल्पद्रुम में इसे बदरीसदृश सूक्ष्मफलवृक्ष कहा गया है, जिससे यह बेर की प्रजाति का प्रतीत होता है। भाव प्रकाश में इसे सर्वदोषजित् काष्ठ ओषधि रूप में वर्णित करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है- **स एव यज्ञवृक्षश्च कण्टकी व्याघ्रपादपि। विकङ्कतफलं पक्वं मधुरं सर्वदोषजित्** (श०क०खं० ४ पृ० ३७०)। स्रुवा खदिर काष्ठ से भी निर्मित होता है। इसका उल्लेख का०श्रौ० में इस प्रकार है-**खादिरः स्रुवः** (का०श्रौ० १.३.३३)। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् (२२) में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत दक्षिण हस्त को स्रुव या स्रुवा कहा गया है- **पादो रथः दक्षिणहस्तः स्रुवः।**

झ. **सूक्तवाक्—** दर्शपौर्णमास आदि श्रौत यागों में (स्वस्तिवाचन-कल्याणकारी वाचन क्रियाओं के अन्तर्गत) सूक्तवाक् और शंयोर्वाक् या शंयुवाक् पाठ किये जाते हैं। आहवनीय कुण्ड के निकट अध्वर्यु पलाश समिधा से बनी पश्चिमी परिधि को स्पर्श करके आग्नीध्र से आश्रावण (संवाद) करता है। तदुपरान्त अध्वर्यु होता को सूक्तवाक् मंत्र- **इदं द्यावापृथिवी** ....(हौ०प० १.१३) आदि पाठ करने की प्रैष (आज्ञा) देता है। इसके पश्चात् होता सूक्तवाक् का पाठ करता है। इसी प्रकार आग्नीध्र और अध्वर्यु के क्रमशः **'संवदस्व'** और **'आगानग्नीत'** कहने पर अध्वर्यु होता को शंयुवाक् अथवा शंयोर्वाक् (शुभवचन) पढ़ने का प्रैष करता है- **संवदस्वागानग्नीदगञ्छ्रावय श्रौषट्** (का०श्रौ० ३.६.१५), **तच्छंयोरावृणीमहे** (शां० श्रौ० १.१४.२१)। होता इस मंत्र 'तच्छंयो०' से शंयोर्वाक् पाठ करता है। यह मंत्र शंयुवाक् संज्ञक है। कात्यायन श्रौत सूत्र में यह उल्लेख इस प्रकार है-**शंय्वन्तं भवति** (का०श्रौ० ३.७.१०) प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ प्रकरण के अन्तर्गत दाँत और ओष्ठों को सूक्तवाक् और तालु को शंयोर्वाक् बताया गया है-**दन्तोष्ठौ सूक्तवाकः तालुः शंयोर्वाकः .... समाहिता** (प्रा०हो० २२)।

ञ. **शंयोर्वाक्—द्र०-सूक्तवाक्।**

ट. **यज्ञस्तोम—** स्तोम शब्द प्रायः स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। इसी कारण वैदिक संहिताओं में देवों के प्रति स्तोम (स्तुतियाँ) ही संगृहीत हैं। वैसे स्तुति के अतिरिक्त इसके पर्यायवाची शब्द-गुणगान, यज्ञ, समूह और राशि आदि भी हैं। सामगान के अन्तर्गत स्तुतिपरक छन्दों को स्तोम कहा जाता है-**यदृचि तद्वेत्था३इति स्तोमो वा एष तस्य साम्नो यद्वयं सामोपास्मह इति** (जै०ब्रा० १.४.३.६)। यज्ञों में देवों के निमित्त किये जाने वाले गुणगान और स्तुतियों को यज्ञस्तोम कहा जाता है। महोपनिषद् में उल्लेख है कि सृष्टि के प्रारम्भ में एकमात्र नारायण ही थे। उनको एकाकी रहना उचित न लगा, तब उन्होंने अपने ही अन्दर स्थित विराट् पुरुष का संकल्प पूर्वक ध्यान किया, वह ध्यान ही यज्ञस्तोम हुआ।....**एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा.....। स एकाकी न रमते। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते** (महो० १.१-४)। अभिप्राय यह है कि सृष्टि यज्ञ-सृष्टि विस्तार में यह ध्यान रूपी स्तुति ही यज्ञस्तोम कहलाई।

ठ. **धिष्ण्य—**कोशग्रन्थों में धिष्ण्य इस प्रकार परिभाषित है- **धिष्ण्य .... धृष्णीति प्रगल्भो भवतीति** (हि०वि०को०खं० ११ पृ० २३१)। इसके अनुसार धिष्ण्य के कई अर्थ हैं, जैसे-स्थान, जगह, गृहघर, अग्नि, नक्षत्र, शक्ति, उल्काभेद, प्राणाभिमानी देव आदि। उपर्युक्त अर्थों में से स्थान, गृह, अग्नि वाले अर्थों में ही धिष्ण्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। कात्यायन श्रौतसूत्र, शतपथ ब्राह्मण, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, तैत्तिरीय संहिता आदि ग्रन्थों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि **'धिष्ण्य'** प्राचीन अग्निष्टोम आदि यागों में यज्ञशालान्तर्गत सदोमण्डप में विशिष्ट खर स्वरूप (कुण्डस्वरूप) बनाये जाते थे। अग्निचयन आदि यागों में इन पर ईंटों (इष्टकाओं) का चयन भी किया जाता था-**धिष्ण्यान्निवपति** (श०ब्रा० ९.४.३.१)। धिष्ण्य आठ प्रकार के थे-आग्नीध्रीय, होत्रीय, प्रशास्त्रीय, ब्राह्मणाच्छंसीय, पौत्रीय, नेष्ट्रीय,

अच्छावाकीय और मार्जालीय। इनमें महावेदि के उत्तरी एवं दक्षिणी ओर आग्नीध्रीय और मार्जालीय धिष्ण्य निर्मित किया जाता है। सदोमण्डप के पूर्वी द्वार की पश्चिम दिशा में एक प्रक्रम (कदम) स्थान छोड़ने के उपरान्त पृष्ठ्या के ऊपर होत्रीय धिष्ण्य निर्मित किया जाता है। इसी के उत्तर में क्रमशः इसी के समानान्तर ब्राह्मणाच्छंसीय,पौत्रीय, नेष्टीय और अच्छावाकीय धिष्ण्यों का निर्माण किया जाता है। होत्रीय धिष्ण्य के उत्तर में चार अरत्नि और डेढ़पग की दूरी पर प्रशास्त्रीय (अथवा मैत्रावरुणीय) धिष्ण्य बनाया जाता है। समस्त धिष्ण्यों का परिमाप अठारह अंगुल चतुष्कोण अथवा मण्डलाकार तथा छः अंगुल ऊँचा होता है। प्रत्येक दो धिष्ण्यों की दूरी अठारह अंगुल होनी चाहिए। ब्राह्मण ग्रन्थों में धिष्ण्य के रूप में बने स्थल-वेदी या कुण्ड विशेष पर विशिष्ट आहुतियाँ प्रदान करने का भी विधान मिलता है। शतपथ ब्राह्मण ४.३.४.७ में अग्निष्टोम याग के अन्तर्गत उल्लेख है कि अध्वर्यु आग्नीध्रीयशाला की धिष्ण्या (धिष्ण्य) पर आज्य से आहुति प्रदान करके शेष आज्य से अन्य धिष्ण्याओं पर आहुति दे- .....**प्रचरणीति स्रुग्भवति। तस्यां चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽध्वर्युः शालाकैर्धिष्ण्यान्व्याघारयति।** गरुडोपनिषद् में गरुड़देव की स्तुति करते हुए उनके नखों और खुरों को धिष्ण्य स्थित अग्नि की संज्ञा प्रदान की गई है- **सुपर्णोऽसि .... धिष्णिया शफा यजूंषि नाम**- (गरुड० ११)।

२१६. **यन्त्र**—सामान्यतः यन्त्र शब्द का प्रयोग उपकरण के अर्थ में किया जाता है और इसी अर्थ में यह शब्द सर्वाधिक प्रचलित भी है; किन्तु कोश ग्रन्थों में इसके कई अर्थ हैं। हिन्दी विश्वकोश में यन्त्र की व्युत्पत्ति इस प्रकार उपन्यस्त है- **यन्त्र ....यच्छत्यत्रेति यम ....इति त्र।** इसके अनुसार यन्त्र शब्द- पात्रभेद, नियन्त्रण, अग्नियन्त्र, (तोप या बन्दूक) दारुयन्त्रादि, लकड़ी की कल (मशीन) और देवादि अधिष्ठान आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। आध्यात्मिक प्रयोजनों में यन्त्र देवता का अधिष्ठान (स्थापन) करके ही देवता की पूजा करनी चाहिए। यन्त्र सोने, चाँदी, ताम्र और भोजपत्रों पर उस-उस देवता के मन्त्र के बीज मन्त्रों आदि से लिखे जाते हैं। भिन्न-भिन्न देवताओं के अनुसार यन्त्र लेखन की सामग्री बदल जाती है। जैसे-केशर, गोलोचन (गोरोचन), अंगूर, कस्तूरी और चन्दन आदि द्रव्यों द्वारा स्वर्ण कलम से यन्त्र लिखने का विधान है-**काश्मीररोचना द्राक्षा मृगेभमदचन्दनैः। विलिखेद्धेमलेखन्या यन्त्राणि तानि देशिकः** (तन्त्रसार से संकलित-हि०वि०को० खं० १८ पृष्ठ ४८९)। उपयोगिता के आधार पर यन्त्र के दो भेद निर्दिष्ट हैं- १. यन्त्र धारण २. पूजायन्त्र। जो यन्त्र लिखकर पहनते हैं, उसे धारण यन्त्र तथा जिस यन्त्र को अंकित कर उससे देवता की पूजा की जाती है, उसे पूजा यन्त्र कहते हैं। यन्त्र बनाते समय उसके कई संस्कार करने होते हैं, जिनका विस्तृत वर्णन तन्त्रसार जैसे तन्त्र ग्रन्थों में है। ये यन्त्र-दुर्गा यन्त्र, लक्ष्मी यन्त्र, त्रिपुरा यन्त्र, श्रीविद्या यन्त्र, गणेश यन्त्र, गोपाल यन्त्र, शिव यन्त्र, मृत्युञ्जय यन्त्र, नृसिंह यन्त्र, काली यन्त्र, तारा यन्त्र, स्वस्तिक यन्त्र, गायत्री वीसा यन्त्र और राम यन्त्र आदि होते हैं।

रामपूर्वतापिन्युपनिषद् में राम की अर्चना यन्त्र के पूजनपूर्वक करने का उल्लेख है; क्योंकि यन्त्र के बिना की गई पूजा से देवता प्रसन्न नहीं होते-**सोऽभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना। विना यन्त्रेण चेत्पूजा देवता न प्रसीदति** (रामपूर्व० १.१३)। आयुर्वैदिक औषधियों के निर्माण में भी कई प्रकार के यन्त्रों का प्रयोग होता है; पर ये यन्त्र लिखे हुए नहीं, वरन् उस प्रक्रिया के द्योतक हैं, जिनसे विभिन्न औषधियाँ तैयार की जाती हैं- जैसे बालुका यन्त्र, दोला यन्त्र, स्वेदन यन्त्र, भूधर यन्त्र आदि। इसीप्रकार खगोल विज्ञान में ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति देखने के लिए विभिन्न यन्त्रों का निर्माण किया जाता है, जैसे- गोल यंत्र, स्वयंबाहगोल यन्त्र, शंकु यन्त्र, यष्टि यन्त्र, नाड़ीवलय यन्त्र, फलक यन्त्र, धनुर्यन्त्र आदि।

२१७. **यूप—द्र०- यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।**

२१८. **योग—द्र०-ज्ञानखण्ड।**

२१९. **योगनिद्रा—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।**

२२०. **योगात्मा—द्र०-ज्ञानखण्ड-योग।**

२२१. **योगी—द्र०-ज्ञानखण्ड-योग।**

२२२. **राजयोग—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।**

२२३. **रुद्र—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-त्र्यम्बक।**

२२४. **रुद्रग्रन्थि**—योगशास्त्रों में कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रियाएँ विस्तार से वर्णित हैं। योग कुण्डल्युपनिषद् में योगाभ्यास से कुण्डलिनी बोध प्रकरण में प्राण प्रवाह के ऊर्ध्वगामी बनने और प्राण-अपान दोनों के कुण्डलिनी में मिलने से उसकी

उष्णता से तप्त होकर वायु के निरन्तर दबाव से कुण्डलिनी के सीधी होकर सुषुम्ना मुख में प्रवेश करने का वर्णन है- **प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम्। मिलित्वा कुण्डलीं याति ....सुषुम्ना वदनान्तरे** (१.६५-६६)। इसके उपरान्त कुण्डलिनी शक्ति ग्रन्थित्रय भेदन करके सहस्रार में गमन करती है। ये तीन ग्रंथियाँ ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि नामों से जानी जाती हैं। कुण्डलिनी क्रमशः इन तीनों का भेदन करके ऊर्ध्वगमन करती है। सर्वप्रथम वह 'ब्रह्मग्रन्थि' जिसे मूलाधार चक्र या ब्रह्मचक्र में स्थित मानते हैं एवं जो रजोगुण से उत्पादित है, का भेदन करके सुषुम्ना के मुख में विद्युत् शिखा की भाँति तीव्रता से ऊर्ध्वगमन करती है- **ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम्। सुषुम्ना वदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत्** (यो०कुं० १.६७)। योगराजोपनिषद् में भी प्रथम चक्र जिसमें ब्रह्मग्रन्थि विद्यमान है, को मूलाधार या ब्रह्मचक्र कहा गया है- **प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तं भगाकृति** (यो०रा०५)। इसके पश्चात् कुण्डलिनी हृदय चक्र (अथवा अनाहत चक्र) स्थित 'विष्णुग्रन्थि' का भेदन करती है- **विष्णुग्रंथिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता** (यो०कुं० १.६८)। विष्णुग्रन्थि भेदन के उपरान्त साधक को परमानन्द की अनुभूति होने लगती है। यह तथ्य सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में इस प्रकार है- **विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्दसम्भवः** (सौ०ल० २.७)। इसके पश्चात् कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वगमन करती हुई रुद्रग्रन्थि जो दोनों भौंहों के बीच आज्ञाचक्र में विद्यमान है, का भेदन करती हुई चन्द्र स्थान में पहुँच जाती है- **ऊर्ध्वं गच्छति यच्चान्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम्। भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम्** (यो०कुं० १.६८-६९)। इस प्रकार इन तीनों ग्रन्थियों में क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की शक्तियों का वास माना गया है। जो उत्पादन, पालन और संहार के देवता हैं। जो साधक उपर्युक्त क्रियाएँ करता है, उसके अन्दर सत्प्रवृत्तियों का उत्पादन, उनका पालन-संवर्धन और दुष्प्रवृत्तियों का दमन स्वाभाविक ढंग से होता रहता है।

गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'नित्यकर्म पूजा प्रकाश' ग्रन्थ में प्राणायाम प्रक्रिया के अन्तर्गत पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय क्रमशः चतुर्भुज विष्णु का ध्यान नाभिक्षेत्र में, चतुर्मुख ब्रह्मा का ध्यान हृदय क्षेत्र में और श्वेत वर्ण शंकर का ध्यान ललाट क्षेत्र में करने का सचित्र उल्लेख है। यद्यपि उपर्युक्त कुण्डलिनी द्वारा ग्रन्थित्रय भेदन के क्रम में और इस प्राणायाम प्रक्रिया में देवों के स्थल व नाम के क्रम में कुछ भेद तो अवश्य है; पर इतना निश्चित है कि शरीर में इन तीनों शक्तियों का वास तो है ही । यौगिक क्रियाओं द्वारा इनका लाभ तो लिया ही जा सकता है।

२२५. **रुद्राक्ष—द्र०-अर्धनारीश्वर।**

२२६. **लक्ष्यत्रय—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।**

२२७. **लययोग—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।**

२२८. **लीलाविग्रह—द्र०-कालातीत।**

२२९. **वषट्—द्र०-ज्ञानखण्ड -वषट्कार-हन्तकार।**

२३०. **वह्नियोग—** भारतीय योग शास्त्र में विभिन्न प्रकार की साधनाओं का वर्णन है, जिनमें कुण्डलिनी जागरण की साधना अति महत्त्वपूर्ण है। इसकी सिद्धि से साधक सर्व समर्थ हो जाता है। कुण्डलिनी महाशक्ति की साधना में साधक को विभिन्न आयामों से गुजरना पड़ता है, जिनमें विविध आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्राएँ आदि सम्मिलित हैं। इसी क्रम में वह्नियोग (अग्नियोग) की सिद्धि को कुण्डलिनी साधना में महत्त्वपूर्ण सोपान माना गया है। योगचूड़ामण्युपनिषद् में उपनिषद्कार ने लिखा है- कुण्डलिनी महाशक्ति कन्द (उपस्थ के ऊपर और नाभि से नीचे) के ऊपर आठ कुण्डलियों की आकृति में व्याप्त होकर (अष्ट प्रकृति वाली होकर) ब्रह्म द्वार (सुषुम्ना) के मुख को ढक कर वहीं प्रसुप्तावस्था में रहती है, जो अग्नियोग (प्राणायाम प्रक्रिया) द्वारा जाग्रत् होकर प्रकाश रूप में मन और प्राण वायु के साथ सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर होकर सुई की तरह ऊर्ध्वगमन करती है-**कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः। ....येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम्। मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी। प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह। सूचीवद् गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ....** (यो०चू० ३६-३९)। उक्त मन्त्रों में वर्णित 'वह्नियोग' सम्भवतः सूर्यभेदी प्राणायाम की प्रक्रिया ही है; क्योंकि इसमें सूर्यचक्र जाग्रत् होकर आन्तरिक अग्नि प्रदीप्त होती है। सूर्यभेदी प्राणायाम में भी यही भावना की जाती है कि नाभिस्थित सूर्यचक्र से अग्नि के समान तेज लपटें उठ रही हैं, वे सुषुम्ना नाड़ी (ब्रह्मद्वार), फेफड़ों, हृदय और कण्ठ आदि अवयवों को तेजस्वी बना रही हैं। चूँकि कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मद्वार (सुषुम्ना) के मुख को अवरुद्ध करके उस पर प्रसुप्त है और उसके जागरण में वह्नियोग (अग्नियोग) की भूमिका महत्त्वपूर्ण है,

इससे स्पष्ट है कि सूर्यभेदी प्राणायाम ही अग्नियोग सिद्ध करने का माध्यम है। हठयोग प्रदीपिका में कुण्डलिनी साधना के अन्तर्गत भानु के आकुञ्चन और अग्नि के वशवर्ती होने का उल्लेख है-**भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः। ....कुतः** (हठ०प्र० ३.११६)।

२३१. **वह्निशिखा—** वह्निशिखा का सामान्य अर्थ अग्नि की शिखा अर्थात् अग्नि की ज्योति अथवा ज्वाला है। कोशग्रन्थों में वह्निशिखा की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है-**वह्निरिव शिखा यस्याः** (हि०वि०को० खं० २१ पृ० २३)। इसके अनुसार वह्निशिखा लाङ्गलिया, कलिहारी (कलियारी नामक विष), धातकी, धव का पेड़, प्रियङ्गु, गजपिप्पली या गजपीपल आदि को कहते हैं; किन्तु औपनिषदिक सन्दर्भ में इसका प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया गया है। चतुर्वेदोपनिषद् में ऋग्, यजु, साम और अथर्ववेद की उत्पत्ति विराट् पुरुष द्वारा विवेचित है। उस सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष विराट् पुरुष की स्थिति शरीर में बताते हुए उपनिषद्कार ने वह्निशिखा को इस प्रकार निरूपित किया है- विराट्पुरुष, कमलकोश के समान हृदय में अधोमुख होकर एक कोश के रूप में लटका है, जो शक्ति सम्पन्न है, उसके मध्य में श्रेष्ठ अग्नि (ज्योति-प्रकाश) स्थित है, जिसकी ज्वाला चतुर्मुखी है, उसके ही बीच में '**वह्नि शिखा**' (अग्नि की ज्योति) है, जो अणीय पर अवस्थित है, उसी अग्नि ज्योति अथवा वह्निशिखा अथवा श्रेष्ठ शिखा के मध्य में वह विराट् पुरुष परब्रह्म स्थित है- **पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसन्निभम्। हृदये चाप्यधोमुखं ....तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता। तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः** (च०वेद० ४-६)। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वह्निशिखा हृदय स्थित परम ज्योति ही है, जिसे परमात्मा-परब्रह्म आदि कहते हैं।

२३२. **वाक्सिद्धि —द्र०-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।**

२३३. **वाजपेय यज्ञ—द्र०- अतिरात्र यज्ञ।**

२३४. **वाणी—द्र०-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।**

२३५. **विचारणा—द्र०-असंसक्ति।**

२३६. **विचारभूमिका—द्र०-असंसक्ति।**

२३७. **विदेहमुक्ति—द्र०-असंसक्ति।**

२३८. **विनियोग—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड।**

२३९. **विरजा—** हिन्दी विश्वकोश में विरजा को वृक्ष, प्रेमिका, तीर्थ एवं नाड़ी के रूप में विवेचित किया गया है, यथा-१. कपित्थानी नामक वृक्ष २. ययाति की माता का नाम विरजा ३. शुक के पुत्र ऋक्ष वानर की पत्नी, जो विरजा प्रजापति की पुत्री थी। इसने सूर्य एवं इन्द्र से सुग्रीव एवं बाली को जन्म दिया। ४.श्रीकृष्ण की एक प्रेमिका। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार-एकबार श्री कृष्ण राधा को न देखकर विरजा के पास चले गये। यह सूचना मिलते ही राधा वहाँ पहुँचीं। श्री कृष्ण तो अन्तर्धान हो गये, विरजा को शाप देकर राधा ने नदी बना दिया। नदी के रूप में यह दाक्षिणात्य के महिसुर राज्य के अन्तर्गत महिसुर जिले की एक नदी के रूप में है। कावेरी नदी के दाहिने किनारे वालमुरि बाँध द्वारा इसका अस्तित्व प्रकट हुआ है। इसे कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् (अध्याय १.४) में भी नदी के रूप में विवेचित किया गया है- ....**स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति** अर्थात् वह (साधक) विरजा नदी के तट पर आकर उस नदी को भी संकल्प मात्र से लाँघ जाता है। गायत्री रहस्योपनिषद् में इसे गायत्री महामन्त्र की चौबीस शक्तियों में से एक शक्ति के रूप में कहा गया है- **प्रह्लादिनी प्रज्ञा विश्वभद्रा विलासिनी प्रभा शान्ता मा कान्तिः स्पर्शा दुर्गा सरस्वती विरूपा विशालाक्षी शालिनी व्यापिनी विमला तमोऽपहारिणी सूक्ष्मावयवा पद्मालया विरजा विश्वरूपा भद्रा कृपा सर्वतोमुखीति चतुर्विंशतिशक्तयो निगद्यन्ते** (गा०रह० ६)। क्षुरिकोपनिषद् के मं०क्र० १६ में इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों के सदृश इसे भी नाड़ी के रूप में कहा गया है-'**सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी**' अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी परम तत्त्व में लीन रहती है और विरजा नाड़ी तो ब्रह्मरूपा है। इस प्रकार से उपनिषदों में यह 'विरजा' नदी, नाड़ी एवं गायत्री की चौबीस शक्तियों में से एक शक्ति के रूप में प्रतिपादित है।

२४०. **विराट्—द्र०- स्वराट्-विराट्।**

२४१. **विरूपाक्ष—द्र०-अर्धनारीश्वर।**

२४२. **विश्व—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्राज्ञ एवं ब्रह्मविद्याखण्ड-विज्ञानात्मा।**

२४३. **विष्णुग्रन्थि—द्र०-रुद्रग्रन्थि।**

२४४. **वीतराग—** साधना की एक उच्चतम स्थिति, जिसमें राग-द्वेषादि समस्त वासनाओं का समापन हो जाता है। प्रख्यात कोशग्रन्थ हिन्दी विश्वकोश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार वर्णित है- **'वीतो रागो विषयवासना यस्य'** (हि०वि०को० खं० २१ पृ० ७५५) अर्थात् जिसकी रागादि समस्त विषयवासनाएँ समाप्त हो गयी हैं, वह वीतरागी है। जिसने राग या आसक्ति का सम्यक् रूप से परित्याग कर दिया हो, उसे ही वीतराग योगी कहा गया है। भगवान् बुद्ध को भी वीतराग के नाम से जाना जाता है। जैनों के प्रधान महावीर का नाम भी वीतराग है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा है- जो मनुष्य राग, भय एवं क्रोधादि से रहित अनन्यभाव से मेरे आश्रित हो जाते हैं, ऐसे वे ज्ञानरूप तप से पवित्र हुएं मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। यथा- **वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः। बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः** (गी०४.१०)। योग सम्बन्धी उपनिषदों में भी उपनिषद्कार ने वीतराग का विस्तृत विवेचन किया है। जाबालदर्शनोपनिषद् में इसकी इस प्रकार विवेचना की गयी है- .... **क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः। रागाद्यसंभवे प्राज्ञ पुण्यपापविमर्दनम्। तयोर्नाशे शरीरेण न पुनः संप्रयुज्यते** (जा०दर्श० ६.५०-५१) अर्थात् अज्ञान के नष्ट हो जाने पर राग-द्वेषादि का भी विनाश हो जाता है। राग आदि विषयों के न रहने पर पाप-पुण्य का भी विलय हो जाता है और पुण्य-पाप के न रहने से ज्ञानी मनुष्य को पुनः शरीर नहीं धारण करना पड़ता है। महोपनिषद् के छठे अध्याय के ६७ वें मन्त्र में वीतराग का विवेचन इस प्रकार किया गया है- **''अन्तः संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः। बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः''** अर्थात् (हे मनुष्यो!) सभी तरह की आशाओं को हृदय से निकालकर वीतराग तथा वासनारहित होकर बाह्य मन से सभी सांसारिक रीति-रिवाजों का सम्यक्रूप से पालन करते हुए जगत् में तापविहीन होकर विचरण करो। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधना आत्मसाक्षात्कारयोग की चरम स्थिति की प्राप्ति के लिए साधक में वीतराग का गुण नितान्त आवश्यक है। **'वीतरागी'** बने बिना कोई भी जीवन के इस चरमलक्ष्य (भगवत्साक्षात्कार) को नहीं प्राप्त कर सकता । महोपनिषद् के छठे अध्याय में वीतराग का विस्तार से विवेचन किया गया है।

२४५. **वेदत्रयी—** वेद ज्ञान के असीम भाण्डागार कहे गये हैं। वेद विश्व के सर्वाधिक प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वर्तमान में इनकी संख्या चार-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद है। पूर्वकाल में 'वेद' शब्द का प्रयोग संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् सहित सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के लिए होता था; किन्तु अब केवल संहिता के लिए ही वेद शब्द का प्रयोग होता है। संहिता अर्थात् मंत्र भाग भी पहले एक ही था। इसके पश्चात् इस मंत्र भाग के यज्ञों की आवश्यकतानुसार तीन विभाग किये गये, जो 'वेदत्रयी' कहलाये। स्तुतिपरक मंत्रों के संग्रह का नाम 'ऋग्वेद संहिता' यज्ञों की व्यवस्था से सम्बन्धित गद्यमय मंत्र अथवा वाक्यों के संग्रह का नाम 'यजुर्वेद संहिता' और उच्चस्वर में गायन किये जाने वाले मन्त्रों के संग्रह का नाम 'सामवेद संहिता' कहा गया। यही वेदों की तीन धाराओं के रूप में प्रख्यात हैं। इस प्रकार स्तुतिपरक (**ऋच्यते स्तूयते इति ऋचा**), गद्यात्मक (**गद्यात्मको यजुः**) एवं गायन परक (**गीतिषु सामाख्या**) होने से तीन धाराओं के रूप में विभाजित ये वेदत्रयी के रूप में प्रख्यात हैं। कालान्तर में प्रतिपाद्य विषय क्रम के अनुसार वेदव्यास जी ने वेदों को चार भागों में प्रविभक्त किया (**वेदान् विव्यास इति वेदव्यासः**) वे चार विभाग हैं- देवपरक स्तुतियाँ, यज्ञ, सामगान और सुखशान्तिदायी विविध प्रयोग। इन्हीं को आधार मान कर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का नामकरण हुआ। इसी को वेद चतुष्टयी कहा गया। सीतोपनिषद् के मन्त्र क्रमांक ३२ में वेदत्रयी को भगवान् विष्णु की वाणी के रूप में व्यक्त किया गया है, जो वैखानस ऋषि के हृदय से प्रादुर्भूत हुई, यथा- **वैखानस ऋषेः पूर्वं विष्णोर्वाणी समुद्भवेत्। त्रयीरूपेण संकल्प्य इत्थं देही विजृम्भते।**

२४६. **वेदान्त—द्र०-ज्ञानखण्ड-वेद-वेदान्त।**

२४७. **वैराग्य—द्र०-ज्ञानखण्ड।**

२४८. **वैश्वदेव—**बृहत् हिन्दी कोश में वैश्वदेव का अर्थ इस प्रकार अभिहित किया गया है- सभी देवों से सम्बन्ध रखने वाला, विश्वदेव के उद्देश्य से किया हुआ होम, यज्ञ; उत्तराषाढ़ा-नक्षत्र। प्रसिद्ध कोश ग्रन्थ हिन्दी विश्व कोश के खण्ड २२ में इस प्रकार कहा गया है-**विश्वदेवस्यायं विश्वदेव-अण्। विश्वदेव-सम्बन्धीय होमादि ।**

मनुस्मृति के तृतीय अध्याय में मनु ने कहा है- द्विजों को प्रत्येक दिन संस्कृत अग्नि में वैश्वदेव के उद्देश्य से सिद्ध अर्थात् पके हुए अन्न के द्वारा विधिपूर्वक हवन करना चाहिए। इसी अध्याय में वैश्वदेव होम की विधि का विस्तृत विवेचन भी किया गया है। गायत्री रहस्योपनिषद् के अन्तर्गत पाँचवीं कण्डिका में वैश्वदेव को गायत्री महामन्त्र के बीसवें अक्षर 'नः' का देवता कहा गया है-............... **विंशं वैश्वदेवम्** .....।

२४९. **वैष्णवी माया— द्र०-त्रिगुणमयी माया।**

२५०. **व्योमचक्र— द्र०-नवचक्र।**

२५१. **शंयोर्वाक्— द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।**

२५२. **शक्तिचालिनी मुद्रा**—योगशास्त्रों में मुद्राओं की संख्या दस (**इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्**-हठ०प्र० ३.७) बतलाई गई है। इन मुद्राओं का यौगिक क्रियाओं के जागरण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। शक्तिचालिनी मुद्रा इन्हीं के अन्तर्गत आती है। इसका उपयोग योगीजन कुण्डलिनी महाशक्ति को जाग्रत् करने में करते हैं। 'पातञ्जल योग प्रदीप' में इस मुद्रा को इस तरह विवेचित किया गया है- 'सिद्ध या पद्मासन से बैठकर हाथों की हथेलियाँ पृथ्वी पर जमा दे। बीस-पच्चीस बार धीरे-धीरे दोनों नितम्बों को पृथ्वी से उठा-उठा कर ताड़न करे। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर नासिका के दोनों छिद्रों से अथवा वाम से या फिर जो स्वर चल रहा हो, उस नासिका छिद्र से पूरक करके प्राणवायु को अपान वायु से संयुक्त करके जालन्धरबन्ध लगाकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करे। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा करे अर्थात् गुदा प्रदेश का आकर्षण-विकर्षण करता रहे। इसके बाद जालन्धरबन्ध खोलकर यदि दोनों नासिका छिद्रों से पूरक किया हो, तो दोनों से अथवा पूरक से विपरीत नासिका छिद्र से रेचक करे और विकाररहित हो एकाग्रतापूर्वक स्थित हो जाये।' घेरण्ड संहिता में इस मुद्रा को करते समय उक्त क्रिया के साथ बालिश्त-भर चौड़ा, चार अङ्गुल लम्बा, कोमल, श्वेत एवं सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर कटि सूत्र से आबद्ध कर समस्त शरीर पर भस्म मलने का उल्लेख है। प्रख्यात योग ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका के तृतीय उपदेश के श्लोक संख्या १०४ से लेकर ११३ तक में शक्तिचालिनी का विशद विवेचन किया गया है। इसमें शक्तिचालिनी को कुण्डलिनी का पर्याय कहा है। यहाँ पर कुण्डलिनी के सात पर्याय शब्द इस प्रकार कहे गये हैं- कुटिलाङ्गी, कुण्डलिनी, भुजङ्गी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती। योगकुण्डल्युपनिषद् में उपनिषद्कार ने यौगिक क्रियाओं द्वारा इसी कुण्डलिनी को जाग्रत् करने का वर्णन किया है। इस उपनिषद् में शक्तिचालिनी मुद्रा को कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करने में सहायक कहा है। सरस्वती चालन को भी इसी का पर्याय कहा गया है अर्थात् सरस्वती चालन द्वारा भी कुण्डलिनी जागरण की वही प्रक्रिया सम्पन्न होती है, जो शक्तिचालिनी मुद्रा द्वारा सम्पन्न होती है। इसी तथ्य का उल्लेख योगकुण्डल्युपनिषद् (१.१०) में इस प्रकार किया गया है- **'यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली'** अर्थात् जिस (सरस्वती चालन) के संचालन से कुण्डलिनी स्वयं गतिशील हो जाती है। इसी उपनिषद् के मन्त्र क्रमांक ९ में सरस्वती चालन को कुछ विद्वज्जनों ने अरुन्धती कहा है-**'अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती'**। इस मुद्रा के सिद्ध होने पर योगी के समस्त रोगों का शमन एवं उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति हो जाती है। यह मुद्रा कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करने में अत्यधिक सहायक कही गयी है।

२५३. **शब्द ब्रह्म—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।**

२५४. **शाम्भवव्रत—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।**

२५५. **शाम्भवीमुद्रा—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।**

२५६. **शिव-शक्ति—द्र०-अर्धनारीश्वर।**

२५७. **शीतलीप्राणायाम**—योगदर्शन में प्राणायाम की महत्ता का वर्णन विस्तार से मिलता है। योग ग्रन्थों में प्राणायाम की संख्या लगभग ९६ बतलायी गई है, उनमें से प्रमुख ९ प्राणायाम ही आजकल प्रचलित हैं। इन्हीं ९ प्राणायामों के अन्तर्गत शीतली प्राणायाम का भी उल्लेख मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं लोम-विलोम, सूर्यभेदन, उज्जायी, शीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा एवं प्लाविनी प्राणायाम। शीतली प्राणायाम का उल्लेख गोरक्ष संहिता व घेरण्ड संहिता में कुम्भक के रूप में इस प्रकार किया गया है- **सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा। भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भकाः** (गोरक्ष सं० १९५, घेर०सं०) अर्थात् क्रिया भेद से कुम्भक प्राणायाम के आठ भेद इस प्रकार हैं- सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा एवं केवली। शीतली प्राणायाम में

सर्वप्रथम दोनों नथुनों को बन्द करते हैं। ओठों को कौए की चोंच के समान बनाकर जिह्वा को उनमें से थोड़ा सा बाहर निकालते हैं। इसके बाद मुख द्वारा शनैः-शनैः वायु अन्दर खींचते हैं। यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नथुनों से धीरे-धीरे वायु बाहर निकाल देते हैं। यही शीतली प्राणायाम कहा गया है। यह शीतल प्रकृति का होता है। रूप-लावण्य में वृद्धि करता है। योग के प्रख्यात ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका के द्वितीय उपदेश के ५७-५८ वें श्लोक में भी शीतली प्राणायाम की क्रिया व गुणों का वर्णन मिलता है।

योगकुण्डल्युपनिषद् के २१ वें मन्त्र में उपनिषद्कार ने इस शीतली प्राणायाम को कुम्भक के अन्तर्गत इस प्रकार कहा है- **'सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका। भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः'** अर्थात् सूर्य भेदन, उज्जायी, शीतली एवं भस्त्रिका इन चार प्रकार के भेद से युक्त कुम्भक 'सहित कुम्भक' कहलाता है। इसी उपनिषद् के ३०-३१ वें मन्त्र में इसके गुणों एवं विधि का उल्लेख इस प्रकार किया गया है- **'जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु। शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः। गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम्। विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च'** अर्थात् शीतली प्राणायाम में जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर पूर्व की भाँति कुम्भक करके नासिका से वायु को धीरे-धीरे निकालना चाहिए। इसके करने से प्लीहा, गुल्म, पित्तज्वर, तृषा आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

२५८. **शुभेच्छा—द्र०-असंसक्ति।**

२५९. **शृंगार कला—द्र०-कामकला।**

२६०. **श्रद्धा—द्र०-ज्ञानखण्ड।**

२६१. **श्राद्ध—** कोश ग्रन्थों में श्राद्ध शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है-**श्रद्धा प्रयोजनमस्य** (हि०वि०को०खं० २३ पृ० २८५)। जिसका अभिप्राय यह है कि शास्त्रविधानोक्त पितृकर्म (पितरों के निमित्त जो कार्य किया जाता है) को श्राद्ध कहते हैं अर्थात् श्रद्धापूर्वक पितरों के उद्देश्य से अन्नादि का दान ही श्राद्ध है। श्राद्ध तत्त्व नामक ग्रन्थ में इसका उल्लेख इन शब्दों में है- **'संस्कृतव्यञ्जनाढ्यञ्च पयोदधिघृतान्वितम्। श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते'** (श्रा० त०, हि०वि०को०खं० २३ पृ० २८५)अर्थात् संस्कृत(शुद्ध)अन्न व्यञ्जनादि को दुग्ध, दही और घी से संयुक्त करके पितरों के उद्देश्य से (उन्हें आत्मिक शान्ति प्रदान करने के लिए)श्रद्धापूर्वक दिया जाता है, इसलिए यह श्राद्ध, कर्म कहलाता है। स्थिति भेद से यह बारह प्रकार का होता है,जिसे नित्य श्राद्ध,नैमित्तिक श्राद्ध,काम्य श्राद्ध,वृद्धिश्राद्ध, सपिण्ड श्राद्ध, पार्वण श्राद्ध, गोष्ठीश्राद्ध, शुद्ध्यर्थ श्राद्ध, कर्माङ्गश्राद्ध, दैविक श्राद्ध, यात्रार्थ श्राद्ध (अथवा तीर्थ श्राद्ध) और पुष्ट्यर्थ श्राद्ध नामों से जाना जाता है। इनमें प्रतिदिन किये जाने वाले श्राद्ध को **नित्य श्राद्ध** , किसी उद्देश्य विशेष से किये जाने वाले श्राद्ध को **नैमित्तिक श्राद्ध,** किसी विशिष्ट कामना के लिए किये गये श्राद्ध को **काम्य श्राद्ध,** वृद्धि(धनादि में वृद्धि)के उद्देश्य से किये जाने वाले को **वृद्धि श्राद्ध,** पिण्ड और अर्घ्य मिश्रित कर किये जाने वाले श्राद्ध को **सपिण्डश्राद्ध,** अमावस्या अथवा किसी निश्चित पर्व विशेष में किये जाने वाले श्राद्ध को **पार्वण श्राद्ध,** पितरों की तृप्ति के निमित्त गोष्ठ में किये जाने वाले श्राद्ध को **गोष्ठी श्राद्ध,** शुद्धि के निमित्त किये जाने वाले श्राद्ध को **शुद्ध्यर्थश्राद्ध,** गर्भाधान-सीमान्तोन्नयन आदि संस्कारों में जो श्राद्ध करते हैं, उसे **कर्माङ्ग श्राद्ध,** देवताओं के उद्देश्य से किये जाने वाले श्राद्ध को **दैविक श्राद्ध,** तीर्थादि देशान्तर भ्रमण के समय किये जाने वाले श्राद्ध को **यात्रार्थ श्राद्ध** (अथवा तीर्थ श्राद्ध) तथा शरीर की पुष्टि और अर्थोपार्जन के लिए किये जाने वाले श्राद्ध को **पुष्ट्यर्थ श्राद्ध** कहते हैं। श्राद्ध की तरह तर्पण भी एक तृप्तिकारक क्रिया है। हिन्दी विश्वकोश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है **'तर्पण ....तृप-प्रीणने'** अर्थात् तृप्ति, प्रीणन सन्तुष्ट होने की क्रिया। इसके और भी कई अर्थ हैं; पर इसका प्रयोग प्रायः जलदान देकर, देवर्षि, पितृ, मनुष्य आदि को तृप्त करने के अर्थ में किया जाता है। स्नान के तीन प्रकार नित्य, नैमित्तिक और काम्य होते हैं। तर्पण भी उसका आवश्यक अंग है। तीनों स्नान करते समय तर्पण आवश्यक है। श्राद्ध और तर्पण का नाम प्रायः एक साथ आता है, इसका कारण यही है कि दोनों ही तृप्त- सन्तुष्ट करने वाली क्रियाएँ हैं। श्राद्ध-तर्पण की तरह ही मार्जन भी एक क्रिया है,जो अन्तर्बाह्य परिष्करण के लिए की जाती है। मार्जन का सीधा अर्थ है धो-माँजकर साफ करना, शोधन करना। इसीलिए पूजा अनुष्ठानादि में कुशादि से जल छिड़ककर मंत्र पढ़ते हुए मार्जन क्रिया करके दोषक्षालन किया जाता है। तुलस्युपनिषद् में वर्णन है कि बिना तुलसी के यज्ञ, दान, जप, तीर्थ, श्राद्ध, तर्पण, मार्जन तथा देवार्चन आदि नहीं करना चाहिए- **यज्ञं दानं जपं तीर्थं श्राद्धं वै देवतार्चनम्। तर्पणं मार्जनं चान्यन्न कुर्यात्तुलसीं विना** (तुलसी०- १४)।

२६२. **श्रीचक्र**—द्र०-त्र्यक्षरीविद्या।

२६३. **श्रीबीज**—द्र०-त्र्यक्षरीविद्या।

२६४. **श्रीविद्या**—द्र०-त्र्यक्षरीविद्या।

२६५. **षट्चक्र**—द्र०-ज्ञानखण्ड-सप्तचक्र।

२६६. **षडंगन्यास**—द्र०-अङ्गन्यास।

२६७. **षड्गुण-षट्सम्पत्ति**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-उपरति।

२६८. **षोडशी याग**—द्र०-अतिरात्र यज्ञ।

२६९. **संवत्सर**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२७०. **संवर्तक अग्नि**—द्र०-कालाग्नि।

२७१. **संवित्**—सम्-विद्- क्विप् से निर्मित संवित् शब्द बहुअर्थी है, जिसके अङ्गीकार ज्ञान, सम्भाषा, क्रियाकारी, आचार, संकेत आदि कई अर्थ होते हैं। आध्यात्मिक सन्दर्भ में यह प्राय: चेतनता, चैतन्य ज्ञान और सम्यक् आध्यात्मिक ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। महोपनिषद् में सच्चिदानन्द परब्रह्म के दर्शन करने का साधन बताते हुए उपनिषद्कार ने जगत् में रहते हुए निर्विकार भाव से अनात्मा (आत्मा के अतिरिक्त सभी) का परित्याग करके सदैव आत्म चैतन्य (निरन्तर चैतन्य ज्ञान- संवित्) में रमण करने का निर्देश दिया है- **अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ। एकनिष्ठतयाऽन्तःस्थःसंविन्मात्रपरो भव।** (महो० ४.८३)। इसका उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार मरुस्थल में भ्रमपूर्वक दिखाई देने वाला जल वस्तुत: स्थल ही रहता है, ठीक उसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से युक्त इस संसार को आत्मचिन्तन (सर्वत्र आत्मदर्शन) के द्वारा चिन्मय (चैतन्य) ही समझना चाहिए- **मरुभूमौ .... सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः** (महो० ४.८४)। इस चैतन्य रूप संवित् (ज्ञान) की अखण्डाकार वृत्ति का जो अभ्युदय होता है अर्थात् उस चैतन्य ज्ञान की अनवरत अनुभूति होती है, उसी को 'ब्रह्म सम्पत्ति' भी कहा गया है, जैसा कि पाशुपतब्रह्मोपनिषद् के भाष्य में उल्लिखित है-'**स्वेन रूपेण ....स्वमात्रमवशिष्यत इति या संविदखण्डाकारवृत्तिरुदेति सेयं ब्रह्मसम्पत्तिं करोतीति** .....(पा०ब्र०उ०का० १ ब्र०भा०)। इसी उपनिषद् में यज्ञांग को भी 'ब्रह्म सम्पत्ति' कहा गया है। यहाँ यज्ञांग का तात्पर्य परमात्मतत्त्व के अनुसन्धान में संलग्न अन्तर्यज्ञ नामक 'सम्यक् ज्ञान' है- यही ब्रह्म सम्पत्ति का हेतु है। जैसा कि उपनिषद् भाष्यकार ब्रह्मयोगी जी ने कहा है— **(तद्ब्रह्म) अनुसन्धानात्मकान्तर्यज्ञाभिधानाङ्गं सम्यक् ज्ञानमंगिब्रह्मसम्पत्तिहेतुः ....** (पा०ब्र०पू०का०२२ ब्र०भा०)। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** आदि महावाक्यों का यही तत्त्वार्थ है कि सबको (जड़-चेतन सभी को) परमात्मा और आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी न समझे। यही आत्मदृष्टि है। इसी से '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' का तथ्य व्यवहार में उतरता है और सबसे अपने समान अर्थात् वैसा ही व्यवहार किया जाता है, जैसा हम औरों से अपने लिए चाहते हैं। फिर-'**सीय राम मय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी**' का तत्त्वदर्शन गले उतरता है और ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दीखता। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को सब भूतों में अपने को स्थित बताकर इस तथ्य की पुष्टि की है-**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते** (गी० ६.३१)। इसी से एक श्लोक पूर्व में उन्होंने अपने को सबमें और सबको अपने में देखने वाले के लिए कहा है कि मैं कभी उसके लिए अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता- **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति-**(गी० ६.३०)। इस प्रकार उस परमात्मा को तत्त्वत: जानने वाले तत्त्वनिष्ठ सर्वत्र उसे ही देखते हैं। उसके जन्म और कर्मों को दिव्य मानते हुए देह त्यागकर पुन: जन्म नहीं लेते-**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन** (गी० ४.९)। गीता के अनुसार भगवान् को तत्त्व से जानने का अर्थ उनकी अष्टधा प्रकृति (जिसका वर्णन अलग से अपराशक्ति शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है) और अपराशक्ति (चैतन्यशक्ति) से ही इस सृष्टि का आविर्भाव हुआ है। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह समझना और उसी के अनुसार व्यवहार करना है। अक्ष्युपनिषद् में वर्णित है कि प्रकृति से निर्मित समस्त प्रपञ्च जड़ हैं और आदि, मध्य तथा अन्तवाला होने से दु:खदाई है, अत: अपने को सदैव चैतन्य आत्मा (चिदात्मा) मानकर तत्त्वनिष्ठ रहना चाहिए अथवा तत्त्वज्ञान में अवस्थित रहना चाहिए-**आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः। तस्मात् सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवानघ** (अक्षि० २.४६.४७)।

इसी उपनिषद् में योग की सातवीं भूमिका विदेहमुक्ति की चर्चा करते हुए उपनिषद्कार ने कहा है कि तत्त्वनिष्ठ बनकर स्वयं को अन्धकार से अतीत, समस्त आभासों से रहित, आनन्दस्वरूप, निर्मल, शुद्ध मन, वाणी से अगोचर,प्रज्ञानघन [(घनप्रज्ञ जीव की तीन संज्ञाओं विश्व, प्राज्ञ और तैजस में विश्व, बहिष्प्रज्ञ, तैजस अन्त:प्रज्ञ और प्राज्ञ घन प्रज्ञ है) अर्थात् अज्ञानोपहित चैतन्य, आनन्द की अनुभूति करने वाला चैतन्य आत्मा] आनन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ, ऐसी भावना करे- **आनन्दममलं शुद्धं मनोवाचामगोचरम्। प्रज्ञानघनमानन्दं ब्रह्मास्मीति विभावयेत्** (अक्षि० ४८)।

२७२. **संस्कार**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२७३. **सच्चिदानन्द**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२७४. **सत्त्वापत्ति**—द्र०-असंसक्ति।

२७५. **सदाशिव**—द्र०-अर्धनारीश्वर।

२७६. **सद्गुरु**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२७७. **सनातन ब्रह्म**—द्र०-कालातीत।

२७८. **सन्ध्या**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२७९. **सरस्वती चालन**—द्र०-शक्तिचालिनी मुद्रा।

२८०. **सर्वान्तर्यामी**—यह शब्द ईश्वर के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। हिन्दी विश्व कोश के अनुसार-जो सबके अन्तर्मन की बात जानते हैं, जो समस्त भूत-प्राणियों के अन्त:करण में विद्यमान रहते हैं, उन्हें ही सर्वान्तर्यामी कहते हैं। गीता में भी भगवान् ने अर्जुन को संबोधित करते हुए कहा है कि मैं (ईश्वर) ही समस्त भूतों (प्राणियों) के हृदय क्षेत्र में प्रतिष्ठित रहता हूँ। यथा- **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया** (गी० १८.६१) इसी तरह श्वेताश्वतर उपनिषद् के अध्याय ६ के ग्यारहवें मन्त्र में सर्वत्र संव्याप्त रहने वाली ईश्वर की सत्ता को सभी प्राणियों के अन्त:करण में स्थित कहा है- **'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च** (६.११) अर्थात् सम्पूर्ण भूतों में वह एक ही देव प्रतिष्ठित है, वह सर्वव्यापक, सर्वभूतान्तरात्मा, सबके कर्मों का अधिष्ठाता, सभी प्राणियों में वास करने वाला, सबका साक्षी, पूर्ण चैतन्य, विशुद्धरूप एवं निर्गुण स्वरूप वाला ईश्वर है। नृसिंह पूर्वतापिन्युपनिषद् के १.१२ में भी यही शब्द ऋत एवं सत्य स्वरूप भगवान् नृसिंह के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। यहाँ पर नृसिंह भगवान् को परब्रह्म पुरुष, सर्वान्तर्यामी एवं सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में विवेचित किया गया है।

२८१. **सविकल्पक समाधि**—द्र०-ज्ञानखण्ड -समाधि।

२८२. **सविता**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२८३. **सविशेष ब्रह्म**—द्र०-कालातीत।

२८४. **सहजसमाधि**— योग के ग्रन्थों में समाधि के दो रूपों का वर्णन मिलता है। प्रथम अष्टाङ्ग योग की चरमावस्था वाली स्थिति जो सविकल्प और निर्विकल्प दो रूपों में बताई गई है। द्वितीय इस औपचारिक साधना से भिन्न सहज ढंग से प्राप्य समाधि। जो कि सामान्य जीवन क्रम को अपनाकर कोई असामान्य साधना उपक्रम न करते हुए, साधारण कार्यों को नियमित रूप से करते हुए जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर लेना। कबीरदास जी ने इसी अवस्था को जीवन में अनुभव करते हुए कहा है-**'साधो सहज समाधि भली'**। इसी सहजावस्था का उल्लेख महोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के ६१ वें एवं ६२ वें मन्त्र में इस प्रकार किया गया है-**'उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यसगर्भिणी। आनन्दस्यन्दिनी यैषा समाधिरभिधीयते॥ दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे। रतिर्बलोदिता याऽसौ समाधिरभिधीयते'** अर्थात् जो सुन्दर औदार्य एवं वैराग्य-रस से ओत-प्रोत आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे ही समाधि कहा जाता है। जब यह ज्ञात हो जाता है कि दृश्य पदार्थों की सत्ता है ही नहीं और राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण दोषों की समाप्ति पूरी तरह से हो जाती है, तब उस समय अभ्यास बल के द्वारा जो एकाग्र-रति (आनन्द) प्रकट होती है, उसे ही समाधि कहते हैं। इन दोनों मन्त्रों में समाधि की जो अवस्था वर्णित है, वह अष्टाङ्गयोग में प्रतिपादित समाधि से भिन्न है। यहाँ समाधि की जिस स्थिति का उल्लेख किया गया है, उसे 'सहज समाधि' की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। सामान्य साधक के लिए यह सहज समाधि ही श्रेष्ठ है। समाधि की औपचारिक प्रक्रिया का विशद वर्णन १०८ उपनिषद् 'ज्ञानखण्ड' के परिशिष्ट में किया जा चुका है।

२८५. **सहजावस्था**— सामान्य जीवन क्रम को व्यवस्थित बनाने के लिए योग का प्रादुर्भाव हुआ। योग-साधना की पराकाष्ठा ही सहजावस्था कहलाती है। यह योग की ऐसी अवस्था है, जिसमें साधक हर स्थिति में समान बना रहता है, जैसे- मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, खान-पान, रहन-सहन, जाति-पाँति, जीवन-क्रम के हर उतार-चढ़ाव में। यह अवस्था साधक के पूर्व जन्म के श्रेष्ठ संस्कारों व इस जन्म में महान् पुरुषों और गुरुकृपा से ही प्राप्त होना संभव है। गीता का समत्व योग, ब्राह्मी स्थिति एवं स्थित- प्रज्ञ आदि इस सहजावस्था के उदाहरण हैं। उपनिषद्कार ने महोपनिषद् में इस अवस्था का विशद विवेचन किया है। वहाँ कहा गया है कि बन्धन एवं मोक्ष के दो ही कारण हैं; पहला ममता युक्त होना, दूसरा ममता हीन होना- **द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च। ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते** (महो० ४.७२)। जब व्यक्ति मोह-ममता से परे हो जाता है, उसमें बोध (ज्ञानप्राप्ति) की क्षमता उत्पन्न हो जाती है और समस्त कर्मों (काम्यकर्मों) से विरत हो जाता है, तब वह स्वयमेव सहजावस्था प्राप्त कर लेता है-**उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः। योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते** (महो० ४.७८)। इस अवस्था को अत्यधिक दुर्लभ बतलाया गया है। उच्चतम योग की स्थिति होने पर अथवा महान् गुरु की जब कृपा हो, तभी सहजावस्था की स्थिति बनती है- '**दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना**' (महो० ४.७७) अर्थात् सद्गुरु की अनुकम्पा के अभाव में सहजावस्था को प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। उनकी करुणा से ही इस अवस्था की प्राप्ति संभव है।

२८६. **सहस्त्रदल कमल—द्र०-ज्ञानखण्ड -सप्तचक्र।**

२८७. **सामीप्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविध मुक्ति।**

२८८. **सायुज्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविध मुक्ति।**

२८९. **सारूप्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविध मुक्ति।**

२९०. **सालोक्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविध मुक्ति।**

२९१. **सावित्री—द्र०-ज्ञानखण्ड।**

२९२. **सावित्री विद्या—द्र०-ज्ञानखण्ड -सावित्री।**

२९३. **सिद्ध-सिद्धि—द्र०- अष्टसिद्धि।**

२९४. **सुदर्शनचक्र—द्र०-महाचक्र-सुदर्शनचक्र।**

२९५. **सुषुप्तघन—द्र०-असंसक्ति।**

२९६. **सुषुप्त पद भूमिका—द्र०-असंसक्ति।**

२९७. **सुषुम्ना—द्र०-ज्ञानखण्ड-सुषुम्ना नाड़ी।**

२९८. **सूक्तवाक्—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।**

२९९. **सूक्ष्म शरीर—द्र०-ज्ञानखण्ड-त्रय-शरीर।**

३००. **सूर्याकाश—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-व्योमपञ्चक।**

३०१. **सौभाग्यलक्ष्मी विद्या—द्र०-त्र्यक्षरी विद्या।**

३०२. **स्तोम—द्र०-त्रिवृत् स्तोम।**

३०३. **स्थूल प्रकृति**—स्थूल प्रकृति को जानने से पूर्व प्रकृति को जानना आवश्यक है। कोशग्रन्थों के अनुसार-प्रकृति के मुख्य अर्थ निम्नवत् हैं- स्वभाव, मूल अथवा प्रधान गुण जो सदैव बना रहे। भगवान् की मायाख्या शक्ति को भी प्रकृति कहा गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में परा एवं अपरा भेद से दो प्रकार की प्रकृति का वर्णन मिलता है। सत्त्व, रज एवं तमोगुण की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। सांख्य दर्शन के अनुसार-प्रकृति ही जगत् का मूल अथवा बीज है। प्रकृति द्वारा ही विश्वब्रह्माण्ड का प्राकट्य हुआ। शास्त्रानुसार-आत्मा (पुरुष) से भिन्न आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त जगत् प्रकृति है। योगचूडामण्युपनिषद् में परमात्मा की इसी स्थूल प्रकृति के द्वारा शरीर रूपी जगत् के प्राकट्य का उल्लेख मिलता है। यहाँ स्थूल प्रकृति के रूप में उन घटकों को स्वीकार किया गया है, जो स्थूल शरीर के निर्माण और उसकी सक्रियता में विशेष भूमिका निभाते हैं, यथा- ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय, ज्ञान के विषय, पंच-प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार

आदि। उपनिषद्कार लिखते हैं-**पंचभूतसमवायः शरीरम्। ज्ञान कर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपंचवायुमनो-बुद्धिचित्ताहंकारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते** (यो०चू० ७२)।

३०४. **स्रुवा—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।**

३०५. **स्वप्न भूमिका—द्र०-असंसक्ति।**

३०६. **स्वयंभुव—द्र०-ज्ञानखण्ड-स्वयम्भू-परिभू।**

३०७. **स्वर**—वेदों में तीन प्रकार के स्वरों का उल्लेख है- प्रथम उदात्त, द्वितीय अनुदात्त और तृतीय स्वरित। ध्वनित या शब्दित होने के कारण इन्हें स्वर कहते हैं। उपनिषदों के अन्तर्गत छान्दोग्य २.२२.५ एवं तैत्तिरीय १.२.१ में स्वर अ, आ आदि ध्वनियों का बोधक कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे आदित्य, प्राण, पशु, श्री, प्रजापति एवं अनन्त के रूप में वर्णित किया गया है, यथा-**'य आदित्यः स्वर एव सः'** (जै०उ०ब्रा० ३.३३.१), **'प्राणाः स्वरः'** (तां० ब्रा० ७.१.१०) इत्यादि। हिन्दी वर्णमाला में ११ स्वर इस प्रकार हैं- अ, आ,इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ एवं औ। संगीत शास्त्र के अन्तर्गत भी सात स्वरों का वर्णन मिलता है। ये सात स्वर इस प्रकार हैं- षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत एवं निषाद्। उपनिषद् (योग चूड़ामणि उपनिषद्) में जिस 'स्वर' का विवेचन है, वह एक अलग विषय है। वह है साधना के क्षेत्र में 'स्वर' (श्वास-प्रश्वास) प्रक्रिया का विशेष योगदान। इसका प्रचलित नाम प्राणायाम है। प्राणायाम की क्रिया नासिका के बायें-दायें छिद्रों से श्वास ग्रहण करने, रोकने और निकालने से सम्पन्न होती है। नासिका के बायें-दायें छिद्र से श्वास-प्रश्वास पर विशेष नियन्त्रण करना स्वर-साधना कहा जाता है। बायें छिद्र से ग्रहण की गई वायु 'चन्द्र स्वर' तथा दायें स्वर से ग्रहण की गई वायु 'सूर्य स्वर' के अन्तर्गत मानी जाती है। इसी को क्रमशः इड़ा स्वर और पिंगला स्वर भी कहा जाता है। योग के ग्रन्थों में स्वर-साधना का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। योग चूड़ामणि उपनिषद् के रचयिता ने भी इसका उल्लेख करते हुए कहा है-अभ्यास क्रम में सर्वप्रथम बायीं नासिका 'चन्द्रअंश' से श्वास खींचकर रेचक करते हुए अभ्यास करे, फिर दायीं नासिका 'सूर्यअंश' से श्वास खींचकर रेचन का अभ्यास करना चाहिए। जब दोनों स्वरों की संख्या (चन्द्र-सूर्य) समान हो जाए, तब अभ्यास बन्द कर देना चाहिए-**चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत् पुनः। या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्** (यो०चू० ६७)।

३०८. **स्वराट्-विराट्**— जो स्वयं दीप्तिमान्, प्रकाशमान हो और निरन्तर दूसरों को आलोकित करता हो, वही स्वराट् है तथा जो सबसे विशाल हो, जिसमें सबका समावेश हो जाए, उसे 'विराट्' कहा जा सकता है; परन्तु ये दोनों शब्द यहाँ 'छन्द' के प्रकरण में प्रयुक्त हुए हैं। छन्दः शास्त्र के अनुसार-वैदिक छन्दों के अन्तर्गत स्वराट् एवं विराट् की भी गणना होती है। ये दोनों वैदिक छन्द विशेष के रूप में प्रख्यात हैं। जिस छन्द के प्रत्येक द्विपाद में आठ अक्षर एवं एक पाद में दशाक्षर हों, उसे ही स्वराट् (स्वराज्) कहते हैं (हि०वि०को०पृ० सं० ५९५)। छन्दः शास्त्र के तृतीय अध्याय के पृष्ठ १९ में विराट् का लक्षण इस प्रकार से वर्णित है- **'दशकास्त्रयो विराट्'** (ऋ० सर्वा० ६) अर्थात् दश अक्षरों के तीन पादों वाले वैदिक छन्द का नाम विराट् (विराज्) है। वेद-उपनिषदादि ग्रन्थों में 'विराट्' की एक समग्र एवं विशिष्ट अवधारणा भी है। जिसे 'विराट् पुरुष' के नाम से जाना जाता है। प्रसिद्ध पुरुषसूक्त (ऋ० १०.१९०; यजु० ३१वें अध्याय) में उस विराट् पुरुष का व्यापक स्वरूप प्रकट हुआ है। १०८ उपनिषद् 'ज्ञानखण्ड' के परिशिष्ट में इसका विस्तृत विवरण देखा जा सकता है। गायत्री रहस्योपनिषद् के चौथे-पाँचवें मन्त्र में इन दोनों छन्दों को परब्रह्म के रूप में विवेचित किया गया है- ....**स्वराट् विराट् वषट् ब्रह्मरूपेति** (गा०रह० ४-५)।

३०९. **स्वाधिष्ठान चक्र—द्र०-नवचक्र।**

३१०. **स्वेदज—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड -कला।**

३११. **हठयोग—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।**

३१२. **हिरण्यगर्भ—द्र०-ज्ञानखण्ड।**

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ षोडशारं षोडशपत्रं	नृ०पूर्व० ५.५	अधमे द्वादश मात्रा	यो०चू० १०४
अथ सनत्कुमार: पप्रच्छ	काल०रु० ४	अधमे व्याधिपापानां	त्रि०ब्रा० २.१०६
अथ सावित्री गायत्र्या	नृ०पूर्व० ४.८	अधमे स्वेदजननं	यो०चू० १०५
अथ सूर्याथर्वाङ्गिरसं	सूर्य० १	अधश्च चुबुकं मूलं	यो०कुं०२.३४
अथ ह वै स्वयंभूर्ब्रह्मा	पा०ब्र० १.१	अधस्तात्कुञ्चनेनाशु	यो०कुं० १.५२
अथ ह सांकृतिरादित्यं	अक्षि० २.१	अधिष्ठानं समस्तस्य	रुद्रहृ० ४८
अथ ह सांकृतिर्भगवान्	अक्षि० १.१	अधिष्ठानमनौपम्यम्	पा०ब्र०२.२८
अथ हैतानि नामानि	राधा० ३	अधिष्ठानमनौपम्याम...	महो० ४.८६
अथ हैनं कालाग्निरुद्रं	रुद्र०जा० १	अधोगतिमपानं वै	यो०कुं०१.४२
अथ हैनं देवा ऊचुर्नव	सौ०ल०३.१	अध्यात्म ब्रह्मकल्प	पा०ब्र०२.२
अथ हैनं देवा ऊचुस्तुरीयया	सौ०ल०२.१	अध्यात्ममधिदैवं च	सर०रह० १६
अथ हैनं पैप्पलादो	शरभ० १	अध्यात्मरतिरासीन:	महो० २.४७
अथ हैनं भगवन्तं	रुद्र०जा०२६	अनन्तवासुकितक्षक	गरुड० २४
अथाकाशोऽन्त:करण ...	त्रि०ब्रा०१.५	अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य	महो० ५.१७८
अथात:सर्वोपनिषत्सारं	प्रा० हो० १	अनन्योद्वेगकारीणि	अक्षि० २.६
अथातो गायत्री.......	गा०रह०२	अनया तीक्ष्णया तात	महो० ६.३२
अथातोऽद्वय तारको	अद्व०ता०१	अनया दुरहंकृत्या	महो० ५.९४
अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति	सीता० ९	अनया विद्यया योगी	यो०कुं० २.१६
अथातो महोपनिषदं	महो० १.१	अनया सदृशं पुण्यं	ध्या०बि० ६५
अथातो वीरशक्तिश्चतुर्भुजा	सीता० ३७	अनया सदृशी विद्या	यो०चू०३४
अथात्मनिर्णयं	ध्या०बि० ९३-१	अनाख्यत्वादगम्यत्वान्मन:	महो० २.३
अथापरं प्रवक्ष्यामि	महो० ५.१	अनाख्यमनभित्यक्तं	यो०कुं०३.२५
अथापिधानमस्यमृतत्वा	प्रा०हो० १३	अनागतानां भोगानाम्	महो० ५.१७१
अथाष्टारमष्टपत्रं	नृ०पूर्व० ५.३	अनात्मतां परित्यज्य	महो० ४.८३
अथाहं संप्रवक्ष्यामि	यो०कुं०२.१	अनावित्येष बाह्यात्मा	प्रा०हो० १७
अथेत्थं भूततन्मात्रवेष्टितं	महो० ५.१५२	अनाहतं तु यच्छब्दं	ध्या०बि० ३
अथैवं स्तुतिभि:	गो०पूर्व० ४६	अनाहतं विशुद्धिं च	यो०कुं० ३.१०
अथो य इषुधिस्तवारे	नी०रुद्र० २.८	अनिरुद्धं हरिं योगी	त्रि०ब्रा० २.१४३
अथो ये अस्य सत्वान:	नी०रुद्र० २.३	अनुपनीतशतमेकमेकेन	नृ०पूर्व० ५.१९
अथोवाच याश्च मृत्यो:	अक्ष० १३	अनुरक्ति: परे तत्त्वे	त्रि०ब्रा० २.२९
अथोवाच ये देवा:	अक्ष० ६	अनेकाकारखचितम्	त्रि०ब्रा० २.१५४
अथोवाच ये देवा अन्तरिक्ष ..	अक्ष० ७	अनेजदेकं मनसो	गो०पूर्व० ४८
अथोवाच ये देवा दिविषद:	अक्ष० ८	अनेन क्रमयोगेन	अक्षि० २.२५
अथोवाच ये ब्रह्मविष्णु ...	अक्ष० १०	अनेशत्रस्येषव	नी०रुद्र० २.७
अथोवाच ये मन्त्रा या	अक्ष०९	अन्त: प्रणवनादाख्यो	पा०ब्र० २.३
अथोवाच ये शैवा वैष्णवा:	अक्ष० १२	अन्त:शीतलया बुद्ध्या	महो० ६.४३
अथोवाच ये सांख्यादितत्त्व..	अक्ष० ११	अन्त: संव्यक्तसर्वाशो	महो० ६.६७
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष	देवी० १३	अन्तरात्मा भवेद्ब्रह्मा	रुद्रहृ० १२
अदृष्टपारपर्यन्ते प्रथमं	महो० ५.१६०	अन्तरास्थां परित्यज्य	महो० ६.१
अद्वैतं परमानन्दं	रुद्रहृ० ४७	अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं	सर०रह० ५३
अद्वैते स्थैर्यमायाते	अक्षि० २.३१	अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ	अद्व०ता० १२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ऋतमात्मा परं ब्रह्म	महो० ४.४५	एवं पुनः पुनः कार्यं	त्रि०ब्रा० २.९८
ऋषयः ऊचुः कथं	सर०रह० ३	एवं पृष्टेन मुनिना	महो० २.१६
ऋषयो ह वै	सर०रह० १	एवं प्रकारेण बहुधा	शरभ० १६
एकं चरणमन्यस्मिन्	त्रि०ब्रा० २.३७	एवंभूतं जगदाधारभूतं	रामपूर्व० ५.८
एकं ब्रह्म चिदाकाशं	महो० ५.५६	एवं मुहूर्तत्रयं	भाव० ४
एकं वा सर्वयत्नेन	महो० ४.३	एवं रूपपरिज्ञानं	रुद्रहृ० ५०
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं	यो०चू० ३	एवं रूपा परा विद्या	पा०ब्र० २.३२
एक एव शिवो नित्यस्ततो	शरभ० ३३	एवं वर्षत्रयं कृत्वा	यो०कुं० २.४२
एकदन्तं चतुर्हस्तं	गण० ११	एवं विद्वान् कृतकृत्यो	सावि० १५
एकदन्ताय विद्महे	गण० १०	एवं विशोध्य तत्त्वानि	त्रि०ब्रा० २.१६३
एकदा सोऽमलप्रज्ञो	महो० २.१४	एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं	यो०चू० ७९
एकात्मकमखण्डं तदित्यन्तः	महो० ५.११८	एवं समभ्यसेद्वायुं	यो०कुं० ३.१३
एकादशपदा वा	नृ०पूर्व० २.७	एवं सर्वाणि भूतानि	ध्या०बि० ६
एकादशमुखं त्वक्षं	रुद्र०जा० ३९	एवं स्वरूपविज्ञानं	पा०ब्र० २.३४
एका स आसीत्प्रथमा	त्रिपुरा० ३	एवमङ्गीकरोच्छिवः	शरभ० १८
एकाहमात्रं कुर्वाणः	त्रि०ब्रा० २.१०२	एवमात्मा यथा यत्र	महो० ४.४३
एकोदण्डद्वयं मध्ये	यो०रा० २०	एवमादीन्यरिष्टानि	त्रि०ब्रा० २.१२८
एको विष्णुर्महद्भूतं	शरभ० २७	एवमुद्देशतः प्रोक्तं	रामपूर्व० ४.४०
एतच्चतुष्टयं विद्धि	यो०रा० ३	एवमेकाक्षरं मंत्रं यतयः	देवी० २१
एतत्पैप्पलादं महाशास्त्रं	शरभ० ३९	एष एत्यवीरहा रुद्रो	नी०रुद्र० १.३
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं	ध्या०बि०६३	एष एव मनोनाशः	महो० ४.१०९
एतत्सुदर्शनं महाचक्रं	नृ०पूर्व० ५.८	एषात्मशक्तिः। एषा	देवी० १५
एतदथर्वशिरो योऽधीते	गण० १६	एषा वै हरेः सर्वेश्वरी	राधा० २
एतद्विज्ञानमात्रेण	पा०ब्र० २.७	एषा हि चञ्चलास्पन्द...	महो० ४.९९
एतद्विष्णोः परमं पदं	गो०पूर्व० २१	एषा हि जीवन्मुक्तेषु	महो० ५.३५
एतन्नाडीमहाचक्रं	यो०चू० १८	एषा हि परिमृष्टान्तः	अक्षि० २.२८
एतस्मा एव पञ्चपदाद्	गो०पूर्व० २४	ऐं अम्बितमे नदीतमे	सर०रह० ३५
एतस्यैव यजनेन	गो०पूर्व० २६	ऐं चत्वारि वाक् परिमिता	सर०रह० २३
एतामहंभावमयीम्	महो० ६.४०	ओंकारं यो न जानाति	ध्या०बि० १४
एते नाडीसहस्रेषु वर्तन्ते	ध्या०बि०५८	ओंकारध्वनिनादेन	ध्या०बि० २३
एतेषां नवचक्राणामेकैकं	यो०रा०१९	ओंकारप्रभवा देवा	ध्या०बि० १६
एतेषां प्रथमः प्रोक्तः	महो० ६.५९	ओङ्कारेणान्तरितं ये	गो०पूर्व० २३
एतेषां लक्षणं वक्ष्ये	यो०कुं० १.३	ओड्याणं कुरुते	यो०चू० ४८
एनं मनोमणिं ब्रह्मन्	महो० ५.८३	ओमङ्कार मृत्युंजय	अक्ष० ५
एवं क्रमेण षाण्मासं	यो०कुं० २.३१	ओमथोर्ध्वं मन्थिन	राधा० १
एवं जीवो हि	महो० ५.१२७	ओमित्यग्रे व्याहरेत्	नारा० ३
एवं त्रिपुण्ड्रविधिं भस्मना	काल०रु० ९	ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म	ध्या०बि० ९
एवं द्वादशाङ्गानि	त्रि०ब्रा० १.८	ओमित्येतदक्षरमिदं	नृ०पूर्व० ४.३
एवं द्वारं समाश्रित्य	यो०चू० २१	ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं	नृ०पूर्व० २.५
एवं ध्यायति यो नित्यं	गण० १४	ओमीं ब्रह्मविद्याममावास्यायां	गरुड० १२
एवं नाडीमयं चक्रं	ध्या०बि० ५४	ओमीं सचरति	गरुड० ९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
केवलं सुसमः स्वच्छो	महो० २.२७	गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्य ..	गा०रह० ६
केशकज्जलधारिण्यो	महो० ३.४३	गायत्री वा इदं सर्वं	नृ०पूर्व० ४.१२
केशव क्लेशहरण	गो०पूर्व० ४५	गारुडब्रह्मविद्यां	गरुड० १
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति	यो०कुं० २.३५	गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थि	यो०कुं० १.३९
केसरे चाष्टपत्रे च	रामपूर्व० ४.४५	गुदं नियम्य गुल्फाभ्यां	यो०कुं० २.३८
कोशमाशाभुजङ्गानां	महो० ५.१६६	गुरुभक्ताय दान्ताय	शरभ० ३७
कोऽहं कथमिदं चेति	महो० ४.२१	गुरुभक्तिसमायुक्तः	अद्व०ता० १५
क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं	यो०चू० ८६	गुरुरेव परं ब्रह्म	अद्व०ता० १७
क्रियाकर्मेज्यकर्तृणां	रामपूर्व० १.१२	गुरुरेव पराकाष्ठा	अद्व०ता० १८
क्रियायोगमथेदानीं	त्रि०ब्रा० २.२४	गुरुवाक्यसमाभिन्ने	यो०कुं० ३.१७
क्रियाशक्ति स्वरूपं	सीता० २०	गुरुशास्त्रोक्तमार्गेण	महो० ४.२५
क्रीडते बालको भूत्वा	कृष्ण० १८	गुरुस्तस्मै परां विद्यां	रुद्रह० ३६
क्रूरेण जडतां याता	महो० ३.१९	गुरूपदेशलभ्यं च	यो०कुं० २.२१
क्रोधं क्रोणाग्रान्तरेषु	रामपूर्व० ४.४४	गुल्फौ च वृषणस्याधः	त्रि०ब्रा०२.४५
क्लीं यद्वाग्वदन्ति	सर०रह० २६	गुल्फं जलोदरः प्लीहा	यो०कुं० १.१८
क्वचित्प्रकृतिरित्युक्तं	महो० ५.१३१	गुल्मदेशसमीपे च	यो०कुं० १.४९
क्वचिद्बन्धः इति ख्यातं	महो० ५.१३२	गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं	यो०कुं० १.३१
क्वचिद्वा विद्यते यैषा	महो० ३.३७	गुशब्दस्त्वन्धकारः	अद्व०ता० १६
क्वचिन्मनः क्वचिद्बुद्धिः	महो० ५.१३०	गृहीततृष्णाशबरी	महो० ६.३१
क्वैतानि न्यस्यानि	नृ०षट्० ७	गोकुलं वनवैकुण्ठं	कृष्ण० ९
क्षणमायाति पातालं	महो० ३.२४	गोपगोपाङ्गनावीतं	गो०पूर्व० ९
क्षमा धृतिर्मिताहारः	त्रि०ब्रा० २.३३	गोपरूपो हरिः	कृष्ण० १०
क्षयकुष्ठ गुदावर्त	यो०चू० ६९	गोप्यो गाव ऋचस्तस्य	कृष्ण० ९
क्षीरोदार्णवशायिनं	नृ०पूर्व० १.१०	ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव	यो०कुं० २.९
क्षुधा क्रोधिन्यमोघा	रामपूर्व० ४.५९	ग्रहणे विषुवे चैवमयने	रुद्र०जा० ४४
खगरज्जुवदित्येतद्यो	ध्या०बि० ६१	ग्राम्यासु जडचेष्टासु	अक्षि० २.५
खेचराधिपतिर्भूत्वा	यो०कुं० २.१७	ग्राह्यभावे मनः प्राणो	त्रि०ब्रा० २.१६४
खेचर्या मुद्रितं येन	यो०चू० ५७	घटाकाशमठाकाशौ	रुद्रह० ४३
खेदोल्लासविलासेषु	महो० ६.३	घटिकाविंशतिस्तस्माद्	त्रि०ब्रा० २.१४१
गकारः पूर्वरूपम्	गण० ९	चक्षुः पश्यति	पा०ब्र० २.९
गगनं पवने प्राप्ते	यो०चू० ११५	चतुरस्त्रमुपर्यग्रेरधो	ध्या०बि० ४७
गगनो मम त्रिशक्ति	पा०ब्र० १.९	चतुर्णामपि भेदानां	यो०कुं० १.४०
गणक ऋषिः निचृद्गायत्री	गण० ९	चतुर्दशमुखं चाक्षं	रुद्र०जा० ४२
गणादिं पूर्वमुच्चार्य	गण० ७	चतुर्भिः क्लेशनं	त्रि०ब्रा० २.९५
गदा च कालिका साक्षात्	कृष्ण० २३	चतुर्भिश्च द्वाभ्यां	शरभ० २८
गन्धर्वनगरस्यार्थे	महो० ५.१६७	चतुर्मुखं तु रुद्राक्षं	रुद्र०जा० ३०
गमागमास्थं गमनादि	ध्या०बि० २४	चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंस..	सर०रह०३६
गर्भजन्मजरामरण	अद्व०ता० ३	चतुष्पथ समायुक्त...	ध्या०बि०९४
गलितद्वैतनिर्भासो	अक्षि० २.३५	चत्वारि वागिति मन्त्रस्य	सर०रह० २१
गाढतामिस्त्रसंशान्त्यै	द०मू० २९	चन्द्रमण्डल संकाश....	गरुड० ७
गान्धारी हस्तिजिह्वा	ध्या०बि० ५३,यो०चू० १७	चन्द्रांशेन समभ्यस्य	यो०चू० ६७

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ज्योतिरूपं च तन्मध्ये	यो०रा० ११	तत्र त्रयीमयं शास्त्रमाद्यं	सीता० २१
ज्योतिर्मयं तदग्रं	यो०चू० ८१	तत्र ध्यात्वा शुचि ज्योति:	यो०रा० १३
ज्योतिषं च यथा	रुद्रह० ३०	तत्र नाड्य: समुत्पन्ना:	ध्या०बि०५१,यो०चू० १५
ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा	महो० ३.४४	तत्र वर्षसहस्राणि	महो० २.७६
ज्वलनाघातपवनाघातै:	यो०कुं० १.८५	तत्र शीतांशुसंजातं	यो०कुं० १.७०
ज्वलितोऽपि यथा बिन्दु:	यो०चू० ५९	तत्र सूर्योऽग्निर्नाम	प्रा०हो० १९
तं गुह: प्रत्युवाच	अक्ष०२	तत्रात्मायं तुरीयस्य	त्रि०ब्रा० २.१५२
तं मुने सर्वभावेन	यो०कुं० २.४	तत्राश्रुबिन्दवो जाता	रुद्र०जा० ५
तं होवाच भगवान्	रुद्र०जा०२,काल०रु० ३	तत्रैते श्लोका भवन्ति	रुद्र०जा० ३,२७
तच्च जालन्धरं ज्ञेयं	यो०रा० १७	तत्रोन्मदाभि: कान्ताभि:	महो० २.२५
तज्जपाल्लभते पुण्यं	रुद्र०जा० ८	तत्साधने द्वयं मुख्यं	यो०कुं० १.८
तडित्सु शरदभ्रेषु	महो० ३.३२	तत्सिद्ध्यै लक्ष्यत्रयानुसंधान:	अद्व०ता० ४
तण्डुलस्य यथा चर्म	महो० ५.१८५	तत्सुखासनमित्युक्तम्	त्रि०ब्रा० २.५२
तत: कालवशादेव	त्रि०ब्रा० २.१८	तत्स्त्र्यम्। यद्यनन्तक	गरुड० १३
तत: पद्मासनं बद्धा	यो०कुं० १.३२	तथा तत्परमं विद्धि	यो०कुं०२.२०
तत: प्रवर्तते वाणी	सर०रह० ४४	तथाऽऽदिशन्त्याभिचार	सीता० २४
तत: प्रवेशयामास	महो० २.२४	तथा ध्यानेन वैराग्यम्	रामपूर्व० १.५
तत: प्रवेशयामास जनक:	महो० २.२३	तथा सति कथं माया	पा०ब्र० २.१७
तत: संमेलकादौ च	यो०कुं० २.२६	तथा सर्गब्रह्मणोश्च	सर०रह० ५६
तत: सहस्रदृग्वह्नि:	रामपूर्व० ४.३८	तथेत्यवोचद्भगवान्	सौ०ल० १.२
तत: सिंहासनस्थ:	रामपूर्व० ४.३०	तथैव तस्य मन्त्रस्य	रामपूर्व० ४.११
तत: स्तिमितगम्भीरं	महो० २.६५	तथैव रभसा शुक्लं	यो०कुं० १.७२
तत: ओषधयोऽन्नं च	त्रि०ब्रा० २.५	तथैव रामबीजस्थं	रामपूर्व० २.३
ततस्तादृग्गुणगतं	महो० ५.१५१	तथैव स्वशरीरस्थं	यो०कुं० १.३५
तते ब्रह्मघने नित्ये	महो० ६.१३	तथैवात्मात्मशक्त्यैव	महो० ५.१२०
ततो जालन्धरो बन्ध:	ध्या०बि० ७८	तथैवान्नमये कोशे	त्रि०ब्रा० २.१२
ततो देव: प्रीतो भवति	नृ०पूर्व० ४.१६	तदक्षमुत्तमं विद्यात्तद्धार्यं	रुद्र०जा० १७
ततो यातौ वह्न्यपानौ	यो०कुं० १.४४	तदखिलं किमिति	त्रि०ब्रा० १.४
ततो विशुद्धं विमलं	गो०पूर्व० ३२	तदत्र गाथा: -यस्य	गो०पूर्व० ३०
तत्किमेतन्महाभाग	महो० २.३५	तदधस्तौ तालवृन्तकरौ	रामपूर्व० ४.३४
तत्तद्रूपमनुप्राप्य ददाति	पा०ब्र० २.१४	तदभेदेन मन्त्राम्रेडनं	द०मू० २१
तत्तारकं द्विविधं	अद्व०ता० ८,१०	तदभ्यासप्रदातारं	यो०कुं० २.१३
तत्त्वतश्च शिव: साक्षात्	रुद्रह० ४४	तदात्मा राजते तत्र	ध्या०बि० १०४
तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव	पा०ब्र० २.१९	तदा दु:खादिभेदो	पा०ब्र० २.२४
तत्त्वावबोध एवासौ	महो० ४.१२	तदा प्राणापानयोरैक्यं	ध्या०बि० ९३-१५
तत्त्वाविचारपाशेन	द०मू० ३०	तदा ब्रह्मार्गलं	यो०कुं० २.४१
तत्पीठकर्णिकायां	सौ०ल० १.५	तदा राम: क्रोधरूपी	रामपूर्व० ४.२७
तत्पीठम्। अष्टपत्रं	सौ०ल० १.९	तदासौ प्रथमामेका	अक्षि० २.९
तत्पुरुषं पुरुषो	महो० १.६	तदाहुरेके यस्य	गो०पूर्व० २९
तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां	यो०कुं०२.१५	तदाहुरेको ह वै	महो० १.२
तत्र चक्रं द्वादशारं	त्रि०ब्रा० २.६०	तदिह श्लोका भवन्ति	गो०पूर्व० ८,१९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तदु होचुः कः कृष्णः	गो०पूर्व० ४	तस्मान्नित्यमकर्त्ताहमिति	महो० ४.१६
तदु होवाच ब्राह्मणः	गो०पूर्व० ३	तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव	महो० ४.७५
तदु होवाच हैरण्यो	गो०पूर्व० ७	तस्मिंस्तु तीव्रसंवेगाद्	महो० ५.१५४
तदेतत्सुदर्शनं महाचक्रं	नृ०पूर्व० ५.१०	तस्मिन्दृष्टे महायोगे	यो०चू० ११
तदेतदृचाभ्युक्तं	नृ०पूर्व०४.९,५.९,२१	तस्मिन्नित्ये तते शुद्धे	महो० ४.१२०
तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनं	नृ०पूर्व० ३.४,६	तस्मिन्निरस्तनिःशेष	महो० ४.६०
तदेष श्लोकः क्लीमित्ये ..	गो०पूर्व० १३	तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दश	महो० १.५
तदैवैनामनुगता	महो० ५.१२३	तस्मिन्सुविदिते सर्वं	रुद्रहृ० २७
तद्बहिर्द्वादशदलं	रामपूर्व० ४.४७	तस्मै स होवाच	शरभ० २
तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं	महो० ४.७०	तस्य कोटिशतं पुण्यं	रुद्र० जा० ७
तद्भक्ता ये लब्धकामाश्च	रामपूर्व० ५.१०	तस्य चञ्चलता यैषा	महो० ४.१०१
तद्भामात्रमिदं विश्वमिति	महो० २.७	तस्य ध्यानान्तःस्थस्य	महो० १.४
तद्रुद्राक्षे वाग्विषये	रुद्र०जा० ४८	तस्य मध्यगतं देवं	ध्या०बि० २८
तद्वा एतत् परमं	नृ०पूर्व ५.२०	तस्य मध्ये महानर्चिः	महो० १.१३
तद्विष्णोः परमं पदं	गो०पूर्व० २७	तस्य मध्ये वह्निशिखा	च०वेद० ५
तन्नाभिमण्डलं चक्रं	ध्या०बि० ४९	तस्य श्रीखेचरी सिद्धिः	यो०कुं० २.२३
तन्नाभिमण्डले चक्रं	यो०चू० १३	तस्य संवत्सरादूर्ध्वं	त्रि०ब्रा० २.१२३
तन्मध्ये प्रोच्यते	यो०चू० ८	तस्य ह वा उग्रं प्रथमं	नृ०पूर्व० २.६
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः	ध्या०बि० ४५	तस्य ह वै प्रणवस्य	नृ०पूर्व० २.२
तन्मध्ये बीजमालिख्य	रामपूर्व० ४.४१	तस्य हैतस्य पञ्चाङ्गानि	नृ०पूर्व० २.४
तन्मूला बहवो नाड्यः	त्रि०ब्रा० २.७५	तस्याः शिखाया मध्ये	महो० १.१४,च०वेद० ६
तपः प्रभृतिना यस्मै	महो० २.४२	तस्याः षडङ्गं कुर्वीत	यो०कुं० २.३८
तपस्विषु बहुज्ञेषु	महो० ४.३४	तस्या एव द्वितीयः पादो	सावि० ११
तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्द..	गो०पूर्व० ३३	तस्या एव प्रथमः पादो	सावि० १०
तमो मायात्मको रुद्रः	पा०ब्र० १.१०	तस्या एव ब्रह्मा	बह्वृ० २
तया त्वं विश्वतो	नी०रुद्र० २.९	तस्या एष तृतीयः पादः	सावि० १२
तयोरादौ समीरस्य	यो०कुं० १.२	तस्या वाचः परो देवः	यो०कुं० ३.२०
तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं	यो०कुं० १.९	तस्यास्वादवशाच्चित्तं	यो०कुं० १.७३
तरवोऽपि हि जीवन्ति	महो० ३.१३	तस्यैवं स्तुवतो नित्यं	सर०रह० ४३
तर्कतश्च प्रमाणाच्च	रुद्रहृ० ४६	तां जीवरूपिणीं	यो०रा० ७
तस्माच्छनैः शनैः	यो०कुं० २.४०	तां तीक्ष्णशृंखलां विद्धि	महो० ६.५२
तस्मात्कृष्ण एव परमो	गो०पूर्व० ४९	तां दृष्ट्वा तदधीशेन	रामपूर्व० ४.२८
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातं	यो०कुं०२.१९	तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां	यो०रा० १०
तस्मात्संचालयेन्नित्यं	यो०कुं० १.१७	तानुवाच ब्रह्मा यत्तस्य	गो०पूर्व० १८
तस्मात्सर्वं परित्यज्य	अक्षि० २.४७	तानुवाच ब्राह्मणः	गो०पूर्व० ५
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन	यो०कुं० २.१४	तापत्रयसमुद्भूतजन्ममृत्यु	शरभ० १७
तस्मादन्योन्यमाश्रित्य	त्रि०ब्रा० २.४	तापापहारिणीं देवीं	देवी० १९
तस्मादभ्यासयोगेन	त्रि०ब्रा० २.२२	तामग्निवर्णां तपसा	देवी० ९
तस्मादिदं साममध्यगं	नृ०पूर्व० १.१६	तामसी दैत्यपक्षेषु	कृष्ण० ५
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं	यो०कुं० १.४८	तालुचक्रं तत्रामृतधारा	सौ०ल०३.६
तस्मादेनं नित्यमावर्तयेत्	गो०पूर्व० २८	तालुमूलं च मूलं च	त्रि०ब्रा० २.१३२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
नमस्ते अस्तु भगवति	देवी० १७	नाभिनन्दत्यसंप्राप्तं	महो० ४.३७
नमस्ते गणपतये	गण० १	नाभौ तु मणिवद्बिम्बं	यो०चू० ९
नमस्ते नारदनुते	तुलसी० ९	नाभौ दशदलं पद्मं	यो०चू० ५
नमस्ते भवभामाय	नी०रुद्र० १.४	नामजात्यादिभिर्भेदैरष्टधा	सर०रह० २५
नमस्ते शारदे देवि	सर०रह० ३७	नामरूपात्मकं सर्वं	सर०रह० ३४
नमामि त्वामहं देवीं	देवी०२५	नारदः पुनः पप्रच्छ	कलि० २
नमामि यामिनीनाथ	सर०रह० ४१	नारसिंहं च वाराहं	रामपूर्व० ४.५५
नमो मित्राय भानवे	सूर्य० ६	नारायणात्मकः कालः	रामपूर्व० ४.६३
नमो विज्ञानरूपाय	गो०पूर्व० ३५	नारायणेन संयुक्तो	देवी० २३
नमो वेदादिरूपाय	रामपूर्व० ४.१३	नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो	महो० ४.६९
नमो व्रातपतये नमो	गण० १५	नासाग्रन्यस्तनयनो	त्रि०ब्रा० २.१४६
न रसायनपानेन न	महो० ४.३१	नासाग्रे धारणाद्दीर्घमायुः	त्रि०ब्रा० २.१११
न रोगो मरणं तस्य	यो०चू० ५३	नास्तमेति न चोदेति	महो० ५.१०२
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्या	महो० ५.११२	नास्ति देहसमः शोच्यो	महो० ३.२७
न वक्त्रं तु रुद्राक्षं	रुद्र० जा० ३७	नाहं कर्त्ता न भोक्ता च	अक्षि० २.२१
नव प्रसूतस्य परादयं	महो० ५.१२	नाहं दुःखी न मे देहो	महो० ४.१२४
नवममाकाशचक्रम्	सौ०ल० ३.९	नाहं न चान्यदस्तीह	महो० ५.६९
नवयोनीर्नवचक्राणि	त्रिपुरा० २	नाहं नेदमिति	महो० ६.३६
नवसूत्रान्परिचर्चितान्	पा०ब्र० १.२७	नाहं मांसं न चास्थीनि	महो० ४.१२५
नवस्वेव हि चक्रेषु	यो०रा० ५	निःशेषितजगत्कार्यः	महो० २.२९
न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा	यो०कुं०२.१२	नित्यं ऋतं वच्मि	गण० ३
न शून्यं नापि चाकारो	महो० २.६६	नित्यं विभुं सर्वगतं	रुद्रहृ० ३२
न स जीवो न च	पा०ब्र० २.२२	नित्यप्रबुद्धचित्तस्त्वं	महो० ४.११
न सन्नासन्न मध्यान्तं	महो० ५.४६	नित्यो नित्यानां	गो०पूर्व० २०
न सम्यग्ज्ञानिनः	पा०ब्र० २.३८	निदाघ तव नास्त्यन्यज्ज्ञेयं	महो० ४.१
न ह वा एतस्यर्चा	नृ०पूर्व ४.१०	निदाघ शृणु सत्त्वस्था	महो० ४.१७
न हि चञ्चलताहीन...	महो० ४.९८	निदाघो नाम मुनिराट्	महो० ३.१
नहि पथ्यमपथ्यं	यो०चू० ६८	निबन्धाः सर्वशाखा	सीता० २९
न हृष्यति ग्लायति	महो० ६.५०	नियोज्य नासिकारंध्रं	यो०कुं०२.४५
नाकर्मसु नियोक्तव्यं	महो० ४.२२	निरस्तकल्पनाजालम्	महो० ५.६०
नाकृतेन कृतेनार्थो	महो० ४.४१	निराशता निर्भयता	महो० ६.२९
नागः कूर्मः कृकरको	ध्या०बि० ५७	निरिच्छे संस्थिते रत्ने	महो० ४.१३
नागः कूर्मोऽथ कृकरो	यो०चू० २३	निर्ग्रंथिः शान्त संदेशो	अक्षि० २.३९
नाडीजलोदरं	यो०कुं० १.२९	निर्मूलं कलनां त्यक्त्वा	महो० ६.४६
नाडीभेदं मरुद्भेदं	त्रि०ब्रा० २.८८	निवातदीपसदृशम्	त्रि०ब्रा० २.१५८
नानन्दं न निरानन्दं	महो० ५.९८	निशीर्य शल्यानां मुखा	नी० रुद्र० २.६
नानायोनिशतं गत्वा	त्रि०ब्रा० २.१७	निष्कलाय विमोहाय	गो०पूर्व० ४२
नानावर्णधरं देवं	त्रि०ब्रा० २.१५५	निष्कामानामेव	सौ०ल० १.१२
नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं	नृ०पूर्व० ४.७	निष्ठा वेदान्त वाक्यानाम्	महो० २.११
नापदि ग्लानिमायान्ति	महो० ४.१८	निष्पत्तौ वैणवः	सौ०ल० २.१०
नाभिकन्दे च नासाग्रे	त्रि०ब्रा० २.१०९	निहत्य राघवो राज्ये	रामपूर्व० ४.२४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
नीरागं निरुपासङ्गं	महो० ५.६७	पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं	यो०रा० ८
नीला च मुखविद्युन्मालिनी	सीता० १८	पाणिपादादिमात्रो	महो० ५.९२
नीहारहारघनसारसुधा	सर०रह० ५	पाण्डरं शुक्रमित्याहुः	ध्या०बि०८७
नो चेन्मौनं समास्थाय	महो० ३.५७	पादाङ्गुष्ठमिति	त्रि०ब्रा० २.८०
पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं	महो० ३.२९	पादाङ्गुष्ठावधिः कन्दाद्	त्रि०ब्रा० २.७४
पञ्चपदं जपन्पञ्चाङ्गं	गो०पूर्व० १२	पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां	त्रि०ब्रा० २.४३
पञ्च ब्रह्मभिरङ्गैश्च	रुद्र० जा० २५	पार्श्वस्थ बोधिताः सन्तः	महो० ५.३८
पञ्चमं कण्ठचक्रं	यो०रा० १२	पार्ष्णिघातेन संपीड्य	यो०चू० ४६
पञ्चमादम्बरोत्पत्ति	गो०पूर्व० ३१	पावका न इति मन्त्रस्य	सर०रह० १२
पञ्चमीं भूमिकामेत्य	अक्षि० २.३४	पिङ्गला चोत्थिता तस्मात्	त्रि०ब्रा०२.७१
पञ्चरूपपरित्यागाद्	बह्वृ० ६	पिण्ड ब्रह्माण्डयोरैक्यं	यो०कुं० १.८१
पञ्चवक्त्रः तु रुद्राक्षं	रुद्र०जा० ३१	पित्रेत्युक्तः शुकः प्रायात्	महो० २.२०
पतन्ति केचिदबुधाः	महो० ५.१४४	पिबतस्त्रिषु मासेषु	त्रि०ब्रा०२.११२
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि	महो० ३.२३	पीड्यते न च रोगेण	यो०चू० ५४
पदान्तराण्यसंख्यानि	महो० ५.२	पुनः पुनरिदं कार्यं	यो०कुं० १.२६
पदार्थप्रविभागज्ञः	अक्षि० २.१२	पुनः षाण्मासमात्रेण	यो०कुं० २.३३
पदार्थभावना दार्ढ्यं	महो० २.४१	पुनरेतस्यां सर्वात्मकत्वं	अक्ष० १४
पद्मकोशप्रतीकाशं	महो०१.१२, च०वेद०४	पुनर्नारदः पप्रच्छ	कलि० ३
पद्मस्योद्‌घाटनं कृत्वा	ध्या०बि०३५	पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च	यो०कुं०१.३४
पद्माक्षे स्थापितो मेरुः	महो० ४.६५	पुरं हन्त्रीमुखं	त्रिपुरा० १०
पद्मासनं ....जानूर्वोरन्तरे	त्रि०ब्रा० २.४१	पुरतः पृष्ठतस्तस्य	त्रि०ब्रा० २.७२
पद्मासनं समारुह्य	यो०चू० ७१	पुष्पमध्ये यथागन्धः	ध्या०बि० ५
पद्मासनं सुसंस्थाप्य	त्रि०ब्रा० २.४०	पूजितो वायुपुत्रेण	रामपूर्व० ४.२०
पद्मासनस्थितो योगी	ध्या०बि० ७०	पूरकं द्वादशं कार्यात्कुम्भकं	यो०चू० १०३
परं पौरुषमाश्रित्य	महो० ४.९३	पूरकान्ते तु कर्तव्यो	यो०कुं० १.५१
परप्रयुक्तेन चिरं	महो० ५.३३	पूरणान्नाड्यः सर्वाः	त्रि०ब्रा० २.९९
परमं पौरुषं यत्नम्	महो० ५.८८	पूरितं कुम्भयेत्	त्रि०ब्रा० २.६७
परमरहस्य शिवतत्त्वज्ञानेनेति	द०मू०२	पूर्वं मनः समुदितं	महो० ५.५२
परमात्मनि लीनं	यो०कुं० ३.२४	पूर्वदले विश्रमते	ध्या०बि० ९३-२
परमात्मस्वरूपो	पा०ब्र० १.१३	पूर्वा दृष्टिमवष्टभ्य	महो० ६.६६
परमानन्दसंदोहो	अक्षि० २.४६	पूर्वोक्तत्रिकोणस्थानात्	ध्या०बि०९५
परमेष्ठ्यपि निष्ठावान्हीयते	महो० ३.५१	पूर्वोक्तेन क्रमेणैव	यो०कुं० १.५३
परात्परं यन्महतो महान्तं	महो० ४.७१	पैप्पलादं महाशास्त्रं	शरभ० ३५
परात्परतरं ब्रह्म	शरभ० ३२	पोषणादि शरीरस्य	त्रि०ब्रा० २.८६
परिज्ञातस्वभावं तं शुकं	महो० २.२८	पौरुषेण प्रयत्नेन	महो० ४.१०२
परिज्ञायोपभुक्तो हि	महो० ५.७१	प्रकाश एव सततं	पा०ब्र० २.२०
परितः कन्दपार्श्वे तु	त्रि०ब्रा० २.६४	प्रकाश एव सततं तस्मान्मौनं	पा०ब्र०२.२१
परिसृतं झषमाजं	त्रिपुरा० १२	प्रकृतित्वं ततः	सर०रह० ४७
परिसृता हविषा	त्रिपुरा० १५	प्रकृत्यष्टकरूपं च	यो०कुं०१.७४
पवित्रे नात्युच्चनीचे	यो०कुं०१.२३	प्रकृत्या सहितः श्यामः	रामपूर्व० ४.७
पवित्रे निर्जने देशे	यो०कुं०१.२२	प्रक्षीणचित्तदर्पस्य	महो० ५.७७

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा	बह्वृ० ७	प्रातर्माध्यन्दिने सायम्	त्रि०ब्रा० २.१०१
प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म	महो० ४.८१	प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं	महो० २.७२
प्रणवः सर्वदातिष्ठेत्सर्वजीवेषु	यो०चू० ७३	प्राप्तकर्मकरो नित्यं	महो० ६.६४
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः	यो०कुं०७७	प्राप्यं संप्राप्यते येन	महो० ३.१२
प्रतिपद्दिनतोऽकाले	यो०कुं०३.२	प्रायश्चित्तयस्त्वधस्तात्	प्रा०हो० २०
प्रतिभासत एवेदं न	महो० ५.१०८	प्रोवाच पुनः स्वयंभुवं	पा०ब्र० १.२३
प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं	नारा० ४	बदरीफलमात्रं तु	रुद्र०जा० ९
प्रत्यगानन्दरूपात्मा	त्रि०ब्रा०२.९	बद्धपद्मासनो योगी	यो०चू० ९५,१०६
प्रथमं चेतनं यत्	महो० ५.१०	बद्धमुक्तो महीपालो	महो० ५.७४
प्रथमा शब्दब्रह्ममयी	सीता० ६	बद्ध्वा प्रागासनं	त्रि०ब्रा० २.९२
प्रथमे दिवसे कार्यं	यो०कुं० १.५४	बध्नन्कराभ्यां श्रोत्रादि	त्रि०ब्रा० २.११६
प्रथमो मूलबन्धस्तु	यो०कुं० १.४१	बध्नाति हि शिरोजातम्	यो०चू० ५०
प्रथमौ द्वावहंकारौ	महो० ५.९५	बध्यते न च कालेन	ध्या०बि० ८२
प्रद्युम्नमग्रौ वाय्वंशे	त्रि०ब्रा० २.१४४	बन्धनं मनसो नित्यं	त्रि०ब्रा० २.२६
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो	ध्या०बि०५२, यो०चू०१६	बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च	नी०रुद्र० ३.२
प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीण ..	महो० ५.१०६	बर्हापीडाभिरामाय	गो०पूर्व० ३७
प्रबुद्धा वह्नियोगेन	यो०चू० ३८	बलं ज्ञानं सुराणां वै	कृष्ण० १२
प्रबुद्धोऽस्मि	महो० ६.२७	बलातिबलयोर्विराट्	सावि० १४
प्रभाशून्यं मनः शून्यं	सौ०ल०२.१७	बहिःकृत्रिमसंरम्भो	महो० ६.६८
प्रभाहीनास्तथा कृत्वा	रामपूर्व० १.४	बहिस्तदायुधैः पूज्यो	रामपूर्व० ४.३९
प्रभुं वरेण्यं पितरं	शरभ० ४	बहूनि पुण्यानि कृतानि	शरभ०३
प्रशान्तकलनारम्यं	महो० ६.७३	बाह्ये नापि हृदये	महो० ४.५१
प्रसन्नवदनो जेता	रामपूर्व० ४.८	बिन्दुः क्षरति नो यस्य	ध्या०बि०८४
प्रसीद परमानन्द	गो०पूर्व० ४३	बिन्दुमूलशरीराणि	यो०चू० ५६
प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वं	अक्षि० २.२२	बिन्दुर्ब्रह्मा रजः	यो०चू० ६२
प्राज्ञो मकार इत्येवं	अक्षि० २.४४	बिल प्रवेशतो यत्र ब्रह्म	यो०कुं० १.४६
प्राणं चेदिडया	यो०चू० ९८	बीजजाग्रत्तथा जाग्रत्	महो० ५.८
प्राण एवाथवा ज्येष्ठो	त्रि०ब्रा० २.७९	बीजरूपस्थितं जाग्रत्	महो० ५.११
प्राणरोधमथेदानीं	यो०कुं० १.१९	बीजशक्तिं न्यसेद्दक्षवामयोः	रामपूर्व० ४.४
प्राणस्थानं ततो वह्निः	यो०कुं०१.६५	बीजाक्षरं परं बिन्दुं	ध्या०बि०२
प्राणापानवशो जीवो	यो०चू० २८,३०	ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा	यो०कुं०१.६७
प्राणापानसमाक्षिप्तः	ध्या०बि० ६०	ब्रह्मचारी मिताहारी	ध्या०बि०७२,यो०कुं० ४२
प्राणापानादिचेष्टादि	त्रि०ब्रा० २.८५	ब्रह्मणा कल्पिताकारा	महो० ५.१३६
प्राणापानौ समानश्च	त्रि०ब्रा० २.७७	ब्रह्मणा तन्यते विश्वं	महो० ४.५०
प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो	यो०कुं० १.६२	ब्रह्मणो विवरं यावत्	त्रि०ब्रा० २.६९
प्राणायामद्विषट्केन	यो०चू० १११	ब्रह्मणोऽव्यक्तम्	त्रि०ब्रा० १.३
प्राणायामेन युक्तेन	यो०चू० ११६	ब्रह्मपुत्रः प्रोवाच	पा०ब्र० १.३२
प्राणायामो भवेदेवं	यो०चू० १०८	ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रम्	सौ०ल० ३.८
प्राणाविरूढश्चरति	त्रि०ब्रा० २.६२	ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य	यो०कुं०२.३६
प्राणो देहस्थितो	यो०चू० १००	ब्रह्मविज्ञान सम्पन्नः	पा०ब्र०२.४६
प्रातरधीयानो रात्रिकृतं	अक्ष०१६, देवी०३२,नारा० ५	ब्रह्मविद् ग्रसति	पा०ब्र०२.३९

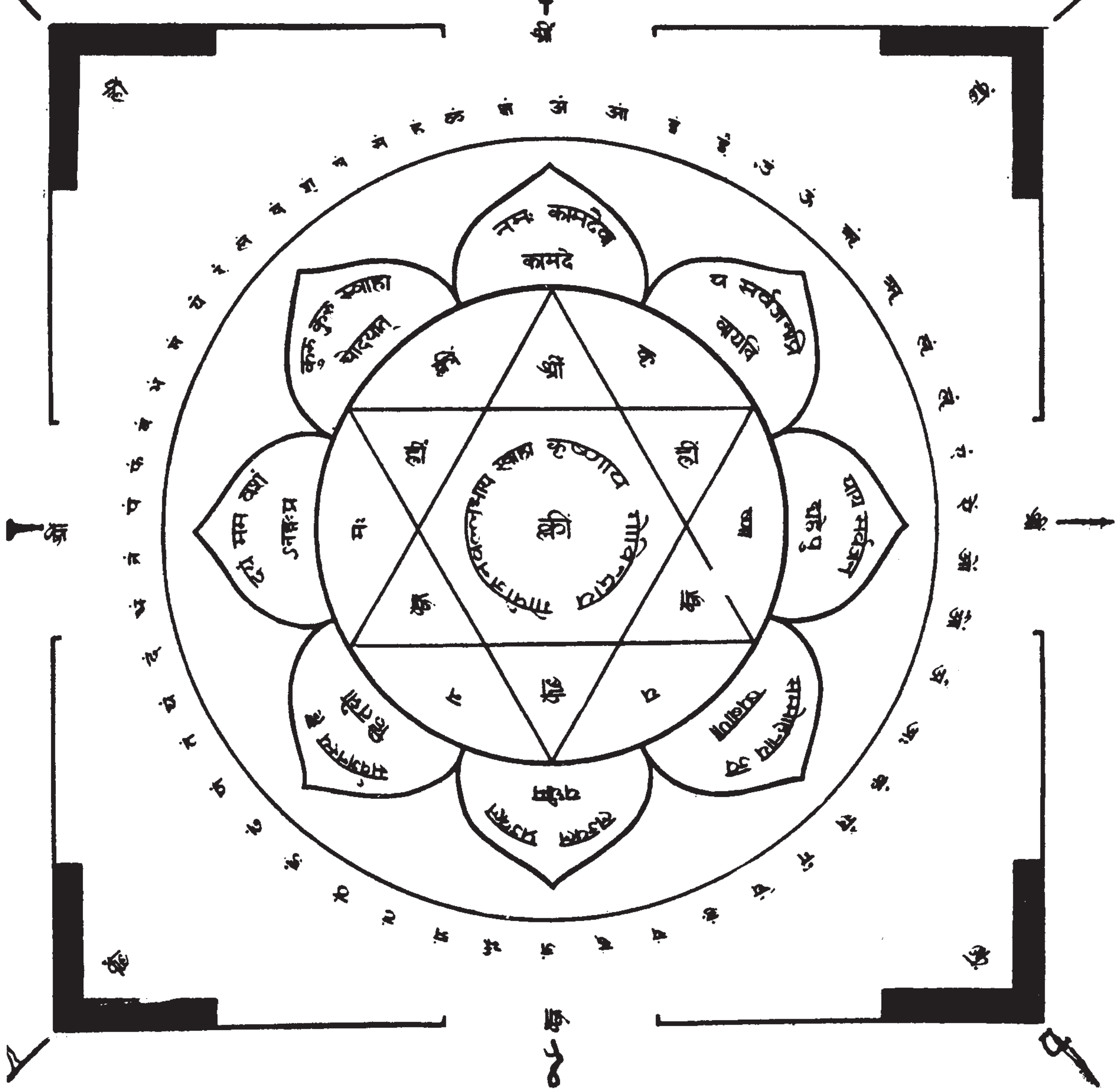
मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
मनसो विजयान्नान्या	महो० ५.७६	मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं	ध्या०बि० ६६
मनस्तादृग्गुणगतं	महो० ५.१५०	मुख्यात्पूर्वोत्तरैर्भागैः	त्रि०ब्रा० २.२
मनागपि मनोव्योम्नि	महो० ४.११५	मुख्यादूर्ध्वे परा ज्ञेया	त्रि०ब्रा० २.३
मनोघनविकल्पं तु	महो० ५.१२६	मुद्रां ज्ञानमयीं याम्ये	रामपूर्व० ४.३१
मनोमयज्ञानमयान्	यो०कुं० ३.३२	मुद्रां भद्रार्थदात्रीं	द०मू० १०
मनोवशात्प्राणवायुः	त्रि०ब्रा० २.११७	मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः	गो०पूर्व० २
मनोविकल्प संजातं	महो० २.३४	मुने नासाद्यते तद्धि	महो० ५.११४
मनोव्याधेश्चिकित्सार्थं	महो० ४.८८	मुहूर्तद्वयपर्यन्तं	यो०कुं० १.१३
मन्त्राणां मातृका देवी	देवी० २७	मूर्धा ब्रह्मा शिखान्तो	गा०रह० ७
मन्त्रेण न्यासः	द०मू० ११,१४	मूर्ध्न्याधायात्मनः	त्रि०ब्रा० २.१९
मन्त्रेण न्यासः। आदौ	द०मू० ९	मूलं च करयोर्मूलं	त्रि०ब्रा०२.१३३
मन्त्रोऽयं वाचको रामो	रामपूर्व० ४.२	मूषास्थद्रुतहेमाभं	महो० ५.१५५
मम पुत्रो मम धनमहं	महो० ४.१२७	मृगतृष्णाम्बुबुद्ध्यादि ..	महो० ५.४१
मम योनिरप्स्वन्तः	देवी० ७	मृत्युव्याधि जराग्रस्तो	यो०कुं० २.२
मम रूपा खेस्तेजः	पा०ब्र० १.८	मृषैवोदेति सकलं	यो०कुं० १.८०
मम वशानि सर्वाणि	पा०ब्र० १.६	मेरुशृङ्गतरोल्लासि	महो० ३.४१
ममापि विष्णोर्जनकं	शरभ० ५	मेलनमन्त्रः ह्रीं भं सं	यो०कुं० ३.१
मयि जीवत्वमीशत्वं	सर०रह० ६८	मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः	महो० ४.२
मरुभूमौ जलं सर्वं	महो० ४.८४	मोक्षायैषा न बन्धाय	महो० ५.९१
मस्तके मणिवद्भिन्नं यो	ध्या०बि० ४६	मोदितास्ते सुराःसर्वे	कृष्ण० ३
महती ज्ञानसम्पत्तिः	रुद्र०जा० ३५	मोहजालकसंघातो	त्रि०ब्रा० २.१६५
महाधियः शान्तधियो	महो० ५.६१	मोहान्धकारे निःसारे	द०मू० २८
महानवोऽयं पुरुषो	प्रा०हो० १६	मौनमुद्रा। सोऽहमिति	द०मू० २०
महापद्मश्च शङ्खश्च	रामपूर्व०४.५४	मौनवान्निरहंभावे	महो० २.५०
महाप्रथमान्तार्धस्य	नृ०पूर्व० १.१३	यः कवित्वं निरातङ्कं	सर०रह० ४२
महाप्रलयसंपत्तौ	महो० ४.५५	यः सकृदुच्चारयति	अद्व०ता० १९
महामुद्रा नभोमुद्रा	यो०चू० ४५	यः सदाहरहर्जपति स	सूर्य० ८
महालक्ष्मीश्च विद्महे	देवी० १२	यः समस्तार्थजालेषु	महो० २.६२
महाशून्यं ततो याति	सौ०ल० २९	यः सर्वज्ञः सर्वविद्यो	रुद्रह० ३३
महो अर्ण इति मन्त्रस्य	सर०रह० १८	यः सर्वोपरमे काले	द०मू० ५
मांसपाञ्चालिकायास्तु	महो० ३.३९	यः स्वजनान्नीलग्रीवो यः	नी०रुद्र० ३.१
मा खेदं भज हेयेषु	महो० ६.२८	यः स्वरूपपरिभ्रंशः	महो० ५.४
मातरीव परं यान्ति	महो० ४.३०	य इदं गायत्रीरहस्य	गा०रह० ८
मात्रा द्वादशसंयुक्तौ	यो०चू० १०२	य इमां परमरहस्य	द०मू० ३३
मनसो हंसः सोऽहं	पा०ब्र० १.१२	य इमां ब्रह्मविद्याममावा..	गरुड० २५
मा भवाज्ञो भव ज्ञस्त्वं	महो० ४.१२८	य इमां महोपनिषदं	महो० ६.८३,च०वेद० ७
मायावशादेव देवा	शरभ० ३१	य इमां रुद्राक्षजाबालो	रुद्र०जा० ४९
माया सा त्रिविधा	कृष्ण० ४	य एतं ...अधीते	नृ०पूर्व० ५.१७
मा संकल्पय संकल्पं	महो० ५.१८२	य एतं ....आनुष्टुभं	नृ०पूर्व० ५.१५
मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनो	नृ०पूर्व० ३.३	य एतं ...नारसिंहम्	नृ०पूर्व० ५.१४
मुखेन पुच्छं संगृह्य	यो०कुं० १.८३	य एतं ...नित्यमधीते	नृ०पूर्व० ५.१६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
सप्त सालान्विभिद्याशु	रामपूर्व० ४.२२	सर्वदेवात्मकं रुद्रं	रुद्रहृ० २४
सप्तावस्था इमाः प्रोक्ता	महो० ५.२०	सर्वदेवात्मको रुद्रः	रुद्रहृ० ३
स प्रतिष्ठा ह्लादिनी	रामपूर्व० ४.६०	सर्वदेशेष्वनुस्यूतः	त्रि०ब्रा० २.११
स बाह्याभ्यन्तरे देहे	महो० ६.१०	सर्वमेकमजं शान्तमनन्तं	अक्षि० २.२
स भूमिकावानित्युक्तः	अक्षि० २.१०	सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो	त्रि०ब्रा० २.११०
समता सर्वभावेषु	महो० ६.४	सर्वशक्तेर्महेशस्य	महो० ४.८७
समन्ताद्देवताः सर्वाः	तुलसी० ७	सर्वसंकल्प रहिता	महो० ५.१००
समस्तं खल्विदं ब्रह्म	महो० ६.१२	सर्वसंसारदुःखानां	महो० ३.२५
समस्त भुवनस्याधोभागे	सीता० १९	सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं	महो० ५.९०
समस्तयागानां रुद्रः	पा०ब्र० १.११	सर्वस्याभिमतं वक्ता	महो० ६.६५
समाः स्निग्धा दृढाः	रुद्र०जा० १३	सर्वातीतपदालम्बी	महो० ६.६३
समाधिः स तु विज्ञेयः	त्रि०ब्रा० २.१६२	सर्वात्मवेदनं शुद्धं	महो० ४.४२
समाधिमेकेन	यो०कुं० ३.१४	सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वं	रुद्रहृ० २६
समानः सर्वगात्रेषु	त्रि०ब्रा० २.८१	सर्वापदां पदं पापाः	महो० ३.५
समानप्राण एकस्तु	ध्या०बि०९९	सर्वार्थवासनोन्मुक्ता	महो० ६.५१
समानो नाभिदेशे तु	यो०चू० २४	सर्वावयवसंपूर्णे	तुलसी० १०
समापय्य निद्रां सुजीर्णे	सौ०ल० २.२	सर्वेच्छाः सकलाः	महो० २.५८
समुद्धर मनो ब्रह्मन्	महो० ५.१३५	सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः	देवी० १
समुन्नत शिरः पादं	त्रि०ब्रा० २.४८	सर्वेषां तु मनस्तेन	पा०ब्र० २.८
सम्पूर्णहृदयः शून्ये	सौ०ल० २.६	सर्वेषां दोषरत्नानां	महो० ३.४७
स याति परमं श्रेयो	त्रि०ब्रा० २.२८	सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः	नृ०पूर्व० ३.५
स यो ह वै तत्परमं	रुद्रहृ० ५२	सर्वेषामपि पापानां	तुलसी० ११
सरस्वती दशश्लोक्या	सर०रह० २	सर्वेषामेव मन्त्राणामेष	रामपूर्व० ४.५
सराणां सप्तकं वापि	रुद्र०जा०२०	सलिलमिति सौहित्यकारणं	भाव० ३
स राम इति लोकेषु	रामपूर्व० १.२	सलिले सैन्धवं	सौ०ल०२.१४
स रावण इति ख्यातो	रामपूर्व० ४.१८	सविकल्पो निर्विकल्पः	सर०रह० ६०
सर्गादिकाले भगवान्	द०मू० ३२	सविकारस्तथा जीवो	त्रि०ब्रा० २.१३
सर्वं किंचिदिदं दृश्यं	महो० ४.१०	सव्येतरश्रुत्यवधि	त्रि०ब्रा० २.७३
सर्वं च खल्विदं ब्रह्म	महो० ४.११७	सव्ये दक्षिणगुल्फं	त्रि०ब्रा० २.३६
सर्वं चाप्यहमेवेति	महो० ६.६०	सव्ये प्राणावाऽऽपो	प्रा०हो० १४
सर्वं जगदिदं त्वत्तो	गण० ६	स सर्वविद्भवति	गण० १९
सर्वं प्रशान्तमजमेकम्	महो० ४.९	स सागरां सपर्वतां	नृ०पूर्व० १.३
सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना	महो० ५.११३	सहस्रदलसंख्यातं	यो०चू० ६
सर्वं शान्तं निरालम्ब	महो० ५.४५	सहस्रशीर्षं देवं	महो० १.१०
सर्वं समतया बुद्ध्या	महो०६.४४	सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं	च०वेद० २
सर्वगः सर्व सम्बन्धो	महो० २.८	सहस्रावर्तनाद्यं यं	गण० १८
सर्वगं सच्चिदानन्दं	महो० ४.८०	स होवाच प्रजापतिः	नृ०पूर्व०१.६, ४.२,४.१५, ५.२
सर्वगात्रेण सौम्येन	रुद्र०जा० १६		
सर्वत्र वर्तते जाग्रत्स्वप्नं	त्रि०ब्रा० २.१०	स होवाच प्रजापतिः अग्निर्वै	नृ०पूर्व १.८
सर्वत्र विगतस्नेहो	महो० २.५१	स होवाच प्रजापतिः सा	सीता० २
सर्वत्राहमकर्तेति	महो० ६.२	स होवाच प्रजापतिर्माया	नृ०पूर्व० ३.२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स होवाच प्रजापतिर्य:	नृ०पूर्व ५.१२	सैवावस्था परा ज्ञेया	यो०कुं० १.८७
स होवाच। ये दक्षिणामुख:	द०मू० ४	सैषा चिदमलाकारा	महो० ५.१०३
स होवाच वैराग्यतैलसंपूर्णे	द०मू० २७	सैषाऽपरा शक्ति:। सैषा	बह्वृ० ३
स होवाच सर्वमिदं	त्रि०ब्रा० १.२	सैषाष्टौ वसव:	देवी० १८
स होवाचाश्वलायन:	सर०रह० ४	सोऽध्यायत्। पूर्वाभिमुखो	महो० १.९
साक्षाच्छक्तिर्भगवत:	सीता० ३४	सोऽभयस्यास्य	रामपूर्व० १.१३
साक्षिण: पुरतो भातं	सर०रह० ५४	सोमात्मिका ओषधीनां	सीता० १३
साक्षिभूते समे स्वच्छे	महो० ५.५५	सौ: देवीं वाचमजनयन्त	सर०रह० २९
सात्त्विकत्वात्समष्टित्वात्	सर०रह० ५१	सौ: महो अर्ण: सरस्वती	सर०रह०२०
सा देवी त्रिविधा	सीता० ११	सौभाग्यरमैकाक्षर्या	सौ०ल० १.७
साध्यते मन्त्रयोगस्तु	यो०रा० ४	सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषदं	सौ०ल०३.१०
साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी	देवी० २	स्तब्धीभावो रसास्वादात्	सर०रह० ६५
सामवेदस्तथाथर्ववेद:	रुद्रह० २९	स्तुतिं चक्रुश्च जगत:	रामपूर्व० ४.१२
सा माया स्ववशोपाधि:	सर०रह० ५०	स्तुवते सततं यस्तु	कृष्ण० ७
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु	महो० ३.२	स्तुवन्त्येवं हि	रामपूर्व० ४.१७
सार्धत्रिकोटि ....स्नान	महो० ३.३	स्थानात्स्थानं	त्रि०ब्रा० २.१३०
सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं	नृ०पूर्व० १.७	स्थित: किं मूढ एवास्मि	महो० ५.२७
सा सर्ववेदमयी	सीता० १०	स्थित्वासौ बैन्दवस्थाने	यो०कुं०३.८
सिद्धं भद्रं तथा सिंहं	ध्या०बि०४३	स्थूलसूक्ष्म क्रमात्सर्वं	अक्षि० २.४५
सिन्दूरव्रातसंकाशं	यो०चू० ६१	स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं	यो०कुं०२.२९
सीतां दृष्ट्वाऽसुरान्हत्वा	रामपूर्व० ४.२६	स्नेहप्रणयगर्भाणि	अक्षि० २.७
सीता इति त्रिवर्णात्मा	सीता० ३	स्फुरत्प्रज्वलसंज्वाला	यो०चू० ९७
सीता भगवती ज्ञेया	सीता० ८	स्फुरन्ति हि न भोगाशा	महो० ३.५६
सीतारामौ तन्मयावत्र	रामपूर्व० ३.१	स्मर्तव्या पञ्चघटिका:	त्रि०ब्रा० २.१३६
सीवनीं गुल्फदेशाभ्यां	त्रि०ब्रा०२.४४	स्मर्तव्या नाडिका: प्राणं	त्रि०ब्रा० २.१३९
सीवनीपार्श्वमुभयं	त्रि०ब्रा० २.४६	स्वं स्वं विषयमुद्दिश्य	पा०ब्र० २.१०
सुपर्णोऽसि गरुत्मान्	गरुड० ११	स्वचित्तबिलसंस्थेन	महो०३.३४
सुप्तस्य घनसंमोहमये	महो० ५.६४	स्वदनं केवलं	महो० ६.३८
सुषुप्तवद्यश्चरति	महो० ६.४९	स्वदेहे यो न जानाति	यो०चू० ४
सुषुम्ना मध्यदेशे तु	ध्या०बि०५६,यो०चू० १९	स्वपौरुषैकसाध्येन	महो० ४.९०
सुस्निग्धमधुराहार:	यो०कुं० ४३	स्वप्रजाग्रदिति प्रोक्तं	महो० ५.१८
सुहृष्ट: सुदृढ:	महो० ५.८२	स्वप्नस्थानोऽन्त: प्रज्ञ:	नृ०पूर्व० ४.५
सूचिवद्गुणमादाय	ध्या०बि०६७	स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य	यो०कुं०२.२२
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च	सूर्य० ३	स्वप्रकाशैक संसिद्धे	पा०ब्र० २.१८
सूर्यकोटिद्युतिधरं	त्रि०ब्रा०२.१५३	स्वभक्तायैव दातव्यम्	शरभ० ३८
सूर्यादिसकलभुवन...	सीता० १४	स्वयं कल्पित तन्मात्रा	महो० ५.१२९
सूर्येण रेचयेद्वायुं	यो०कुं०१.१६	स्वयंभूरुवाच	पा०ब्र० १.३
सूर्योज्जायी शीतली	यो०कुं० १.२१	स्वयमुच्चलिते देहे	सौ०ल० २.१८
सृण्येव सितया विश्व	त्रिपुरा० १३	स्वयमेव त्वया ज्ञातं	महो० २.७०
सैव पुरत्रयं	बह्वृ० ४	स्वयमेव मया पूर्वम्	महो० २.३२
सैवात्मा ततोऽन्यदसत्य	बह्व० ५	स्वयमेवात्मनात्मानम्	महो० ६ ७९

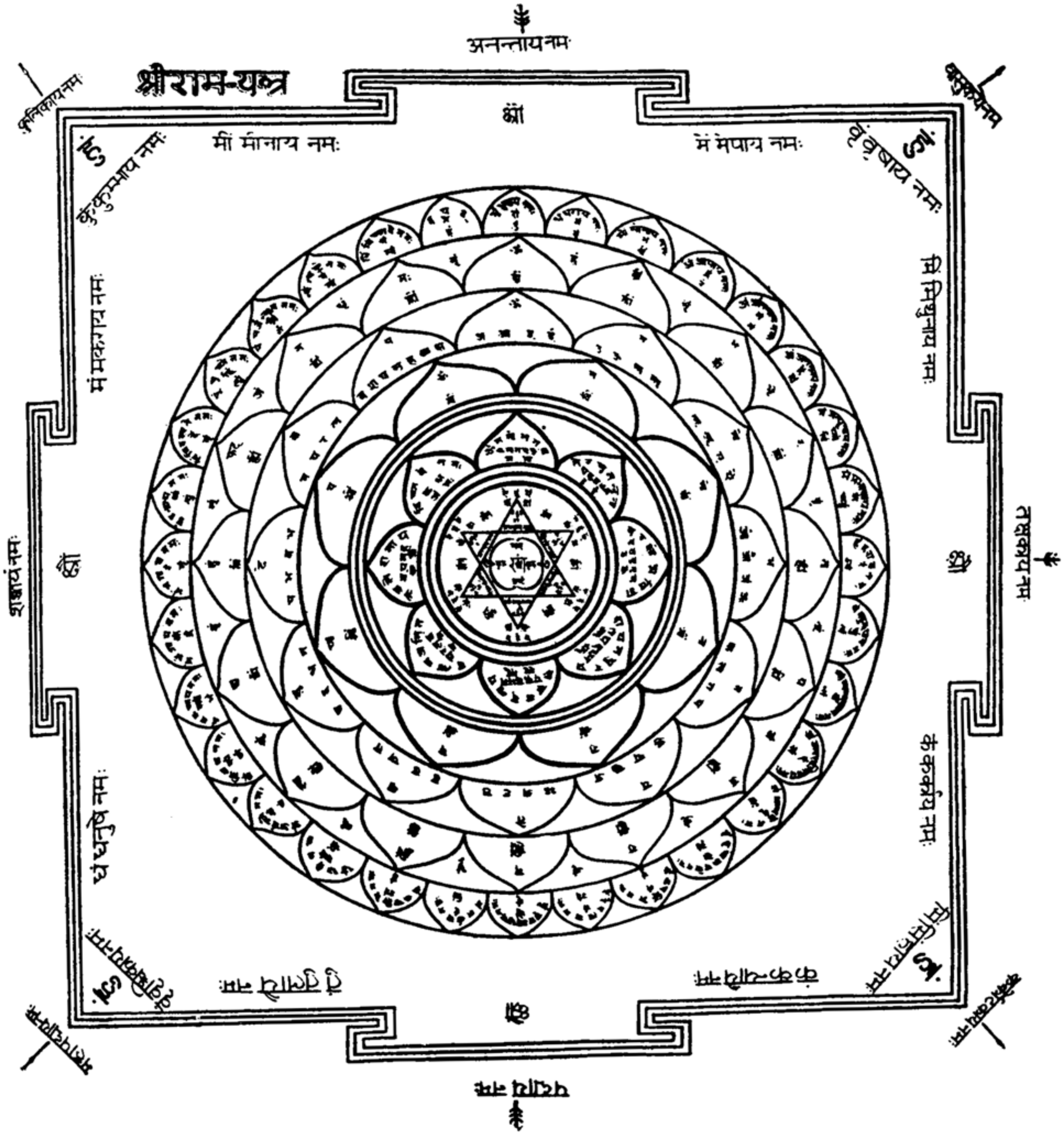
॥ इति मन्त्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥

गोपाल-यन्त्र



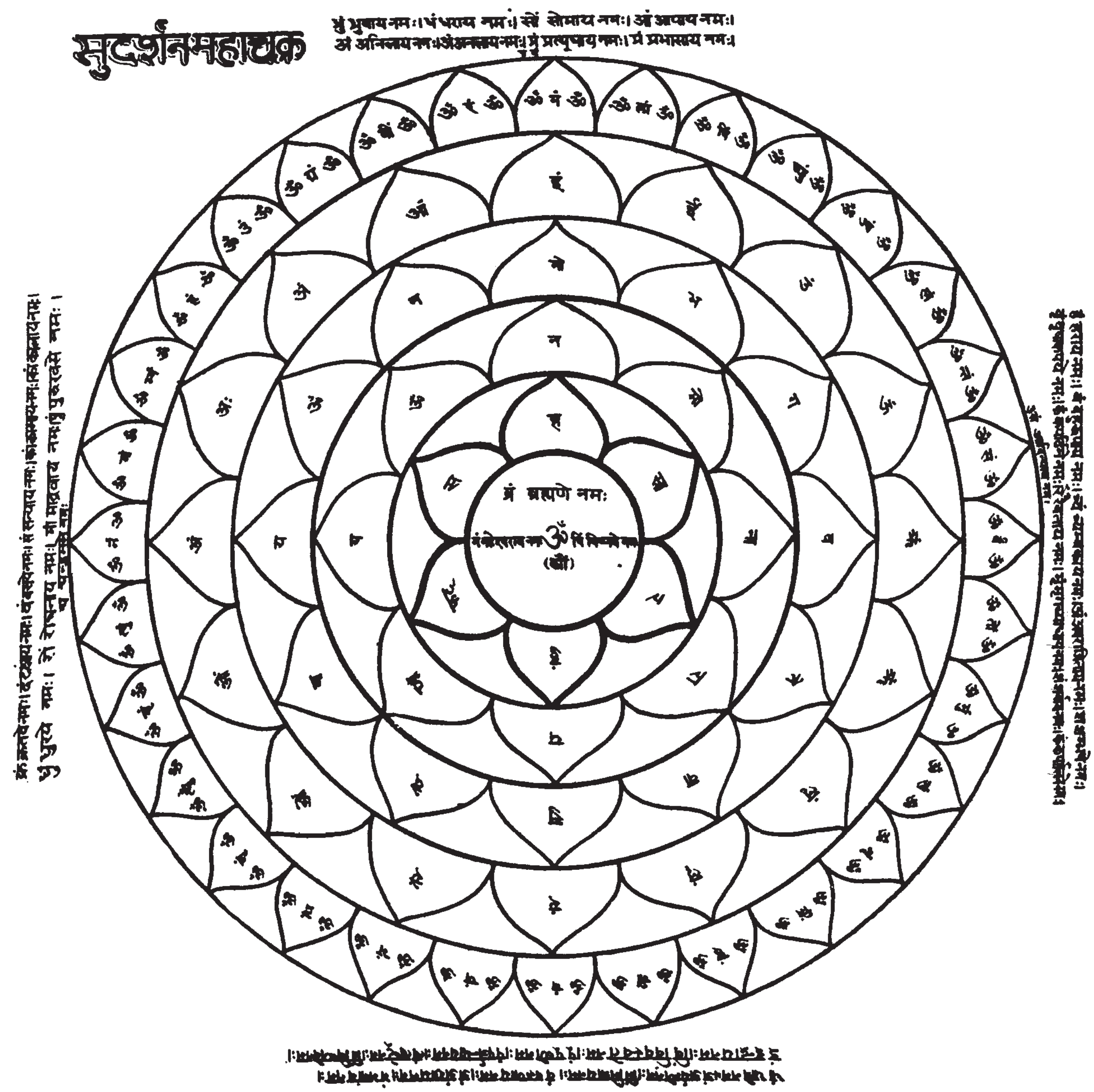
विशेष विवरण 'गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्' पृ० ५२ पर देखें।

(कल्याण से साभार)



विशेष विवरण 'रामपूर्वतापिन्युपनिषद्' पृ० २३२-२३४ पर देखें।

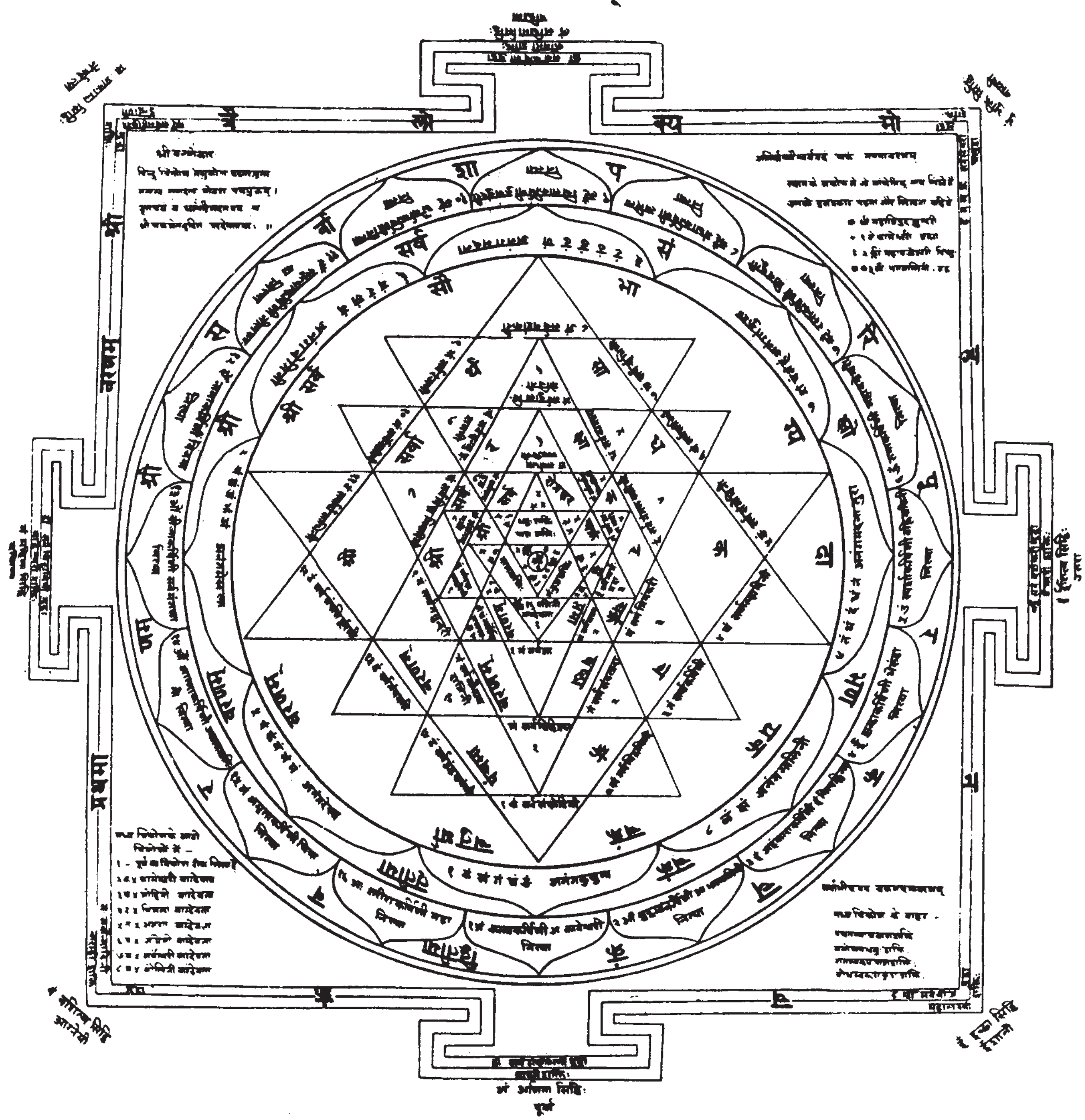
(कल्याण से साभार)



विशेष विवरण 'नृसिंहपूर्व तापिन्युपनिषद्' पृ० १२२-१२३ पर देखें।

(कल्याण से साभार)

॥ श्री यन्त्रम् ॥



विशेष विवरण 'भावनोपनिषद्' (पृ० १४६) तथा त्रिपुरोपनिषद् (पृ० ६४) में देखें।

(कल्याण से साभार)